सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ४

(सन्त वाणी)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹ 2500

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

विषय सूची

23(अ) किये हुएकी आसक्ति हमें विश्राम नहीं देती।..... 2
23(ब) है में नहीं बुद्धि-"नहीं" में है बुद्धि।..... 7
24(अ) दूसरोंकी धरोहरको आदरपूर्वक भेंट कर देना सेवा है।.....15
24(ब) अप्राप्त की कामना प्राप्तकी ममता दरिद्रता सिद्ध करती है।.....22
25(अ) जो पराये दु:ख से दु:खी नहीं होता उसे अपने दु:खसे दु:खी होना पड़ेगा।.....30
25(ब) वे चाहे जैसे हो-चाहे जहाँ हो-चाहे सो करे, अपने है और प्रिय है।.....37
26(अ) विवेकविरोधी कर्म-सम्बन्ध-विश्वासका त्याग सत्संग है।.46
26(ब) अनन्तकी प्रियतासे अनन्तको रस मिलता है।.....54
27(अ) जगत् का निर्माण मानवके लिए-मानवका निर्माण प्रभु के लिए।.....63
27(ब) श्रीरामचरित्रके (श्रीकैकेयीजी-श्रीभरतजी) प्रेमी भक्त तथा तात्पर्य।.....71
28(अ) पराधीनता पसंद न करें- मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग न करें।.....80
28(ब) प्रभु को समझना नहीं है-स्वीकार करना है।..... 91
29(अ) प्रेमीजन कृप्या यह कैसेट सुनना न चुकें।.....101
29(ब) होनेवाला चिंतन करनेवाला चिंतन से मिटेगा यह भ्रम है।.....109
30(अ) हम रस के भोगी है या रस के दाता है।.....119
30(ब) मिले हुए का सदुपयोग है।.127
31(अ) सांप्रदायिक भेद बुरा नहीं है – प्रीतका भेद बुरा है।.....138
31(ब) धनीको महानिर्धन बनने वाले रोग।.....147
32 (अ) हमारा कर्तव्य कोई दूसरा ना बतायेगा।.....155
32(ब) जिसको जैसा देखना चाहते हो उसे वैसा ही समझो।.....163
33(अ) कोई भी व्यक्ति सर्वांशमें, सर्वदा, और सभीके लिए दोषी नहीं होता।.....169
33(ब) संकल्प निवृतिसे जो शान्ति,शक्ति,स्वाधीनता मिलती है।.....183
34(अ) दु:खका प्रभाव सुखमें दु:खका दर्शन।.....191
34(ब) आवश्यकता अनेक कामनाओंको खा लेती है।205

35(अ) विश्वाससे समर्पित-शरणागत हो जाये। 218
35(ब) अविनाशी,स्वाधीन,रसरुप,चिन्मय जीवन। 232
36(अ) प्रभुविश्वासी, प्रभुप्रेमी, शरणागत! 239
36(ब) भगवान्में जो ऐश्वर्य,सौन्दर्य,माधुर्य है वो मानवमें भी है। 250
37(अ) भूखसे(दु:खसे) और भोजनसे(सुखसे) से अपना मूल्य बढ़ाओ..... 262
37(ब) अकेला होना पसंद करें।.... 280
38(अ) बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है।..... 291
38(ब) सुखियोंमें उदारता और दु:खियोंमें त्याग नहीं रहता । 304
39(अ) जप, तप, दान, भजन में अपने सुख देखना राक्षसी स्वभाव है। 315
39(ब) मुझे कुछ नहीं चाहिये,प्रभु मेरा अपना है,सबकुछ प्रभु का है। 334
40(अ) कर्म का फल अविनाशी नहीं होता। 340
40(ब) मीराके प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न नहीं कीजै।..... 355
41(अ) उदारता का शेषजो रहेगा उसीका नाम जीवन है।.... 367
41(ब) मृत्यु को वियोग स्वीकार करो तो जीवन में कोई भय नहीं रहेगा। 379
42(अ) दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु या प्रभु की है या माया मात्र है, या जगतकी है। 391
42(ब) जगत भगवान् ही है और कुछ नहीं है।..... 405
अहम और मम का सम्बन्ध..... 417
परमात्मा का प्रेम..... 426
हम सभी सनाथ है..... 434
प्रेम प्राप्ति का सुगम उपाय 443
बुराई रहीत जीवन..... 454
जीवन के सत्या को कोज..... 465
मानव का कर्तव्य 476
सत्संग क्या हैं..... 483
अपना अपने ने अभी है 492
ज्ञान का प्रकाश..... 498
अमर जीवन की प्राप्ति..... 508
हुमारा स्वरूप क्या है..... 517

सन्त वाणी

23

सत्संग का अर्थ है-"है" का संग, अर्थात् जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग।

सत्संग के लिए आवश्यक कार्य को पूरा करना और अनावश्यक कार्य का त्याग करना अनिवार्य है।

श्रम-रहित होने पर जो आगे पीछे का, भुक्त-अभुक्त का चिन्तन होता है, उससे साधक को असहयोग करना चाहिये। किसी अन्य चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन का नाश नहीं होता। अतः अचिन्त्य हो जाना चाहिये।

साधक को "करने" और "होने" से असंग हो जाने पर जो "है" उसमें अविचल आस्था हो जायेगी, श्रद्धा हो जायेगी।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, इनकी ममता व कामना बनाये रखना सबसे भारी भूल है। इन्हीं से सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है-"है" से विमुख होना।

23(अ) किये हुएकी आसक्ति हमें विश्राम नहीं देती।

सत्संग का जो वास्तविकरूप है उस पर विचार करने से मालूम होता है कि सत्संग का अर्थ है-"है" का संग, अर्थात् जो मौजद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग-सत का संग। तो "है" का संग करने के लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है। और श्रम-रहित होने के लिये आवश्यक कार्य को पूरा करना, अनावश्यक कार्य का त्याग करना-यह आवश्यक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भाई-बहन कार्य के आरम्भ से पूर्व और कार्य के अन्त में बड़ी ही सुगमतापूर्वक "सत्संग" कर सकते हैं। आप कहेंगे कि जब हम श्रम-रहित होते हैं, तब आगे-पीछे का, भुक्त-अभुक्त का, किये हुए का, देखे हुए का चिन्तन होने लगता है। यह बात ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह है कि जो प्रभाव आपके जीवन में ठहरा हुआ था, वह उत्पन्न होता है, अथवा यों कहो कि प्रकट होता है नाश होने के लिये। साधक से भूल क्या होती है कि उस उत्पन्न हुए चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा दबाने का, मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु परिणाम यह होता है कि वह किया हुआ चिन्तन भी ठहर जाता है और उससे पूर्व जो किया हुआ है, वह भी होता रहता है। तो दो प्रकार का चिन्तन होता रहता है। एक तो वह जिसे हम करते हैं और एक वह

जो किये हुए का प्रभाव है। यह समस्या हल नहीं होती। अनेक बार साधक प्रयत्न करता है कि सार्थक-चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन का नाश कर दिया जाय, परन्तु व्यर्थ-चिन्तन नाश नहीं होता।

इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है अचिन्त्य होने से, अर्थात् किसी प्रकार का चिन्तन न करने से । अचिन्त्य होने पर हमारे न चाहते हुए भी जो चिन्तन हो रहा है, उसका प्रभाव स्वीकार न करें, अर्थात् उससे असहयोग रखें। असहयोग का अर्थ विरोध नहीं है। असहयोग का अर्थ है-समर्थन न करना, सहयोग न देना। जो हमारे बिना करे चिन्तन होने लगा-भूतकाल के किये के, देखे हुए के, भुक्त-अभुक्त के प्रभाव से-उनको देखें अथवा वह स्वयं दिखाई देगा। जो हो रहा है उसका ज्ञान होता है न! वह स्वयं दिखाई देगा। तो जब उसका ज्ञान आपको हो कि आगे-पीछे का चिन्तन हो रहा है, अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति आदि का चिन्तन हो रहा है, अथवा किसी उसका चिन्तन हो रहा है जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, तो उससे जब आप असहयोग करेंगे, तब उसका प्रभाव अपने पर स्वीकार नहीं करेंगे, अर्थात् न भयभीत होंगे और न उसमें सुख लेने का प्रयत्न करेंगे। आपके असहयोग करने से वह होने वाला चिन्तन निर्जीव हो जायेगा। और थोड़ी-थोड़ी देर बाद स्वयं चिन्तन-रहित स्थिति आने लगेगी। परन्तु बड़ी ही सावधानीपूर्वक उस स्थिति में भी रमण नहीं करना चाहिए। आप विचार करके देखें, तो आपको यह स्पष्ट मालूम होगा कि जो हो रहा है उसका आश्रय और जो कर रहे हैं उसका आश्रय जब आप स्वीकार कर लेते हैं, तो जो "है" उसमें आस्था नहीं होती, उसमें प्रियता नहीं होती, उससे योग नहीं होता, उसका बोध नहीं होता। और जब "है" का बोध नहीं होता, "है" में आस्था नहीं होती, "है" के साथ योग नहीं होता, तब देहाभिमान पुष्ट होता है, मजबूत होता है।

इसलिये किये हुए का प्रभाव और जो हो रहा है, उसका प्रभाव अपने में न हो। उसको स्वीकार न करें। किये हुए का प्रभाव मिटाने के लिये सबसे पहले, जो नहीं करना चाहिये, उसका त्याग करना होगा। उसके पश्चात् जो करना चाहिये, उसमें जो हमारी फलासक्ति हो जाती है, उसमें जो कर्त्तत्व का अभिमान हो जाता है, उससे अपने को बचाना चाहिये। और फिर जो हो रहा है, वह

किसी विधान से हो रहा है। जिसके हम कर्ता नहीं हैं, उसका हमें भोक्ता नहीं होना चाहिये। तो जो हो रहा है उसके भोक्ता नहीं रहे और जो नहीं करना चाहिये, उसका त्याग कर दिया। जो करना चाहिये, उसकी फलासक्ति और अभिमान का त्याग कर दिया। तो आप "करने" और "होने" से असंग हो जायेंगे। तब जो "है" उसमें आपकी अविचल आस्था हो जायेगी, उसमें आत्मीयता हो जायेगी, श्रद्धा हो जायेगी, विश्वास हो जायेगा। उसका बोध हो जायेगा, उसमें आत्मीयता हो जायेगी, जिससे अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होगी। यही वास्तव में भजन है "है" में यदि हमारी प्रियता नहीं है, तो भजन कैसा! और "है" का यदि बोध नहीं है, तो तत्त्व-साक्षात्कार कैसा! और "है" से यदि योग नहीं है, तो परम शान्ति कैसी!

आज यदि हम अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति पर विचार करें, तो जो "नहीं " है, उसके चिन्तन में, उसके आश्रय में उसके तादात्म्य में आबद्ध हो गये हैं। आप कहेंगे, कैसे? आप ही विचार कीजिये, जो चिन्तन आपके बिना करे होता है, जिससे आप भयभीत होत हैं, वह क्या है? वह दो रूपों में है, या तो वह है जो आप कर चुके हैं, या वह है जो आप करना चाहते हैं। तो जो कर चुके हैं, वह स्वरूप से मौजूद नहीं है, और जो करना चाहते हैं, वह वर्तमान कार्य नहीं है। अर्थात् जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके चिन्तन ने आपको "है" के योग से, "है" के बोध से, "है" के प्रेम से विमुख कर दिया है "नहीं" के चिन्तन ने। अब "नहीं" का चिन्तन क्यों होता है? इसका जो मूल कारण है वह तो है-पराधीनता में जीवन-बुद्धि। हम कुछ करेंगे तब हमको कुछ मिलेगा-यह जो आस्था है, इस प्रकार का जो विश्वास है, इस विश्वास ने ही मानव को देहाभिमान में आबद्ध कर दिया है, बाँध दिया है।

आप कहेंगे, क्या बिना करे भी कुछ मिलता है? एक बात तो सोचिये, जो मौजूद है, क्या वह कभी अलग होता है? उसकी प्रियता नहीं है? कि वह मौजूद नहीं है? इस पर विचार करने से आपको मालूम होगा कि आस्तिकों का प्रभु मौजूद नहीं-ऐसा कोई नहीं मानता। अगर आप लोगों में-से कोई मानता हो, तो बतायें। क्या कोई यह कहता है कि प्रभु नहीं है? क्या कोई अध्यात्मवादी ऐसा कहता है कि तत्त्व नहीं है? क्या कोई भौतिकवादी यह कहता है कि जगत्

नहीं है? आप देखेंगे, नहीं करके कोई भी दर्शन किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करता। सब कहेंगे-प्रभु हैं। अध्यात्मवादी कहेगा-आत्मा है। भौतिकवादी कहेगा-जगत् हैं। "है" का समर्थन सभी दार्शनिकों ने किया है। उसका नाम कुछ रख दिया हो, उसका वर्णन कुछ किया हो। किन्तु "है" के सम्बन्ध में किसी ने यह नहीं कहा कि कोई नहीं है। यह भले ही कह दिया हो किसी ने कि "मैं आत्मा को ही मानता हूँ।" "मैं जगत को मानता हूँ।" कोई कहेगा कि "मैं परमात्मा को मानता हूँ।" पर कोई ऐसा भी है जो यह कहे कि मैं किसी को नहीं मानता? अच्छा, जो किसी को नहीं मानता, वह अपने को मानकर ही न! कहता कि मैं किसी को नहीं मानता।

आप विचार करके देखें कि अस्तित्व से किसी का विरोध नहीं है। "है" से किसी का विरोध नहीं है। किन्तु वह "है" कैसा है? कहाँ है? उसका-हमारा क्या सम्बन्ध है?-यह बात अलग रही। तो मेरा यह निवेदन है कि "है" कैसा है?- उसका स्वयं अनुभव करो। तो कैसे अनुभव करेंगे? कि जो "नहीं" है, उससे सम्बन्ध विच्छेद करके। आप विचार करके देखेंगे तो प्रत्येक भाई, को प्रत्येक बहन को इस बात का स्वतः अनुभव होगा कि जो व्यर्थ-चिन्तन के रूप में आपको प्रतीत होता है, वह वही प्रतीत होता है, जो उस समय नहीं है। आपने कोई बात की, उसका प्रभाव अंकित हो गया। जब आप शान्त हुए, तो वह चिन्तन के रूप में उत्पन्न हुआ। तो जिसका चिन्तन उत्पन्न हुआ है, क्या वह उस समय है? क्या विचार है आपका? (श्रोताः नहीं है)। तो "नहीं" का चिन्तन हो रहा है आपके बिना करें, आपके न चाहने पर भी। आप तो नहीं चाहते हैं।

आप तो चाहते हैं कि मन में निर्विकल्पता हो, बुद्धि में समता हो। आप यह तो नहीं चाहते हैं कि आगे-पीछे का चिन्तन हो। तो जो आपके न चाहने पर हो रहा है, उससे असहयोग करना आपके लिये क्या कठिन है? बतलाइये। उससे आप असहयोग तो करते नहीं। करते क्या हैं? एक नवीन चिन्तन करना आरम्भ करते हैं। किसी भी रूप में करें, किसी भाव में करें। वह जो नवीन चिन्तन आप करते हैं, वह वास्तव में होना चाहिए था। यह थी माँग। आपकी आवश्यकता यह थी कि चिन्तन करना आप आरम्भ करते हैं, उसकी तो स्मृति जाग्रत होती, और जिसका चिन्तन हो रहा है, वह न होता। तभी न! आपको शान्ति मिलती।

तभी न! आपको स्वाधीनता मिलती। परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता? ऐसा इसलिये नहीं होता कि जो चिन्तन हो रहा है, जिसको आप नहीं चाहते हैं, उससे आप सहयोग नहीं करते हैं और जिसका चिन्न करते हैं, उसमें आपकी वास्तव में आस्था नहीं है, आत्मीयता नहीं है। आप जानते हैं, अपने आप चिन्तन किसका होता है? जिसमें आस्था है, और जिसमें आत्मीयता है। अर्थात् जिसकी आप सत्ता स्वीकार करें और जिसे आप अपना मानें, अथवा जिसकी आवश्यकता अनुभव करें।

आस्था, आत्मीयता, और आवश्यकता-विचार कीजिये इन तीनों पर आस्था से निर्भयता आयेगी। आत्मीयता से प्रियता आयेगी। आवश्यकता से व्याकुलता आयेगी। किन्तु हमारी आस्था किसमें हैं? जो कर चुके हैं, जो करना चाहते हैं और जो कर चुके हैं, वह अब नहीं।किन्तु आस्था करते हैं और जो करना चाहते हैं दो ही चीजें न! आपको दिखाई देती हैं। जो कर चुके हैं वह दिखाई देता है, और जिसमें आस्था होती है उसका भास होता है। किन्तु जिसका चिन्तन आपके बिना करे हो रहा है कि हम भविष्य में यह करेंगे, अथवा हम यह कर चुके हैं। तो जो कर चुके हैं और जो करना चाहते हैं, ये वर्तमान में नहीं है। तो जो वर्तमान में है उसमें हमारी आस्था नहीं है, और जो नहीं है, उसकी हमने आस्था स्वीकार कर ली। जैसे कल्पना करो, कल आपने कोई बात की। उचित है अथवा अनुचित है उस पर पीछे विचार करेंगे। किन्तु कल जो किया, वह इस समय नहीं है, उसके प्रभाव से आप क्यों प्रभावित होते हैं? आप कहेंगे कि इसलिये होते हैं कि हमने ऐसी बात की जो नहीं करनी चाहिये थी। तो भाई, उसके न करने का निर्णय कर लो। यदि तुमने ऐसी बात की थी, जो करनी चाहिए, तो उसके फल की आशा छोड़ दो। क्योंकि किया हुआ सदैव नहीं रहता, और किये हुए का जो परिणाम है, वह भी सदैव नहीं रहता।

बड़े-से-बड़ा कर्मनिष्ठ यह सिद्ध नहीं कर सकता कि जो आप करते हैं, उसका परिणाम अविनाशी हो, नित्य हो, सदैव रहे। अथवा जो आप करते हैं, वह करना सदैव रहे। न कर्म सदैव रहता है, न उसका फल सदैव रहता है। तो फिर अगर हम कोई ऐसी बात कर चुके हैं, जो नहीं करनी चाहिये, तो उसके न करने के निर्णय के अतिरिक्त और कोई उपाय

है क्या? जी? की हुई भूल को न दुहरायें- इसके अलावा भूल मिटाने का कोई उपाय है क्या? जानी हुई बुराई न करें-इसके अतिरिक्त बुराई से बचने का उपाय है क्या? और की हुई भलाई का अभिमान छोड़ दें-इसके अतिरिक्त कर्म-फल से छुटकारा पाने का उपाय है क्या? जी? कोई उपाय नहीं है। सत्संग का अर्थ क्या है? आप अपने सम्बन्ध में इतनी स्पष्टता से जान लें कि भाई, की हुई बुराई दोहरायेंगे नहीं, जानी हुई बुराई करेंगे नहीं, और की हुई भलाई का हमें फल नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए? किये हुए का जो फल होता है, वह सदैव नहीं रहता।

और आपकी माँग क्या है? क्या आपकी यह माँग है कि आपको वह चाहिये, जो सदैव न रहे? प्रत्येक भाई-बहन की माँग है अविनाशी जीवन की। माँग आपकी उसकी है जो "है"। "है" माने, जो पहले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा। तो जो सदैव रहेगा, उसकी माँग है जीवन में। और हम आबद्ध किसमें हो गये हैं? किये हुए के फल में, अथवा किये हुए की आसक्ति में। आप विचार कीजिये, किये हुए की आसक्ति ही तो हमें विश्राम नहीं लेने देती। किये हुए का फल ही न! हमको भोगना पड़ रहा है। तो जो किये हुए का फल है, वह तो नाश हो जायेगा, लेकिन किये बिना हम रह नहीं सकते- यह जो निर्बलता है, उसी ने हमें जो "है" उसमें आस्था नहीं होने दी। आप सोचिये, क्या वह भी परमात्मा होगा, जो वर्तमान में न हो? क्या वह भी आत्मा होगी, जो वर्तमान में न हो? यह तो कोई अध्यात्मवादी नहीं कह सकता, कोई ईश्वरवादी नहीं कह सकता। क्या वह भी जगत् होगा, जो मौजूद न हो? "है" में नहीं-बुद्धि और "नहीं" में है-बुद्धि

23(ब) है में नहीं बुद्धि-"नहीं" में है बुद्धि।

आप विचार कीजिये, जो नहीं है, उसमें तो है-बुद्धि हो गई और जो "है" उसमें नहीं-बुद्धि! क्योंकि अगर आपने जिसे "है" करके स्वीकार किया है, यदि उसमें नहीं-बुद्धि नहीं है, तो आत्मीयता "है" में क्यों नहीं? और यदि आत्मीयता है, तो क्या प्रियता नहीं होगी? आप विचार तो कीजिये। जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसके प्रति प्रियता होती है कि नहीं? क्या विचार है आपका? अच्छा, प्रियता से भिन्न भी कोई भजन है? क्या किसी अनुष्ठान का नाम भजन है? कदापि नहीं। तो मेरा यह निवेदन है कि सत्संग

के द्वारा हम सबको "है" में अविचल आस्था करनी है। और जब अविचल आस्था हो जायेगी, तो आत्मीयता भी हो जायेगी। यानी जिसके अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेंगे, उसको अपना मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जिसको अपना मान लेंगे, उसकी स्मृति, चाहे आवश्यकता कहो, उदय होगी। देखिये, किसी आवश्यकता का उदय होना ही तो स्मृति है।

जैसे किसी को प्यास लगी हो, तो पानी की स्मृति होगी कि नहीं? और जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करें, यही न! मुक्ति है। और मुक्ति क्या है? बताओ जरा। जिसकी आप आवश्यकता अनुभव करते हैं उसकी आपमें स्मृति है। तो स्मृति जो है यह प्रियता की जननी है, बोध की जननी है, योग की जननी है, प्राप्ति की जननी है। देखिये, कोई चीज आप रख कर भूल गये और स्मृति आ गई, तो जिस वक्त रखी हुई चीज की स्मृति आती है, उस समय वह प्राप्त हो जाती है कि नहीं? अच्छा, जिसको आपने अपना करके स्वीकार किया, उसकी स्मृति, उसकी प्रियता में हेतु है कि नहीं? अच्छा, किसी की प्रियता क्या रस-रूप नहीं है? आप विचार कीजिये। आप विचार करें, कि यदि आपके जीवन में प्रियता है, तो क्या रस की अभिव्यक्ति नहीं होगी? अच्छा रस की अभिव्यक्ति होने पर, क्या काम की उत्पत्ति होती है? कभी नहीं होती।

आज हमारे जीवन में नीरसता क्यों है? इसजिए कि किसी की प्रियता नहीं है। अब जब किसी की प्रियता नहीं है, तो सिद्ध होता है कि आपने "है" में आस्था नहीं की। जब "है" में आस्था ही नहीं की तो "है" कहो, चाहे सत्य कहो, का संग कैसे होगा? जरा विचार तो करो, आस्था और संग दो चीज है क्या? एक ही चीज है। जब एक ही चीज है, तो हमारी "है" में आस्था है अथवा नहीं है-इस पर विचार करना है। अगर आप विचार करें और आपको यह मालूम हो जाय कि "है" जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। तो जब "है" ही नहीं है, तो "नही" तो नहीं है ही। जो "है" को "है" नहीं मानते, तब "नही" का तो "नहीं" मानेंगे ही। तो क्या कोई भाई, कोई बहन यह मान सकते हैं कि साहब! "है" नहीं है? ऐसा कोई नहीं मानेगा। यह कहेंगे कि हम नहीं जानते "है" क्या है; पर है अवश्य। अरे भाई! आपके न जानने पर भी जब "है" है, तब पहले आस्था करनी होगी कि पहले जानना होगा?

देखिये, जिज्ञासा किसके सम्बन्ध में होती है? जिसके सम्बन्ध में सन्देह होता है। और सन्देह किसके सम्बन्ध में होता है? जिसके सम्बन्ध में आप 'नहीं' करके स्वीकार करते हैं। आप कहेंगे कि जब हमने "नहीं" करके स्वीकार कर लिया, तब सन्देह क्यों हुआ?-'नहीं' में है-बुद्धि करने से। 'एक ओर नहीं है'-ऐसा भी मानते हैं, दूसरी ओर 'है'-ऐसा भी मानते हैं। जैसे जो घटना घट चुकी है, वह है नहीं, किन्तु फिर भी उसका अस्तित्व मानते हैं। यह जो "नहीं" का अस्तित्व मानते हैं,-है करके, जो पहले था। अरे भाई!, था' यह बात ठीक है। पर वर्तमान में? बोले-नहीं है। तो जो नहीं है, उसमें 'आस्था' करने से क्या लाभ होगा? कोई लाभ होने वाला नहीं है। आप यह कह सकते हैं कि वे सुख की घड़ियाँ अब नहीं हैं। यही न! कह सकते हैं? सुख की घड़ियाँ अब नहीं है, उसका अब चिन्तन करते रहें, उसमें आप आस्था करते रहें। उसमें व्यर्थ-चिन्तन के अतिरिक्त कोई प्राप्ति हो सकती है-ऐसा मेरा अनुभव नहीं है, विश्वास भी नहीं है। यदि आप में-से किसी का अनुभव हो, तो प्रश्न कर सकते हैं। उसका उत्तर हो सकता है। किन्तु मेरे जानते, तो जो सुख की घड़ियां बीत गई, वे अब हैं नहीं।

जो संयोग-जनित सुख चला गया, वह अब है नहीं। कभी था, अब नहीं है। तो हमें उसके न होने में आस्था करना है कि उसके होने में? अगर उसके होने में आस्था करेंगे, तो 'नहीं' का चिन्तन होता रहेगा। यदि उसके होने में आस्था नहीं करेंगे, तो "है" की खोज उत्पन्न होगी। "है" क्या है-यह विचार-पथ हुआ। "है" में आस्था होगी-यह आस्था-पथ हुआ। तो चाहे विचार-पथ से, और चाहे विश्वास-पथ से "है" के साथ ही आत्मीयता स्वीकार करना है। विचार-पथ से खोज उत्पन्न होगी, और विश्वास-पथ से आत्मीयता उदय होगी। आत्मीयता प्रियता में बदलेगी। और खोज जो "नहीं है" उसके असहयोग में और असंगता में आपको परिणत कर देगा। अर्थात् खोज आपको असंगता प्रदान करेगी। असंगता का अर्थ क्या है? कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद, उससे असहयोग।

तो जिसका अस्तित्व नहीं है, उससे जब सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे योग हो जाता है। यानी किसी की असंगता किसी के बोध में हेतु है।

किसी की विमुखता किसी की सन्मुखता में हेतु है। तो जब "है" का बोध होगा, तब "है" में प्रियता भी होगी। ऐसे ही जब "है" में प्रियता होगी, तो "है" का बोध भी होगा। तो चाहे तो बोध के द्वारा प्रियता प्राप्त करें, और चाहे प्रियता के द्वारा बोध प्राप्त करें। इन दोनों में प्रणाली-भेद हो सकता है, साधन-भेद हो सकता है, किन्तु फल में कोई भेद नहीं होता। तो जब हमें और आपको सत्संग करना है, तो इसका स्पष्ट अर्थ होता है कि जो मौजूद है, उसमें आस्था करें, अथवा उसकी खोज करें। परन्तु जब आप गम्भीरता से विचार करेंगे, तो स्पष्ट विदित हो जायेगा, आपको मालूम हो जायेगा कि मौजूद की खोज करना मौजूद का चिन्तन करना नहीं है।

यानी खोज में और चिन्तन में बड़ा अन्तर होता है। खोज निषेधात्मक होती है। बोले, "यह नहीं है".....इस प्रकार खोज होगी? विध्यात्मक खोज नहीं होती। तो निषेध किसका होगा? जिसकी प्रतीति है, जिसका चिन्तन है, उसका निषेध होगा। उसके निषेध से विधि किसकी होगी? जो "है"। उस "है" को आप किसी नाम से कहो, किसी भाव से कहो, किसी प्रकार से कहो। किन्तु यह आपको स्वीकार ही करना पड़ता है कि जो "है" वही जीवन है! वही जीवन है!!, जीवन "है" में है, "नहीं" में नहीं है। तो आज हमारी आसक्ति, हमारी ममता किसमें हो गई है? जो "नहीं" है। और जिसमें आसक्ति होती है, जिसमें ममता होती है, उसकी कामना होती हैं तो ममता, कामना और आसक्ति ये दोष हैं। इन दोषों का नाश कैसे हो सकता है? "है" की आस्था से, "है" की प्रियता से, "है" की खोज से, "है" के योग से। तो "है" की खोज कैसे की जाय? "है" से योग कैसे किया जाय?

आप पहले यह सोचिये कि, क्या आप खोज करना चाहते हैं? कि आप योग करना चाहते हैं? व्याख्यान में एक बड़ी व्याधि होती है। और वह व्याधि यह होती है कि व्याख्यान करते समय वक्ता अपना परिचय देता चला जाता है, पर श्रोता की क्या माँग है-इस पर दृष्टि नहीं जाती। और यदि उस ओर दृष्टि जाय, तो अनेक श्रोता हैं, अनेक मत हैं। बताइये, कैसे व्याख्या हो? इसलिए मुझे दोनों-तीनों बातें कहनी पड़ती हैं। अब आप विचार करें कि, क्या आप उस "है" का योग चाहते हैं? अगर चाहते हैं, तो श्रम-रहित होने से "है" का योग होता है। और श्रम-रहित कैसे होते हैं? निष्काम होने से।

निष्काम कैसे होते हैं? निर्मम होने से। निर्मम हुए बिना कोई निष्काम नहीं हो सकता। तो निर्मम किससे होना है? जिसके सम्बन्ध में आपका यह निर्णय हो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अर्थात् उत्पन्न हुए शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व यदि है भी तो स्वतन्त्र नहीं है। तो यदि आप यह स्वीकार कर लें कि जिस शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी ममता बनाये रखना "नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

"नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है कि "है" से विमुख होना है। गम्भीरता से विचार कीजिये, हम "है" से अलग नहीं हुए। विमुख हुए हैं। "है" की विस्मृति हुई है। "है" का अभाव नहीं हुआ है। क्योंकि जिसका अभाव हो सकता है, उसको "है" नहीं कह सकते। "है" से देश की दूरी नहीं हुई है। "है" से काल की दूरी नहीं हुई कि अमुक काल में तो था और अब नहीं है। यह "नहीं" के सम्बन्ध में तो कह सकते हैं कि अमुक वस्तु पहले थी, अब नहीं है। जो वस्तु यहाँ है, वहाँ नहीं है। यानी देश की दूरी, काल की दूरी उत्पन्न हुई वस्तु के सम्बन्ध में आप कह सकते हैं। किन्तु जो अनुत्पन्न "है" उससे देश-काल की दूरी नहीं है। "है" उसे नहीं कहते जो उत्पन्न हुआ हो। तो "है" किसको कहते हैं उसे नहीं कहते जिसका कोई आश्रय हो "है"उसे कहे है जो सर्व का आश्रय? कि जिससे उत्पत्ति हो। "है" उसको नहीं कहते जो पर-प्रकाश्य हो। "है" उसको कहते है, जो स्वयं-प्रकाश्य हो। "है" जो सर्व का आश्रय हो। जो सर्व का आश्रय है, जो सर्व का प्रकाशक है, और जो अनुत्पन्न हुआ है, वह अप्राप्त नहीं है। तो है क्या? उससे विमुखता है।

उसकी विस्मृति है, उसमें अविश्वास है। अविश्वास विश्वास से नाश होता है। विस्मृति स्मृति से नाश होती है। और विमुखता सन्मुखता से नाश होती है, किसी अभ्यास से नाश नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जिस "है" को आप प्राप्त करना चाहते है, उसे "है" में आपकी आस्था है या नहीं? आप कहें कि आस्था नहीं है। तो प्राप्त क्यों करना चाहते हैं? यदि आप प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप कह ही नहीं सकते कि आपकी आस्था नहीं है। इस पर गम्भीरता से विचार कीजिये, जिसको आप प्राप्त करना चाहते हैं, उसके बारे में आप नहीं कह सकते कि वह नहीं है। जब नहीं है, तो प्राप्त क्या करना चाहते हैं? अच्छा, जब आस्था है, तब फिर "नहीं" की ममता कैसी?

"नहीं" की कामना कैसी? "नहीं" का तादात्म्य कैसा? अगर "नहीं" में ममता नहीं है, "नहीं" की कामना नहीं है, "नहीं" का तादात्म्य नहीं है, तो निर्ममता, निष्कामता और असंगता है। जब तादात्म्य नहीं होगा तो असंगता होगी।

निर्ममता, निष्कामा और असंगता से क्या होगा? "नहीं" की निवृत्ति होगी सरकार! "नहीं" की निवृत्ति में है "है" की प्राप्ति। इसी को अध्यात्मवाद की दृष्टिसे कहा-नित्य-प्राप्त की प्राप्ति। "नहीं" की निवृत्ति के बिना "है" की प्राप्ति हो सकती है क्या? कभी नहीं हो सकती। और "नहीं" की निवृत्ति श्रम-साध्य है क्या? क्या निर्ममता श्रम-साध्य है? क्या निष्कामता श्रम-साध्य है? क्या असंगता श्रम-साध्य है? कदापि नहीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि निर्ममता से निष्कामता, निष्कामता से असंगता स्वतः साध्य है। निर्ममता का अर्थ क्या है? जिससे आपकी जातीय एकता नहीं है, जिससे आपका नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसकी ममता का त्याग। आप कहेंगे कि वह क्या है? जिसकी प्रतीति है, जिसका भास है। प्रतीति किसकी है? आपको कहना पड़ेगा-दृश्य की। दृश्य किसे कहेंगे? बोले, "यह" है। अच्छा, एक बात तो बताओ, दृश्य की प्रतीति किसके द्वारा है? दृश्य की प्रतीति का साधन क्या है? दृश्य का तादात्म्य। इसे इन्द्रिय-दृष्टि से न! आप देखते हैं, बुद्धि-दृष्टि से न! आप देखते है। इन्द्रियाँ भी तो दृश्य हैं। जी? शरीर भी तो दृश्य है। यानी शरीर के सहयोग के बिना दृश्य की प्रतीति होती है क्या आपको? जी?

अच्छा, जिस शरीर से आपने तादात्म्य स्वीकार किया, उस शरीर पर आपका अधिकार कितना है? उस शरीर से सम्बन्ध कब तक है? आपको मानना पड़ेगा कि सदैव नहीं है। इतना तो मानना पड़ेगा न! और सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। यानी वह घड़ी आ रही है, जबकि हम सब यह अनुभव करेंगे कि अब शरीर नहीं है। अच्छा, तो जब वह घड़ी आ रही है, काल का प्रवाह चल रहा है। आज जो शरीर 'है' करके मालूम होता है, वह "नहीं" में परिवर्तित हो जायेगा, बदल जायेगा। यानी जिसकी प्रतीति है, वह 'नहीं' में बदल जायेगी। ऐसी दशा में भी हम ममता का त्याग न करें, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपकी ममता कोई और मिटा देगा? क्या अपने आप कभी मिटेगी? वह वस्तु तो अपने आप मिटेगी जिसमें ममता है। पर, ममता

अपने आप नहीं मिटेगी। विचार कीजिये, ममता आप कभी नहीं मिटेगी, किसी अन्य के द्वारा नहीं मिटेगी। क्यों? आपने स्वीकार की है, कि यों अपनी स्वीकृति का नाश अपने ही द्वारा होगा।

इस दृष्टि से हम और आप सत्संग के अभिलाषी हैं। तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका उपयोग कीजिये, पर ममता मत कीजिये, आप-हम शरीर का उपयोग करें, और ममता न करें, तो क्या कर्त्तव्य-कर्म में कोई बाधा हो सकती है? जी?-नहीं हो सकती। अच्छा, संसार में कर्त्तव्य-कर्म की अपेक्षा ओर क्या आपकी आवश्यकता हो सकती है? संसार में कर्त्तव्य ही है न! जो आपके हाथ में है। जी? तो जो मिला हुआ है, जो सदैव नहीं रहेगा, जो किसी का दिया हुआ है, जो किसी विधान से उत्पन्न हुआ है, उसके उपयोग में आप सदैव स्वाधीन हैं। किन्तु, उसको सदैव बनाये रखने में आप सदैव पराधीन है। तो जिसमें आप पराधीन है, उसको न करें, तो कोई आपत्ति होगी? और जिसमें आप स्वाधीन हैं, उसे अभी कर डालें, तो कोई कठिनाई होगी?-नहीं होगी। तो ममता के त्याग में कोई कठिनाई नहीं है। यदि आपने अपने ही द्वारा मिली हुई वस्तुओं की, मिले हुए व्यक्तियों की, मिले हुए शरीर की ममता का त्याग कर दिया, अर्थात् यह निर्णय कर लिया कि 'यह मेरा नहीं है', परन्तु फिर भी उससे सेवा करनी है, उसका उपयोग करना है।

तो सेवा करने में निर्ममता बाधक नहीं है, अपितु सहायक है। क्यों? अपना बिना मान कर जितनी उदारता से आप काम कर सकते हैं, उतनी उदारता से अपना मानकर कर सकते हैं क्या? जी? किसी उत्सव में कोई लड्डू बाँटने के लिए खड़ा कर दे, तो आप कभी सोचते है क्या, कि उसको नहीं देना चाहिए? और यदि खरीद के लाये हों, अपने हों, तब? तब तो ऐसी बात नहीं होगी न! तो निर्ममता उदारता में हेतु है। और उदारता से ही आप जगत् के लिए उपयोगी होते हैं। और किसी प्रकार नहीं होते। जो जगत् के लिए उपयोगी होने के लिए तो निर्ममता अपेक्षित है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करेंगे, तो भौतिक विकास में भी निर्ममता ही समर्थ है। अच्छा, अब आप सोचिये, निर्मम होने से आपको क्या मिला? एक तो कर्त्तव्य-परायणता आ गई और वह कर्त्तव्य-परायण्ता जगत् के लिए

उपयोगी हुई, आपके लिए उपयोगी नहीं हुई। आपके लिए क्या चीज उपयोगी हुई? कि आपमें निर्विकारता आ गई निर्विकारता। व्यक्ति की ममता गई, आप मोह-रहित हो गये, मोह रूपी विकार गया वस्तु की ममता गई, तो निर्लोभ हो गये। परिस्थिति की ममता गई, तो दीनता और अभिमान से रहित समता में प्रवेश हो गया। अवस्था की ममता गई, तो परिच्छिन्नता नाश हो गई। तो निर्विकारता प्राप्त हुई किसके द्वारा? निर्ममता के द्वारा।

मैं आपसे पूछता हूँ, कौन-सी योग्यता है ऐसी? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। और कौन-सा तप है ऐसा? जिसे आपको निर्विकारता मिल जाय। और कौन-सा कर्म है ऐसा? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। इस पर विचार करने की बात है। किसी योग्यता से, किसी अनुष्ठान से, किसी तप से आपको निर्विकारता प्राप्त नहीं होती। यदि निर्विकारता प्राप्त होती है। तो निर्ममता से। अब आप विचार करें। जब आप किसी से शासित नहीं रहना चाहते, तो किसी पर शासन कैसे कर सकते हैं? इसलिए निर्ममता से ही निर्विकारता मिलेगी। और निर्मम होने के पश्चात् से निष्कामता, और निष्कामता से असंगता स्वतः प्राप्त होगी, और वर्तमान में प्राप्त होगी, तो आप सोचिये, कि निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से ऐश्वर्य और असंगता से स्वाधीनता... ये वर्तमान जीवन की वस्तु है कि भविष्य की वस्तु हैं?

यदि आप अपने में विकार अनुभव करते हैं, तो उसका अर्थ यह है कि आपमें खुद निर्विकारता की भूख नहीं है। आज यदि अपने में आप अशान्ति अनुभव करते हैं, तो इसका अर्थ है कि आप में शान्ति की भूख नहीं है। वर्तमान में यदि आप पराधीनता का अनुभव करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि आपको स्वाधीनता की भूख नहीं है। तो जो आवश्यकता के ही रूप में आज नहीं है, क्या वह प्राप्ति के रूप में कभी होगी? नहीं होगी। और जो आवश्यकता के रूप में आज है, वह प्राप्त न हो, क्या यह कभी सम्भव है? कभी सम्भव नहीं है। इसलिये मानव-मात्र को निर्विकारता से, परम शान्ति से, स्वाधीनता से, अगाध प्रियता से कभी निराश नहीं होना चाहिए। यह कभी नहीं सोचना चाहिए, कि निर्विकारता मुझे नहीं मिल सकती, अगाध प्रियता मुझमें नहीं आ सकती।

दूसरी बात कि जिसका स्वन्तत्र अस्तित्व नहीं है, उसकी आशा करनी चाहिए क्या? जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी आशा न करें, तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसमें आस्था हो जायेगी कि नहीं? तो इस दृष्टि से आप विचार करेंगे, तो आपको मालूम होगा कि 'सत्संग' से सर्वतोमुखी विकास होता है, और मानव-मात्र को होता है। यह नहीं, कि ईश्वरवादी का होगा और अनीश्वरवादी का नहीं होगा। यह नहीं, कि भौतिकवादी का होगा और अध्यात्मवादी का नही' होगा। चाहे आप भौतिकवादी हैं, चाहे अध्यात्मवादी हैं, चाहे ईश्वरवादी हैं, किसी प्रकार की मान्यता आपकी है। किन्तु सत्संग के द्वारा मानव-मात्र को निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अगाध प्रियता प्राप्त हो सकती है। यह निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही मानव-जीवन के पुरुषार्थ की परावधि है।

24

मानव-जीवन की पूर्णता तभी होती है, जब मानव अपने लिये भी उपयोगी हो, जगत् के लिए भी उपयोगी हो और जो जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है, उसके लिये भी उपयोगी हो।

जिसने यह आवश्यकता अनुभव की कि मेरा जीवन जगत् के लिये, अपने लिये और प्रभु के लिये उपयोगी हो, उसे सफलता अवश्य मिलती है।

दरिद्रता का स्वरूप क्या है?... अप्राप्त की कामना बनी रहे, और आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो। जब तक जीवन में वस्तु का महत्त्व है, तब तक निर्लोभता प्राप्त नहीं होगी।

अपने जाने हुए 'असत्' के त्याग से ही अकर्त्तव्य, असाधन और समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। अकर्त्तव्य से रहित होते ही जीवन में कर्त्तव्य-परायणता आती है। आसक्ति से रहित होते ही जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

24(अ) दूसरोंकी धरोहरको आदरपूर्वक भेंट कर देना सेवा है।

प्रवचन: उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

और वह प्रेम मानव-मात्र को, अर्थात् प्रत्येक भाई और बहन को मिल सकता है। कारण कि, प्रेम की प्राप्ति में कोई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति हेतु नहीं है। अपितु जिसे हम अपना करके मानते हैं, उसी में प्रियता होती है। अब प्रश्न यह आता है कि किसी को अपना मानने में किन-किन बातों की आवश्यकता होती है? उसके लिए सभी को निर्मम और निष्काम होना पड़ता है। प्रेम के साम्राज्य में कोई भी प्रेमी अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं रख सकता। और न कामना-पूर्ति के प्रलोभन में ही आबद्ध रह सकता है। इतनाही नहीं, जिसे कुछ नहीं चाहिए-इसका अर्थ क्या है? भोग और मोक्ष दोनों ही नहीं चाहिए।

आप विचार करके देखें, समस्त भोग कर्म-सापेक्ष है। और मोक्ष विवेक-सिद्ध है। कर्म सामग्री प्रत्येक भाई-बहन को स्वभाव से ही प्राप्त है। तात्पर्य क्या निकला? कि जो मिला है, उसके सदुपयोग से ही भोग का सम्पादन होता है। भोग की कामना से भोग की प्राप्ति नहीं होती। और जो आप जानते हैं, उसके आदर से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तो भोग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन मनुष्य-मात्र को बिना ही माँगे प्राप्त है। परन्तु भोग का जो परिणाम है, वह अभाव रूप है। इस कारण भोग-प्राप्ति जीवन का उद्देश्य नहीं है। और विवेकपूर्वक जो मोक्ष की प्राप्ति है, वह अपने लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा मोक्ष बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। परन्तु जिसने भोग-सामग्री प्रदान की, अथवा विवेक प्रदान किया। और इस अनुपम उदारता से प्रदान किया, कि किसी को यह मालूम नहीं होता, कि जो कर्म-सामग्री मुझे प्राप्त है, वह मेरी अपनी नहीं है। जो विवेक मुझे प्राप्त है, वह मेरा अपना नहीं है।

अर्थात् दाता ने इतनी उदारतापूर्वक यह दिया है कि जो यह मालूम ही नहीं होता कि किसी ने हमको यह दिया है। परन्तु क्या हम उसको अपना मानने के लिये राजी नहीं हैं? यदि हम "उसे" अपना मान सकें तो निस्संदेह जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो सकता है। आप विचार करके देखें, प्रेम कोई अभ्यास नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है, कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है। अपितु, मानव-मात्र में स्वभाव से मौजूद हे। परन्तु उसको बोध कब होता है? जब मानव आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुने हुए प्रभु को अपना मान लेता है। अर्थात् यह स्वीकार करता है, कि "वे" मेरे अपने

है और यह जो कुछ मिला है, वह "उनका" है। उनकी आत्मीयता में जो रस है, वह न तो भोग में है, न शान्ति में है और न स्वाधीनता में है। आप कहेंगे, कैसे? यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि भोग आरम्भ काल में सुखद और परिणाम में दुःखद है। शान्ति में भी रस है। स्वाधीनता में भी रस है।

परन्तु शान्ति और स्वाधीनता के रस में अहम्-भाव का अत्यन्त अभाव नहीं होता। क्यों? आप अनुभव करते हैं.... "मैं शान्त हूँ" "मैं स्वाधीन हूँ" एक बात। दूसरी बात यह है कि शान्ति और स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी है। पर, आत्मीयता से जाग्रत जो प्रियता है, वह प्रभु के लिये उपयोगी है। उसी प्रियता का जो क्रियात्मक-स्वरूप है वह सेवा है। सेवा जगत् के लिए और प्रियता प्रभु के लिये उपयोगी है। शान्ति और स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी हैं। मानव-जीवन की पूर्णता तभी होती है, जब मानव अपने लिये भी उपयोगी हो, जगत् के लिये भी उपयोगी हो, और जो जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है, उसके लिये भी उपयोगी हो। अर्थात् जो जीवन सभी के लिये उपयोगी है, वही मानव-जीवन है। इसी उद्देश्य को जब हम अपने सामने रखते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम सब इस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तत्पर हो जायँ।

आप जानते है, किसी की प्राप्ति का उपाय क्या है? उसकी आवश्यकता का होना। तो जिसने यह आवश्यकता अनुभव की कि मेरा जीवन जगत् के लिये, अपने लिये और प्रभु के लिये उपयोगी हो तो उसे सफलता अवश्य मिलती है। बहुत से भाई कहते हैं कि यह तो बड़ी कठिन बात है। मेरा निवेदन यह है कि जिसकी प्राप्ति आवश्यकता-मात्र से होती है, भला यह भी कठिन है? आप विचार करके देखिये, जब आप कोई कामना पूरी करना चाहें, तो कामना-मात्र से कामना पूरी नहीं होती। उसके लिए किसी न किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का आश्रय लेना पड़ता है। उस पर भी सभी कामनायें पूरी नहीं होती। तो वह तो आज हमें सुलभ मालूम होता है! और जिस जीवन की प्राप्ति केवल उस जीवन की आवश्यकता-मात्र में निहित है, वह आज हमें दुर्लभ मालूम होता है! कठिन मालूम होता है! यह हमारी भूल है। यह वास्तविकता नहीं है। पर, यह भूल कैसे नाश होती है? जब मानव शान्तिपूर्वक, अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार करें। अपने

सम्बन्ध में विचार करने के समान और कोई पुरुषार्थ नहीं है। किन्तु, आज हम अपने सम्बन्ध में विचार ही नहीं करना चाहते। उसी का यह परिणाम हुआ है कि हम अपने को मानव कहते तो हैं पर, अगर कोई यह प्रश्न करें, कि आप मानव क्यों हैं? तो इसका उत्तर दूसरे को तो कौन कहे, अपने को भी देना कठिन हो जाता है।

क्यों कठिन हो जाता है? इसलिये कठिन हो जाता है कि हमने इस वास्तविकता पर कभी विचार ही नहीं किया कि हम मानव क्यों है। आप विचार करके देखेंगे, कि जहाँ तक सुख और दुःख के भोग का प्रश्न है, वहाँ तो प्राणी-मात्र भोगता ही है। हम अगर सुख-दुःख ही भोगते रहें, तो बताइये अन्य प्राणियों और मानव-जीवन में अन्तर ही क्या होगा? मानव-जीवन का आरम्भ ही तब समझना चाहिए, जब सुख और दुःख में जीवन-बुद्धि न रहे। हमें यह न मालूम हो कि कामना-पूर्ति ही जीवन है, या कामना अपूर्ति ही जीवन है। कामना-पूर्ति और अपूर्ति तो दो अवस्थायें हैं। ये अपने आप आती हैं और अपने आप जाती हैं। सभी भाई-बहनों का यह अनुभव है कि आपके चाहते हुए भी सुख चला जाता है, और न चाहने पर भी दुःख आ जाता है। जब हम सबका यह अपना अनुभव है, तब आप ही बताइये, कि सुख के प्रलोभन का और दुःख के भय का जीवन में स्थान ही क्या है? जब आपके चाहते हुए भी सुख चला ही जायेगा, और न चाहने पर भी दुःख आ ही जायेगा तो जो चला ही जायेगा, उसके प्रलोभन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। और जो आपके न चाहने पर भी आ ही जायेगा, उसके भय से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

इसलिए आज हम जो सुख का आवाहन करते रहते हैं, चिन्तन करते रहते हैं, दुःख से भयभीत होते रहते हैं। आप जानते हैं, आज के युग में लोगों ने बड़ा प्रयास किया, बड़े प्रयत्नशील हैं, किस बात के लिए? कि जीवन में जो सुख का भाग है, वह तो सुरक्षित बना रहे, और जो दुःख का भाग है वह निकाल दिया जाय। प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्दी आती है, तो कहते हैं कि कमरे को गर्म कर दो। और ग्रीष्म ऋतु आती है, तो कहते हैं कि कमरे को ठंडा कर दो। तो आप निरन्तर इसी प्रयास में लगे रहते हैं कि किसी तरह से सुख बना रहे और दुःख न आये। दूसरा प्रयास क्या रहता है? कि हम अपने से निर्बलों पर सदैव विजयी बने रहें, शासक बने

रहें। आप विचार करके देखिये, बल का जो सम्पादन है वह किस काम आयेगा? क्या बल से आप समान बल पर अथवा अधिक बल पर विजयी होंगे? कभी नहीं हो सकते। इसका दुरुपयोग क्या होग? दूसरों पर विजयी होने की अभिरूचि। सदुपयोग क्या होगा? निर्बलों की सेवा में। तो बल का जो सदुपयोग है, वह तो है सेवा में।

सेवा के लिए जिस बल की आवश्यकता है, वह बल आपको बिना माँगे, मिलेगा। क्यों? यह मंगल विधान है। परन्तु जब हम प्राप्त बल निर्बलों पर विजयी होने के लिए प्रयोग करने लगते हैं, तब क्या होता है? कि धीरे-धीरे बल की क्षति होने लगती है। और अन्त में वह विजयी उसी स्थिति में आता है जिस स्थिति में पराजित था। ऐसा विधान ही है इस दृष्टि से बल का उपयोग एक-मात्र सेवा में है। परन्तु आप जानते हैं, सेवा की अभिरूचि अथवा सेवा की सामर्थ्य कब आती है जीवन में? जब जीवन प्रेम से भरा हो। जिसमें हमारा प्रेम नहीं होता, हम उसकी सेवा नहीं कर सकते। एक बात। दूसरी बात, यह है कि सेवा करने के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जो सेवा-सामग्री है, यदि हम उसे अपना मानेंगे, तो हम सेवा नहीं कर सकते।

पुण्य-कर्म में और सेवा में अन्तर क्या है? अपनी वस्तु मानकर आप किसी की सहायता करते हैं, तो वह पुण्य-कर्म है, सेवा नहीं है। अपनी योग्यता मानकर सेवा करते हैं, तो वह भी कर्म है। अपनी सामर्थ्य मानकर सेवा करते हैं, तो वह भी कर्म है। सेवा कब होती है? जिसकी सेवा करना है, और जिस वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा करना है, वह वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य अपनी नहीं है, अपितु उसी की है, जिसकी सेवा करनी है। तो किसी की धरोहर को आदरपूर्वक भेंट कर देना यह है-सेवा। किन्तु आज हम इस बात को भूल जाते हैं। और जब कोई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त होती है, तो हम उसे अपनी मान लेते हैं। जब अपनी मान लेते हैं, तब उसके द्वारा अपने सुख के सम्पादन की रुचि जाग्रत् होती है। यह रुचि भूल से उत्पन्न हुई है, वास्तविक नहीं है। और जो चीज भूल से उत्पन्न होती है, वह किसी के लिए उपयोगी नहीं होती, न अपने लिये, न दूसरों के लिए।

इसलिये सबसे पहले इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमें जो कुछ मिला है, क्या वह हमारा

अपना है? एक बात। दूसरी बात-क्या अपने लिए है? इन दोनों प्रश्नों का निर्णय अपने द्वारा कर सकें और यह अनुभव कर सकें कि वास्तव में जो अपने को मिला है, वह अपना नहीं है। क्योंकि मिला हुआ कहते ही उसको है, जो किसी का दिया हुआ हो। हम लोगों को जिस कमरे में ठहरने को मिला है, क्या वह कमरा हम लोगों का अपना है? आपको मानना पड़ेगा-नहीं। तब क्या जो शरीर हम लोगों को मिला है, वह अपना है? जैसे कमरा मिला है, वैसे ही शरीर मिला है वैसे ही योग्यता मिली है, सामर्थ्य मिली है। वैसे ही सम्बन्धी मिले हैं। भाई! मिले हुए का अर्थ तो एक ही न! होगा। तो जो हम सबको मिला है, वह हम सबका व्यक्तिगत नहीं है।

किन्तु जिसने दिया है, वह इतना महान् है कि इस उदारता से दिया है कि हमें अपना ही मालूम होता है। यद्यपि आप देखेंगे कि पिता की दी हुई सम्पत्ति पुत्र को अपनी नहीं मालूम होती, उसमें अन्तर मालूम होता है। किन्तु जिस मंगलय विधान से हमें शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मिली है, ये हमें यही मालूम होती है कि हमारी अपनी हैं। आप देखेंगे जब कोई बालक युवावस्था को प्राप्त होताहै, उसके घर में कितनी ही सम्पत्ति हो उसके पिता की उपार्जित, किन्तु जब तक वह स्वयं उपार्जन करके खाता-पीता नहीं है, तब तक उसको वह रस नहीं मिलता, जो उसे अपनी उपार्जित सम्पत्ति से मिलता है। क्यों नहीं मिलता? यह एक स्वाभाविक बात है कि दूसरों की दी हुई जो वस्तु होती है, वह उतनी प्यारी नहीं लगती, जितनी अपनी उपार्जित होती है। किन्तु जिसने हमें उपार्जन की शक्ति दी, योगयता दी, कर्म-अनुष्ठान के लिए कर्म-सामग्री दी, विचार करने के लिए विवेक-रूपी प्रकाश दिया, इन्द्रिय-दृष्टि पर विजयी होने के लिए बुद्धि-दृष्टि दी, वह हमें ऐसी ही मालूम होती है कि मानो, हमारी है।

तो यह तो उस दाता की महिमा है। यह वास्तविकता थोड़े ही है! जब आप इस निर्णय पर पहुँच जाँय, ऐसा आपको अनुभव हो कि मुझे जो कुछ मिला है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिए नहीं है। आप कहेंगे, कैसे? आप विचार तो करें, आपके पास जो कुछ है, जब तक वह दूसरे के लिए उपयोगी नहीं होता, तब तक दूसरे के पास जो कुछ है, वह आपके लिए उपयोगी होता है क्या? आप दैनिक जीवन में विचार करें। जब कोई बोलता है, तो

वह श्रोता के काम आता है। ओर जब कोई सुनता है, तब सुनने से जो प्रतिक्रिया होती है, वह भले ही वक्ता के लिए उपयोगी हो। ऐसे ही आप देखेंगे, पति के पास जो कुछ है वह पत्नी के और पत्नी के पास जो कुछ है वह पति के काम आता है। दो वर्गों के बीच, दो व्यक्तियों के बीच, दो देशों के बीच आप पायेंगे कि जो उसके पास है, वह उसके काम नहीं आता। वह दूसरे के काम आता है। और दूसरे के पास जो कुछ है, वह अपने काम आता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि मिला हुआ अपने लिए नहीं है। यह आपका अपना ज्ञान है। यह कोई कल्पना नहीं है, मान्यता नहीं है। यह तो आपका आपना ज्ञान है। आपका अपना अनुभव है कि जो आपको मिला है, वह दूसरे के काम आता है। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि हम सब में वास्तव में-एकता है।

किन्तु वह एकता सुरक्षित क्यों नही रहती? वह इसलिए नहीं रहती कि हम मिले हुए की ममता से, मिले हुए के तादात्म्य से अपने में अनेक प्रकार की कामनायें उत्पन्न कर लेते हैं। यह जो कामनाओं की उत्पत्ति है, वह प्राकृतिक नहीं है। यह भूल-जनित है, इसलिए उनकी निवृत्ति हो सकती है। यदि कामनाओं की उत्पत्ति प्राकृतिक होती, तो निष्कामता कभी किसी को प्राप्त न होती। परन्तु विचारशीलों का मत है कि प्रत्येक भाई-बहिन को निष्कामता प्राप्त हो सकती है। कब प्राप्त होती है? कि जब वह मिले हुए की ममता से, मिले हुए के तादात्म्य से, मिले हुए के दुरुपयोग से अपने को रहित कर लेता है, तब उसे निष्कामता मिलती है।

अब आप सोचिये, यदि आपसे कोई कहे कि आप वह कीजिये, जो आप नहीं कर सकते। तो आप कहेंगे कि यह बात असम्भव है। किन्तु कोई आपसे कहे कि आप जो कर सकते हैं, वह करें। तो क्या आप नहीं कर सकते? आप मिले हुए का सदुपयोग कर सकते हैं। कब? जब दुरुपयोग न करने का निर्णय कर लें तब। देखिये, यह जो जीवन में कर्त्तव्य परायणता आती है न! वह भी श्रम-साध्य नहीं है, सहज है, स्वाभाविक है। परन्तु आज बड़ी कठिन मालूम होती है। और ऐसा मालूम होता है कि हम बड़े परिश्रमपूर्वक कर्त्तव्य का पालन कर रहें हैं। बड़ी कठिनाइयों से कर्त्तव्यपालन करते हैं। यह बात भ्रमात्मक है। किन्तु ऐसा मालूम होता है, प्रतीत होता है। क्योंकि हम वही

करते हैं जो नहीं करना चाहिए। यदि आप यह निर्णय कर लें कि हम मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो क्या परिणाम होगा उसका? कि या तो न करने की स्थिति प्राप्त होगी, या सदुपयोग होगा। सदुपयोग करेंगे-ऐसा नहीं दुरुपयोग न करने के निर्णय से ही अथवा यों कहिये, कि दुरुपयोग न करने से स्वतः सदुपयोग होता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ? कि कर्त्तव्यपरायणता स्वतः जीवन में आती है। उसके लिए केवल इस असत् का त्याग करना पड़ता है कि हम मिले हुए का दुरुपयोग न करें। यह असत् है न! आप सोचिये, आप सबल से क्या आशा रखते हैं? यही आशा रखते हैं कि वह आपकी रक्षा करें। किन्तु स्वयं निर्बल की रक्षा करना आपको कठिन मालूम होता है। क्योंकि कठिन मालूम होता है? कि आप इस बात को भूल जाते हैं कि बल निर्बल की सेवा-सामग्री है। अपितु यह मानने लगते हैं कि हमें बल के द्वारा अपने व्यक्तिगत सुख का सम्पादन करना है। व्यक्तिगत सुख माँग और भोग दो रूपों में आपके सामने आता है। माँग भी व्यक्तिगत सुख ही है। और कामना-पूर्ति भी व्यक्तिगत सुख है।

तो जब तक जीवन में भोग और माँग की रुचि रहती है, तब तक मानव मिले हुए बल का, मिली हुई वस्तु का सदुपयेग नहीं कर पाता। क्यों? जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मंगलमय विधान से दूसरों के लिए मिली है, उसका उपयोग जब हम अपने लिए करना चाहते हैं, तब उसका सदुपयोग नहीं कर सकते। तो सबसे पहले प्रत्येक भाई-बहन को इस वास्तविकता पर इस असलियत पर विचार करना होगा कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो अपने लिए नहीं है। यह निर्णय आपको स्वयं अपने सम्बन्ध में करना है। कोई दूसरा आपके सम्बन्ध में निर्णय नहीं कर सकता और न कोई दूसरा बलपूर्वक करा ही सकता है।

24(ब) अप्राप्त की कामना प्राप्तकी ममता दरिद्रता सिद्ध करती है।

क्या आप-हम इस बात को नहीं जानते हैं कि वैधानिक-दृष्टिसे राष्ट्र ने एक नियम बना दिया कि तुम एक सीमा से आगे सम्पत्ति अपने लिये नहीं रख सकते? इस नियम का पालन कितने लोग सचमुच कर पाते हैं? इस बात को कितने लोग अपनी बात मान पाते हैं? हमने बड़े-बड़े धार्मिक-विचार

के लोगों से सुना है, उन्होंने हमसे कहा है कि हम क्या करें! हम तो इन्कम-टैक्स इसलिए बचाते हैं कि सरकार के पास जो वस्तु जाती है उसका सदुपयोग ही नहीं होता। और यह बात किसी सीमा तक ठीक भी है, कम-से-कम इस देश के लिये।

एक भाई ने ब्लैक मार्केट किया। मैंने उनसे पूछा कि लोग कहते है कि आपके यहाँ भी ब्लैक मार्केटिंग हुआ। तो उन्होंने बड़ी ईमानदारी से कहा कि हुआ है। हमने कहा कि कैसे हुआ? तब उन्होंने कुछ बातें बताई-हमारी दुकान पर जो माल आता था कोटा का मिल से, वह पूरा नहीं उठता था, कोटा अधिक था, बिक्री कम थी, हमने सोचा कि जिस माल को हम नहीं लेते हैं उसका मिल-औनर ब्लैक करेगा, किसी को देते हैं तो वह ब्लैक करेगा, अतः यह बचा हुआ माल ब्लैक में ही बिकेगा, हम ही क्यों न करें!' तो उन्होंने किया और उसके बदले में-मैं उन्हीं की कही बात कहता हूँ-"लाखों रुपया आया, थोड़ा-बहुत नहीं, पर वह सारा का सारा रुपया मैंने सार्वजनिक काम में लगा दिया।" यह बात भी ठीक नहीं है। तो बहुत से लोग ऐसा भी सोच बैठते हैं कि हम ब्लैक से रुपया कमायेंगे और किसी अच्छे काम में लगा देंगे।

आप सोचिये। बात किसी दृष्टि से किसी सीमा तक ठीक भी है कि आज की सरकार के काम बड़े लचर-पचर होते हैं। जितना व्यय होता है, उतना काम नहीं होता। यह बात भी आज ठीक है। परन्तु एक बात तो सोचिये, चरित्र का महत्त्व बढ़ा कि वस्तु का? आपको यह मानना पड़ेगा कि वस्तु का महत्त्व बढ़ा। जब तक जीवन में वस्तु का महत्त्व है, तब तक वास्तविक निर्लोभता का साक्षात्कार होगा? अथवा यों कहिये कि क्या हमें निर्लोभता प्राप्त होगी? वस्तु का महत्त्व होते हुये निर्लोभता प्राप्त नहीं हो सकती। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि निर्लोभता प्राप्त हुए बिना दरिद्रता का नाश नहीं होता, आपके पास सम्पत्ति कितनी ही हो।

दरिद्रता का स्वरूप क्या है? अप्राप्त की कामना बनी रहे-एक बात। आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो-दो बात। दरिद्रता का अर्थ इसके अतिरिक्त कुछ होगा वह कम-से-कम मेरी समझ में नहीं आया। देखिये, सम्पत्तिशाली का अर्थ यह नहीं है कि एकाउण्ट बैंक में रखा रहे तो आप बड़े सम्पत्तिशाली है। सम्पत्तिशाली का

अर्थ जो मैंने समझा है, वह यह है कि आवश्यक वस्तु आवश्यकता से पूर्व ही आपको प्राप्त हो जाय। आप देखेंगे कि बालक का जन्म पीछे होता है और माँ के स्तन में दूध पहले आ जाता है। यह नियम है कि आवश्यकता से पूर्व आवश्यक वस्तु की उत्पत्ति होती है। वास्तव में सम्पत्तिशाली कौन हुआ? कि जिसको आवयकता उत्पन्न होने से पहले वस्तु की प्राप्ति हो जाय। दरिद्रता क्या हुई? कि आवश्यकता तो है, पर वस्तु है ही नहीं। अथवा जो है उसमें तो सन्तोष न हो, और जो नहीं है, उसकी कामना हो।

अप्राप्त की कामना सिद्ध करती है कि हमारे जीवन में दरिद्रता है। प्राप्त का सदुपयोग, और अप्राप्त की कामना का न होना, संग्रह की रुचि का न होना, मिले हुये का दुरुपयोग न करना-इससे निर्लोभता सिद्ध होती है। और जब जीवन में निर्लोभता आ जाती है, तब आप इस बात को मानें, न मानें, अनुभव करके देखें कि निर्लोभता के आने से आवश्यक वस्तु की प्राप्ति होती है। तो निर्लोभता का असली स्वरूप क्या हुआ? कि वस्तु से अपना मूल्य अधिक हो जाय। शरीर के साथ इस विधान को लगायेंगे तो जहाँ निर्लोभता आयेगी, वहाँ निर्मोहता भी जायेगी। परिस्थिति के साथ लगायेंगे तो वहां निष्कामता भी आ जायेगी। अवस्था के साथ लगायेंगे तो असंगता भी आ जायेगी।

एक ही गुण स्थान भेद से निर्लोभता, निर्मोहता, निष्कामता और असंगता के रूप में अभिव्यक्त होता है। उसी प्रकार एक ही दोष स्थान भेद से कहीं लोभ के रूप में, कहीं मोह के रूप में, कहीं कामना के रूप में, कहीं तादात्म्य के रूप में है। अनेक दोष नहीं है। एक ही दोष है, स्थान भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। और एक ही गुण है, जो स्थान भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। तो कौन-सा दोष ? "यह" के द्वारा अपना मूल्यांकन करना। जो मिला है, उसी से मेरा महत्त्व है- यही सबसे बड़ा दोष है। और सबसे बड़ा गुण क्या है भैया? एक ही वाक्य में सोचिये। जो "है" उसी में मेरा महत्त्व है। यह सबसे बड़ी विशेषता है।

"है" को मिले हुये से अलग मानना होगा। मिला हुआ-है और "है" एक नहीं है। जैसे आप कहें कि मेरे पास शरीर है। शरीर को आप "है" नहीं कह सकते। शरीर तो आपको मिला है। "है" उसे कह सकते हैं जिसका कभी नाश न हो और जिससे

कभी विभाजन न हो। आप देखेंगे कि कोई भी उत्पत्ति उससे विभाजित नहीं होती जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है। अतः समस्त विश्व उससे अलग हो ही नहीं सकता जो उसका आश्रय है, जो उसका प्रकाशक है। तो हम सब अपने आश्रय से, अपने प्रकाशक से विभाजित नहीं हो सकते स्वरूप से। किन्तु आज हम उससे अपने को अलग मानते हैं। और जो मिला हुआ वे उससे अभिन्न मानते हैं। यह असत् का संग हो गया न!

यानी जो मौजूद है उससे तो अपने को अलग मान लिया, और जो मिला है उससे अपने को अभिन्न मान लिया। तभी न! आप कहते हैं-शरीर मेरा है। आप यह क्यों नहीं स्वीकार कर पाते कि प्रभु मेरा है? आप विचार करके देखिये, जिस प्रकार आपको आज शरीर अपना मालूम होता है, उसी प्रकार उसी सत्यता के साथ, उसी दृढ़ता के साथ, उसी निर्विकल्पता के साथ, उसी आस्था और विश्वास के साथ यह क्यों नहीं मालूम होता कि प्रभु मेरा है? इसलिये न! कि मिले हुए को आपने अपना मान लिया और जो मौजूद है उसे आप अपना नहीं मान पाते। उसी का परिणाम क्या होता है कि आज आपके सामने यह प्रश्न है कि क्या बतायें! भवगत्-स्मृति नहीं होती, स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, परम शान्ति नहीं मिलती, पराधीनता नहीं मिटती, नीरसता का नाश नहीं होता, जड़ता में आबद्ध हो गये हैं। यह सभी बातें आपके जीवन में क्यों मालूम होती हैं?

एक ही बात से कि जो मौजूद है वह आपको अपना नहीं मालूम होता है। इस भूल के रहते हुए आप बलपूर्वक कितना ही तो तप कीजिये, कितना ही अध्ययन कीजिये। आपका किया हुआ तप, आपका किया हुआ अध्ययन आप में एक मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करेगा। क्यों? मूल में भूल है यों। मानव-सेवा-संघ ने यह नहीं कहा कि आप तप न करें, कि आप अध्ययन न करें। या तप की कोई निन्दा की हो या खण्डन किया हो, या अध्ययन का खण्डन किया हो-यह नहीं कहा, पर यह अवश्य कहा कि जो मिला है यदि उसको आप अपना मानेंगे और उसको अपना मानकर उसके द्वारा जो कुछ करेंगे, उससे आपकी माँग पूरी नहीं होगी। उससे आप मिथ्या-अभिमान में आबद्ध होंगे। और जहाँ अभिमान आ जाता है वहाँ अनेक प्रकार के दोष स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।

इसलिए जो मिला है उसके द्वारा आप अपने लिए कुछ नहीं कर सकते। उसके द्वारा तो आप विश्वभगवान् की सेवा कर सकते हैं, चाहे किसी भी नाते कीजिए। किन्तु सेवा ही उसके द्वारा कर सकते हैं। अपने काम आपको जो मिला है, वह नहीं आ सकता। इस बात पर यदि आप गम्भीरता पूर्वक विचार कर लें, और यह बात आपकी बात मालूम हो, ऐसा अनुभव हो कि यह तो मेरा ही ज्ञान है, यह तो मेरा ही सत्य है। तो आप बड़ी ही सुगमापूर्वक ममता से, कामना से, तादात्म्य से रहित हो सकते हैं। ममता, कामना, तादात्म्य के मिटाने के लिये किसी भी श्रम-साध्य साधन की आवश्यकता नहीं होती।

परन्तु यह रहस्य कोई विरले ही विचारशील जान पाते हैं। नहीं तो लोग ऐसा ही सोचते हैं कि हम विधिवत् शास्त्रों का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक भला कैसे ममता, कामना, तादात्म्य का नाश हो पायेगा! लेकिन शास्त्रों के अध्ययन करने के बाद भी-जिन्होंने किया है, उनसे जरा मिलिये और उनसे यह कहिए कि जरा, ईमानदारी से अपनी दशा तो बता दो। तो मैंने ऐसासुना है कि लोग यह कहते हैं कि हम क्या बतायें! सब कुछ पढ़ने के बाद भी समस्या हल नहीं हुई।

एक बार मैं काशी में ठहरा हुआ था। तो एक शास्त्री मेरे पास आये। और उन्होंने कहा कि महाराज! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपके विचार से, आपके मत से सृष्टि का स्वरूप क्या है? मैने कहा कि पंडित जी! आप जितना पढ़े हो उतना तो मै। बीस वर्ष में भी नहीं पढ़ पाऊँगा। और आप मुझसे पूछते हैं कि मेरे मत से सृष्टि का स्वरूप क्याहै? बोले, स्वामी जी! मैं सच कहता हूँ कि मैं इस विषय पर अनेकों व्याख्या दे सकता हूँ, विवाद कर सकता हूँ, परन्तु मेरा समाधान नहीं है कि वास्तव में सृष्टि का स्वरूप क्या है! यह दशा होती है अध्ययन की। क्यों होती है?

इसमें एक रहस्य है। और वह रहस्य यह है कि आप जो कुछ अध्ययन करेंगे उसकी पहुँच बुद्धि तक है। यानी अध्ययन करने से आपकी बुद्धि सुन्दर बनती है, सबल बनती है। लेकिन सम होती है क्या? आप विचार करें। अध्ययन-मात्र से बुद्धि सम होती है क्या? बुद्धि सम होती है-निष्काम होने से, निर्मम होने से। अध्ययन से सम नहीं होती। अब आप सोचिये, आप बिना अध्ययन के यह अनुभव

करते ही हैं कि मिली हुई वस्तु मेरी नहीं है। और आपने ममता का त्याग कर दिया, तो क्या आपकी बुद्धि सम नहीं होगी? अवश्य होगी। और जब बुद्धि सम होगी, तब क्या विचार का उदय नहीं होगा? अवश्य होगा। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी? प्रीति की जागृति नहीं होगी? अवश्य होगी।

इसलिये मेरा यह निवेदन है कि जब आप अपने जाने हुये असत् का त्याग कर देते हैं, तब आप बड़ी ही सुगमतापूर्वक अकर्त्तव्य से रहित होते हैं, असाधन से, समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। और अकर्त्तव्य से रहित होते ही जीवन में कर्त्तव्य-परायणता आती है। असाधन से रहित जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य यह निकला कि प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन अपने ही द्वारा अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं। कब? जब जाने हुए असत् का त्याग करें तब।

आज साधक-समाज के लिये अपने जाने हुये असत् का त्याग हो गया दुर्लभ। तब दूसरों के बताये असत् का त्याग कर पायेंगे आप? जब आप अपने ही जाने हुये असत् का त्याग नहीं कर सकते, तब किसी आचार्य ने कह दिया, किसी ग्रन्थ में लिख दिया, किसी ग्रन्थकार ने लिख दिया कि भाई। यह तो असत् है, इसका त्याग करो। तो अपने जाने हुये असत् का तो त्याग न करो, तब ग्रन्थ में पढ़े हुये असत् का त्याग आप कर पायेंगे? यह आप अपने से पूछिये। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि यदि आप ग्रन्थ में बताये हुये असत् का त्याग कर दें। प्रयोजन तो केवल असत् के त्याग से है। किन्तु यदि आप गम्भीरता से विचार करेंगे तो अपने जाने हुये असत् का त्याग अपने को जितना सुगम होगा, उतना दूसरों के बताये हुए असत् का त्याग सुगम नहीं होगा।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में इस बात पर बहुत ही ज्यादा जोर डाला है कि आप अपने जीवन में से जाने हुये असत् का त्याग कर दें। अथवा आप अपने सम्बन्ध में विचार करें। आपको स्वतः असत् का ज्ञान होगा। और सच पूछिये तो ज्ञान असत् का ही होता है, सत् की तो प्राप्ति होती है। देखिये, आप जिसको जानते हैं उसे उससे असंग होकर जानते हैं। और आपको जो प्राप्त होता है, वह उससे अभिन्न होकर होता है। प्राप्ति में अभिन्नता, अनुभूति में असंगता हेतु है। तो आप असत् को जान सकते हैं, असत् को जानते भी हैं। और सत् को

प्राप्त कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं हैं।

परन्तु जब तक आप यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में जो भूल है, वह किसी दूसरे के द्वारा मिटेगी, तब तक भूल रहती ही है। और जब आप यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में क्या भूल है! देखने का प्रयास आप करते हैं, तब आपको भूल का ज्ञान भी होता है और भूल के ज्ञान-मात्र से भूल का नाश भी होता है। और आप भूल-रहित होकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक जीवन की वास्तविकता को प्राप्त करते हैं। अर्थात् आपको परम प्रेम की प्राप्ति होती है। चाहे ऐसा कह दो कि प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है। और चाहे ऐसा कह दो कि आपको प्रेम की प्राप्ति भी होती है, स्वाधीनता की प्राप्ति भी होती है, परम शान्ति की प्राप्ति भी होती है, दुःखों की निवृत्ति भी होती है। चाहे इन चारों बातों को सामने रखकर कह दो। और चाहे ऐसा कह दो कि भाई! प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

क्यों? दुःख का नाश हो भी जाय, शान्ति मिल भी जाय, स्वाधीनता मिल भी जाय, और आपके जीवन में यह अहम् बना रहे कि "मैं शान्त हूँ", "मैं स्वाधीन हूँ।" तो यह तो बताओ कि आज तुम शान्त हो, स्वाधीन हो, तो दुःखी कौन था? तो दुःखी भी मैं ही था। अगर तुम फिर दुःखी हो गये, तब क्या करोगे? विचार तो करो। इसका उपाय क्या है? न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। न अहम् रहे, न दुःखी होने का भय रहे, न पराधीन होने का भय रहे। अब आपको यह भ्रम होगा कि जब हमी नहीं रहे, तब रहा क्या!, कि भाईः रहा वह जो "है" क्या है? "है" और उसकी प्रियता। बहुत गम्भीरता से विचार कीजिये। "है" और उसकी प्रियता। तो वह जो आपका अहम् है; वह प्रियता में परिणत होगा।

देखिए, यह जो तत्त्व-दृष्टि से बताया जाता है कि सीता राम हैं, राधा कृष्ण हैं, गौरी शिव हैं। इसका क्या मतलब? शिव की प्रियता ही तो गौरी हैं। राम की प्रियता ही तो सीता हैं। कृष्ण की प्रियता ही तो राधा हैं। आप विचार करके देखेंगे, तो गुरु-तत्त्व क्या है? गुरु-तत्त्व भी तो साध्य की प्रियता ही है। मानव-सेवा-संघ की भाषा में जिसे साधन-तत्त्व कहा है, सन्त-मत में उसे गुरु-तत्त्व कहा है, वैष्णव मत में उसे राधा तत्त्व, गौरी-तत्त्व, सीता-तत्त्व कहा है। और आप जानते हैं? प्रियता से प्रियतम को रस मिलता है! रस मिलता है!! प्रियता प्रियतम के लिए

उपयोगी है। प्रियता प्रियतम से अभिन्न है, भिन्न नहीं है। तो इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि शान्ति, स्वाधीनता ये भूमि है प्रियता की।

अगर आप शान्ति में रमण करते रहे, स्वाधीनता में सन्तुष्ट होते रहे, तो प्रियता जाग्रत नहीं होगी। स्वाधीनता में रति-इसका मतलब क्या? 'स्व'में रति। यह भी तो प्रियता का ही रूपान्तर है। तो तात्पर्य क्या निकला? कि आपका जो अस्तित्व था; वह किसी की प्रीति हो गया। प्रीति में अपना कुछ नहीं होता। प्रीति में जो कुछ होता है, वह प्रियतम का ही होता है। अर्थात् प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं। तो आप मानव होने के नाते उस प्रियतम के स्वभाव से अभिन्न हो सकते हैं; और इसी परिस्थिति में हो सकते हैं और स्वाधीनता पूर्वक हो सकते हैं।

कब? जब इस बात को मान लें कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। इस बात को मानते ही असंगता प्राप्त होती है। असंगता के आते ही परिच्छिन्नता नाश होती है, पराधीनता नाश होती है। किन्तु पराधीनता से पीड़ित प्राणी का जब स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, तब वह यह भूल जाता है और उसका भोग करने लग जाता है। यह जो आवाज है कि "मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं शुद्ध हूँ", "मैं बुद्ध हूँ" "मैं बुद्ध हूँ"- यह आवाज क्या है? यह पराधीनता के अन्त के बाद पहली आवाज है, पहली आवाज है। इसी आवाज को सिद्धान्त मत मान लो, साधन मान लो। यह साधन है। यह साध्य नहीं है। तो साध्य क्या है? अगाध प्रियता, अनन्त प्रियता, नित्य प्रियता। आप जानते हैं! कि जिज्ञासा की पूर्ति होती है, कामना की निवृत्ति होती है। किन्तु प्रियता की न तो निवृत्ति होती है, न पूर्ति होती है और न कोई क्षति होती है।

आप सोचिये, जिसकी क्षति नहीं, जिसकी निवृत्ति नहीं उसे क्या आप असत् कह सकते हैं? उसे असत् नहीं कहते। उसे आप अभावयुक्त नहीं कह सकते। उसे आप अधार्मिक नहीं कह सकते। जिसकी पूर्ति नहीं, उसे आप क्या सीमित कह सकते हैं? सीमित नहीं कह सकतें। तो प्रीति भावरूप है, असीम है, चिन्मय है, नित्य है और अनन्त को रस देने में समर्थ है। और प्रत्येक भाई की, प्रत्येक बहन की जो एकता होती है अभिन्नता होती है, वह प्रीति के ही साथ होती है। चाहे वह प्रीति विश्व-प्रेम के रूप में आपको

भासित हो, आत्म-रति के रूप में भासित हो, अथवा प्रभु-प्रेम के रूप में भासित हो।

किन्तु प्रीति स्वाभाव से विभु है, सीमित नहीं है। नित्य है, अनित्य नहीं है। चिन्मय है, जड़ नहीं है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। और वह प्रेम निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से ही साध्य है। और निष्कामता, निर्ममता और आत्मीयता असत् के त्याग में ही निहित है।

25

वस्तुओं के दुरुपयोग का अर्थ है कि उनको व्यक्तियों की सेवा में न लगाया जाय।

वस्तुओं के सदुपयोग का अर्थ है कि उनको व्यक्तियों की सेवा में लगा दिया जाय।

सेवा का क्रियात्मक रूप कितना ही अल्प हो अथवा विभु हो, उसके फल में कोई अन्तर नहीं है।

कर्म जिस सीमा का होता है, उसका फल भी उसी सीमा का होता है। परन्तु सेवा अल्प हो अथवा विशेष, उसका फल है-निर्विकार हो जाना, निष्काम हो जाना, स्वाधीन हो जाना, और प्रियता की जागृति होना।

त्याग का भी यही फल होता है, और आत्मीयता का भी यही फल होता है।

श्रीकृष्ण का प्रेम ही मूर्तिमान राधा हैं। सन्त-मत के अनुसार साध्य की अगाध प्रियता ही गुरु-तत्व है। साधक की उसी से अभिन्नता होती है। प्रेम का रस अनन्त होता है।

जहाँ दो नदियों का संगम होता है, वहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं है। जल ही जल है दोनों ओर। जातीय एकता भी है और स्वरूप की एकता भी है; फिर भी नित-नव गति है।

25(अ) जो पराये दु:ख से दु:खी नहीं होता उसे अपने दु:खसे दु:खी होना पड़ेगा।

सच बात तो यह है कि कोई भी ऐसी नई बात जिसे आप नहीं जानते हैं, नहीं बता सकता। कारण क्या है कि प्रत्येक भाई-बहन के जीवन

में जो श्रद्धा है, जो आस्था है, जो क्रियाशीलता है, उसी के द्वारा उसका विकास है। हम सब जब यह जानते ही हैं कि किसी भी वस्तु, दशा या परिस्थिति के आश्रय से जीवन में स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती, तो फिर वस्तुओं के साथ, व्यक्तियों के साथ जो तादाम्त्य है, उससे क्या मिल सकता है! यह बात अलग रही कि हम वस्तुओं के सदुपयोग से, तथा व्यक्तियों की सेवा से, परिस्थितियों के सदुपयोग से अपने को उपयोगी बनायें। किन्तु वस्तुओं से हम उपयोगी होंगे-यह भूल है।

सदुपयोग का अर्थ क्या है? सदुपयोग का अर्थ है-वस्तुओं का दुरुपयोग न करना। वस्तुओं का दुरुपयोग क्या है? इस पर आप विचार करें, तो मालूम होगा कि जो वस्तु व्यक्तियों की सेवा में व्यय नही होती, वह उसका दुरुपयोग है। अर्थात् वस्तु व्यक्तियों के लिये है। किन्तु व्यक्ति यदि विवेकी नहीं है, सत्य का जिज्ञासु नहीं है, तो उस व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। क्यों? विवेक-शून्य जीवन मानव-जीवन नहीं है। अब विवेक का अर्थ क्या है? आप जानते हैं कि क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति अथवा स्थिरता-ये अवस्थायें हैं। प्राकृतिक विधान से अपने आप आती हैं। इन अवस्थाओं के तादात्म्य से हम अपने को परिच्छिन्नता में आबद्ध करते हैं।

अवस्थायें प्राकृतिक हैं। तादात्म्य भूल-जनित है। और अपनी भूल मिटाने का दायित्व ही अपने पर है। और इसी का नाम 'सत्संग' है। तो जो अवस्था प्राप्त है, उससे यदि असंगता का अनुभव हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक समता के साम्राज्य में हम सबका प्रवेश हो सकता है। अर्थात् समता अवस्थाओं से असंग होने में है। आप चाहो तो, न चाहो तो, अवस्थायें अपने आप बदल जाती हैं, सदैव नहीं रहतीं। किन्तु जीवन की माँग अविनाशी की है। हम सदैव रहें-यह जीवन की माँग है। तो इस माँग की पूर्ति के लिये अवस्थाओं से असंग होना आवश्यक है।

अवस्थाओं से असंग होने के लिये सबसे सुगम-सहज और स्वाभाविक उपाय यही मालूम होता है कि जिस अवस्था का आपको भास है, प्रतीति है, उससे विमुख होकर अनुभव करें, कि क्या है? जैसे किसी पौधे को आप उगता हुआ देखते हैं, फूलता-फलता हुआ देखते हैं, किन्तु उसी पौधे

का अभाव भी देखते हैं। उसी प्रकार आप अपने व्यक्तित्व में क्रियाशीलता भी देखते हैं और स्थिरता भी देखते हैं। अथवा यों कहिये कि चिन्तन-रहित दशा भी देखते हैं। तो जो चीज देखने में आती है, वह देखने वाले से भिन्न होती है। और जिसके द्वारा देखने में आती है, वह भी वास्तव में दृश्य ही है।

इस दृष्टि से अगर आप सोचेंगे, तो समस्त अन्तः-बाह्य करण दोनों करण-बाह्यकरण भी और अन्तःकरण भी-चाहे शरीर-इन्द्रिय आदि कहो, चाहे मन-बुद्धि आदि कहो, ये दोनों ही करण आपको प्राप्त हैं। और जब आप संकल्प पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं, तब आपका सम्बन्ध इन करणों से होता है, इन साधनों से होता है। और इस सीमा तक सम्बन्ध हो जाता है कि इन साधनों में और अपने में यानी जो साधन हैं कार्य करने के उनमें और अपने में विभाजन ही नहीं कर पाते। और जब मिले हुए साधनों में और अपने में विभाजन नहीं कर पाते, तब व्यक्तित्व को ही "मैं" मान लेते हैं कि शरीर के रूप में, इन्द्रियों के रूप में, इन्द्रियों के रूप में जो कुछ है, यही "में" हूँ।

इस भूल का परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के साथ एकता का अनुभव करने पर किसी-न-किसी प्रकार की कामना का जन्म हो जाता है। और जब कामना का जन्म हो जाता है तब उसकी पूर्ति में जो सुख-दुःख है, उसमें आबद्ध हो जाते हैं। तो बन्धन क्या है? सुख-दुःख में आबद्ध होना-यही तो बन्धन है। इस बन्धन से मुक्त होने के लिये उपाय क्या है? अपने में और जो करण आपको प्राप्त हैं, उनमें विभाजन स्वीकार करें, और अपने ही द्वारा स्वीकार करें। जिसे आप मेरा करके अनुभव करते हैं, उसे 'मैं' करके स्वीकार न करें। जब 'मेरे' को 'मैं' करके स्वीकार नहीं करते, तब "मैं" क्या है?' यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। "यह" "मैं" नहीं है-यह तो आपका अनुभव है। परन्तु "मैं" क्या हूँ?"-यह आपका अनुभव नहीं है। यह आपकी जिज्ञासा है!

तो इस जिज्ञासा की पूर्ति कैसे होती है? निष्कामता से, निर्ममता से, असंगता से। तो असंगता साधन है "मैं" की वास्तविकता के बोध में। अब "मैं" का बोध किसके द्वारा होगा? तो किसी करण की अपेक्षा से नहीं होगा, और न किसी आस्था से होगा। आस्था के आधार पर "मैं" का निर्णय करते हैं तो वह आपका बोध नहीं होता। यह और बात है कि विकल्प-रहित आस्था बोध

जैसी मालूम पड़े। जिसे आप स्वीकार कर लेते हैं, वह आपकी स्वीकृति है, बोध नहीं है। तो प्रतीति के आधार पर और स्वीकृतियों के आधार पर "मैं" का बोध नहीं होता। "मैं क्या है?"-इसका अनुभव नहीं है। किन्तु "प्रतीति और स्वीकृति" "मैं" नहीं है-यह अनुभव है। जब प्रतीति के साथ हमारा तादात्म्य नहीं रहता, और स्वीकृति में जब हमारी अहम्-बुद्धि नहीं रहती, तब निर्विकारता और विश्राम-ये आपको प्राप्त होते हैं। आप श्रम-रहित होते हैं और विकार-रहित होते हैं।

श्रम-रहित होने से, और विकार-रहित होने से जिस जीवन में प्रवेश होता है, अथवा जिस जीवन के साथ अभिन्नता होती है, वही वास्तविक जीवन है। आज हम उस जीवन से निराश हो गये हैं। और यह सोचने लगे हैं कि भला, हम साधारण मानव को उस जीवन की प्राप्ति कैसे हो सकती है! आप विचार तो कीजिये, भूख किसी को लगी हो और भोजन किसी को मिले? यह सम्भव है क्या? आपको मानना ही पड़ेगा कि जिसको भूख लगती है, वही भोजन करता है। अतः जिसमें आवश्यकता है, उसी की माँग पूरी होती है। आवश्यकता तो हो हम में, और माँग पूरी किसी और की हो? ऐसा विधान नहीं हो सकता।

इस कारण हम सबको अपने में से यह भ्रमात्मक धारणा सदा के लिए निकाल देनी चाहिए कि वह जीवन जो प्रतीति व स्वीकृति से परे है, हमें नहीं मिल सकता। अवश्य मिल सकता है। कैसे? निर्विकारता और विश्राम से। यह निर्विकारता और विश्राम साधन हुआ, साध्य नहीं हुआ। यदि कोई कहे निर्विकारता ही जीवन है, विश्राम ही जीवन है-ऐसा नहीं। यह निर्विकारता और विश्राम उस जीवन का साधन है, जीवन नहीं है। क्यों? यदि आप निर्विकारता और विश्राम को ही जीवन मान लेंगे, तो पर-प्रकाश्य वस्तुओं में बताइये, कहाँ विकार है? कहाँ श्रम है? एक पत्थर के टुकड़े को कहाँ मालूम होता है कि मैं श्रमित हूँ? कहाँ अनुभव होता है कि उसमें कोई विकार है? तो निर्विकारता और विश्राम जीवन नहीं है।

निर्विकारता और विश्राम से जीवन की अभिव्यक्ति होती है। तो अपना प्रयास कहाँ तक चला? जहाँ तक निर्विकारता और विश्राम प्राप्त नहीं हैं। अब आप सोचिये कि निर्विकारता प्राप्त करने के लिए

निर्ममता, निष्कामता और असंगता के सिवाय और कोई भी उपाय मालूम नहीं होता। आप इस बात को एक बार सुनकर मान लें, अनेक बार सुनकर मान लें। किन्तु यदि जीवन में निर्विकारता की माँग है, तो निर्ममता, निष्कामता और असंगता प्राप्त करनी ही होगी। और इनमें से किसी भी एक की प्राप्ति से-जैसे यदि आपने निर्ममता प्राप्त कर ली, तो निष्कामता की शक्ति आयेगी, निष्कामता प्राप्त कर ली, तो असंगता की शक्ति आयेगी। परन्तु जिस समय निर्ममता आपको प्राप्त हो, उस समय "मैं निर्मम हो गया"-अगर ऐसा आपने गुणों का आरोप कर लिया अपने में, तो निष्काम होना कठिन हो जायेगा। कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा।

तो निर्ममता अपनाना है, किन्तु "मैं निर्मम हूँ"-इस प्रकार अपने में आरोप नहीं करना है। ऐसे ही निष्काम होना है, पर "मैं निष्काम हूँ"-ऐसा आरोप नहीं करना है। इतना ही नहीं, निर्ममता-जनित जो निर्विकारता है और निष्कामता से उदित जो शान्ति है, उसमें भी रमण नहीं करेंगे, तब असंगता प्राप्त होगी। असंगता का मतलब क्या है? किसी गुण और दोष के आश्रित जो हम अपने को जीवित रखते हैं, यही असंगता में बाधक है। तो दोषों की तो उत्पत्ति न हो, और गुणों का भोग न हो। देखिये, भोग का अर्थ क्या है? पराश्रय द्वारा अपने को सन्तुष्ट करने का प्रयास। इसी का नाम भोग है। जब हम पराश्रय से अपने को सन्तुष्ट नहीं करते हैं, तब भोग का नाश होता है और योग की प्राप्ति होती है।

योग हमें पराधीनता से स्वाधीनता की ओर अग्रसर करता है। और भोग हमें स्वाधीनता से पराधीनता की ओर ले जाता है। किसी अन्य के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है- यह जो भ्रान्ति है, यह जो प्रलोभन है, इसी का परिणाम है-योग से विमुख होना। तो क्या हमारे द्वारा किसी को कुछ मिल सकता है? इस सम्बन्ध में जब आप विचार करेंगे तो आपको यह विदित होगा कि जब हम मिले हुए को अपना नहीं मानते, उस पर अधिकार नहीं रखते, उसका दुरुपयोग नहीं करते, तब उसे मिले हुये के द्वारा विश्व की सेवा होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि आप विश्व को कोई ऐसी वस्तु देते हैं जो आपकी है। यह इसका अर्थ नहीं है। सेवा का अर्थ है यह कभी नहीं होता कि हम जिसकी सेवा करते हैं, उसे कुछ देते हैं।

सेवा का अर्थ ही इतना है कि उसकी धरोहर जो अपने पास है, वह उसे भेंट करते हैं। यानी जिसकी जो वस्तु है, उसी को उसे दे देना-इसका नाम सेवा है। आप अपनी ओर से कुछ नहीं देते। क्यों जो मिला है, उसी से न! सेवा करते हैं तो जब मिले हुए के द्वारा सेवा होती है, तो फिर आपने अपना क्या दिया? जब तक आपको यह मालूम हो कि हम अपनी वस्तु के द्वारा अपनी योग्यता के द्वारा, अपनी सामर्थ्य के द्वारा सेवा करते हैं, तब तक तो यह समझना चाहिये कि सेवा का आरम्भ ही नहीं हुआ है। आप विचार करें। अपनी वस्तु है क्या? यदि आपकी वस्तु होती, तो आपके लिये उपयोगी होती।

तो जब मिली हुई वस्तु आपके लिये उपयोगी नहीं है, तब आप कैसे कह सकते हैं कि वस्तु आपकी है? हाँ आपको मिली है। किसने दी है, उसे आप भले ही न जानते हों, पर यह तो आप जानते ही हैं कि मिली हुई वस्तु आपकी नहीं है। किसी ने मान लिया कि प्रभु ने दी है। किसे ने मान लिया कि शायद वैसे ही अनायास मिल गई है। किसी ने मान लिया कि मालूम होता है कि हमारे पास कुछ है, पर है नहीं। कोई भी दृष्टिकोण हो, परन्तु यह तो सभी दृष्टियों से सिद्ध है कि जो मिला है, वह आपका तो नहीं है। और उसी के द्वारा आप सेवा करते हैं। किन्तु आपके जीवन में पर-पीड़ा नहीं है, तो आप सेवा नहीं कर सकते।

सेवा करने के लिए पर-पीड़ा को अपनाना अनिवार्य होता है। आप कहेंगे कि हम अपनी ही पीड़ा से पीड़ित हैं, हमें कहाँ अवसर मिलता है कि हम पर-पीड़ा को अपनायें! आप अपनी पीड़ा से तभी तक पीड़ित हैं, जब तक आप पर-पीड़ा को नहीं अपनाते। यह नियम है कि जो पराये दुःख से दुःखी नहीं होता, उसे अपने दुःख से दुःखी होना ही पड़ता है। तो यदि आप अपने दुःख से बचना चाहते हैं तो उसका बाह्य उपाय है-पर-पीड़ा को अपनाना। अर्थात् हमें दूसरों का दुःख अपना दुःख मालूम हो। ऐसा आप कहें कि यह कैसे सम्भव होता है? भाई, जिनको आप अपना मानते हैं, उनके दुःख से आप दुःखी होते हैं कि नहीं?

अगर किसी की गाड़ी फँस गई हो, तो फँस रही है गाड़ी और दुःखी है वह स्वयं। क्यों? यह ममता का प्रभाव है। ममता जिसके प्रति होती है, उसके दुःख से दुःखी कर देती है।

जब ममता का यह प्रभाव है, तब सर्वात्म-भाव का कितना प्रभाव होगा! आज हम सभी को अपना नहीं मानते हैं, उसका यह परिणाम है कि सेवा करना हमारे लिये कठिन सा हो गया है। भार-सा हो गया है। इतना हीं नही, असम्भव-सा हो गया है। आप कहें कि अपना बिना माने भी हम सेवा तो करते ही है। जैसे कोई खेत में दाना बोये, तो खेत की सेवा करता है या कि खेत से सेवा लेता है? अगर आप विचार करेंगे, तो आपको मानना पड़ेगा कि खेत से सेवा लेते हैं, खेत की सेवा करते नहीं हैं। उसी प्रकार जब आप किसी वस्तु को अपना मानकर किसी की सेवा करते हैं, और आप इस बात को जानते हैं कि दूसरों को दिया हुआ, कई गुना अधिक होकर मिलता है। तो यह सेवा करना है, कि व्यापार करना है? आप विचार कीजिये।

सेवा तो तब न! होगी, जब आप इस बात को स्वीकार करें कि जिन वस्तुओं के द्वारा हम सेवा कर रहें हैं, और जिनकी सेवा कर रहें है, या तो वे वस्तुयें उन्हीं की हैं, अथवा वे अपने ही हैं। तो अपने हाथ से अपना मुँह धोने पर किसी को सेवा थोड़े ही मालूम होती है! सेवा में भिन्नता वास्तव में नहीं है। सेवा में अपना करके अपना कुछ नहीं है। तब तो सेवा बनती है, नहीं तो नहीं बनती। और जब तक आप सेवा नहीं करते, तब तक न तो आप परिवार के लिये उपयोगी होते हैं और न संसार के लिए उपयोगी होते हैं। परिवार के लिए भी जीवन तभी उपयोगी होता है, जब आप परिवार की सेवा करें। और कहीं परिवार से सुख की आशा करें? तब तो हम बिना ही जंजीरों के ऐसी मजबूती से बंध जाते हैं कि सुख भी नहीं मिलता, और क्षोभ-क्रोध और भोगना पड़ता है।

इसलिए सेवा का क्रियात्मक रूप कितना ही अल्प हो, अथवा अधिक हो, उसमें कोई अन्तर नहीं है, फल में कोई अन्तर नहीं है। बहुत-से लोग सोचते होंगे कि बड़ी-बड़ी सेवा करने से बड़ा-बड़ा फल मिलता होगा और छोटी-छोटी सेवा करने से छोटा-छोटा फल बनता होगा। सो नहीं होता। कर्म का यह विधान है कि जिस सीमा का कर्म होगा, उस सीमा का फल बनेगा। किन्तु सेवा का यह विधान नहीं है। सेवा अल्प हो अथवा अधिक हो, उसका फल क्या है? सेवा का फल ही है-निर्विकार हो जाना, निष्काम हो जाना, स्वाधीन हो जाना, प्रियता की जागृति हो जाना। यह सेवा का फल है। और यही त्याग का भी फल है।

देखिए, जो चीज सेवा से मिलती है, वही चीज त्याग से मिलती है। और यही आत्मीयता का भी फल है। तीनों के फल में कोई भेद नहीं है। चाहे आप सेवा करें, चाहे आप त्याग अपनायें, चाहे आप आत्मीयता स्वीकार करें। आत्मीयता से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। त्याग से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। सेवा से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। आपको जो मिलने वाली चीज है, वह है-प्रेम। आप प्रेम से अभिन्न होंगे। अब आप सोचिये कि यदि आपको प्रेम की प्राप्ति हो गई, अर्थात् आपके जीवन में प्रेम की अभिव्यक्ति हो गई, प्रेम से भिन्न आपका कोई अस्तित्व नहीं रहा, तो फिर वह चाहे जिसके प्रति हो, उसके लिए भी रस-रूप होगा, आपके लिए भी रस-रूप होगा।

इससे क्या सिद्ध हुआ? कि आपको प्रेम की प्राप्ति करना है। यह बात आप अपने सामने रखें कि हमको तो प्रेम प्राप्त होना है, और कोई वस्तु हमको मिल नहीं सकती। क्यों? जब कोई आपके काम आता है, तब आपके जीवन में उसका महत्त्व होता है, जो आपके काम आता है। आपका अपना महत्त्व क्या रह जाता है? आपका अपना मूल्य क्या रह जाता है? आप विचार तो करें।

25(ब) वे चाहे जैसे हो-चाहे जहाँ हो-चाहे सो करे, अपने है और प्रिय है।

बहुत गम्भीरता से विचार करें। अगर किसी को आज्ञाकारी पुत्र मिल गया, मधुर-भाषिणी सेवापरायण पत्नी मिल गई, और अच्छे-अच्छे सम्बन्धी मिल गये, तो उनके मिलने से, आप बताइये, आपको क्या मिला? केवल यही मिला कि आप निरन्तर उन्हीं के चिन्तन में आबद्ध हो जायेंगे। आप अपने जीवन में अनुभव करके देख लीजिये। जो आपके काम आता है; उसके चिन्तन में आप आबद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, यहाँ जो लोग आये हैं, और जिनके साथ अमुक भाई ने बहुत अच्छा व्यवहार किया है, उनके मन में क्या बात उठेगी? ये हमारे यहाँ आयें, और हम उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।

आप अनुभव करके देखें। जो आपके साथ भलाई करता है, वही आप पर अधिकार करता है। यानी आप विवश होते हैं उसके अधीन होने को। किन्तु यदि आपके जीवन में प्रेम

का प्रादुर्भाव हो जाय, तो आप ही बताइये, प्रेमी कभी पराधीन रहता है क्या? प्रेमी के जीवन में कभी भिन्नता आती है क्या? प्रेमी के जीवन में कभी गैरियत आती है क्या? प्रेमी के जीवन में कभी नीरसता आती है क्या? तो वह प्रेम तभी आपको प्राप्त होगा कि जब आप की हुई सेवा के द्वारा अपने को स्वाधीन बनायें, शान्त बनायें, निर्विकार बनायें। अगर आप शान्त नहीं है, स्वाधीन नहीं है, निर्विकार नहीं हैं तो प्रेम का प्रादुर्भाव सम्भव ही नहीं है।

आप सोचते होंगे कि किसी श्रम-साध्य साधन से प्रेम की प्राप्ति होती है। श्रम करने से 'करने' में आसक्ति होती है। करने की आसक्ति का नाम प्रेम नहीं है। करने की आसक्ति शरीर से तादात्म्य जोड़ देती है, शरीर में आबद्ध कर देती है। शरीर का न रहना आपके लिए असह्य दुःख बन जाता है। और यह तो आप जानते ही है कि शरीर रहेगा ही नहीं। तो 'करने' से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। प्रेम की प्राप्ति तो एकमात्र त्याग से होती है, सेवा से होती है, आत्मीयता से होती है। और सेवा, त्याग तथा आत्मीयता में आप सदैव स्वाधीन है। आप सभी को अपना मान सकते हैं, प्रभु को अपना मान सकते हैं। आप निर्मम और निष्काम हो सकते हैं।

आप मिली हुई वस्तु को समर्पित कर सकते हैं। आप विचार करके देखें। जिसके करने से आप सदैव स्वाधीन हैं, और जिसके करने से 'करने' का अन्त होता है-यह बड़े रहस्य की बात है-जो करना 'करने' में ही बदलता रहे, वह करना निरर्थक है। और जिस 'करने' का अन्त हो जाय! अच्छा भाई, त्याग एक बार करना पड़ेगा कि अनेक बार? क्या विचार है आपका? एक बार त्याग करने में 'करने' का अन्त हुआ कि नहीं? अच्छा, जो कुछ प्राप्त है, उसका समर्पण एक बार करना पड़ेगा कि अनेक बार? तो सेवा से 'करने' का अन्त हो गया न!

ऐसे ही जिसमें आपने आत्मीयता स्वीकार की, जिसको आपने अपना स्वीकार किया, यह एक बार स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेक बार? इससे क्या सिद्ध हुआ? करना वहीं सार्थक है जिससे 'करने' का अन्त हो। अच्छा भाई, सुख की आशा को लेकर की हुई प्रवृत्ति कभी नाश होती है क्या? कि नवीन प्रवृत्ति को जन्म देती है? आप विचार करके देखें। तो जो लोग यह सोचते हैं कि जो कुछ करते हैं, उसका कभी अन्त ही न हो, करना

'करने' में ही बदलता रहे। यह तो दशा आप देखते हैं कि सभी को सदैव प्राप्त है-बोलते हैं, बोलने का राग रखते हुए, पुनः बोलते हैं, सुनने का राग रखते हुए पुनः सुनते हैं।

जो कुछ आप करते हैं, 'करने' का राग रहने से पुनः करते हैं। तो करना 'करने' में ही बदलता रहता है, वह करना कर्त्तव्य नहीं है। जो करना सदा के लिए समाप्त होता है; और उसके परिणाम में आपको परम शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की प्राप्ति होती है, वही कर्त्तव्य है। तो सदैव रहने वाली चीज शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम है कि कोई श्रमसाध्य साधन है? आपको मानना पड़ेगा कि शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम ही आपका जीवन है। इसी से आपकी एकता है। और इसको मानव-सेवा-संघ की भाषा में 'साधन-तत्त्व' बताया। और मानव को "साधक" बताया।

साधन-तत्त्व का अर्थ है कि जिसमें समस्त साधन विलीन हो जायें। यानी भिन्न-भिन्न साधन जब एक में विलीन हो जाते हैं, उसको कहते हैं-साधन-तत्त्व। तो समस्त साधन किसमें विलीन होते हैं? तो मानना पड़ता है कि प्रेम की प्राप्ति में, प्रेम की जागृति में। तो 'प्रेम' हुआ साधन-तत्त्व। और वह किसको प्राप्त हुआ? साधक को। आप हैं साधक। कैसे प्राप्त हुआ? तो मानना पड़ता है कि सेवा से, त्याग से, आत्मीयता से। यदि आप सेवा-त्याग और आत्मीयता को अपना लेते हैं, तो आपको साधन-तत्त्व की प्राप्ति अवश्य होगी। वही साधन-तत्त्व आप जानते हैं क्या है? राधा-तत्त्व है, सीता-तत्त्व है, गौरी-तत्त्व है। ये साधन-तत्त्व के ही रूप है। वर्णन में भेद है, किन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं है।

आप सोचिये, किसी से पूछिये कि राधा क्या है? बोले-कृष्ण की अनन्य प्रियता। श्रीकृष्ण जिनको अत्यन्त प्यारे हैं। अथवा यों कहो कि श्रीकृष्ण का प्रेम ही मूर्तिमान राधा हैं। और बताइयें, राधा क्या है? यही अर्थ सीता में लगेगा। यही अर्थ गौरी में लगेगा। यही अर्थ आप जानते हैं? गुरु-तत्त्व में भी लगेगा। जैसे सन्तमत में गुरु की महिमा गाई जाती है। गुरु के प्राप्त करने की बात कही जाती है। यानी गुरु-तत्त्व से अभिन्नता होती है। और वह गुरु-तत्त्व क्या है? साध्य की अगाध प्रियता। साध्य की प्रियता ही तो सिद्धि है। तो हमारा साध्य हमें प्यारा लगे, तो आप क्या हुये? आप प्रेम हुए कि साध्य हुये? क्या विचार है आपका? प्रेम हुये।

तो प्रेम की आपको प्राप्ति होगी या किसी अन्य की प्राप्ति होगी? इसका अर्थ यह न लगा लीजिये कि साध्य और प्रेम एक वस्तु है। ऐसा भी लोगों ने कह दिया पर, बात ऐसी नहीं है। वह प्रेम साध्य का ही स्वभाव है।यह बात तो आप कह सकते हैं। और यह भी कह सकते हैं, कि प्रेम दूरी, भेद और भिन्नता का नाश है। जब दूसरी नहीं रही, तो योग प्राप्त हो गया। जब भेद नहीं रहा, तो बोध प्राप्त हो गया, और जब भिन्नता न रही, तो अगाध प्रियता प्राप्त हो गई। तो अगाध प्रियता कहो, अथवा बोध कहो, अथवा योग कहा-ये प्रेम की विभूति हुई न! यानी ये प्रेम का ही रूपान्तर हुआ न!

आप कहेंगे कि फिर योग, बोध, और प्रेम जब एक ही है, तो उसको प्रेम ही क्यों न कहा जाय? यह तो आपकी अपनी रुचि की बात है। चाहे प्रेम कहो, चाहे योग कहो, चाहे बोध कहो। आप विचार कीजिये, कि योग में दूरी है क्या? भेद रहता है क्या? भिन्नता रहती है क्या? आप लोगों में से बहुतों ने प्रयाग त्रिवेणी में स्नान किया होगा। प्रयाग में जब गंगा और यमुना का योग होता है, तो आगे चलकर नाम गंगा का और रूप यमुना का। आप देख लेना जाकर। भेद रहा क्या? अब योग और बोध में कोई अन्तर हुआ क्या? आप यह भी देखेंगे कि योग होने पर भी गंगा यमुना से, यमुना गंगा से मिलने के लिये सदैव आतुर है, गतिशील है। इसी का नाम प्रेम है। बोध में योग और प्रेम है और प्रेम में योग और बोध है। इसी का नाम सिद्धि है।

जब तक आपको यह मालूम हो कि योग अलग चीज है, बोध अलग चीज है प्रेम अलग चीज है, तब तक मानना पड़ेगा कि वह साधन-रूप योग है, साधन-रूप बोध है, और साधन-रूप प्रेम है। किन्तु जिस समय साध्य-रूप योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, तब इसमें विभाजन नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी रस में एक भेद है। योग का रस शान्ति-रस है बोध का रस शान्ति के साथ-साथ अखण्ड है, और प्रेम का रस अखण्ड के साथ-साथ अनन्त है। जैसे आप देखेंगे; जहाँ संगम होता है, वहाँ कोई किसी प्रकार का भेद नहीं है। जल-जल है दोनों। देखिये जातीय एकता भी है, स्वरूप की एकता भी है। फिर भी नित-नव गति है कि नहीं।

इसी चीज को दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से वर्णन किया है। चीज कोई अलग नहीं है। चीज एक ही

है। किसी ने कह दिया-हमें तो वास्तविकता का बोध हो गया, हम कृत-कृत्य हो गये। उनसे पूछा जाय कि उस बोध में तुम्हारी प्रियता है कि नहीं? तो कहना पड़ेगा-है। क्यों? यदि बोध में प्रियता न हो, तो आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। आनन्द की अभिव्यक्ति में मूल हेतु प्रियता है। किसी ने कहा दिया कि हमें प्रेमास्पद की प्राप्ति हो गई। भला, बताओ तो सही, जिस प्रेमास्पद की आपको प्राप्ति हो गई, उसका आपको बोध है कि नहीं? तो मानना पड़ेगा-है। तो प्रियता में बोध, बोध में प्रियता, मिलन में बोध, मिलन में प्रियता है।

किन्तु प्रियता एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि इसकी कभी पूर्ति नहीं होती, और पूर्ति न होने से ही अनन्त है, असीम है। इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका कभी अन्त नही है, और नित-नव रस की अभिव्यक्ति है। यह प्रियता का सहज स्वभाव है। देखिए, आपकी प्रियता किसमें है-यह प्रश्न ही नहीं है। चाहे जिसमें हो। किन्तु प्रियता का मूल्य समान ही है। आप विचार करें, कि आप किसी से कहें कि हम आपसे प्रेम करते हैं, किन्तु हमारे पास जो कुछ है, वह तो हमारा है, तुम्हारा नहीं है। तो वह क्या कहेगा? भाई, प्रेम करते ही कि धोखा देते हो?

तात्पर्य क्या निकला? जिसके आप प्रेमी हैं, उसको अपना सब कुछ देना पड़ता है। और किसी से आप कहें कि हम आपको प्रेम तो करते हैं, पर हमारी यह बात पूरी कर दो। तो वह क्या कहेगा? प्रेम करते हो कि मेरा भोग करते हो? प्रेम में काम नहीं है। प्रेम में अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। उसी को न! प्रेम की प्राप्ति होती है। अब आप बताइयें कि प्रेम का मूल्य क्या हुआ? यानी यह जो आप सोचते हैं कि हमारा प्रेमास्पद सुन्दर होगा तो हम प्रेम करेंगे। तो इसके भीतर क्या ध्वनि निकलती है कि आप प्रेम के बहाने प्रेमास्पद का भोग करना चाहते हैं। तभी न! आप कहते हैं कि वे कैसे हैं?

जरा विचार तो कीजिये। यह जो लोगों का भ्रम है कि प्रभु कैसे हैं? काम के हैं कि बेकाम के हैं? तब हम उससे प्रेम करेंगे। तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप अपने सुख के लिये कुछ आशा रखते हैं। तब सोचते हैं कि वे कैसे हैं। यदि आप प्रेमी हैं, तो कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कैसे हैं। और कहाँ यह प्रश्न आताहै कि वे कहाँ हैं! कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे क्या करते हैं!

चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, चाहे कुछ करें, अपने हैं और प्रिय हैं। यह है प्रेम की दीक्षा। अगर आप यह सोचते हैं कि हम देखेंगे, अच्छे लगते हैं कि नहीं। तो यह बात तो भोगी के जीवन की है, प्रेमी के जीवन की बात नहीं है।

तो क्या इसका अर्थ यह है कि प्रेमास्पद सुन्दर नहीं है? इसका अर्थ यह नहीं है कि सुन्दर नहीं है। क्यों? प्रेमी को तो प्रेमास्पद में नित-नव सुन्दरता का भास ही होता रहता है। नित-नव सुन्दरता का भास होता है- इसका अर्थ यह नहीं है कि वह इसलिए प्रेमी है कि वे सुन्दर हैं। इसका अर्थ यह है कि वह प्रेमी है, इसलिये प्रेमास्पद सुन्दर है। यह एक बड़ा रहस्य रहता है। यह जो प्रेमास्पद के वर्णन में प्रेमियों ने बड़ी-बड़ी महिमायें गाई, और साधारण प्रेमी होने से पहले उस महिमा के कारण आकर्षित हुए। और अगर कल्पना करो कि कहीं सुने हुये के अनुसार महिमा न निकली, तो? आप प्रेमी रहेंगे? आप प्रेमी नहीं हो सकते।

मेरा निवेदन यह था कि प्रेमी होने के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं कि आप यह जानें कि हमारे प्रियतम कैसे हैं। इस बात की आवश्यकता नहीं है। क्यों? अगर कैसे हैं- यह सोचकर आप प्रेमी होना चाहते हैं, तो प्रेमी नहीं हो सकते। क्यों? प्रेमी क्यों नही हो सकते? कि यह बात तो तब सोचेंगे, जब आपको प्रेमास्पद से कुछ लेना हो। जब हमें किसी से लेना होता है, तब हम सोचते हैं कि वे कैसे हैं। और जब तक आपको कुछ लेना है, तब तक प्रेमियों की सूची में नाम लिखा जायेगा क्या? जब तक आपको भोग चाहिए, मोक्ष चाहिये, जब तक आपको कुछ चाहिए, तब तक आप कैसे कह सकते हैं कि प्रेमियों की सूची में हमारा नाम लिखा जा सकता है? नहीं लिखा जा सकता।

जिसे कुछ नहीं चाहिए-एक बात। और जिसको अपने पास अपना करके कुछ नहीं रखना है-दो बात। ओर मिलन में भी और वियोग में भी जिसके जीवन में नित-नव प्रियता है। यह नहीं कि मिलन-काल में तो प्रेम है, और वियोग में प्रेम नहीं है, या वियोग-काल में तो प्रेम है, और मिलन-काल में नहीं है। प्रेमी के जीवन पर जब आप विचार करेंगे, तो आपको ऐसा मानना ही पड़ेगा कि प्रेमी के लिए मिलन और वियोग का कुछ अर्थ ही नहीं रहता है।

इस सम्बन्ध में किसी प्रेमिका की बात है। एक कोई प्रेमिका थी। उसका जो प्रेमास्पद था, वह कहीं

बाहर चला गया था। वह उसके वियोग में मरणासन्न हो गई। उसकी एक चतुर सखी थी। उसने कहा कि अरी बहन! वे तो अभी तक नहीं आये, और तेरे जीवन की अन्तिम घड़ियाँ आ गई अन्त मति सो गति, अब तेरी अन्तिम घड़ियाँ हैं, तो अब अन्त के समय पर उस जगदीश्वर, जगताधार का ध्यान कर! वह कहने लगी, "अच्छा! वे नहीं आये! अब ये प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे! अच्छा बहन, मैं जगदाधार से प्रार्थन करती हूँ।" अब उसकी प्रार्थना सुनिये।

वह कहती है-"हे जगदीश्वर! हे जगदाधार!! इस शरीर में जो पृथ्वी-तत्त्व है, वह उसी भूमि में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरे प्राणनाथ विचरते हैं। हे जगदीश्वर! हे जगदाधार!! इस शरीर में जो जल-तत्त्व है, वह उस जल में जाकर मिल जाय, जो जल मेरे प्रियतम की सेवा में काम आता है। इस शरीर में जो अग्नि-तत्त्व है, उस दीपक की ज्योति में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरा प्रियतम रहता है। हे जगदीश्वर! इस शरीर में जो वायु-तत्त्व है, वह उसी वायु में जाकर मिल जाय, जो वायु मेरे प्रीतम पर झली जाती है। इस शरीर में जो आकाश-तत्त्व है, वह उसी आकाश में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरे प्रीतम का नित्यवास है।"

क्या माँगा उसने? विचार तो कीजिये। "मेरे पास जो कुछ है, उनका है, उनके लिए है। और वे न आयें, तब भी मेरे हैं। और मेरे होने से ही मुझकों प्यारे हैं।" अब आप देखिये- निर्ममता आ गई, निष्कामता आ गई, आत्मीयता आ गई। प्रीतम भी आ गया। प्रीतम ने कहा- अरीसखी! हमने तो सुना था कि यह तो मरी जा रही है। यह तो बड़ी हट्टी-कट्टी सी है। बोले हे प्राणनाथ! जिसके लिए मरी जा रही थी, जब वही आ गया, तब कैसे मरेगी! किन्तु मरणासन्न हो गई। तो तू क्यों मरी जा रही है? कि यों मरी जा रही हूँ कि हे प्यारे! आप चले जायेंगे।

तो जब तक मिलन में वियोग न भासे, तो प्रेम कैसा! और वियोग में मिलन न भासे, तो प्रेम कैसा? प्रेम ही तो एक ऐसा तत्त्व है, जो मिलन में वियोग, और वियोग में मिलन का दर्शन कराता है। इसलिये तो उसकी पूर्ति नहीं होती। यदि मिलन में वियोग का भास न रहता तो प्रेम पूरा हो जाता। और यदि वियोग में मिलन न होता, तो प्रेम नाश हो जाता। तो प्रेम नाश भी नहीं होता, प्रेम पूरा भी नहीं होता। क्यों? वहाँ मिलन और वियोग समान ही हैं। तो जहाँ मिलन और वियोग समान हैं, आप सोचिये, वहाँ नित-नव

प्रियता व नित-नव रस से भिन्न क्या हो सकता है।

इसीलिये प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। अब वह प्रेम आप किसके साथ करेंगे? जब यह प्रश्न आपके सामने आये कि आप किसके साथ करेंगे? बोले, जो हमें जानता है, जिसे हम नहीं जानते। हम जिसे जानते हैं, वह प्रेम से सन्तुष्ट नहीं होता। उसको वस्तु चाहिये, उसको सामर्थ्य चाहिये, उसे प्रेम नहीं चाहिये। तो सच पूछिये, प्रेम उसकी भूख है, जो हमें जानता है, पर जिसे हम नहीं जानते। और सेवा किसकी माँग है? जिसे हम जानते हैं। जिसे हम जानते हैं, उसकी आप सेवा कर सकते हैं किसके नाते? जो आपका प्रेमास्पद है।

प्रेमास्पद के नाते की हुई सेवा प्रेम से अभिन्न करती है। क्यों? वह जो करने की रुचि है, करने की जो सामर्थ्य है, वह सेवा द्वारा प्रीति में परिणत हो जाती है, प्रेम में बदल जाता है। इस दृष्टि से सेवा प्रीति में, प्रीति सेवा में ओत-प्रोत है। यदि प्रेम की प्राप्ति हो गई, तो उसका क्रियात्मक रूप सेवा है। और जो सेवा की प्राप्ति हो गई, तो उसकी परावधि प्रेम है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन की पूर्णता एक-मात्र प्रेम की अभिव्यक्ति में है। और प्रेम की प्राप्ति में कोई परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई योग्यता हेतु नहीं है। प्रेम की प्राप्ति में एकमात्र जिसे कुछ नहीं चाहिये, जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसका कोई अपना है। यानी जो बेसामान का है और जिसे कुछ नहीं चाहिये, उस पर भी उसने स्वीकार किया कि आप मेरे हैं।

आप विचार तो कीजिये, निष्काम हुए बिना निर्मम हुए बिना, क्या हम किसी को अपना कह पायेंगे? नहीं कह पाते। आप कहते हैं कि अपनी सन्तान को अपना कहते हैं। तो जरा विचार कीजिए, जब आपकी सन्तान आपके मन के विरूद्ध कोई काम करती हैं, तब आप उसका मुँह भी नहीं देखना चाहते। यही आपका अपना कहना है? विचार कीजिये। आप किसी को अपना कह नहीं सकते, जब तक आप कुछ भी चाहते हैं। देखिये, आप किसी के भी प्रेमी हो जाते हैं, तो सभी के प्रेमी हो जाते हैं। जो किसी का प्रेमी होता है, वह सभी का प्रेमी होता है।

एक बार ऐसी ही बात चल रही थी जे॰ कृष्णमूर्ति जी की किसी के साथ। जे॰ कृष्णमूर्ति ने पूछा-तुम किससे प्रेम करते हो? तो उसने कह

दिया कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम करता हूँ। उन्होंने तुरन्त कहा-यदि तुम्हारी पत्नी किसी दूसरे से प्रेम करे, तो तुम उसे प्रेम करोगे? बोले-नहीं। तो प्रेम करते हो कि शासन करते हो? तो आप बाप बनकर बेटे पर शासन करते हैं, पति बनकर पत्नी पर शासन करते हैं, मित्र बनकर मित्र पर शासन करते हैं, व्यक्ति बनकर समाज पर शासन करते हैं। और कहते हैं कि हम प्रेम करते हैं। भैया, जिसे प्रेम करना आ जायेगा, उसको फिर कुछ करना ही शेष नहीं रह जायेगा।

किन्तु एक बात अवश्य है कि जब तक आप प्रेमी नहीं होते, तब तक आपके जीवन में जो नीरसता है, जो अभाव है, जो क्षोभ है, जो क्रोध है, वह नाश नहीं हो सकता। इसलिये मानव-जीवन की पूर्णता प्रेम की प्राप्ति में है। और प्रेम की प्राप्ति का उपाय-मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, आप मेरे हैं, आप चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, और चाहे कुछ करो, यह नहीं, कि जो मैं चाहूँ, सो करो। तुम चाहे कुछ करो, चाहे जहाँ रहो, और चाहे जैसे हो, पर अपने होने से अत्यन्त प्रिय हो। यही प्रेमी का जीवन है।

26

जाने हुये का आदर, प्राप्त का सदुपयोग एवं सुने हुए परमात्मा की आस्था-साधनयुक्त जीवन का मूल आधार है।

जो करना चाहिये वह समष्टि शक्तियों से सम्पादित होता है। और जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है।

समष्टि शक्तियों से सम्पादित हुई प्रवृत्ति में कर्तापन का दोष नहीं आने देना चाहिये। और की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेने से अकर्त्तव्य का अन्त हो जाता है।

अनन्त की प्रियता से ही अनन्त को रस मिलता है। उन्हीं के दिये हुये रस से हम उन्हीं को प्रियता प्रदान करते हैं। यह सामर्थ्य भी उन्हीं की दी हुई है।

जिज्ञासा का क्षेत्र "यह" और "मैं" है। विश्वास का क्षेत्र प्रभु है।

जो नित्य प्राप्त है उसी की प्राप्ति होती है। जो अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

शान्ति नित्य प्राप्त है।

स्वाधीनता नित्य प्राप्त है।

त्याग और प्रेम नित्य प्राप्त है।
प्रभु नित्य प्राप्त हैं। अतः उन्हीं की प्राप्ति अनिवार्य है।

26(अ) विवेकविरोधी कर्म-सम्बन्ध-विश्वासका त्याग सत्संग है।

यदि हम अपने निर्माणकर्ता की महिमा में आस्था कर लें, श्रद्धा कर लें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्बल से निर्बल प्राणी भी वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकते हैं। यह निर्विवाद सत्य है। अब रही बात यह कि या तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करें, अथवा असमर्थता से पीड़ित हों। दो प्रकार के साधक होते हैं-एक समर्थ साधक होते हैं, एक असमर्थ साधक होते हैं। समर्थ साधक प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करते हैं। और असमर्थ साधक अपनी असमर्थता से पीड़ित होते हैं। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं हैं। अपितु प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाते, कर सकते हैं, और नहीं करते। क्यों नहीं करते? इसका कारण तो केवल यही मालूम होता है कि हम भूल-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाते हैं। अथवा वास्तविकता से निराश हो जाते हैं। ऐसा मान बैठते हैं कि हम साधारण प्राणियों को भला, कैसे योग की, बोध की, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है! यह अपनी बनाई हुई भूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार वर्तमान की आवश्यकता ही भविष्य की उपलब्धि होती है। जो माँग है, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। परन्तु हम इस मंगलमय विधान का आदर नहीं करते; और निराश हो जाते हैं। अथवा ऐसा सोचिये कि जो करना चाहिये; उसमें ही अपना अधिकार नहीं मानते। सोचते हैं कि हमको कोई ऐसी बात भी करने को है, जिसे नहीं कर सकते, और फिर निराश होते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। जो नहीं कर सकते, वह तो करना ही नहीं है। जो नहीं जानते, वह तो जानना ही नहीं है? इतना ही नहीं, यदि आपमें आस्था नहीं है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

किन्तु विवेक-विरोधी आस्था कर लें-यह भूल की बात है। जिसको प्रभु-विश्वास नहीं है, उसको फिर किसी में विश्वास न हो। क्यों? जब आप सुने हुये प्रभु में विश्वास नहीं कर सकते, तो आप ही बताइये कि मिले हुये में और देखे हुये में कैसे विश्वास कर सकते हैं, मिले हुये का सदुपयोग कर सकते हैं। देखे हुये की खोज कर

सकते हैं, पर विश्वास नहीं कर सकते। तात्पर्य क्या निकला? या तो हम प्रभु में विश्वास करें, अथवा किसी में विश्वास न करें। तो किसी में विश्वास न करने से भी वास्तविकता की प्राप्ति होती है। और प्रभु में विश्वास करने से भी वास्तविकता की प्राप्ति होती है। यदि कोई यह कहे कि हमारे जीवन में तो यह प्रश्न ही नहीं है कि हम विश्वास करें, अथवा न करें। तो सीधी-सीधी बात है कि जो आपको मिला है, उसका सदुपयोग करें। मिले हुये के सदुपयोग से पर-हित स्वतः होता है।

जब हम मिले हुये का सदुपयोग नहीं करते हैं, तब दुरुपयोग करते हैं। बिना करे तो रह नहीं सकते। यह नियम है कि जिसके पास कुछ भी है, वह कुछ-न-कुछ करता अवश्य है। अतः जो मिला है उसके कारण करने की सामर्थ्य है। अब आप उसका सदुपयोग करते हैं कि दुरुपयोग-यह तो आप स्वयं विचार करें। तो सारांश यह निकला कि यदि आप असमर्थ हैं तब भी साधक, जाने हुये का आदर करते हैं तब भी साधक, मिले हुये का सदुपयोग करना चाहता है, तब भी साधक। और यदि कोई सदुपयोग करना चाहता है, आस्था करना चाहता है, जाने हुये का आदर करना चाहता है, पर कर नहीं पाता, किन्तु न करने का दुःख है, तब भी साधक।

तो क्या आज जो हम चाहते हैं, उसके न होने से दुःखी भी नहीं हो सकते? अब कोई कहे कि हमारे बस की यह बात नहीं। तब तो मानना पड़ेगा कि हमने अपने को साधक ही स्वीकार नहीं किया-एक बात। दूसरी बात यह है कि जिसके बस की कोई बात नहीं है, उसने अपने अस्तित्व को कैसे मान लिया? आप देखेंगे विचार से, तो आपको यह मालूम पड़ेगा कि कुछ-न-कुछ आप जरूर कर सकते हैं। कोई-न-कोई दायित्व आप पर जरूर है। तो जो कर सकते हैं, उसके करने का नाम ही तो कर्त्तव्य-परायणता है। और जो नहीं करना चाहिये, उसके करने का नाम ही अकर्त्तव्य है। असमर्थ से अकर्त्तव्य नहीं होता। सामर्थ्य के दुरुपयोग में अकर्त्तव्य है। जो कुछ नहीं जानता, उसमें अविवेक कभी नहीं आता। जाने हुये के अनादर का नाम अविवेक है। जो कुछ नहीं मानता, उसमें अश्रद्धा कभी नहीं होती। माने हुये में आस्था न करना-यह अश्रद्धा है।

तात्पर्य कहने का यह है कि यदि हम अपनी वर्तमान वस्तु स्थिति पर विचार करें, तो प्रत्येक भाई को,

प्रत्येक बहन को यह मानना ही पड़ेगा कि हम कुछ-न-कुछ कर भी सकते हैं, और कुछ-न-कुछ जानते भी हैं, और किसी-न-किसी अंश में प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में आस्था भी है। देखना यह है कि आस्था किसमें है? क्या जानते हैं? और क्या कर सकते हैं? जो आप जानते हैं, उसी में आपका हित है। जो कर सकते हैं, उसी से आपको सफलता होगी। किन्तु जानने, और करने में, और आस्था में परस्पर भेद नहीं होना चाहिये। अल्प जानते हैं, अल्प कर सकते हैं,-उसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जितना भी जानते हैं, जो भी कर सकते हैं-उसी में सिद्धि है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में असफलता के लिये, हार मानने के लिये, निराश होने के लिये कोई स्थान ही नहीं है।

कुछ लोग सोचते हैं, क्या बतायें! हम समय पर उठ नहीं पाते। ठीक है। जहाँ यह बताया कि अमुक समय पर उठो और शान्त रहो, वहाँ यह भी बताया है कि जब सो कर जगो, तब ही शान्त रहो। और जब आपके सारे कार्य समाप्त हो जायँ, तब ही शान्त हो जाओ। कार्य के आदि में हो जाओ, कार्य के अन्त में हो जाओ। किन्तु कोई कहे कि नहीं, हम तो शान्त हो ही नहीं सकते। तो इसका अर्थ यह है कि हम शान्त होना ही नहीं चाहते। और जो बात आप जानते ही नहीं है वह यदि नहीं होती है, तो यह क्यों सोचते हो कि हम कर नहीं सकते?

प्रत्येक कार्य के आदि में, अन्त में, सोने से पहले, जगने के बाद प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन शान्त हो सकते हैं। यहाँ तक बताया कि अल्प से अल्प काल दस-बारह सेकिण्ड में भी। क्यों? जब आप शान्त होते हैं, तब स्वतः किये हुये की स्मृति याद आती है। और जब किये हुये की स्मृति आती है, तब आपको स्वयं अनुभव होता है कि हमने वह भी किया जो नहीं करना चाहिये और वह भी किया जो करना चाहिये। यह अनुभव प्रत्येक भाई को; प्रत्येक बहन को होता है। यदि आप अपने अनुभव का आदर करे, तो जो नहीं करना चाहिये, उसको न करने का निर्णय कर लें, और जो कोई ऐसी बात की है, जो करनी चाहिये, तो उसके फल में आसक्ति न रखें। क्यों? जो करना चाहिये, वह समष्टि शक्तियों से सम्पादित होता है और जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है।

तो जिसका सम्पादन समष्टि शक्तियों से हुआ है, उसके फल में आस्था रखना, अथवा उसकी आशा करना-यह तो एक ऐसी बात है, जैसे किसी दूसरे के किये हुये का फल भोगना। तो ईमानदारी यह नहीं है न! और जो भूल से कर चुके हैं, उसका तो और कोई उपाय ही नहीं, सिवाय इसके कि भाई, अब नहीं करेंगे। तो जो नहीं करना चाहिये, उसको नहीं करेंगे। और जो करना चाहिये; उसे करेंगे। करेंगे क्या! वह होगा। भाषा की दृष्टि से संकेत में यह कहना पड़ता है कि जो नहीं करना चाहिए, वह नहीं करेंगे; और जो करना चाहिए, वह करेंगे। यह एक भाषा है। वास्तव में जब हम वह नहीं करते हो जो नहीं करना चाहिए, तो वह स्वतः होता है, जो करना चाहिए।

तो अब केवल अपने पर इतना ही दायित्व रहा कि हम अपनी वस्तु-स्थिति से परिचित हो जायँ। और उसमें यदि कोई ऐसी बात मालूम पड़ती हो कि जिसको हमने अपनी भूल से किया है, तो अब उसको नहीं करेंगे। यही वास्तव में सत्संग है। यहीं से विकास का आरम्भ हेाता है। अब जो भाई, जो बहन कहे कि नहीं, जो भूल कर चुके हैं, उसे तो हम छोड़ ही नहीं सकते। अगर कोई ऐसा कहते हैं कि हम नहीं छोड़ सकते की हुई भूल को, तो इसका अर्थ यह है कि उनके जीवन में भूल-जनित व्यथा नहीं है। यदि भूल-जनित व्यथा होती, तो भूल का त्याग सुलभ हो जाता, सहज हो जाता है। इनता ही नहीं, अपने आप हो जाता है।

जैसा कि मैंने अभी कहा है कि जिसके न होने का दुःख होता है, वह होने लगता है। यह विधान की बात है। क्यों? दुःख स्वभाव से किसी को अभीष्ट नहीं है। कोई चाहता नहीं है कि जीवन में दुःख आये। किन्तु जब हम भूल करते हैं, तब दुःख आता ही है। और जब दुःख आता है, उस समय दूसरी भूल क्या करते हैं? कि हम उसका कारण दूसरों को मान लेते है। जो व्यक्ति अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है, उसे अपनी भूल का स्पष्ट ज्ञान ही नहीं होता। और जिसे अपनी भूल का ज्ञान नहीं होता, उसे दूसरे के कर्त्तव्य का बड़ा सुन्दर ज्ञान होता है। यह बात नहीं है कि उसमें ज्ञान नहीं है, दूसरे के कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान है।

यहाँ तक कि लोग प्रभु से ऐसी प्रार्थना करते हैं कि देखिए, आपने यह नहीं किया, और आपने यह नहीं

किया, और आप यह कीजिये। अर्थात् प्रभु के कर्त्तव्य का भी ज्ञान रहता है, जगत् के कर्त्तव्य का भी ज्ञान रहता है। आप सोचिये तो सहीं, जब आपको सभी के कर्त्तव्य का ज्ञान है तो आपको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान क्यों नही है? आपको अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान है। परन्तु आप अपनी ओर देखते नहीं हैं। क्यों नहीं देखते? कि आप दूसरों से सुख की आशा करते हैं। अथवा अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं।

जब तक मानव अपने दुःख का कारण किसी और को मानेगा, तब तक वह आशा करें कि मेरा दुःख मिट सकता है-वह नहीं मिट सकता। और जब वह दूसरों से सुख की आशा करेगा, तब तक जीवन में दुःख न आ जाय-यह कभी सम्भव नहीं है, अवश्य आयेगा। तो हम-सबकी सबसे बड़ी भूल यही होती है कि हम दूसरों से सुख की आशा करते हैं, और अपने दुःख का कारण दूसरे को मानते हैं। सुख की आशा की नहीं, कि राग उत्पन्न हो जायेगा। अपने दुःखों का कारण दूसरों को माना नहीं, कि द्वेष उत्पन्न हो जायेगा। राग और द्वेष के रहते हुए, न कोई स्वाधीन हो सकता है, और न अभिन्नता को प्राप्त होता है।

द्वेष ने ही भिन्नता को पोषित किया है, राग ने ही हमें पराधीनता बनाया है। हमारी पराधीनता में और कोई हेतु नहीं है। हमारा अपना राग है। वह राग केवल सुख की आशा से उत्पन्न हुआ है। यदि हम अपने जीवन में से यह बात निकाल दें कि भाई, दूसरों से सुख की आशा करना भूल है। इसमें दूसरे का अपराध नहीं है। हम लोग कभी-कभी ऐसा सोचते भी हैं, कि अच्छा! हम दूसरों से सुख की आशा नहीं करेंगे। पर सोचते हैं क्रोध पूर्वक। जब दूसरे लोग हमारे मन की बात नहीं करते, तब हम कहते हैं- अच्छा, हम तुसे कोई आशा नहीं करेंगे। यह जो सोचना है वह सही नहीं है। हाँ, बिना क्रोध के, शान्त होकर यह सोचेंगे-क्या वह भी जीवन है, जो दूसरों पर निर्भर हो! ऐसा जीवन हमें नहीं चाहिये। हमें वह जीवन चाहिये ही नहीं कि जिसकी प्राप्ति, "पर" की अपेक्षा रखती हो।

अब कोई कहे कि अगर आपको नहीं चाहिये, तो आपको जीवन ही नहीं मिल सकता। तो हमें यह बात भी स्वीकार कर लेनी चाहिये कि जो पराधीनता में जीवन है, वह तो हमको चाहिये ही नहीं। हमें तो वही जीवन चाहिये, जो स्वाधीनता पूर्वक

मिल सकता है। आप सच मानिये, यह निर्णय भर करना है बस! आपको जीवन की प्राप्ति हो जायेगी। दूसरों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि आज हम दुःखी है। अपने दुःख का कारण दूसरों को मानने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने दुःख को नहीं मिटा पाते।

इसलिये भाई, यह असत् का संग है। हम किसी से सुख की आशा नहीं करेंगे। क्यों? इसलिये कि मानव हैं। इसलिये नहीं कि दूसरों ने सुख नहीं दिया। दूसरों ने सुख नहीं दिया, इसलिये हम सुख की आशा नहीं करेंगे-यह तो क्रोध हो जायेगा। यह मानवता नहीं है। मानवता इस बात में है कि पराधीनता-जनित सुख हमको नहीं चाहिये। तभी न! हम पराधीनता से रहित हो सकते हैं। यदि हम यह सोचते रहें कि नहीं, हमको वह सुख चाहिये, जो दूसरों के द्वारा मिल सकता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमें स्वाधीनता प्यारी नहीं लगती। जिसे स्वाधीनता प्यारी नहीं लगती, आप सोचिये तो सही, उसको चिन्मय जीवन कैसे मिलेगा? अमर जीवन कैसे मिलेगा? नित्य जीवन कैसे मिलेगा? नहीं न मिल सकता। और अब हमें अमर जीवन नहीं मिल सकता, चिन्मय जीवन नहीं मिल सकता, नित्य जीवन नहीं मिल सकता, तो फिर जीवन ही क्या हुआ!

इसलिये धीरजपूर्वक यह बात अपनानी चाहिये कि हमें वह चाहिये नहीं, जिसकी प्राप्ति स्वाधीनतापूर्वक नहीं हो सकती अथवा यों कहो कि हमें पराधीनता कभी भी अभीष्ट नहीं है। जिसे पराधीनता अभीष्ट नहीं है वह दूसरों से सुखकी आशा क्यों करेगा? वह अपने दुःख का कारण किसी और को क्यों मानेगा? यह तो जब तक हम पराधीनता पसन्द क्ररते हैं, तभी तक ये दोनों विकार रहते हैं। परधीनता का अर्थ क्या है? जो अपने से भिन्न है, उसके अधीन। तो यह जो कुछ दिखाई देता है आपको, अथवा जिसकी आपको प्रतीति होती है, वह तो सब अपने से भिन्न है।

इसका अर्थ यह निकला कि हमें शरीर के सहयोग से मिलने वाला सुख भी नहीं चाहिए। यहाँ शरीर का अर्थ तीनों शरीरों से लेना चाहिए। अर्थात् क्रिया-जनित, चिन्तन-जनित और स्थिरता-जनित। जो सुख किसी श्रम के द्वारा साध्य है-नहीं चाहिए। जो सुख किसी अवस्था से साध्य है-नहीं चाहिए। तब कहीं हम स्वाधीनता के अभिलाषी होते हैं। और जब

स्वाधीनता के अभिलाषी होते हैं, तब बिना ही प्रयत्न के स्वतः स्वाधीनता प्राप्त होती है। इससे अधिक सुगमता आपको क्या चाहिए?

बहुत से लोग कहते हैं कि कोई सहज साधन बताइए। मैं आपसे पूछता हूँ कि कभी आपने सोचा क्या कि कोई ऐसा सहज उपाय बताइये, जिससे रोटी मिल जाय। आप कभी नहीं सोचते हैं। और साधन ऐसा बताइये, जो बहुत ही सुलभ हो और जिससे प्रभु-प्राप्ति हो जाय, जिससे तत्त्व-साक्षात्कार हो जाय, जिससे दुःख की निवृत्ति हो जाय, जिससे पराधीनता मिट जाय। इन सब बातों के लिए तो आप सहज साधन चाहते हैं और रोटी खाने के लिए? बोले, हम तो चैबिस घण्टे में-से अठारह घण्टे परिश्रम कर सकते हैं, अपनी पूरी शक्ति लगा सकते हैं। तो रोटी खाने में आप पूरी शक्ति लगा सकते हैं और सच्चाई की खोज में आप सोचते हैं-कोई सहज-साधन बताइयें सुलभ साधन बताइयें। मैं आपसे पूछता हूँ- रोटी खाने के लिए जितना श्रम कर सकते हैं सत्य की खोज के लिए उतना क्यों नहीं कर सकते? उतना तो कर ही सकते हैं न!

तो आज हमें सत्य की प्राप्ति क्यों नहीं होती? यह नहीं कि हम उसके अधिकारी नहीं हैं आप अधिकारी तो हैं, परन्तु अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाते। और इतना ही नहीं, यह आवश्यकता भी अनुभव नहीं करते कि हम स्वाधीनता के बिना किसी भीप्रकार रह नहीं सकते। जिसकी प्राप्ति आवश्यकता-मात्र में निहित है, उससे निराश हो जायें, और जिसकी प्राप्ति विधान से सम्बन्ध रखती है, माँगने से सम्बन्ध नहीं रखती, हमारी कामना से ही जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी आज हम आशा करते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति किसी व्यक्ति की निर्मित नहीं है, प्राकृतिक विधान से निर्मित है। हम अप्राप्त परिस्थिति की आशा करते रहते हैं। इसका अर्थ क्या है? कि जिसे नहीं कर सकते; स्वाधीनतापूर्वक नहीं पा सकते, उसकी हम आशा करते है। और जिसको हम स्वाधीनतापूर्वक पा सकते हैं, उससे निराश होते हैं। सबसे बड़ी भूल यही एक है। आप स्वाधीनता पूर्वक स्वाधीन हो सकते हैं। आप स्वाधीनता पूर्वक प्रेम प्राप्त कर सकते हैं। आप स्वाधीनता पूर्वक कर्त्तव्य-निष्ठ हो सकते हैं। क्यों? जब आप वह नहीं करें, जो नहीं करना चाहिये, तो अपने आप कर्त्तव्य परायणता आ जायेगी।

जब आपको पराधीनता अभीष्ट ही नहीं है तो अपने आप असंगता आ जायेगी। और जब प्रभु से भिन्न किसी में आस्था नहीं करते, तो अपने आप आत्मीयता आजायेगी तो आत्मीयता आस्था में हैं।

अब आप सोचिये, आप यह कहें कि हम तो आस्था कर ही नहीं सकते। यदि आप आस्था नहीं कर सकते, तो यह तो बताइये कि आप कर क्या सकते हैं? इस प्रकार जब आप स्वयं विचार करेंगे, तब "व्यक्तिगत-सत्संग" होने लगेगा। और सब व्यक्तिगत सत्संग होने लगेगा, तब बड़ी ही सुगमता पूर्वक आप अपने में से अपनी भूल-जनित क्रियाओं को निकाल सकेंगे, विवेक-विरोधी विश्वास को तोड़ सकेंगे, विवेक-विरोधी कर्म का नाश हो जाएगा। बस! फिर कुछ भी करना नहीं है। क्यों करना नहीं है? कि फिर जो करने की बात है, वह स्वतः होने लगेगी।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता-से साधन हैं, सत्संग नहीं है। सत्संग क्या है? हम व न करें, जो नहीं करना चाहिये, जिसे नहीं कर सकते-यह सत्संग हुआ, यह साधन नहीं है। अर्थात् विवेकी-विरोधी कर्म का त्याग सत्संग है, कर्त्तव्यपरायण्ता साधन है। विवेकी-विरोधी सम्बन्ध का त्याग सत्संग है, असंगता साधन है। विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग सत्संग है, आत्मीयता साधन है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता प्रत्येक भाई को और प्रत्येक बहन को व्यक्तिगत सत्संग करने पर स्वतः प्राप्त होती हे। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

कर्त्तव्यपरायणता आते ही आप चाहो तो, न चाहो तो, आपका जीवन जगत् के लिये उपयोगी हो जाऐगा। असंगता प्राप्त होते ही आपके न चालने पर भीआपका जीवनअपने लिये उपयोगी हो जायेगा। और आत्मीयता प्राप्त होते ही आपका जीवन प्रभु के लिये उपयोगी हो जायेगा। जीवन जगत् के लिये उपयोगी हो जाय-इसमें लोगों को उलझन नहीं मालूम होती, आश्चर्य नहीं मालूम होता। अपने लिये उपयोगी हो जाय-यह भी सुगमता से मान्य हो जाता है।

परन्तु जब मैं यह कहता हूँ कि आपका जीवन प्रभु के लिये भी उपयोगी हो जायेगा, तो थोड़ी चौंक पैदा होती है। क्यों होती है? कि वे सोचते हैं कि वे समर्थ हैं, भला, उनको हमारी क्या जरूरत है! सोचिये तो सही, समर्थ को हमारी इसलिये

जरूरत नहीं है कि हम उनको कुछ देंगे।

26(ब) अनन्तकी प्रियतासे अनन्तको रस मिलता है।

यह तो बात ठीक है। परन्तु जिसने हमारा निर्माण किया है, हम उसमें आस्था न करें, हम उसे अपना न मानें, तो क्या यह बात उस निर्माणकर्ता को पसन्द होगी? कभी पसन्द नहीं होगी। जिसने हमारा निर्माण किया है, उसने हमें यह सामर्थ्य प्रदान की है कि हम उसको अपना मानें। उसमें हमारी आत्मीयता हो। और आत्मीयता होने से स्मृति जाग्रत होती है, प्रियता उदित होती है। तो क्या अनन्त को अपनी प्रियता नापसन्द होगी? अच्छी नहीं लगेगी? अवश्य लगेगी। आप जीवन में अनुभव करके देखिये। आपका ही उत्पन्न किया हुआ बालक हो, और आपका ही बनाया हुआ भोजन हो, और जब वह बालक आपके बनाये हुये भोजन को आपके बनाये हुए हाथ से लेकर आपके मुँह में देता है, तब किसी माँ से पूछिये, कि माँ को कितनी प्रसन्नता होती है।

आपको मालूम हो जायेगा कि जिसने हमारा निर्माण किया है, जो सर्व-समर्थ है, उसको भी प्रसन्नता होती है। कब? जब हम उसे अपना मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें खिन्नता थी, इसलिए उसको प्रसन्नता की आवश्यकता हुई-इसका अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जो अपनी महिमा में आप स्थित है, उसको जब हम अपना कहते हैं, जब उसे इसलिए प्रसन्नता होती है कि आत्मीयता-जनित जो प्रियता है उसकी कभी पूर्ति नहीं होती और निवृत्ति भी नहीं होती। तो निवृत्ति-पूर्ति-रहित जो प्रियता है, वह अनन्त है। तो अनन्त की प्रियता से ही अनन्त को रस मिले-इसमें आपको सन्देह क्यों होता है? इसमें सन्देह इसलिए होता है आपको-कि आप अखण्ड रस तो पसन्द कर लेते हैं। और इसलिए पसन्द कर लेते हैं कि आपमें जो अखण्ड रस न होने का दुःख था, वह मिट गया।

तो अखण्ड रस का अर्थ है-दुःख-निवृत्ति। स्वाधीनता का अर्थ है-दुःख निवृत्ति। चिन्मय जीवन का अर्थ-दुःख निवृत्ति। मैं आपसे पूछता हूँ-परमानन्द की प्राप्ति के लिए क्या उपाय है आपके पास? आप ममता-रहित हो गये-निर्विकारता प्राप्त हो गई, विकार-जनित दुःख नाश हो गया।

आप निष्काम हो गये-परम शान्ति प्राप्त हो गई, अशान्ति-जनित दुःख का नाश हो गया। आप असंग हो गये-पराधीनता जनित दुःख की निवृत्ति हो गई, स्वाधीनता प्राप्त हो गई। तो यहाँ तक तो अपने दुःख-निवृत्ति की बात है। किन्तु दुःख निवृत्ति के साथ-साथ जब परमानन्द प्राप्ति का लक्ष्य होता है, तो मानना ही पड़ेगा कि उस लक्ष्य की प्राप्ति आत्मीयता में है, अगाध प्रियता में है।

इसी आधार पर यदि वह निवेदन कर दिया जाय कि जीवन प्रभु के लिये भी उपयोगी होता है, जगत् के लिये भी उपयोगी होता है, अपने लिये भी उपयोगी होता है-तो इसमें अत्युक्ति नहीं है। यह बात अलग है कि प्रभु के लिये उपयोगी हम अपने बल से होते हों-सो नहीं होते, अपनी विशेषता से होते हों-सो नहीं होते। उन्हीं की दी हुई विशेषता से। अरे भाई! गंगा जल से गंगा की पूजा कर दी जाय, तो इसमें क्या पूजा करने वाले की विशेषता है? उन्हीं के दिये हुये से, उन्हीं के निर्माण किये हुये से, हम उनके लिये उपयोगी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे असमर्थ हैं, या परिपूर्ण नहीं हैं या अखण्ड नहीं है, या नित्य नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, हम कुछ नहीं हैं-यह बात ठीक है। परन्तु उनके होने से उनके लिये उपयोगी होते हैं। यह है आस्तिकता।

जब मैंने अध्यात्मवाद, भौतिकवाद और आस्तिकवाद का विभाजन किया तो मेरे एक बड़े पुराने मित्र कहने लगे कि आप अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद में भेद क्यों करते हैं? तो मैंने कहा-रस की दृष्टि से भेद करता हूं। अध्यात्मवाद का अर्थ क्या है? अपने सम्बन्ध में पूरी जानकारी। भौतिकवाद का अर्थ क्या है? जगत् के सम्बन्ध में पूरी जानकारी। आस्तिकवाद का अर्थ क्या है? सुने हुये में आस्था। सुने हुये में आस्था ही वास्तव में आस्था है। आप देखे हुये में विश्वास करेंगे तो धोखा खायेंगे। और जाने हुये में विश्वास की अपेक्षा ही नहीं होती।

जरा विचार करें, विश्वास की अपेक्षा जाने हुये में नहीं होती। और जिसके सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, उसमें भी विश्वास नहीं कर सकते। जिसके सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। और पूरा जब जानते हैं, तब जिज्ञासा की पूर्ति होती है। तो आप ही बताइये, विश्वास का उपयोग कहाँ करेंगे? अपने सम्बन्ध में कर नहीं सकते, जगत् के

सम्बन्ध में कर नहीं सकते! क्योंकि जगत् के सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, अपने सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं।

इसलिये जब जिज्ञासा होती है, तब यह नहीं होती कि परमात्मा कैसा है! यह तो लोग वैसे ही कहने लग गये। 'यह' क्या है? "मैं" क्या हूँ?। जिज्ञासा का क्षेत्र "यह" और "मैं" है। विश्वास का क्षेत्र प्रभु है। या तो आप यह कहिये कि जीवन में विश्वास की आवश्यकता ही नहीं है। ठीक है। इसमें कोई आपकी हानि नहीं होगी। देखिये, मानव-सेवा-संघ की साधन-प्रणाली में कब हानि होती है? कि जब आप अपनी बात नहीं मानते हैं। यदि आप अपनी बात मान लें, तो हानि बिल्कुल नहीं हैं।

अगर आप में विश्वास की सामर्थ्य नहीं है, आपके जीवन में विश्वास जैसी चीज नहीं है, यदि आपने कभी किसी में विश्वास किया ही नहीं है, तो मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में यह आग्रह नहीं है कि आप विश्वास कीजिये। परन्तु एक बात तो बताओ, यदि कोई विश्वास करे, तो आप विरोध क्यों करते हो? यानी आप विश्वास न करें, इसमें आप स्वाधीन हैं। लेकिन आप किसी को विश्वास न करने दें-यह कौन-सी योग्यता की बात है? मानव-सेवा-संघ ने एक बड़ी सुन्दर बात बताई कि आप अपने साधन का अनुसरण करें, परन्तु दूसरे के साधन का विरोध तो न करें! आनादर तो न करें!

मेरा यह निवेदन है कि जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है, इसलिये कि प्रभु ने हमें वह सामर्थ्य प्रदान की है। मैं आपसे पूछता हूँ, यदि आप ही परमात्मा हैं-ऐसा अगर मान लें, तब भी तो आपको अपने में विश्वास करना चाहिये कि नहीं? आपको अपने में प्रियता होनी चाहिये कि नहीं? आप प्रियता का विरोध नहीं कर सकते। आप विश्वास का विरोध नहीं कर सकते। क्यों? आप रह नहीं करते बिना विश्वास किये। वस्तु-विश्वास भी तो विश्वास ही है न! किन्तु उसने लोभ को उत्पन्न कर दिया। व्यक्ति-विश्वास भी तो विश्वास ही है न! परन्तु उसने मोह को उत्पन्न कर दिया। परिस्थिति-विश्वास ने दीनता और अभिमान को जन्म दिया। अवस्था के विश्वास ने परिच्छिन्नता को पोषित किया।

तो क्या यह विकार-युक्त जीवन किसी भाई को, किसी बहन को अभीष्ट है? आपको मानना पड़ेगा-नहीं है। यदि अभीष्ट नहीं है, तो वस्तु विश्वास

त्याग किये बिना देखिये, निर्लोभता कैसे प्राप्त हो जायेगी? आप क्या समझते हैं कि दान देने से कोई निर्लोभ होता हैं? दान देने से तो लोभ की वृद्धि होती है कि और मिले तो और दे, और मिले तो और दे। एक वात। दूसरी बात आप साचिये, वस्तु को अपना मानकर देने में फलासक्ति नहीं होगी? अवश्य होगी।

तो वस्तु विश्वास के रखते हुये निर्लोभता प्राप्त कर सकते हैं? कभी सम्भव नहीं है। और निर्लोभता के बिना दरिद्रता मिट सकती है? यह कभी भी सम्भव नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि यदि हमारे जीवन में निर्लोभता आजाय, तो दरिद्रता रह नहीं सकती। आप जानते कि निर्लोभता का अर्थ क्या है? प्राप्त में ममता न हो, संग्रह की रुचि न हो, मिले हुए का दुरुपयोग न हो, अप्राप्त की कामना न हो। जब ये सारी बातें जीवन में आ जाती हैं, तब निर्लोभता आती है। निर्लोभता आते ही प्रकृति लालायित होती है कि आवश्यक वस्तु आपको प्रदान करे।

पर यह विज्ञान आज हम भूल गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि लोग समझते हैं कि लोभ से दरिद्रता नाश होगी, संग्रह से दरिद्रता नाश होगी-कभी नहीं होगी। परिस्थितियों के चिन्तन से परिस्थिति प्राप्त होगी-कभी नहीं होगी। इसलिए भाई, इस विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करना ही होगा। और जब आप इस विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग कर देंगे तब आप में निर्विकारता आ ही जायेगी। वस्तु विश्वास का त्याग हुआ कि निर्लोभता आई। व्यक्ति-विश्वास का त्याग हुआ कि निर्मोहता आई अवस्था विश्वास का त्याग हुआ कि अपरिच्छिन्न आई। आप कहेंगे, कैसे? विश्वास सम्बन्ध न जोड़ देता है। विश्वास ही तो जन्जीर है जो "नहीं" में भी बाँध दे, और "है" में भी बाँध दे। यह बड़ी विलक्षण बात है। यानी विश्वास की विलक्षणता है कि 'नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ दे, और "है" के साथ भी सम्बन्ध जोड़ दें।

तो विश्वास किसमें करना चाहिए? जो 'है" जो 'है'! "है" में ही आस्था करनी चाहिए। बोले-'है' किसको कहते हैं? कि जो "नहीं" को "नही" जान लोगे, तो 'है' का बोध हो जायेगा। आप 'है" को नहीं जानते हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं। आप "नहीं" को जानते है क्या? "नहीं" को जानने से 'है' का बोध हो जाता है। यदि कोई कहे कि 'सत्' को जानते नहीं। तो 'असत्' को जानते हो? तो 'असत्' के

जानने से 'सत्' का बोध हो जाता है। क्यों? 'असत्' का ज्ञान 'असत्' की असता के बिना होता ही नहीं है। और जब 'असत्' से असंगता होती है, तब 'सत्' से अभिन्नता होती ही है।

तो ताप्पर्य क्या निकला? कि 'असत्' के ज्ञान में 'सत्' की प्राप्ति है। असत् के ज्ञान में "सत्" की प्राप्ति है। लोग सोचते हैं कि हमको 'आत्मा' का ज्ञान हो जाय। ज्ञान 'अनात्मा' का होगा, 'आत्मा' का नहीं होगा। हाँ, 'आत्मा' की प्राप्ति होगी, 'आत्मा' में प्रियता होगी। ऐसे ही ज्ञान जो होता है, वह आपको जगत् का होता है, परमात्मा का नहीं होता। परमात्मा की आपको प्राप्ति होती है। तो जिसकी प्राप्ति होती है, उसी में आस्था करना है और जिसमें आस्था होती है, उसी में आत्मीयता होती है। और जिसमें आत्मीयता होती है, उसी में प्रियता होती है।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य हो जाता है कि हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होगा। अवश्य होगा। आप कहें-प्रभु समर्थ हैं, उन्हें हमारे लिए उपयोगी होना चाहिए। तो प्रभु तो आपके लिए उपयोगी हैं ही। बहुत दिनों की बात है, मैं मैनपुरी में एक मित्र के यहाँ ठहरा हुआ था। उनकी माँ ने मुझसे पूछा कि भगवान् ने संसार को क्यों बनाया? मैंने उत्तर दिया कि मेरे लिए बनाया। ऐसा दुःख-रूप क्यों बनाया? वह इसलिए बनाया कि मैं कहीं फँस न जाऊँ। बनाया मेरे लिए और दुःख-रूप इसलिए बनाया कि मैं इसमें फँस न जाऊँ। तो भगवान् ने जो कुछ किया है, वह मेरे हित में किया है। यह बात विनोद की होने पर भी वास्तविक है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर आप संसार से कोई आशा नहीं करते तो कभी संसार ने आपको अपना मुँह दिखाया है क्या? विचार तो करो। जब आप कोई कामना पूरी करना चाहते है, तब न! आपको संसार का भास होता है। आप कुछ न चाहें, संसार आपको मुँह नहीं दिखायेगा। आप कहेंगे कि जिसने करुणा करके हमारी कामना की पूर्ति के लिए संसार बनाया, उसने ऐसा क्यों नहीं बनाया, जो सभी कामनायें पूरी हो जायें? तो मैं आपसे पूछता हूँ, क्या कामना-पूर्ति काल में आप पराधीनता का अनुभव नहीं करते? तो क्या प्रभु ऐसी सृष्टि का निर्माण करते, जो आप सदैव पराधीन बने रहते? आप सच मानिये, कामना-अपूर्ति-यह किसी पाप का फल नहीं है। यह वैधानिक बात है।

आज लोग समझते हैं-हम बड़े अभागे हैं! बोले, क्यों? कि जो हम चाहते हैं, सो होता ही नहीं। अरे बाबू! जो तुम चाहते हो, वह नहीं होता, इसलिए आप अभागे नहीं हैं। आप चाहते हैं, इसलिए अभागे हैं। और यह जानते हुए कि जो चाहते हैं सो नहीं होता, फिर भी चाहते हैं।

एक बार साधननिष्ठा देवकीजी ने एक बड़ा सुन्दर व्याख्यान दिया। वे जब कभी व्याख्यान देती हैं तो अपने को सामने रखकर बोलती हैं। उन्होंने यह कहा कि मैं जो चाहती हूँ सो होता नहीं और जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं। उस व्याख्यान में एक युवक बैठा हुआ था। वह टप-टप रोने लगा। वह कहने लगा कि दीदीजी ने जीवन का चित्र सामने रख दिया। उसके बाद मुझे बोलना था। आज-कल मैं पहले बोलता हूँ, पीछे वे बोलती हैं। उन दिनों वे पहले बोलती थीं, मैं पीछे बोलता था। क्योंकि वे अपने व्याख्यान में प्रश्न स्थापित करती थीं; मैं उत्तर देता था। आज उनका अपना प्रश्न नहीं रहा है, प्रभु कृपा से हल हो गया है। तो मैंने कहा कि जब तुम जानती ही हो कि जो मैं चाहती हूँ सो नहीं होता, तो फिर चाहती ही क्यों हो?

अरे, जब हम जानते ही हैं, कि जो हम चाहेंगे सो होगा नहीं, तो क्यों नहीं अचाह हो जातीं? और जब आप अचाह हो जाते हैं, जब आप कुछ नहीं चाहते हैं, तब आप अप्रयत्न भी हो जाते हैं। अकर्मण्य नहीं हो जाते। अप्रयत्न में और अकर्मण्यता में एक बड़ा अन्तर है। अकर्मण्य तो वह होता है जो दूसरे के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है। और अप्रयत्न वह होता है, जो निष्कामता को अपनाता है। अप्रयत्न बहुत बड़ा साधन है। अकर्मण्यता बहुत बड़ा असाधन है। साधन और असाधन में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर अप्रयत्न और अकर्मण्यता में है।

अप्रयत्न होते ही अभिन्न होते हैं। क्यों? अहकृति ने ही सीमित अहंभाव को जीवित रखा है। और सीमित अहंभाव से ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हुए हैं, भिन्नतायें उत्पन्न हुई हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अप्रयत्न में अभिन्नता है। अभिन्नता में अगाध प्रियता है। अगाध प्रियता में अनन्त रस है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि आपका मानव-जीवन असफलता के लिए नहीं है, निराश में आबद्ध होने के लिए नहीं है, भय में आबद्ध होने के लिए नहीं है, पराधीनता

में आबद्ध होने के लिए नहीं है, जड़ता में आबद्ध होने के लिए नहीं है।

तो किसलिए है? स्वाधीनता के लिए है, चिन्मय जीवन के लिए है, अनन्त रस के लिए है, पूर्णता के लिए है। यह जीवन ही आपका पूर्णता के लिए है। कोई परिस्थिति पूर्णता के लिए नहीं है। अतः जो भी परिस्थिति आपको प्राप्त है, उसी के सदुपयोग में आपका विकास है। आज हम सोचते हैं-क्या बतायें! हमें साथी अच्छा नहीं मिला, अगर साथी अच्छा मिल जाता, तो हमारा विकास हो जाता! जरा सोचो तो सही, जैसा मिला है, उसकी ममता छोड़ पाते हो? हाँ, उस पर क्रोध करते हो, उस पर अपना अधिकार रखते हो। क्या उसका त्याग कर पाते हो? अगर आप उस साथी का त्याग कर सकते होते, तब भी आपको सिद्धि मिल जाती।

तो मैं आपसे पूछता हूँ-एक साथी जिसे आप नापसन्द करते हो उसकी ममता नहीं छोड़ पाते, तो फिर अगर पसन्द का साथी मिल जाता तो आप कभी छोड़ पाते? मैं सच कहता हूँ, जिस किसी भाई को, जिस किसी बहन को जो कुछ मिला है, उसी में उसका विकास है। आज यह भूल जाने का फल क्या हुआ? हम अप्राप्त का चिन्तन करते रहते हैं। और प्राप्त का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते, सदुपयोग नहीं करते। आप जानते हैं, अकर्त्तव्य का मूल क्या है? प्राप्त का आदर न करना, प्राप्त का सदुपयोग न करना और अप्राप्त का चिन्तन करना।

अप्राप्त की कभी प्राप्ति होगी नहीं, नित्य प्राप्त की प्राप्ति होती है। प्रभु अप्राप्त नहीं हैं। प्रभु नित्य प्राप्त है, शान्ति नित्य प्राप्त हैं, स्वाधीनता नित्य प्राप्त है, त्याग और प्रेम आपको नित्य प्राप्त हैं। ये अप्राप्त नहीं है। तो जो नित्य प्राप्त है, उसी की प्राप्ति होगी। जो अप्राप्त है उसकी कभी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए जो भी आपको मिला है, आप उसका आदरपूर्वक स्वागत कीजिये। आप जानते हैं, जब हम मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत करने लगते हैं, तब उसकी निन्दा नहीं करते, तब उसे बुरा नहीं समझते। और जब हम किसी और की निन्दा नहीं करते, किसी और को बुरा नहीं समझते, किसी और के दोष नहीं देखते, तब हमें अपने आप अपने दोष दिखाई देते हैं।

आपको जो दोष देखने की शक्ति मिली है, वह निरर्थक नहीं मिली है, उसका जीवन में उपयोग है, पर अपने प्रति है। तो जिसका उपयोग

दूसरों के प्रति था, उसको करने लगे अपने पर। अपने को क्षमा कर देंगे। हमको क्रोध आ गया, तो कहेंगे कि क्यों न आ जाता? परिस्थिति ऐसी हो गई। यानी हमको क्रोध आ गया-यह तो कोई ऐसी बात नहीं हुई जो नहीं होनी चाहिये। किन्तु दूसरे ने भूल की तो वह ऐसी की, जो नहीं करना चाहिये। यह हमारा न्याय नहीं है, यह घोर अन्याय है। यह हमारी भूल है, हमारी असावधानी है।

किसी भी भाई को, किसी भी बहन को, किसी को किसी का दोष देखने का कभी भी अधिकार नहीं है। जब हम पर-दोष-दर्शन नहीं करेंगे, किसी को बुरा नहीं समझेंगे, तब हमें स्वयं अपने दोष का दर्शन होगा। मैंने अभी निवेदन किया था कि दोष का दर्शन निर्दोषता में होताहै। जिस समय आप अपना दोष देखते हैं और दिखाई दे जाता है, उस समय आप दोषी नहीं होते। उस समय आप निर्दोष होते हैं। किन्तु भूल क्या करते है कि अपना दोष देखते हैं तो कहते हैं-'हाय! हम तो बड़े पापी हैं। क्यों?' 'हमने यह पाप किया।' कब? बोले, 'भूतकाल में' भूतकाल में पापी थे कि वर्तमान में पापी हैं?

अपने दोष का दर्शन-यह सत्संग हैं। किन्तु भूतकाल के दोष के आधार पर वर्तमान में दोषी मान लेना-यह असत्-संग है। तो हमें भूतकाल के दोष को देखना है, जानना है। किन्तु वर्तमान की निर्दोषता में अविचल आस्था रखना है। यदि आप कुछ भी न करें, तब भी निर्दोष हैं, दोषी नहीं हो सकते हैं। कुछ न करने से कोई दोष नहीं हो सकता। गलत करने से न! दोषी होते हैं। कुछ न करने से कोई थोड़े ही दोषी होता है! असमर्थ होने से थोड़े ही कोई असफल हुआ है! सामर्थ्य के दुरुपयोग से असफल हुए हैं।

इसलिए मेरे भाई! कभी-भी निराश होने की जरूरत नहीं हैं। आपका मानव-जीवन बड़ा ही अनुपम जीवन है, अद्‌भुत जीवन है। क्यों? इसी जीवन में सद्‌गति होती है। इसी जीवन में दुःख निवृत्ति होती है। इसी जीवन में परमानन्द की प्राप्ति होती है। आप इस जीवन को अगर अनुपम जीवन नहीं मानते हैं, यदि आप इस जीवन का आदर नहीं करते हैं, स्वागत नहीं करते हैं, इसके महत्त्व को नहीं जानते हैं, तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करते हैं। इसलिए प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को मानव होने के नाते इसमें

अविचल आस्था करना चाहिए कि हम सफल हो सकते हैं। यह जीवन सफलता के लिए मिला है। इस जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु इसका उपाय है एक-मात्र अपने जाने हुये असत् का त्याग। असत् का त्याग और सत् का संग युगपद् हैं।

जब हम असत् का त्याग करते हैं, सत् का संग होता है। सत् का संग होते ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयतारूपी जो साधन है उसकी अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है अर्थात् सुन्दर समाज के निर्माण में आपका पूरा सहयोग हो जाता है। असंगता से जीवन अपने लिए उपयोगी होता है। और आत्मीयता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है। यह मानव का अपना चित्र है। मानव को अपने इस महत्त्व को नहीं भूलना चाहिए। परन्तु इसके साथ-साथ बड़ी ही सजगतापूर्वक इस बात पर दृष्टि रखना चाहिए कि ये मानव-जीवन में जो सौन्दर्य है वह उस निर्माता की देन है, यह व्यक्तिगत उपार्जन नहीं है। अतः आपको उस अनन्त ने इतना सुन्दर बनाया है कि आप जगत् के प्यारे हैं और प्रभु के दुलारे हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

27

भक्ति पाँच बातों से प्राप्त होती है-
मैं प्रभु की जाति का हूँ।
उनसे मेरा नित्य सम्बन्धहै।
वे अपने हैं।
मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिये।
मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ उनका है।

श्रीकृष्ण चरित्र में प्रेम-स्वरूप गोपियों का जीवन आदर्श है। उनके पास अपना मन नहीं है, अपना कोई संकल्प नहीं है। उनके पास जो कुछ है, वह सब श्रीकृष्ण का है। उनका व्रत केवल अपने प्रेमास्पद को रस देना है। इसी का नाम भक्ति है।

प्रेम ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि प्रेमी का सारा शरीर प्रेम के परमाणुओं से निर्मित हो जाता है।

समस्त वस्तुओं का निर्माण प्रभु ने मानव के लिये किया है; और मानव का निर्माण अपने लिये।

भक्त-जन स्वंय को प्रेमास्पद की प्रसननता के लिये समर्पित कर देते हैं। रामअवतार एवं कृष्णावतार में भगवान् के विविध परिकरों के उत्तम चरित्र में यह भाव भरे पड़े हैं।

27(अ) जगत् का निर्माण मानवके लिए-मानवका निर्माण प्रभु के लिए।

परिचय – मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाइयों और बहनों!

मानव-जीवन की पूर्णता नित-नव रस की अभिव्यक्ति में है। और रस का स्त्रोत एक-मात्र अगाध प्रियता में है। अगाध प्रियता किसी अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, एक-मात्र आत्मीयता से, अपनेपन से प्राप्त होती है। तो जो साधक सुने हुये प्रभु को अर्थात् जिसे इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा है, केवल अविचल आस्था श्रद्धा, विश्वास के आधार पर अपना मान लिया है, उसमें जो आत्मीयता स्वीकार कर ली है-यह मान लिया है कि वे अपने हैं-इसी का नाम भक्ति है।

यह भक्ति पाँच बातें से प्राप्त होती है। सबसे पहली बात यह है कि साधक को यह मान लेना चाहिये कि मैं उस प्रभु की जाति का हूँ। जिस धातु से प्रभु बने हैं उसी धातु का मैं हूँ। मुझमें-उनमें कोई जातीय भेद नहीं है। दूसरी बात-उनसे मेरा नित्य सम्बन्धहै; पहले भी था अब भी है, आगे भी रहेगा। और तीसरी बात यह कि वे अपने हैं। चैथी बात यह कि उनसे कुछ नहीं चाहिये, उनसे कुछ लेना नहीं है। और पाँचवी बात यह कि अपने पास जो कुछ है वह उन्हीं का है, अपना नहीं है। इन पाँच बातों से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन भक्त हो जाते हैं। भक्त होने से स्वतः अपने आप भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

जब तक किसी और को अपना मानेंगे, तब तक प्रभु को अपना कैसे मान पायेंगे! जब तक कुछ चाहेंगे, तब तक आत्मीयता सजीव कैसे होगी! तो, जिसको लोग निर्विकारता कहते हैं, जिसको लोग मुक्ति कहते हैं, वह भक्ति का सहयोगी साधन है। इस दृष्टि से शान्ति और स्वाधीनता के पश्चात् मानव भक्त होता है। जो अशान्त है,

जो पराधीन है, जिसे कुछ चाहिए, जिसके पास उसका अपना करके कुछ है, वह भक्त नहीं हो सकता। वह भक्त नहीं हो सकता। किन्तु आपका भूतकाल कैसा रहा है, आपकी परिस्थिति कैसी है, आप में योग्यता कितनी है, आप क्या करते हैं-इन सब बातों से भक्ति का कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि यदि आपके पास अमुक योग्यता नहीं है तो आप भक्त नहीं हो सकते-ऐसी बात नहीं है। आपमें अमुक प्रकार की सामर्थ्य नहीं है तो आप भक्त नहीं हो सकते-ऐसी बात नहीं है। हाँ, चाहे जैसे हों, और भूतकाल आपका चाहे जैसा बीता हो, किन्तु यदि वर्तमान में आप यह स्वीकार करलें कि प्रभु! आप मेरे हैं, सब कुछ तेरा है-बस, भक्त हो गये। इतनी स्वीकृति-मात्र से भक्त हो गये। क्यों? जब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रहा तो आप निर्विकार, निष्काम हो ही जायेंगे, स्वाधीन हो ही जायेंगे। और जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु अपने हैं, तो अपने होने से वे प्यारे लगेंगे।

आपने सुना होगा कि जब शदर पूर्णिमा के दिन श्याम सुन्दर ने बंशी बजाई थी, तब गोपियाँ जो जिस स्थिति में थीं उसी स्थिति में, उसी दशा में ज्यों-की-त्यों वन की ओर चल दीं। उनकी दशा का जो वर्णन है, वह इतना सुगम तो है नहीं, इतना है कि वर्णन करने के लिए बहुत समय चाहिए। किन्तु सारांश उसमें इतना ही है कि अगर कोई गोपी एक आँख में काजल लगा चुकी थी, तो उसी दशा में चल दी। यानी अस्त-व्यस्त दशा में। आप जानते हैं, काम का उद्गम क्या है? कामी का स्वभाव क्या है? काम का उद्गम है-अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता में आस्था अथवा शरीर को सजाने का प्रयास। स्वस्थ रखना काम नहीं हैं। लेकिन यह जो आज-कल की प्रथा के अनुसार ड्रेसिंग रूम है न! उसको ड्रेसिंग रूम कहते हैं। उसको कहना चाहिए-कामघर। वहाँ जाकर आदमी एक बनावटी ढंग से, आधुनिक ढंग से अपने शरीर को सजाता है। जिनमें काम नहीं रहता, उनमें शरीर को सजाने की बात ही नहीं आती।

इसलिए गोपियाँ जिस दशा में थीं उसी दशा में चल दीं और जब वन में पहुँची, तो श्याम सुन्दर ने कहा-'हे गोपियो! क्या तुम रास्ता भूल गई हो, जो इस समय वन में आई हो रात में?' गोपियों ने कहा-"महाराज! हम रास्ता नहीं भूल गई हैं।" तो क्या तुम यह नहीं जानतीं कि वेद का धर्म क्या है? वेद ने

क्या बताया है? वेद ने बताया है कि रात्रि के समय पर स्त्री को पति या पुत्र के साथ रहना चाहिये। तुम वन में कैसे आगई?' गोपियों ने कहा-"हे श्याम सुन्दर! हम आपको आचार्य बनाने नहीं आई, गुरु बनाने को नहीं आई।" कृष्ण ने कहा 'तो क्यों आई?' तो उन्होंने कहा-"हम तो इसलिये आईं थीं कि हमें देखकर आप प्रसन्न होंगे। आपको रस मिलेगा हमारे देखने से। हम इसलिये आईं। और जहाँ आप जाने की कहते हैं वहाँ तो हमारा तृण के समान भी सम्बन्ध नहीं है। एक बात। दूसरी बात यह है महाराज! कि मन के बिना तन कैसे जाय! हमारे पास हमारा मन नहीं है"

अब आप विचार कीजिये, मन किसके पास नहीं होता? जो निष्काम हो। तो मन किसका नहीं होता? जो निर्मम हो। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि गोपियाँ निर्मम भी थीं और निष्काम भी थीं। उस पर भी श्यामसुन्दर ने कहा-'तुम जाओ।, तब गोपियों ने कहा-"हे धर्म के आचार्य! तुम यह बताओं कि किसी का पति कहीं चला गया हो और अपनी प्रतिमा बनाकर दे गया हो और यह कह गया हो कि तुम इसकी सेवा पूजा करना, तो स्त्री को क्या करना चाहिये?" तो उसकी सेवा-पूजा करनी चाहिये।' "और जब उसका असली पति आजाय, तब क्या करना चाहिये? तब उसे उस प्रतिमा की पूजा करनी चाहिये या उस असली पति से प्रेम करना चाहिये?" 'भाई! तब तो उसे असली पति से प्रेम करना चाहिये।'

तो गोपियों ने कहा-"हे श्याम सुन्दर! हे धर्माचार्य! तुम यह तो बताओ, जगत् का पति कौन है? यह हमको बताओ, जगत् का प्रकाशक कौन है? जगत् का पति कौन है? यदि आप जगत् के पति हैं तो बताइये, हम असली पति को छोड़ कर कैसे जायँ?" इस पर भी श्याम सुन्दर ने कहा-'जाओ।' तब गोपियें ने अन्त में एक बात कही, और यह कहा-"कि महाराज! जहाँ आप जाने की बात कहते हैं, वहाँ तो हमारा सम्बन्ध ही नहीं है, और हमारे पास हमारा मन ही नहीं है, जो हम जायें। हम तो बे-मन की हैं। इस पर भी यदि आप हमें देखकर प्रसन्न नहीं होते, तो अब हम सब भस्म हो जायेंगी। और जब हम विरहाग्नि में भस्म होजायँ, तब आप एक बार उस भस्म के ऊपर से निकल जाना।"

यहाँ एक बड़ा दार्शनिक रहस्य है। आप जानते हैं, जिस समय

अहं रूपी अणु नहीं रहता, उस समय उस अनन्त में यह सामर्थ्य नहीं रहती कि वह त्याग कर सके। तात्पर्य क्या निकला? जिसने अपने प्रेमास्पद को रस देने के लिये ही अपने को स्वीकार किया है, जिसका यह व्रत है कि प्रीतम को रस मिले, वही भक्त है। भक्त का अर्थ यह नहीं है कि भक्त को भगवान से कुछ लेना है। जिसे भगवान् से कुछ लेना है, वह तो भक्त है ही नहीं।

आप जानते ही हैं कि आपसे कोई कहे कि आप हमें अपनी मोटर दे दें, और फिर कहे कि हम आपके बड़े भक्त हैं। तो आप कहेंगे कि आप मेरे भक्त हैं कि मोटर के भक्त हैं? भक्त उसे नहीं कहते जिसे कुछ भी चाहिये। जिसे कुछ भी चाहिये वह भक्त नहीं है। आप कहेंगे कि जब हमें कुछ चाहिये ही नहीं तो फिर हम क्यों किसी को अपना मानें? यही तो भक्ति में विलक्षणता है कि कुछ न चाहने पर भी वे अपने हैं, और अपने को प्रिय हैं। देखिये अपना मान लेने का अर्थ क्या है? अपने को प्यारा लगे! तो जिसका कोई प्रिय है उसी का नाम भक्त है। और उसे प्रियता का नाम ही भक्ति है। तो भक्ति क्या हुई? किसी की प्रियता!

अब यह प्रियता जो है वह शरीर-धर्म नहीं है। यह स्वधर्म है। प्रियता अपने में होती है। यानी आपमें प्रियता जाग्रत होगी, न कि आपके तन में, न कि आपके मन में, न आपकी बुद्धि में। इन सबमें प्रियता जाग्रत नहीं होती। इन सब पर तो आपकी प्रियता का प्रभाव होता है। जैसे-आसक्ति अपने में होती है, दिखाई मन में देती है। दिखाई देती है मन में और होती है अपने में। उसी प्रकार जब अपने में प्रियता जाग्रत होती है, तब उसका प्रभाव शरीर पर होता है, इन्द्रियों पर होता है, प्राणों पर होता है। और इतना गहरा प्रभाव होताहै कि सारा शरीर प्रीति के परमाणुओं से निर्मित हो जाता है। परन्तु यह भक्ति बिना निर्ममता, निष्कामता-पूर्वक आत्मीयता के बिना प्राप्त नहीं होती। आप सोचते होंगे कि हम इन्द्रियों के द्वारा किसी अभ्यासपूर्वक भक्ति प्राप्त करेंगे-सो बात नहीं है।

भक्ति में समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, प्राण आदि सब अपने-अपने स्वभाव को छोड़कर प्रियता में परिवर्तित हो जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जब प्रेमी प्रेमास्पद को देखता है, तब उसकी सारी इन्द्रियाँ नेत्र में विलीन होती हैं। जब उनकी बात सुनता है, तो सारी इन्द्रियाँ श्रोत्र में विलीन होती हैं। जब उसके सम्बन्ध में सोचता है, तो

सारी इन्द्रियाँ मस्तिष्क में विलीन होती है। प्रेमी की सर्व इन्द्रियाँ एक इन्द्रिय में विलीन हो जाती है। किन्तु ज्यों-ज्यों प्रियता बढ़ती जाती है, सबल होती जाती है, स्थायी होती है, त्यों-त्यों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण शरीर से सब प्रीति में परिणत होते चले जाते हैं। अर्थात् शरीर की आकृति रहते हुए भी वह सारा शरीर प्रेम के परमाणुओं से अर्थात् प्रेम की धातु से निर्मित हो जाता है। इसी का नाम असल में भक्ति है। और वह एक प्रकार का रस है। और ऐसा अनुपम रस है कि जिस रस की माँग भगवान को भी है। भक्ति-रस की माँग भगवान् को भी है अर्थात् भक्ति भगवान् को रस देती है।

किन्तु कब प्राप्त होती है? जब मुक्ति भी सन्तुष्ट न कर सकें, तब प्राप्त होती है। अर्थात् जिसे मुक्ति भी खारी लगती है, उसे भक्ति प्राप्त होती है। और मुक्ति किसे प्राप्त होती है? जिसके जीवन में सुख का प्रलोभन नहीं रहता अर्थात् जिसे सुख नहीं भाता। सुख जिसको अच्छा नहीं लगता, उसको मुक्ति मिलती है। और मुक्ति जिसे नहीं अच्छी लगती, उसको भक्ति मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि सुख का प्रलोभन नाश होने से दुःख की निवृत्ति होती है, और सुख का प्रलोभन नाश होता है। किन्तु मुक्ति का कभी नाश नहीं हेाता। क्यों? इसलिए नाश नहीं होता कि मुक्ति में भी देह का अभिमान गल जाता है, देह से सम्बन्ध नहीं रहता। तो जब देह से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कर्म में, चिन्तन में, स्थिरता में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। और जब इन सबमें जीवन-बुद्धि नहीं रहती, तब पराधीनता नहीं रहती। तो पराधीनता का अत्यन्त अभाव कहो, अथवा मुक्ति कहो-एक ही चीज है। परन्तु उस स्वाधीनता को प्रियता के लिये समर्पित कर देता है, कौन? भक्त!

आप कहेंगे, क्यों समर्पित कर देता है? स्वाधीनता का अनुभव आप करते हो। पराधीनता से पीड़ित भी आप थे। तो जो पराधीनता से पीड़ित था, वही न! यह कहता है-मैं स्वाधीन हूँ। तो स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी हुई, प्रभु के लिए उपयोगी नहीं हुई। लेकिन प्राप्त कैसे हुई? स्वाधीनता आपको कैसे प्राप्त होती है? प्रभु के दिये हुए विवेकरूपी प्रकाश के आदर से। मुक्ति विवेक-सिद्ध है न! और विवेक आपको मिला है। जैसे-भक्ति कर्म सापेक्ष है। जितने भोग हैं, वे सब कर्म की अपेक्षा रखते हैं। यानी कर्म के ही द्वारा भोगों की सिद्धि होती है। लेकिन एक बात तो बताइये, कर्म-

सामग्री किस कर्म के द्वारा सिद्ध होती है? जी? क्या विचार है आपका? क्या कर्म-सामग्री भी किसी कर्म का फल हो सकती है? अगर किसी कर्म का फल हो सकता है, तो कर्म का अनुष्ठान कैसे हुआ? तो यह मानना पड़ता है कि कर्म-सामग्री भी कर्ता को किसी ने दी है।

तो जिसने आपको कर्म-सामग्री दी है-भोग प्राप्ति के लिए, उसी ने आपको विवेक दिया है-मोक्ष प्राप्ति के लिये। ये जो मोक्ष मिलती है वह विवेक से मिलती है। तो विवेक जिसने दिया है-मुक्ति के लिये, और कर्म-सामग्री जिसने दी-भोग प्राप्ति के लिए, उसके सम्बन्ध में आपका अपना क्या विचार हुआ? आप सोचिये तो सही। अगर आप यह मान लें कि नहीं, विवेक हमारी निज की उपज है। तो फिर यह तो बताओ कि अविवेक आपके जीवन में क्यों आया? अगर विवेक आपकी निज की उपज थी, तो अविवेक क्यों आया? आपने विवेक का अनादर क्यों किया? और यदि कर्म-सामग्री आपकी अपनी चीज थी, तो कर्म का अन्त क्यों हुआ? कर्म अखण्ड होना चाहिए था, विवेक अखण्ड होना चाहिये था। किन्तु आपको मानना ही पड़ता है कि आपने अपने ही जीवन में कर्म-सामग्री के अभाव को भी अनुभव किया है। आपने अपने ही जीवन में अविवेक को भी अनुभव किया है। तो जब आप विवेक का अनादर करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि विवेक आपकी उपज नहीं हो सतकी, आपकी उपार्जित वस्तु नहीं है, आपको मिली है।

तो जिसने शान्ति के लिए, स्वाधीनता के लिये विवेकरूपी प्रकाश दिया, और कर्त्तव्य-पालन के लिये कर्म-सामग्री दी, उस प्रभु को आप अपना न मानें, उसमें आस्था न करें, उसमें श्रद्धा न करें, उसमें विश्वास न करें, तो क्या यह कृतघ्नता नही होगी? इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् यह बात चाहते हैं कि आप उनको अपना मानलें। यह बात नहीं है। आप उनको अपना मानते हैं, तब आपको वे प्यारे लगते हैं और उनसे अपनत्व की बात अलग है। भगवान् ने तो आपको विवेक भी दिया है न! आप भगवान् को मत मानिये। और आप विवेकपूर्वक असंगता के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लीजिये। आप कर्म-सामग्री के सदुपयोग द्वारा भोग प्राप्त कर लीजिए।

लेकिन भोग के परिणाम को आप नहीं मिटा सकते। भोग का परिणाम आपको अपनी रुचि के

विरूद्ध भोगना ही पड़ता है। भोग को आप प्राप्त कर सकते हैं, लेकिनन परिणाम से अपने को नहीं बचा सकते। तो भोग का परिणाम क्या है? रोग और शोक। और मुक्ति से आपके दुःख की निवृत्ति हो सकती है, आपकी पराधीनता मिट सकती है, आपके जीवन में से जड़ता का अत्यन्त अभाव हो सकता है। अर्थात् चिन्मय अमर जीवन से आप अभिन्न हो सकते हैं।

आप अमरत्व में सन्तुष्ट हो जायँ। भगवान् आपसे कभी नहीं कहेंगे कि आप हमको अपना मानिये। किन्तु आप जानते हैं, मुक्ति का जो रस है, शान्ति का जो रस है, निर्विकारता का जो रस है-वह अखण्ड तो है, अविनाशी तो है, उसका नाश तो नहीं होता, परन्तु उसकी पूर्ति होती है। वह पूरा हो जाता है। जैसे-जिस वक्त आपको निर्विकारता प्राप्त हुई निर्मम होने से फिर आप यह नहीं कह सकते कि निर्विकारता के बाद निर्विकारता का कोई और भाग ऐसा रह गया है जो प्राप्त करना है। पूर्ति उसकी होती है। ऐसे ही स्वाधीनता की भी पूर्ति होती है। ऐसे ही निःसन्देहता की भू पूर्ति होती है। आप सन्देह-रहित हो जाते हैं। किन्तु प्रियता जो है उसकी कभी पूर्ति नहीं होती। पूर्ति न हो, निवृत्ति हो-उसकी निवृत्ति भी नहीं होती। अब आप सोचिये, न तो प्रियता की कभी पूर्ति होती है, न उसकी निवृत्ति होती है, न उसमें क्षति होती है। जिसकी क्षति न हो, जिसकी निवृत्ति न हो, जिसकी पूर्ति न हो-मानना पड़ेगा वह असीम है, अनन्त है, नित्य है। क्योंकि निवृत्ति नहीं होती इसलिये नित्य है।

तो जो प्रियता असीम है, अनन्त है, नित्य है, उस प्रियता से उस अनन्त को रस मिलता है। मानव का निर्माण, सच पूछिये तो प्रभु ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया। सारे जगत् का निर्माण मानव के लिये। जगत् क्याहै? कामना-पूर्ति की सामग्री। और क्या है जगत्? और विवेक का निर्माण किया प्रभु ने मानव के लिये। क्योंकि भोग और मोक्ष मानव को मिल सकता है। वस्तुओं के द्वारा भोग मिल सकताहै, विवेक के द्वारा मोक्ष मिल सकता है। तो समस्त वस्तुओं का निर्माण प्रभु ने मानव के लिये किन्तु मानव का निर्माण अपने लिये किया।

आप कहेंगे, क्यों किया? इसलिये किया कि मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है कि जो प्रभु को अपना कह सकता है, उनमें आत्मीयता स्वीकार कर सकता है-ऐसा प्राणी

मानव है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो जगत् से निराश होकर, जगत् से असंग होकर अपने आप में सन्तुष्ट हो सकता है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो समस्त विश्व के दुःख को देखकरुणित हो सकता है, दूसरों के सुख को देख प्रसन्न हो सकता है।

ये तीन बातें-प्रभु में आत्मीयता, सुखियों को देख प्रसन्न होना, दुःखियों को देख करुणित होना और असंगतापूर्वक स्वाधीन हो जाना-ये बातें मानव-जीवन में ही साध्य है। और किसी जीवन में साध्य नहीं हो सकतीं। किन्तु इन तीनों में रस है। करुणा में भी रस है, प्रसन्नता में भी रस है। इसका अर्थ क्या हुआ? उदारता में रस है, क्योंकि उदारता के ही दो भाग हैं-एक करुणा और एक प्रसन्नता। उदार-मानव ही सुखियों को देख प्रसन्न और दुःखियों को देख करुणित होता है।

तो उदारता में भी रस है और असंगता में भी रस है, निष्कामता में भी रस है किन्तु प्रियता में जो रस है वह अनुपम है, अलौकिक है, अनन्त है। और जीवन में रस की ही माँग है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे, तो जो सर्वोत्कृष्ट रस है, उसका नाम भक्ति है। और उसकी प्राप्ति किसको होती है? जो प्रभु को अपना मानता है। यह समझ कर नहीं कि वे महान् हैं, जगत् के प्रकाशक हैं, आश्रय हैं, मालिक हैं वह प्रभु को अपना नहीं मानता। वह तो प्रभु के दिये हुए विवेकपूर्वक मुक्ति का आनन्द लेता है और कर्म-सामग्री से भोग का आनन्द लेता है। प्रभु को अपना वह मानता है जिसको भोग और मोक्ष नहीं चाहिये। भोग भी नहीं चाहिये, मोक्ष भी नहीं चाहिये। परन्तु इन दोनों में अन्तर क्या है? भोग के न चाहने से भोग की निवृत्ति होती है। और मोक्ष के न चाहने से मोक्ष की निवृत्ति नहीं होती, प्राप्ति होती है। यानी मोक्ष को अगर आप न चाहें, तब भी आपको मुक्ति मिलेगी। लेकिन भोग को न चाहें तो भोग की निवृत्ति होगी।

तो निवृत्ति जिसकी होती है, उसका नाम भोग है, उसका नाम काम हैं, उसका नाम आसक्ति है। और प्राप्ति जिसकी होती है, निवृत्ति नहीं होती, उसका नाम मोक्ष है। तो उस मोक्ष से भी जिसमें अधिक रस है उसका नाम है-भक्ति।

एक बार एक भक्त से मिलने का अवसर मिला। तो मैंने उनसे चर्चा करते हुए कहा-"असंगता में भी रस है।" उन्होंने बड़े सुन्दरतापूर्वक यह कहा कि "ठीक है भैया"-भैया कहके

सम्बोधित करते थे। "ठीक हैं भैया, हम सूखी रोटी खायँ, चटनी से क्यों न खायँ?" असंगता में जो रस है वह रस तो प्रियता में है ही, परन्तु उसमें नित-नव वृद्धि है।

श्रम-साध्य भक्ति का रस नहीं है, विचार-साध्य भक्ति का रस नहीं है। विचार-साध्य मुक्ति का रस है। निष्कामता से साध्य शान्ति रस है। किन्तु आत्मीयता से साध्य भक्ति का रस है। और वह रस कितना अनुपम है! कितना विलक्षण है! इस सम्बन्ध का ठीक परिचय कब होता है, जब आप किसी भक्त के चरित्र को अपने सामने रखते हैं।

27(ब) श्रीरामचरित्रके (श्रीकैकेयीजी-श्रीभरतजी) प्रेमी भक्त तथा तात्पर्य।

अपने सुना होगा कि भगवान राघवेन्द्र के जो परिकर हैं, जो उनके भक्त है।, उनमें एक कैकेयी भी हैं। आप चौंक जायेंगे कि अरे! वे क्या उनकी भक्त होगी, जिसने उनको वन भेज दिया। लेकिन एक बात तो सोचिये, यदि भगवान् राम के चरित्र में से वन का भाग निकाल दिया जाय तो भगवान् शबरी के बेर खा सकते हैं क्या?-नहीं। जी? नहीं। कोल-भीलों के कन्द-मूल फल खा सकते हैं क्या? ऋषि-मुनियों के आश्रम में जाकर दर्शन दे सकते हैं क्या? देवताओं का काम कर सकते हैं क्या? भगवान् राम के चरित्र में जो कुछ महत्त्व है वह वनवासी राम का है कि राजा राम का है?-वनवासी राम का। अच्छा! राम के पार्षदों में से यदि महारानी कैकेयी को निकाल दिया जाय तो राम वन जा सकते हैं क्या? आप लोग सोचते होंगे कि कैकेयी ने बड़ी भूल की कि जा राम को वन भेजा। भूल नहीं की राम के मन की बात पूरी की अपने को कलंकित करके।

अब आप सोचिये, भक्ति रस कैसा है! राम ने स्वयं कैकेयी से कहा-"माँ, तुम मुझे वन भेज दो।" कैकयी बड़ी हिचकिचाई, कहने लगीं-"राम! प्यारे राम! मैं वन तो भेज दूँगी। पर एक बार है कि तुम जब चाहते हो, तो मैं कलंक सहूँगी, अपमान सहूँगी। क्यों? तुम्हारी मन की बात पूरी हो-यों। परन्तु तुम चलते समय, वन जाते समय सुमित्रा जी से मत मिलना।" वे उस समय प्राइम मिनिस्टर थीं अवध के राज्य की। और यह नियम रहा है कि

जो छोटा होता है न! उसका अधिकार ज्यादा होता है। बड़े में बड़ापन उदारता के कारण है, बड़े होने से नहीं। आज तो हम सोचते हैं कि हम बड़े हैं, इसलिए हमको आदर दो। यह प्राचीन प्रणाली नहीं है। और आपने देखा होगा कि गोस्वामीजी ने वन जाते समय कहीं नहीं दिखाया कि भगवान् राम सुमित्रा जी से मिलने गये।

अब राज-तिलक होने वाला है। अवध में बड़ा उत्साह हो रहा है। बड़ा उत्साह है हर एक के हृदय में कि कल राम राजा होंगे। और महाराजा दशरथ ने मन्त्रियों से, प्रजा से, गुरुजनों से परामर्श लेकर राम को राजा बनाने का निर्णय किया था। मन माने ढंग से नहीं कर लिया था। किन्तु हुआ क्या! महारानी कैकेयी ने कहा-"मेरा जो वचन आपके पास है, वह पूरा कर दो। मैं कुछ चाहती हूँ।" बोले, 'क्या चाहती हो?',-"राम को वन भेज दो, भरत को राज्य दो। और (राम को) चौदह वर्ष के लिए वन भेजो।" और वह भी कैसे? वन में भी जाते दल-बल के साथ तो जहाँ राम तहाँ अवध हो जाता। सो नहीं- 'तापस भेष, विशेष उदासी।' इसमें जरा विचार करना चाहिए। 'तापस भेष, विशेष उदासी-चौदह बरस राम बनवासी।'

"तपस्वियों का भेष बनाकर वन में जायँ, राजा बन कर वन में न जायँ। राजकुमार बन कर वन में न जायँ।" यदि राम राजकुमार बनकर जाते तो जहाँ राम रहते वहाँ अवध हो जाता। विचार कीजिये। "और आजीवन के लिए न जायँ। चौदह बरस के लिये जायँ। और भरत को राज्य दिया जाय।"

अगर उन्हें अपने लड़के को राज्य दिलाना था तो केवल यही माँग लेतीं कि भरत को राज्य दो और सदैव के लिये राज्य दो। भला, क्या कोई भी आदमी, कोई भी माँ अपनी सन्तान से अपरिचित होगी? क्या महारानी कैकेयी इस बात से अपरिचित थीं कि श्री भरतजी में और राम में कितना प्रेम है? कभी नहीं भली भाँति परिचित थीं। राम को वन की आज्ञा हो गई महाराजा दशरथ अत्यन्त अधीर हो गये, व्याकुल हो गये। जो पत्नी पति के प्यार की पात्र है वह पति के द्वारा अपमानित होने लगी। जो कुछ कर सकते थे, कहा, किया, बचा के नहीं रखा। आप जानते हैं, पुत्र के द्वारा माता पूज्य हैं। भरत द्वारा भी कैकेयी का अपमान हुआ, पति के द्वारा भी अपमान हुआ।

लेकिन आप देखेंगे, प्रेमियों के जीवन में, अम्मा कौशल्या ने

लखनलाल ने किसी ने अपमान किया क्या?-नहीं अपमान किया। क्योंकि प्रेमियों के जीवन में किसी से द्वेष होता ही नहीं। यह प्रेम जो हैं, इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं। इसलिये इसकी पूर्ति नहीं होती। तो महाराज दशरथ ने जब वन की आज्ञा दे दी। अब प्रातः काल अम्मा कौशल्या इस उत्साह में बैठी थीं कि राम लला आवेंगे, मैं उनका आरती उतारूँगी, पूजन करूँगी, क्योंकि आज मेरा लाल राजा बनेगा।

आये राम, किन्तु बड़े संकोच में। राम बड़े संकोच में कि माँ के हृदय को कहीं आघात न पड़ जाय। कहने लगे-"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है।" अम्मा कहने लगीं-"देखो राम! यदि पिता ने तुमको बन का राज्य दिया है, तो मैं माँ हूँ, मैं अवध का राज्य दे सकती हूँ। लेकिन अगर तुम्हारी कैकेयी मैया ने वन का राज्य दिया है, तो वन चले जाओ।" कहीं विद्रोह नहीं हुआ, संघर्ष नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? सब जानते थे कि कैकेयी को राम अत्यन्त प्यारे हैं। महाराजा दशरथ ने भी कहा-"अरी कैकेयी! तेरी क्या बात है? क्या तू सोचती है? तुझे तो राम बड़े प्यारे लगते थे। तू क्यों वन भेजती है?"

इस रहस्य को तो प्रेमी जानते हैं कि कैकेयी इसलिये वन भेजती हैं कि राम चाहते हैं कि वन जाऊँ। राम चाहते हैं कि मैं वन जाऊँ। महाराज! यह समाचार लखनलाल जी ने सुना, महारानी सीता ने सुना। लखनलाल ने कहा-"मैं भी साथ चलूँगा।"

मैं तब तीसरे दर्जे में पढ़ता था तब पढ़ा था-"रहौ तात, अस नोति विचारी।" यहाँ से आरम्भ होता है। बहुत समझाया राम ने और कहते-कहते यहाँ तक कह दिया राम ने-"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी। अरे भैया! देखो अगर प्यारी प्रजा दुःखी होगी, तो राजा नरक में जायेगा। तुम प्रजा के लिये सेवा करो। माता-पिता वृद्ध हैं, उनकी सेवा करो। तुम वन मत जाओ।" लखनलाल ने कहा-"प्रभु! एक बात पूछता हूँ कि यह जो आप धर्म और नीति का उपदेश करते हैं, यह तो उसे करें, जिसे कुछ चाहिये।" अधीर होकर लखनलाल ने कहा-"मन, क्रम, वचन, चरण रत होई; कृपा सिन्धु परिहरहिं कि सोई।" राम का मुँह बन्द होगया। तब कहा-"अच्छा भैया, चलो।"

महारानी सीता ने कहा-"कै तन-प्रान, कि केवल प्राना! या तो तन

और प्राण दोनों आपके संग जायँगे अथवा केवल प्राण जायेगे।" राम चुप हो गये। आप जानते हैं, उर्मिला जी भी जनकपुरी की हैं, महारानी सीता की सहचरीहैं, सखी हैं, अत्यन्त अभिन्न हैं। जब एक बहन यह आदर्श स्थापित करती है कि पति के साथ जाना चाहिये। उर्मिला चुप है। क्यों चुप है? प्रेम का यह अर्थ नहीं कि प्रियतम हमारे मन की बात करें। प्रेम का अर्थ यह नहीं है। उर्मिला ने सोचा-"मेरा पति सेवक बनकर जा रहा है। सेवक को नारी रखने का अधिकार नहीं है।" तो पति के धर्म की रक्षा के लिये उर्मिला जी ने अपने प्रिय के वियोग की असह्य वेदना मूक होकर सहन की महाराज! मूक होकर सहन की।

राम वन को चले गये। अवध में हा-हाकार हो गया! महाराज दशरथ तो इतने अधीर हुये, इतने बेचैन हुये राम के वियोग से कि सुमन्त से कह दिया कि तुम वन में घुमा-फिरा कर इनको ले आना, तो मेरे प्राण बच सकते हैं। राम ने महाराजा की इस बात की बिल्कुल परवाह नहीं की। ओर कह दिया-"खोज मार रथ हाँकहुँ ताता। हे तात, हे सुमन्त जी! पिता के समान हैं आप! ऐसे रास्ते से चलों, जो लोगों को निशान नहीं मिलें।"

परन्तु जब भरत जी अवध में आये। और उन्होंने देखा कि हाय! राम वन को चले गये, पिता परलोक सिधार गये और सारे अवध में हाहाकार!! है। आप देखिये, एक ओर से सबका मत है भरत के साथ-राज्य करो, पिता ने दिया ही है, कैकेयी माँ ने दिया ही है। अम्मा कौशल्या ने कहा कि राज्य करो। गुरु वशिष्ट ने कहा कि राज्य करो। मन्त्रियों ने कहा कि राज्य करो, प्रजा ने कहा कि राज्य करो। किसी का विरोध नहीं है एक तरफ से। और ये सब धर्म हैं-प्रजा की बात मानना मन्त्रियों की बात मानना, माता की, पिता की, गुरु की बात मानना-ये सब धर्म हैं। सारे धर्म श्री भरतजी के सामने मौजूद है। किन्तु उनके हृदय में एक व्यथा है। और यह व्यथा क्या है?-हाय! मैं अवध में राज्य करूँ और भगवान् राम नंगे पैरों वन में विचरें! महारानी सीता नंगे पैरों वन में विचरें! भैया लखनलाल नंगे पैरों वन में विचरें!-यह व्यथा भरत के लिये असह्य है।

भरत ने कहा कि मैं बड़ा ही पातकी हूँ, अधम हूँ कि मेरे लिये प्रभु वन में गये! मैं उस समय तक कुछ निर्णय नहीं कर सकता, जिस समय तक प्रभु से न मिल लूं। और वे जब मिलने के लिए चित्रकूट आये हैं,

उनकी दशा का वर्णन करें तो वहुत समय हो जाय। और मुझे मालूम भी नहीं। मुझ जैसे अनपढ़ को क्या मालूम भाई! किन्तु एक बात आप देखेंगे कि जब राम और भरत का मिलन हुआ है, तब गोस्वामी जी ने एक वात बड़ी सुन्दर कही-"परम प्रेम पूरन दोऊ भाई।" (जीव और ब्रह्म) मन, बुद्धि, चित् अहमिति बिसराई।" दोनों प्रेम से पूर्ण हैं। दोनों ही में न अहम् है, न बुद्धि है, न चित् है। बेमन के दोनों हो गये।

जब बेमन के दोनों हो गये तब भरत का मन रघुनाथ जी के पास आ गया और रघुनाथ जी ने कहा-"भैया भरत! जो तुम कहोगे, सो करूंगा।" आप जानते हैं, यह सुनकर देवता लोग घबरा गये। ऋषि-मुनि आश्चर्य में डूब गये-हाय! हाय!! अब क्या होगा! क्योंकि सब जानते थे कि भरत को यह दुःख था कि प्रभु नंगे पैरों वन में न रहें, अवध में राज्य करें और मैं आजीवन वन में बास करूं। भरत जी अपने व्यक्तिगत सेवा-जनित सुख से अपने को अलग रख सकते थे, दर्शन-जनित सुख से अपने को अलग रख सकते थे, किन्तु प्रभु नंगे पैरों वन में घूमें-यह व्यथा भरत के लिए असह्य थी। भगवान् ने कह दिया-"भैया भरत! जो तुम कहोगे, सो मै करूँगा।"

अब आप देखिये, भक्त और भगवान् में कितना अगाध प्रेम है! ये दोनों ही प्रेमी है। भगवान् ने जब अपने मन को छोड़ दिया, अब भरत को और तकलीफ हुई। भरत कहने लगे-"हाय! हाय!! प्रभु मुझ अधम प्रेमी के लिए आप अपनी मर्यादा का उल्लंन करें! प्रेमी पिताजी थे, जिन्होंने आपके वियोग में प्राणों का परित्याग कर दिया। प्रेमी भैया लखनलाल हैं, जो आपका वियोग नहीं सह सकते। प्रेमी जगदम्बा सीता हैं, जो आपके साथ वन में विचरती हैं, नंगे पैरों घूम रही हैं। उनके लिए प्रभु! आपने अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। और मुझ अधम प्रेमी के लिए आप अपनी मर्यादा का उल्लंघन करते हैं! यह व्यथा मुझसे नहीं सही जाती।

अब आप देखिये। प्रभु का अपना मन भरत के पास आ गया, भरत का मन प्रभु के पास है। अन्त में प्रभु अधीर होते हैं, और कहते हैं-"भैया भरत तुम बताओ, मैं क्या करूँ?" अहं भक्त पराधीनः-यह भक्ति रस की महिमा है।-"तुम बताओ, भैया भरत! मैं क्या करूँ?" भरत कहने लगे-"हे प्रभु! अब तो यही चाहता हूँ कि यदि वन की अवधि पूरी होने पर, समय पूरा होने पर, आप अवध में नहीं पधारेंगे,

तो भरत के प्राण नहीं पायेंगे।" राम ने कहा-"अच्छा भैया!" उनकी चरण-पादुका ली और उनको राजा माना। और एक तपस्वी की भांति, वनवासी की भाँति भरत निरन्तर राम का काम करते रहे।

भक्ति आपको संन्यासी नहीं बनाती। भक्ति आपको वर्त्तमान कार्य से नहीं छुटाती। क्योंकि भरतजी ने सारा राम का काम किया, या अपना काम किया? आप जानते हैं, प्रेमी वह नहीं होते कि भगवान् तो प्यारे लगें और संसार खारा लगे-उसे प्रेमी नहीं कहते। आपने सुना होगा कि एक बार अम्मा कौशल्या अत्यन्त व्याकुल हो गई। प्रेमियों की दशा देखिये। अम्बा कहती हैं-'सुमित्रे! हे सखी! तू सच बता, यह राम का वन-गमन सच है कि झूठ है? मैं नहीं जान पाती। क्यों, 'लगे रहत मेरे नयनन आगे, राम लखन और सीता। तौ हूँ न मिटत दाह जा उर कौ, विधि जो भये विपरीता।। निरन्तर मेरी दृष्टि में राम, लखन और सीता हैं। पर सखी! मेरे हृदय का दाह नहीं मिटता। अब सोचती हूँ, दुःख न रहत रघुपतिहि विलोकत।' रघुनाथजी को देखने-मात्र से दुःख नहीं रहता-और "तन न रहे बिन देखे, बिना देखे प्राण नहीं रहता। सखी! ऐसी उलझ गई हूँ। मैं देखती भी हूँ, पर दुःख नहीं मिटता। यदि राम का वन-गमन सत्य है तो प्राण क्यों? प्राण क्यों?"

अम्बा अधीर होती है। उसी क्षण मूर्छित हो जाती हैं। फिर होश आता है, बाहर को निकलती हैं। और जब निकलती हैं तो राम के घोड़ों पर उनकी दृष्टि पड़ती है। क्या घोड़ों की दशा है! जिस ओर राम गये हैं, उसी ओर घोड़े टकटकी लगाये देख रहे हैं, आँसू बह रहे हैं, तृण मुख में हैं, न निगल पाते हैं, न उगल पाते हैं। घोड़ों की इस अधीर व्याकुल दशा को देख अम्बा अपना दुःख भूलती हैं। और घबराकर कहती हैं-"ओरे पथिक! ओरे पथिक! अरे भैया सुनिये तो सही जरा।" बोले, माँ क्या बात है?' "देख-देख, तू वन में जा रहा है न! तो देख, राम से कहना कि वे एक बार इन घोड़ों की दशा देख जायँ। मुझसे इनकी दशा नहीं देखी जाती।" राम के घोड़े दुःखी हैं, अम्बा कहती हैं।

तात्पर्य क्या? भक्ति-रस में सर्वात्म-भाव है, अपने सुख की गंध भी नहीं है। आप जानते हैं, जिस समय लंका में विजय हुई और श्री विभीषण जी ने कहा-"प्रभु, नगर में पधारो।" कहने लगे-"भैया विभीषण! तुम नहीं जानते। एक दिन रह गया है, यदि मैं

अवध नहीं पहुँचा, तो भैया भरत का प्राण नहीं रहेगा।" बिल्कुल यही दशा श्री भरतजी की है। "हाय! हाय!! एक दिन रह गया, कोई समाचार नहीं मिला। यदि प्रभु नहीं आये, तो ये अभागे प्राण नहीं रहेंगे!"

अब कौन प्रेमी है? कौन प्रेमास्पद है? इसका पता प्रेम के साम्राज्य में है नहीं। जहाँ एक दो होते हैं वहाँ भक्ति रस है। जहाँ दो एक होते हैं वहाँ ज्ञान का रस है। रस ज्ञान में भी है। रस भक्ति में भी है। रस शान्ति में भी है। रस करुणा में भी है। रस प्रसन्नता में भी है। किन्तु भक्ति में जो रस है वह कैसा रस है! उदाहरण लीजिये-किसी को बड़ी ही तीव्र प्यास लगी हो, अत्यन्त तीव्र प्यास लगी हो, और बड़ा ही मधुर-सुन्दर जल हो, शीतल जल हो, किन्तु प्यास कैसी हो? जो बुझे नहीं! जल कैसा हो? जो घटै नहीं! पेट कैसा हो? जो भरे नहीं! आप क्या कहेंगे? आप कहेंगे कि प्रत्येक घूंट पर नित-नव रस है। इस भक्ति का ऐसा ही अनुपम रस है। इसमें मिलन और वियोग कुछ अर्थ ही नहीं रखता। मिलन में कोई भक्ति की पूर्ति होती हो; वियोग में केाई भक्ति की क्षति होती हो-ऐसा नहीं है। यह तो नितनव रस है, अगाध रस है, अनन्त रस है। और उसकी प्राप्ति एकमात्र शरणागति से होती है।

आप कहेंगे, शरणागति क्या है? विचार कीजिए। एक शरणागत भक्त की बात से आपको पता चल जायेगा। आपने सुना ही होगा कि श्री विभीषण जी ने अपने को अनाथ अनुभव किया। ऐसा अनुभव किया कि मेरा कोई है नहीं। अपने को असमर्थ अनुभव किया, समर्थ अनुभव नहीं किया। किन्तु आप जानते हैं, प्रभु ने किसी को अनाथ नहीं बनाया है। क्यों? जगत् का नाथ रहते हुए भला, कोई अनाथ हो सकता है! परन्तु जब मानव कहो या साधक कहो, मिले हुए विवेक का आदर नहीं करता, मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करता, अपितु दुरुपयोग कर बैठता है अथवा करने लगता हैं, तब वह अपने को असमर्थ पाता है। और उस असमर्थता की जब पीड़ा होती है तब अपने को अनाथ अनुभव करता है। इसी दशा में श्री विभीषण जी ने श्री हनुमन्तलाल जी से जब भेंट हुई तब एक प्रश्न किया। और वह प्रश्न यह किया-"कहत तात मोहि जानि अनाथा, करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा? क्या मुझ अनाथ पर भी प्रभु कृपा करेंगे?"

हनुमन्तलाल ने कहा-"क्यों अनाथ हो भैया तुम?" तो अपना परिचय देते हैं, अपनी दशा बताते हैं-"तामस तन कछु साधन नाहीं, प्रीति न पद सरोज मन माँहीं। मैं कर्म का, ज्ञान का और प्रेम का अधिकारी नहीं हूँ। इसलिए मैं अनाथ हूँ।" हनुमन्तलाल जी ने सुना और कहा-"कहहु कबन मैं परम कुलीना? मैं कौनसा परम कुलीन हूँ?" अब अपनी दशा बताते हैं-"कपि चंचल सबही बिधि हीना।" यह अपनी असमर्थता का परिचय अपने दोषों का परिचय। आगे चलकर हनुमन्तलाल कहते हैं-"प्रात लेइ जो नाम हमारा, मिलै न ता दिन ताहि अहारा! अस मैं अधम सखा सुन। हे सखा! मैं ऐसा अधम हूँ। मोहू पै रघुवीर, कीन्हेहु कृपा सुमिरि गुण, भरे विलोचन नीर। "यहि कहत राम गुण ग्रामा, पावा अनिर्वाच्य विश्रामा!"

तात्पर्य क्या?-अपनी असमर्थता से पीड़ित होना और उनकी महिमा में आस्था होना। जब श्री विभीषण जी ने सुना अपने हनुमन्तलाल जी कहो, चाहे उनके गुरुदेव कहो, गुरु से सुना कि प्रभु कृपा करते हैं गुरु ने यह नहीं कहा, कि तुम उनका नाम लेना, कि तुम उनका ध्यान करना, कि तुम उनका भजन करना। जैसा साधक का प्रश्न था वैसा ही गुरु का उत्तर था। उनमें सन्देह यह था, क्या मुझ अनाथ पर कृपा करेंगे। उन्होंने कहा-"अनाथ पर कृपा करते हैं। प्रभु अनाथ पर कृपा करते हैं। जो अपनी असमर्थता से पीड़ित है उस पर प्रभु कृपा करते है।" आस्था हो गई।

आस्था होने के बाद, आपने सुना ही होगा कि जिस समय श्री विभीषण जी श्री रघुनाथ जी से मिलने गये हैं तो उन्होंने यह परिचय नहीं दिया कि मैं इतना जप करके आया हूँ, कि इतनी देर ध्यान करके आया हूँ। बड़े सरल ढ़ग से कहा-"श्रवण सुजस सुनि आयहुँ। मैंने अपने कानों से आपकी महिमा को सुना।" क्या सुना?-"प्रभु भंजन भव-भीर। प्रभु भय को हर लेते हैं, दुःख को हर लेते हैं, यह सुन करके मैं आया हूँ।"

सुग्रीव जी उनके सखा हैं, और उस समय के सेनापति हैं। सुग्रीव ने कहा कि प्रभु! रावण का भाई आपसे मिलने आया है। प्रभु ने कहा "तो क्या करना चाहिए क्योंकि जिसको पद दिया प्रभु ने उसका परामर्श लिया। उसने कहा-"जानि न जाय निशाचर माया।" रघुनाथजी अधीर हो गये। कहने लगे-"सखा नीति तुम नीकि विचारी। तुम्हारी बड़ी सुन्दर नीति है।

पर क्या करूं? मम प्रण शरणागत भय हारी। मेरा प्रण हैं कि मैं शरणागत के भय को हर लेता हूँ। और ये जो तुम कहते हो कि निशाचर बड़े ऐसे और ऐसे होते है।"-प्रभु ने यह नहीं कहा कि मैं उनका नाश कर दूँगा प्रभु ने कहा-"उनके लिए लखनलाल पर्याप्त हैं।"

भक्तों पर जब दुःख होता है तब प्रभु कहते हैं-"सखा सोच त्याग बल मोरे।" उनके ऊपर जब आपत्ति होती है तब प्रभु नहीं कहते। अर्थात् उनका ऐश्वर्य, प्रेमास्पद का माधुर्य्य किसके लिए है?-प्रेमियों के लिए है, भक्तों के लिए है। प्रभु ने अनेक बार कहा-"सखा सोच त्यागहु बल मोरे। तुम मेरे बल पर निश्चिन्त हो जाओ, निर्भय हो जाओ।" और जब उनकी अपनी व्यक्तिगत समस्या है, तब कहते कहते हैं-"भैया लखनलाल पर्याप्त हैं।" आप जानते हैं, हनुमानजी गद्‌गद् हो गये। क्योंकि गुरु जो होता है न! वह प्रभु की महिमा से परिचित होता है, उसको जानता है। और शिष्य जो होता है, वह गुरु की बात को मानता है, जानता नहीं है। जैसे विभीषणजी ने इस बात को मान लिया था, श्री हनुमन्तलाल जी इस बात को जानने थे।

तो आते ही कह दिया-"आओ लंकेश!" लंका का राज्य दे दिया। किन्तु विभीषण बड़े संकोच में डूब गये, बड़े सकुचा गये। और कहने लगे-"उर कछु प्रथम वासना रही। पहले मेरे मन में वासना थी, किन्तु प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।"

इससे क्या प्रकाश मिलता है? कि "मैंने दोषावस्था में आपकी शरणागति स्वीकार की। आप में आस्था की।" यह असमर्थ साधक की बात है-आस्था। प्रभु ने कहा-"यद्यपि सखा तब इच्छा नाहीं। तुम विल्कुल ठीक कहते हो। मैं मानता हूँ कि तुझे इच्छा नहीं है। परन्तु मम दर्शन अमोघ जग माहीं।" क्या सार निकला? कि जब मानव अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर प्रभु की महिमा में आस्था करके एक बार यह स्वीकार कर ले-"प्रभु मेरे हैं। मुझ पर कृपा करेंगे। वे कृपा करते हैं।" इस आस्था मात्र से ही शरणागति सिद्ध होती है। और शरणागत होने पर प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी होता है। यह भक्ति रस की महिमा है।

28

अगर आप अपनी पसन्दगी बदल दें, सम्बन्ध बदल दें तो मन बदल जाता है। हम चाहे जैसे रहें और मन बदल जाय, सो मन बदलता नहीं।

इन्द्रियाँ न बहिर्मुख हैं, न अन्तर्मुख। जब हम बहिर्मुख होना पसन्द करते हैं, वे बहिर्मुख होती है। और जब हम अन्तर्मुख होना पसन्द करते हैं, वे अन्तर्मुख होती है।

मनुष्य को प्रभु ने संसार का दास बनने के लिये नहीं बनाया, संसार के काम आने के लिए बनाया है। प्रभु ने अपना दास बनाने के लिए भी हमकों नहीं बनाया है, प्रेमी बनने के लिए बनाया है, दोस्त बनने के लिए बनाया है।

परमात्मा की माँग से संसार का आकर्षण नाश होता है, संसार नहीं नाश होता। संसार का आकर्षण नाश होने के बाद संकल्प का नाश हो जाता है।

संकल्प का नाश होने से निर्विकल्पता आ जाती है। और निर्विकल्पता में जीवन है, रस है, स्वाधीनता है।

28(अ) पराधीनता पसंद न करें- मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग न करें।

श्रोता:– मन को बस में करने के उपाय क्या हैं?

स्वामीजी:– बात असल में यह है न! कि मन में वहीं बात आती है, जिन बातों को आप पसन्द करते हैं, जिनसे सम्बन्ध रखते हैं। आप अपनी पसन्दगी बदल दें, सम्बन्ध बदल दें तो मन बदल जाता है। और हम चाहे जैसे बने रहें और मन बदल जाय, सो मन बदलता नहीं है। अपने को बदलने से मन बदलता है। जिस चीज की आप आवश्यकता अनुभव करते हैं उधर मन चला जाता है। जिस चीज से आप सम्बन्ध तोड़ देते हैं, मन हट जाता है। जिससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, मन लग जाता है। एक तो यह बात है कि मूल।

दूसरी स्थूल बात यह है कि आप जरूरी काम पूरा कर दें और बिना जरूरी काम छोड़ दें, तब भी मन बस में हो जाता है। तीसरी बात है कि जो नहीं करना चाहिए सो न करें और जो नहीं कर सकते, वह न करें, और जो करना चाहिए सो करदें, तब भी मन बस में हो जाता है।

केवल प्रभु को ही अपना मानें, तब भी मन बस में हो जाता है। अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव करें, तब भी मन बस में हो जाता है। अब कौनसा किसको सूट करें, पता नहीं। जो जिसके अनुरूप पड़े, करें।

अपने को बदले बिना मन बस में हो जाय–ऐसा उपाय मुझे

मालूम नहीं है। असल में जब मनुष्य पराधीनता को पसन्द कर लेता है, तब वह मन के अधीन हो जाता है। और जब स्वाधीनता को पसन्द कर लेता है, तो मन उसके अधीन हो जाता है। एक बात। दूसरी बात है कि जो उसे स्वाधीनता मिली है न! जीवन में जो मनुष्य को स्वाधीनता मिली है, यदि उस मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग करे, दुरुपयोग न करे, तो उसे स्वाधीन होने में बहुत सुविधा हो जाती है।

वैसे तो दो ही बातें हैं अपने सामने-हम पराधीन नहीं रहेंगे और मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करेंगे। एक बात का सम्बन्ध संसार के साथ है और दूसरी बात का सम्बन्ध अपने साथ है। जिस बात का सम्बन्ध अपने साथ है, उससे परमात्मा मिल जाता है। और जिसका सम्बन्ध संसार के साथ है, उससे विश्व-शान्ति का प्रश्न हल हो जाता है। तो लौकिक उन्नति भी हो जाती है और पारमार्थिक उन्नति भी हो जाती है। दोनों हो जाते हैं, यदि हम मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें।

सर्वांश में तो स्वाधीनता मिली नहीं हैं, आंशिक स्वाधीनता मिली है। जैसे आप बोल सकते हैं, कटु भी बोल सकते हैं, मधुर भी बोल सकते हैं। यह आपकी स्वाधीनता है–कटु न बोलें, मधुर ही बोलें। सत्य भी बोल सकते हैं, मिथ्या भी बोल सकते हैं। मिथ्या न बोलें, सत्य ही बोलें। बल जो मिली है, कुछ कर सकते हैं। तो बुराई न करें, भलाई करें। आप इस बात में स्वाधीन है। तो जिन-जिन बातों में हम स्वाधीन हैं आंशिक रूप से, उस स्वाधीनता का कभी जीवन में दुरुपयेग न करें। इसी का नाम है-धर्म विज्ञान। इसी का नाम है– कर्त्तव्य विज्ञान, स्वाधीनता का सदुपयोग।

और हम पराधीन रहना पसन्द न करें, स्वाधीन हो जायँ, इसी को कहते हैं अध्यात्म-विज्ञान। धर्म विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान जब दोनों आ जाते हैं। इस दोनों का मिल कर फल हो जाता है कि मनुष्य को परमात्मा मिल जाता है। चाहें तो, न चाहे तो जरूर मिल जाता है। ऐसा है। अब आप सोच लीजिये। इन दो बातों पर विचार करने को आप तैयार हैं क्या? एक तो पराधीन नहीं रहूँगा, और एक स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूँगा। मानव-जीवन का मूल मंत्र है यह– दो वाक्यों में।

ऐसी कोई बुराई कभी जीवन में उत्पन्न ही नहीं होती जो हमारे

पराधीन होने से न हो। यानी पराधीनता को हम पसन्द कर लेते हैं, अच्छी लगती है, भाती हैं। तो पराधीनता हमको अच्छी न लगे, स्वाधीनता हमें प्रिय हो, स्वाधीनता हमें पसन्द हो। और जो स्वाधीनता हमें मिली है किसी आंशिक रूप में, उसका हम सदुपयोग करें, दुरुपयोग न करें–दो ही बातें हैं जीवन में बढ़िया से बढ़िया। और ये मानव-जीवन की बात हैं दोनों।

मनुष्य इन दोनों बातों में स्वाधीन है। स्वाधीन होने में भी स्वाधीन है और मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग में भी स्वाधीन है। अगर वह स्वाधीन नहीं होना चाहता है, तो यह उसकी अपनी भूल है। अगर वह स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, तब भी तो अपनी भूल है। यह बेबसी की बात नहीं है, मजबूरी की बात नहीं है, विवश होकर नहीं करता है ऐसा, अपनी मौज से करता है। भूल से करता है स्वाधीनता का दुरुपयोग भी और पराधीनता की पसन्दगी भी।

श्रोता:– महाराज जी! स्वाधीनता स्वाभाविक तो है, अपना स्वरूप है, पर मिलती नहीं। और पराधीनता जो है अपना स्वरूप नहीं है, बाहर से आई है। पर संस्कार.....?

स्वामीजी:– ठीक है! पर वह प्रक्रिया मुझे मालूम नहीं है। इसलिए मैं उस ढंग से कह नहीं पाता हूँ। मुझे यह प्रक्रिया मालूम है कि यदि हम स्वाधीन होना पसन्द करें, तो स्वाधीन हो सकते हैं। और मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें, तो संसार के काम आ सकते हैं। और स्वाधीन हो जाँये तो अपने काम आ सकते हैं, प्रभु के काम आ सकते हैं। ऐसा है।

श्रोता:– महाराज जी! यहाँ तक तो ठीक है कि परमात्मा ने बड़ी अनुकम्पा करके मानव शरीर दे दिया। परन्तु हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुख क्यों बना दिया?

स्वामीजी:– देखो, देखो! यह तो परमात्मा से पूछने की बात है। क्योंकि उसने बनाने से पहले मेरी राय तो ली नहीं थी। मैं इसका क्या उत्तर दूँगा? –(हास्य) लेकिन आपसे ठीक कहता हूँ कि ऐसी बातें मैंने बहुत-सी सुनी हैं। ठीक होंगी। लोगों ने बड़ी ईमानदारी से लिखीं हैं। पर वास्तव में न इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं और न अन्तर्मुख। अब शराणानन्द की फिलोसोफी सुनो। शरणानन्द की फिलोसोफी में इन्द्रियाँ न बहिर्मुख हैं, न अन्तर्मुख। जब आप बहिर्मुख होना पसन्द करते हैं, तो वे बहिर्मुख होती हैं।

और जब हम अन्तर्मुख होना पसन्द करते हैं तो वे अन्तर्मुख होती हैं। इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से आपकी स्वीकृति के बिना, आपके सहयोग के बिना कुछ नहीं करतीं। इसलिए मैं उन्हें अपराधी नहीं मानता हूँ। जब उन्हीं को अपराधी नहीं मानता, तो उनके बनाने वाले की भूल कैसे मान लूँ? आप सोचिए। यह मुझमें साहस नहीं है कि मैं सृष्टि के बनाने वाले को अपराधी मान लूँ और भूल मान लूँ। ऐसा मैं नहीं मानता।

श्रोता:– असंख्य जन्मों से आदमी का जन्म हो रहा है। इन्द्रियाँ....?

स्वामीजी:– आप मेरी भाषा बोलो। अपनी भाषा मत बोलो। अनेक जन्मों का तुमको ज्ञान तो है नहीं, सुनकर मान लिया है। हुआ होगा। ठीक है, लेकिन इस जन्म की बात करो। अनेक जन्म तो गए। इस जन्म में भी बहुत बड़ा भाग बीत गया। अभी की बात करो। आप क्या चाहते हैं? आपको क्या पसन्द है? आप क्या कर सकते हो? आप क्या मानते हो? आप क्या जानते हो?-इस पर बात करो। तब तो होगा आपको लाभ। और अनेक जन्मों की बात सोचते रहो, तो लाभ तो होने वाला है नहीं। आप कुछ जानते हो कि नहीं? आप कुछ मानते हो कि नहीं? आप कुछ कर सकते हो कि नहीं? तो आपका जानना, आपका मानना, आपका करना ठीक होना चाहिए। बेड़ा पार हो जायेगा। चाहे भले ही अनेक जन्मों में कुछ भी हुआ हो। चाहे इस जीवन का बहुत बड़ा भाग बीत गया है। मेरा तो ऐसा ख्याल है।

बात करने को तो चाहे कितनी बात कर लो, चाहे जैसी बात कर लो लेकिन वह जरूरी बात नहीं है। जरूरी बात यही है कि आप अपने द्वारा अपने से पूछिये, कि भाई, क्या मैं स्वाधीन होना पसन्द करूँगा? फिर पूछिये, कि क्या मैं मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूँगा? अगर आप नहीं करेंगे, तो आप सच्चे मानव हो जायेंगे। और जब आप मानव हो जायेंगे, तब आपमें मानवता आजायेगी। और जब मानवता आ जायेगी, तब जीवन में पूर्णता भी आ जायेगी। क्योंकि मानवता में पूर्णता है। और आप मानव हैं, आपमें मानवता आ सकती है। केवल इन दो बातों को सामने रख कर विचार को लीजिए कि मैं मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूँगा और किसी प्रकार से पराधीन होना पसन्द नहीं करूँगा।

स्वाधीन शब्द के उच्चारण में काल अपेक्षित है, लेकिन यदि आपको स्वाधीनता पसन्द आजाय, तो स्वाधीन होने में काल अपेक्षित नहीं है। कितनी सुगमता चाहिए आपको? पर आश्चर्य की बात तो यही है कि स्वाधीन होना ही पसन्द नहीं करते, तो क्या किया जाय! तो पराधीन न तो कभी शान्ति पाता है, न मुक्ति पाता है और न भक्ति पाता है। यह नियम है, यह विधान है, यह जीवन का सत्य है। इसमें इधर-उधर की बात चलती नहीं है। ठीक ईमानदारी से सोचा जाय तो। फिर भी जैसी आपकी मर्जी सरकार! हमें क्या है! हमें तो आपकी पूजा करनी है। जैसी पूजा पसन्द करो, कर देंगे, जो हम कर सकते हैं। लेकिन वास्तविक बात यह है कि हम लोग अपने-अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा विचार नहीं करते। सुनी हुई बातों को मान-समान करके एक राय कायम कर लेते हैं। और यह मान लेते हैं कि मानों यह हम जानते हैं। अरे, किसी महापुरुष ने लिख दिया कि सृष्टिकर्त्ता ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। मान लिया। सोचा ही नहीं कि किस दशा में लिख दिया, क्यों लिख दिया, क्या लिख दिया, किस प्रसंग में लिख दिया? अरे, लिखा था सो सीख लिया, किन्तु स्वयं विचार ही नहीं किया।

अगर आप विचार करते, तो आपको मालूम हो जाता कि हमारी रुचिपूर्ति में ही इन्दियाँ बहिर्मुख हैं। माँग पूर्ति में थोड़े ही बहिर्मुख हैं! आप रुचि को पूरा करते जायेंगे, इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनी रहेंगी। आप रुचि पूरा करना छोड़दें, इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जायेंगी। इन्द्रियों को क्यों अपराधी बनाते हो? रचने वाले पर क्यों दोषारोपण करते हो? लिखने वाले ने लिखा होगा किसी दृष्टिकोण से। कह दो-हमारी समझ में नहीं आती है यह बात। निन्दा मत करो।

श्रोता:– यह तो श्रुति का प्रमाण है महाराज!

स्वामीजी:–श्रुति की बात कहता हूँ, श्रुति के बात का प्रमाण है जो मैं कहता हूँ। (हास्य) क्योंकि मेरे बाद श्रुति हुई है, मुझसे पहले श्रुति नहीं हुई। (हास्य) बुरा मत मानियेगा। बातचीत करने में रियायत नहीं करता। (हास्य) श्रुति अनेक हैं, एक नहीं है महाराज! श्रुतियों का पूरा ज्ञान है किसी को कि कितनी श्रुतियाँ हैं? अनन्त श्रुतियाँ है। परमात्मा का अनन्त ज्ञान है। यह मैं आपसे निवेदन करता हूँ।

उस श्रुति को छोड़ दो। दूसरी श्रुति आपके काम की निकल आयेगी, उसे लेलो। फिर भी मैंने यह तो नहीं कहा कि यह बात गलत है। ठीक होगी, मुझे नहीं जँची, तो मैं क्या करूँ? कोई अपराध है क्या मेरा? कोई कुसूर नहीं।

मैं इसमें अपराध नहीं मानता। मुझे नहीं मालूम होता। मैं 'करण' को कर्त्ता कभी मानने को राजी नहीं हूँ। फिर ये बहिर्मुख- अन्तर्मुख क्या है? जैसे तुम वैसे तुम्हारे करण। तुम बहिर्मुख तो तुम्हारे करण बहिर्मुख। तुम अन्तर्मुख तो वे अन्तर्मुख। और फिर भी अगर ऐसा है, तो मत करो परवाह, मत करो इन्द्रियों को पसन्द! नाता तोड़ो! आखिर शरीर तो भौतिक तत्त्वों से बना है न! और संसार की उससे एकता है। और गम्भीरता से विचार किया जाय, तो आपको मानना पड़ेगा कि शरीर और संसार एक ही जाति के हैं दोनों।

अगर इन्द्रियाँ संसार की ओर जाती हैं, तो अपराध क्या है उनका? संसारकी जाति की ही हैं। लेकिन आप क्यों संसार को पसन्द करते हो जी, यह बताओ? आप तो भगवान् की जाति के हैं। आपकी जातीय एकता संसार से नहीं है। आपका नित्य सम्बन्ध संसार से नहीं है। आपका आत्मीय सम्बन्ध संसार से नहीं है, परमात्मा के साथ है। शरीर का तो नित्य सम्बन्ध भी संसार से हैं, और जातीय सम्बन्ध भी संसार से है। शरीर अगर संसार की ओर जाता है, तो जाने दीजिए साहब, बेफिक्री से जाने दीजिये। निडर हो जाइए। आप क्यों डरते हैं? आप अपना आत्मीय सम्बन्ध, आप अपना नित्य सम्बन्ध, आप अपना जातीय सम्बन्ध परमात्मा से स्वीकार कीजिए। और आप श्रुति इस बात का विरोध करें, तो मत मानिये। अगर इसका समर्थन करे, तो पहले इसे मान लीजिये, फिर पीछे वाली श्रुति मान लीजिए।,

मेरा तो निवेदन इतना ही था कि किसी भी सुनी हुई बात को अपने जीवन के साथ मिला कर देखने की कोशिश कीजिए, तो आपको ज्यादा लाभ होगा। और नहीं तो मानते रहिए जीवन भर। लाभ तो तभी न! होगा कि जब आप जिस बात को सुनें, उसे अपने जीवन पर विचार करके देखें। मान लीजिए, आप शान्त बैठे हैं। और आपकी पूर्व कृति के प्रभाव से बुरे ख्याल उठे। थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लो। उठे ही तो ख्याल! जिस चीज का ख्याल उठा, वहाँ मौजूद है क्या? बोलो क्या राय है?

श्रोता:– जी, नहीं।

स्वामीजी:– ठीक बात है न?

श्रोता:– ठीक है।

स्वामीजी:– बिल्कुल ठीक है?

श्रोता:– बिल्कुल ठीक है।

स्वामीजी:– अच्छा! चीज तो वहाँ मौजूद है नहीं, केवल ख्याल है।

अच्छा, आपने जान लिया कि बुरा ख्याल है। ठीक बात है न? इसमें कोई बात नहीं है न? आप उसको पसन्द मत कीजिए। ख्याल उठने से ही क्यों बिगड़ते हैं आप? चीज तो वहाँ है नहीं। उस ख्याल से लड़ते क्यों हैं आप? चीज तो है नहीं अरे, तू क्यों उठा, तू क्यों उठा?– ऐसे ही लड़िए कि खाना क्यों पचा? शरीर में अंगों में खून की गति क्यों हुई? शरीर में गंदला क्यों हुआ?– इन सबसे लड़िये? अरे भाई, जो बात आपके बिना करे हो रही है, बिना चाहे हो रही है, उससे आप परेशान क्यों हैं? इस पर थोड़ा गम्भीरता से विचार कीजिए। आप उसका समर्थन नहीं करेंगे, तो वह ख्याल वहाँ का वहीं नाश हो जायेगा। फिर दूसरा अच्छा ख्याल उठेगा। अगर सामर्थ्य विरोधी है तो उसे भी पसन्द मत कीजिए। अगर अच्छा ख्याल है और सामर्थ्य के अनुसार है, तो उसको पूरा कर दीजिए। फिर भी आप बेख्याल के हो जायेंगे।

तो थोड़ी-सी बात के लिए आप परेशान क्यों होते हैं? ...अरे, राम! राम! संस्कार क्यों उठ गये? इन्द्रियाँ बहिर्मुख हो गई, मन चंचल हो गया! परेशानी की क्या बात थी? हो गया, तो हो जाने दीजिए। तुम्हारा क्या बिगड़ेगा? हाँ इन सब बातों पर बहुत गम्भीरता से विचार करेंगे, तो आपको मालूम पड़ेगा कि जिन विषयों का हमने अनेक बार भोग किया है, उन्हीं का राग हममें अंकित हुआ है। और वह अंकित राग जब हमें अवसर मिलता है, कार्य से फुरसत मिलती हैं, या जब हम अन्तर्मुख होना चाहते हैं, उस समय वह सामने आता है। इतनी-सी बात तो आपकी बिल्कुल सत्य है। सामने आता है।

लेकिन अगर आप उसका समर्थन नहीं करेंगे, आप अगर उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेंगे, आप अगर उससे अपने को नहीं मिलायेंगे, तो वह ख्याल कुछ काल में अपने आप नाश हो जायेगा। कब हो जायेगा? इसकी भी परवाह मत करो। हो जायेगा, जरूर। और नहीं हो जायेगा तो आपका तो कुछ बिगड़ा नहीं न! आप तो अपने में ज्यों-के-त्यों स्थित हैं।

अरे! कोई दूसरा आदमी बैठ कर बीड़ी पी रहा हो और आप देख रहे हों, तो आपको क्या नुकसान होगा उसके पीने से? ऐसे ही कोई नहा रहा है, आप किनारे पर बैठे वैसे ही परेशान हो रहें हैं! (हास्य)

इसी तरह से अपने संस्कारों से लड़ो मत, उनके सामने हार स्वीकार मत करो, उनके सामने उनका समर्थन मत करो। यह मानव-मनोविज्ञान है भैया! इससे मन शुद्ध हो जायेगा, शान्त हो जायेगा अपने आप। अनुभव करो, अरे! एक संकल्प पूरा करने में महीनों का समय नहीं लग जाता? वर्षों नहीं लग जाते क्या? बोलो, क्या राय है? कभी-कभी देखा है आपने–जरा देर में संकल्प उठ गया, कितना समय लग गया! कितनी शक्ति लग गई! जब पूरा हो गया तो थोड़ी देर में वहीं आ गए जहाँ थे। मिला कुछ नहीं। यह जीवन का सत्य क्या आपको नहीं मालूम होता कि हर संकल्प की पूर्ति होने पर मनुष्य उसी की स्थिति में आता है, जिस स्थिति में संकल्प की उत्पत्ति के पूर्व था? इस सत्य को आप क्यों नहीं पकड़ते बाबा? उसके पूरे होने से आपकी कोई वृद्धि नहीं हो गई, उसके पूरे न होने से आपकी कोई क्षति नहीं हो गई। आप तो उसी स्थिति में थे ही।

तो इस दृष्टि से देखा जाये तो जिसे आप मन को काबू में करने की बात कहते हैं, पूरा हो जायेगा। लेकिन अगर आपने स्वाधीनता का दुरुपयोग किया और अगर आपने पराधीन रहना पसन्द किया, तो कुछ नहीं हो जायेगा। आप पराधीन रहना मत पसन्द कीजिए। आप स्वाधीनता का दुरुपयोग मत कीजिए। काम बन जायेगा आपका। यह मानव-मात्र का प्रोग्राम है। चाहे वह किसी मत, मजहब, इज्म, सम्प्रदाय का मानने वाला क्यों न हो। स्वाधीन हुए बिना प्रभु की न समीपता प्राप्त होती है, न एकता प्राप्त होती है और न अभिन्नता प्राप्त होती है। न योग प्राप्त होता है न बोध प्राप्त होता है और न प्रेम प्राप्त होता है स्वाधीन हुए बिना।

और स्वाधीनता का सदुपयोग किए बिना आपको संसार कभी पसन्द नहीं करता। इसलिए इन दोनों पर ध्यान दीजिये, जितना दे सकें, बल पूर्वक, ज्ञान पूर्वक, विचार पूर्वक, धीरज पूर्वक जैसे बने वैसे। रोकर, पीटकर, चीखकर, चिल्लाकर, समझकर, समझाकर, जैसे बने वैसे इन दो मुख्य बातों पर ध्यान दीजिए।

विचार करो जितना तर्क उठे, इन दोनों बातों में लगाओ। स्वाधीनता का दुरुपयोग करके कभी आप संसार के काम के नहीं हो सकते। संसार आपको बिल्कुल नापसन्द कर देगा– कम करे, ज्यादा करे, अभी करे, कभी करे। स्वाधीन हुए बिना न शान्ति मिले, न मुक्ति मिले और न भक्ति मिले। मानव और स्वाधीन होने में आप पराधीन हैं नहीं, असमर्थ हैं नहीं। स्वाधीनता के सदुपयोग में आप असमर्थ हैं नहीं। इन दोनों बातों में तनाव की असमर्थता का दोष नहीं है।

स्वाधीनता का तो मतलब यह न! होता है कि आपको उसकी अपेक्षा न रहे जो आपमें नहीं है, आपके पास नहीं है। यह कह रहा हूँ। शरीर के अधीन पराधीन, योग्यता के अधीन भी पराधीन, सामर्थ्य के अधीन भी पराधीन, वस्तुओं के अधीन भी पराधीन। वह स्वाधीनता नहीं। जैसे एक बात सुनायें, आपको। हम श्री वृन्दावन से श्री गोवर्धन जा रहे थे, वहाँ सत्संग था ।दो कार थीं। एक में हम बैठे थे, एक में और मित्र लोग थे। कार 50 मील की रफ्तार से चल रही थी। हम लोग सोच रहे थे कि अभी पहुँच जाते हैं। थे तो पराधीन और सोच रहे थे कि स्वाधीन! कार खड़ी हो गई। अब मालूम पड़ा। देखिए, पराधीन तो तब भी थे जब कार में बैठे थे, और नहीं चली तब भी पराधीन थे। थे न?

तो बहुत से लोग इस बात को स्वाधीनता मान लेते हैं कि हमारे पास इतना पैसा है, आराम से खायेंगे, भजन करेंगे। एक बार हम उत्तरकाशी में थे। केशवानन्द नाम के एक महात्मा थे। क्षेत्र से रोटी आयें, हम भी खायँ, वे भी खायँ। कहने लगे क्या बतायें महाराज! हमने पाँच हजार रुपया इकट्ठा किया था एक फर्म में। जब घर छोड़कर चले थे उत्तर काशी के लिए, तो यह सोचा था कि 25/-महीन मिल जायेगा ब्याज का।'–उस जमाने में 25/- बहुत थे। भैया! आजकल तो सवा सौ समझों, डेढ़ सौ समझो। पाँच गुनी छः गुनी, कोई-कोई चीज दस गुनी मँहगी है। जी? उस समय तो सस्ता बहुत था।– 'क्या बतायें, फर्म ही फेल हो गई।' तो हम और वे दोनों बराबर हो गए। (हास्य)

तो कुछ लोग, जैसे स्थान मिल जाय बैठने के लिए तो सोचते हैं कि हम स्वाधीन हो गए। खाना मिल जाय तो हम स्वाधीन हो गये। शरीर स्वस्थ है तो स्वाधीन हो गए। यह स्वाधीनता नहीं है। स्वाधीनता का अर्थ ही यह है कि आप जब स्वाधीनता

पसन्द करेंगे तो शरीर की भी आप आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे। और मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता जो मुझको दीखती है, वह यही दीखती है कि आदमी यह सोचता है कि शरीर बना रहे। और उनके भी बड़े-बड़े प्रमाण हैं महाराज! इतने प्रमाण हैं कि मेरा मुँह बन्द हो जाय इतना लोग सुना देंगे। शरीर के बिना यह नहीं होगा, शरीर के बिना वह नहीं होगा। ठीक है, लेकिन यही सबसे बड़ी दुर्बलता है कि मनुष्य यह सोचता है कि शरीर बना रहे। और वह रहेगा नहीं। यहीं से पराधीनता का जन्म होता है। और चीजें तो शरीर के बाद में न! आती हैं काम में? शरीर के लिए न! आती हैं काम में? क्या राय है बोलिये?

तो यह पराधीनता हम पसन्द न करें कि शरीर नहीं रहेगा तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा–इस पर गम्भीरता से मनन करलें। अगर शरीर के न रहने से हमारा जीवन न रहेगा, तो हमारा जीवन है ही नहीं, रहेगा क्या? ऐसा मान लेना चाहिए। नहीं तो अगर हमारा जीवन है, अगर हमारा अस्तित्व है, तो शरीर नहीं रहेगा, हमारा अस्तित्व रहेगा। संसार नहीं रहेगा, हमारा अस्तित्व रहेगा। कौन मिटा सकता है?

देखिए, मिलता है वही जो मिला है। अलग होता है वही जो अलग है। अगर आप कभी भी यह अनुभव करें, कभी भी मानें कि शरीर अलग हो जायेगा, तो अभी मान लीजिए कि अभी अलग है। और इस बात में विश्वास करें कि कभी भी परमात्मा मिल जायेगा, तो अभी मान लीजिये कि अभी पास है, अभी भी मिला है।

अगर आपको यह बात जँच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय तो आपको स्वाधीन होने का साहस भी हो जाय, और आप स्वाधीन हो भी जायँ। एक बात। दूसरी बात यह है कि अगर आप स्वाधीन नहीं होना चाहते हैं और यह सोचते हैं कि शरीर के द्वारा ही काम चलेगा, धन के द्वारा ही काम चलेगा तो फिर भाई, यह मत सोचिए कि शान्ति हमको मिल जाय, फिर यह भी मत सोचिए कि मुक्ति हमको मिल जाय। फिर यह भी मत सोचिये कि भक्ति हमको मिल जाय। यह भी मत सोचिए। लेकिन बड़ा अनर्थ हो जायेगा कि शरीर के बिना तो काम चलेगा नहीं, फिर भी हमको शान्ति चाहिए। करते रहो भाई, बच्चों जैसा खेल। वास्तविक शान्ति मिलेगी नहीं।

जिस समय आप स्वीकार करेंगे, अपने द्वारा स्वीकार करेंगे,

अनुभवपूर्वक स्वीकार करेंगे कि जो शरीर कभी अलग होगा, हम अभी क्यों न उससे अपनी असंगता का अनुभव करें! जो वस्तु कभी अलग होगी, क्यों न उससे अभी निर्ममता पसन्द करें? जो कामनायें हमको पराधीन बनाती हैं, क्यों न हम उनका त्याग करें! इसमें कोई धन की जरूरत तो है नहीं, बल की जरूरत तो है नहीं, संसार की जरूरत तो है नहीं। आप अकेले होकर जब चाहें तब शरीर से असंग हो सकते हैं, जब चाहे तब निर्मम हो सकते हैं। जब चाहें तब निष्काम हो सकते हैं। इसमें आपकी कोई कठिनाई नहीं है।

और यह कहें कि साहब! यह तो बड़ा कठिन है। तो शरीर को बनाए रखना कौनसा सुगम है? है क्या? कोई कह दे कि निष्काम होना बड़ा कठिन है तो भाई, कामनापूर्ति करना कौनसा सहज है? कोई कहे कि ममता छोड़ना बड़ा कठिन है तो मैं पूछाता हूँ कि जिस पर आपकी ममता है, उसे रखना क्या सुलभ है? सहज, सम्भव है क्या? बोलो? अब काहे को मौन होगए?

श्रोता:– नहीं है, नहीं है।

स्वामीजी:– तो जो सुलभ नहीं है उसको तो आप पकड़े बैठे हैं, कोशिश करते हैं। और जो सुलभ है, उससे आप निराश हो जाते हैं। सो मत हो भैया! आप स्वाधीन होने से कभी निराश न हों। आप स्वाधीन हो सकते हैं। स्वाधीनता आपका जन्म-जात अधिकार है। क्यों?

प्रभु ने आपको पराधीन होने के लिए नहीं बनाया है। आपको शरीर और संसार इसलिए नहीं दिया है कि आप पराधीन हो जायँ। इसलिए दिया है कि आप उदार हो जायँ, जाप संयमी हो जायँ, आप तपस्वी हो जायँ, आप संसार के काम आजायँ। मनुष्य को प्रभु ने संसार का दास बनने के लिए नहीं बनाया है। संसार के काम आने के लिए बनाया है। और आप सच मानिए। मैं कभी-कभी ऐसा अनुभव करता हूँ और ठीक ही है यह बात, मेरे लिए तो ठीक ही है। आपके लिए ठीक होगी या नहीं कि प्रभु ने अपना दास बनाने के लिए भी हमको नहीं बनाया। प्रेमी बनाने के लिए बनाया है दोस्त बनाने के लिए बनाया है। हम अपनी मर्जी से अपने को दास मान लेते हैं।

श्रोता:– दास्य भाव नीचा.....?

स्वामीजी:– दास्य-भाव नीचा नहीं है, बहुत ऊँचा है। दास स्वामी को प्यारा होता है। यह बात अलग है। इस दृष्टि से मत लीजिए इस बात को। परमात्मा ने तो हमको-

आपको इसलिए बनाया है कि संसार में भी हम उदार होकर रहें और स्वाधीन होकर रहें, और प्रेमी होकर रहें। यह प्रभु का संकल्प है मेरे भाई! यह जगत का संकल्प है मेरे भाई! जगत् आपको पराधीन नहीं देखना चाहता। जो जगत् में ममता का भार रखते हैं, उनसे जगत् भयभीत होता है। जगत् हर्षित होता है उससे, जो जगत् पर अपना ममत्व नहीं रखता, जो जगत् से कामना नहीं रखता। परमात्मा ने इसी उद्देश्य के लिए बनाया है सरकार! आपको।

फिर भी आपको परमात्मा की भूल दिखाई दे, तो कोई बात नहीं। मिलकर हम फिर बात करेंगे। अभी से मुकद्दमा मत चलाओ। पहले परमात्मा के उद्देश्य को पूरा करो जिसे कि आप कर सकते हैं। अल्प-से-अल्प शक्ति वाला मनुष्य भी संसार के काम आ सकता है, यदि वह उदार होना पसन्द करें, यदि वह स्वाधीन होना पसन्द करे। तो स्वाधीन होने पर ही आप संसार के काम आते हैं और स्वाधीन होने पर ही आप प्रभु के प्रेमी होते हैं। और स्वाधीन होने से ही सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। स्वाधीन होने से ही चिरशान्ति और जीवन-मुक्ति मिलती है। मजाक नहीं है। पसन्द करें, तो स्वाधीन आप हो सकते हैं।

इतनी बातों पर आपका अधिकार ही है सरकार! चिर-शान्ति में, जीवन-मुक्ति में, प्रभु-प्रेम में आपका अधिकार ही है। फिर भी आप कहते हैं कि कठिन है, सम्भव नहीं है। तो जिसको आप पकड़े बैठे हैं वह तो बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। रोओ बैठकर भाई। रोने के सिवाय क्या रह गया है भाई, बताओ?

अगर हम मानते हैं कि स्वाधीन होना सम्भव नहीं है। तो धन के अधीन जीना चाहें, तो उसे बनाये रखना सम्भव है क्या? तन के अधीन हम अपना जीवन रखना चाहते हैं, यह तन रखना सम्भव है क्या? आप सोचिये।

28(ब) प्रभु को समझना नहीं है- स्वीकार करना है।

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

सत्-चर्चा का हम सबको अवसर मिला है। क्योंकि यह किसी कर्म का फल नहीं है। कर्म करने की स्वाधीनता मानव होने के पश्चात् होती है। और मानव के पुरुषार्थ में "सत्संग" ही मूल उपाय है। अतः मानव-जीवन जैसे अहैतुकी कृपा से मिला है, वैसे ही सत्संग का अवसर भी प्रभु की कृपा से

ही मिलता है। अब बात यह है कि मुझे बोलना है और आपको सुनना है। कितना अच्छा हो कि मालूम हो जाय कि आप महानुभाव क्या सुनना चाहते हैं! आप अपने जीवन की चर्चा, आपके जीवन में जो कठिनाई हो, जो उलझन मालूम होती हो, उस सम्बन्ध में अगर प्रश्न करेंगे तो मैं प्रश्नोत्तर कर सकता हूँ। आप लोगों को अगर अपने जीवन में कोई कठिनाई मालूम होती हो, उस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे, तो आपको बहुत लाभ होगा। मेरे जानते बहुत लाभ होगा, अवश्य होगा। और इस तरह से तो एक समय था जब प्रणव ही वेद था, उसी से सारे वेदों का ज्ञान हो जाता था मानव को। फिर वेद-माता गायत्री वेद हो गया। फिर देखलो, वेद का प्रकाश कितना हुआ! हजारों ग्रन्थ हो गए।

तो यह एक ऐसी अनन्त बात है जिसकी कोई सीमा नहीं है। अगर आप लोगों की कोई व्यक्तिगत कठिनाई है, तो हम लोग उस पर विचार-विनिमय कर सकते हैं। सम्भव है आपको विशेष लाभ हो ही जाय।

तो मैं जब कभी कहता हूँ कि आप क्या सुनना चाहते हैं, तो उसका अर्थ यह नहीं होता है कि हम अमुक विषय की व्याख्या सुनना चाहते हैं। इसका अर्थ होता है कि आपकी कोई निजी कठिनाई है क्या? जिस सम्बन्ध में आप सुनना चाहते हैं। हाँ, भाई, तो प्रश्न करना चाहते हो तो प्रश्न करो। आपका प्रश्न हो। आपके जीवन से सम्बन्ध रखने वाला हो। तब तो उसका लाभ है। और नहीं तो महाराज, कोई खास लाभ होता होगा, मुझे मालूम नहीं, खास अनुभव नहीं है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि लाभ नहीं होता, वरन् यह प्रथा चलती कैसे! लाभ होता होगा, परन्तु मुझे अनुभव नहीं है।

श्रोता:– मैं प्रभु का हूँ और प्रभु मेरे हैं–समझने में कठिनाई हो रही है।

स्वामीजी:– यह कठिनाई इसलिए हो रही है कि आपने कहा था कि समझने में कठिनाई हो रही है। बड़ी ईमानदारी की बात आपने कहीं है। प्रभु आज तक किसी की समझ में तो आया नहीं और आयेगा भी नहीं। जो समझने में नहीं आता, उसे समझने के द्वारा कैसे स्वीकार कर सकते हो? बड़ी गम्भीर बात है। आपने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया।

"मैं प्रभु का हूँ", "प्रभु मेरे हैं"- यह समझने के द्वारा कभी आप स्वीकार नहीं कर पायेंगे। क्यों? अगर प्रभु समझ की सीमा में आता, तो हम

कहते–देखो भाई हमने इस आधार पर समझ लिया। ठीक है, हम मान लेते हैं कि मैं प्रभु का हूँ। यह समझ की सीमा का प्रश्न है ही नहीं। यह प्रश्न तो आस्थावान साधकों का प्रश्न है, जिन्होंने प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार किया। कैसे किया? और ज्यादा कोई कैसे? कैसे? लगाये, तो इतना ही कह सकते हैं-वेदवाणी के आधार पर किया, गुरु-वाणी के आधार पर किया, भक्त-वाणी के आधार पर किया। भक्तों ने कहा कि परमात्मा है, इसलिए हमने मान लिया कि परमात्मा है। वेदों ने कहा कि परमात्मा है, इसलिए हमने मान लिया कि परमात्मा है। यह समझना नहीं होता। इसको स्वीकार करना होता है, मानना होता है।

आप देखिये न! समझ इन्द्रिय-दृष्टि पर काम करती है। यानी इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु आप देखते हैं, उस पर समझ अपना निर्णय देती है कि जैसा तुम समझे हो वैसा नहीं है। यानी इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को समझ समाप्त करती है। तब क्या होता है? कि जीवन में इन्द्रिय -ज्ञान का प्रभाव नहीं रहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-ज्ञान नहीं रहता– उलटा अर्थ मत लगा लीजिएगा। इन्द्रिय-ज्ञान तो रहता है, पर उसका प्रभाव नहीं रहता। तो जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव जीवन में नहीं रहता, तब इन्द्रियाँ अपने आप अविषय होती हैं, यानी अपने विषय को छोड़ देती हैं। और जब इन्द्रियाँ अविषय होती हैं तब मन निर्विकल्प होता है। ऐसा विधान ही है। अनुभव सिद्ध सत्य भी है। और जब मन निर्विकल्प होता हैं, तब बुद्धि सम होती है। यही बुद्धि-दृष्टि का सबसे अच्छा उपयोग है।

अथवा कर्त्तव्य के क्षेत्र में है। विज्ञान के आधार पर बुद्धि कहती है कि ऐसा करोगे तो उसका परिणाम ऐसा होगा। ऐसा करोगे तो ऐसा होगा। इसके आगे बुद्धि-दृष्टि का परमात्मा की प्राप्ति में, या परमात्मा के मानने में कोई हाथ है नहीं। नहीं तो सभी बुद्धिमानों के अधीन हो जाता है परमात्मा। परमात्मा के सम्बन्ध में बुद्धि का कोई काम नहीं है।

यह बात अलग है कि जब बुद्धि-दृष्टि सम हो गई आपकी, तो अपने आप बुद्धि के सम होने पर अगर आप में जिज्ञासा है तो विचार का उदय हो सकता। कर्त्तव्यनिष्ठ अगर आप है तो कर्त्तव्य-पालन की शक्ति आ सकती है। ऐसे हो अगर श्रद्धावान आप हैं, तो स्मृति जग सकती है।

तो स्मृति बुद्धि के प्रयास से नहीं जगी। आपने जो परमात्मा में आस्था की, श्रद्धा की, विश्वास किया और बुद्धि-दृष्टि से मन निर्विकल्प हो गया, इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो गई तो आपकी आस्था के कारण आपमें प्रभु की स्मृति जग सकती है, प्रियता उदय हो सकती है। तो स्मृति जगना और प्रियता का उदय होना, और जिज्ञासापूर्ति के लिए विचार का उदय होना, और कर्त्तव्यपालन के लिए आवश्यक-सामर्थ्य की उपलब्धि होना–यह सब बुद्धि के सम होने का फल हो सकता है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करके देखेंगे, तो बुद्धि-दृष्टि का अच्छे-से-अच्छा उपयोग क्या हुआ भैया? तो आपको मानना पड़ेगा कि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के मिटाने में–दृष्टि के मिटाने में नही–बुद्धि-दृष्टि का सबसे अच्छा उपयोग हुआ इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को मिटाने में। और जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिट गया हमारे जीवन में से, तब क्या हुआ? तब इन्द्रियाँ अविषय होंगी अपने आप, मन निर्विकल्प हो गया, बुद्धि सम हो गई, अर्थात् भोग की जो रुचि थी वह योग में बदल गई।

अगर एक वाक्य में कहा जाय तो इसका अर्थ होता है कि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के मिट जाने के बाद भोग की रुचि योग में बदल जाती है। योग माने क्या है भाई? शास्त्रीय प्रक्रिया मैं नहीं जानता। योग माने– परमात्मा के साथ अत्यन्त समीपता। यह योग हुआ। जब परमात्मा की समीपता प्राप्त हुई, तो जिसकी समीपता प्राप्त होती है, उससे एकता भी हो जाती है। यह बोध हुआ। और जिससे एकता हो जाती है उससे अभिन्नता भी हो जाती है। यह प्रेम हुआ। मिला क्या?– योग, बोध और प्रेम। यह आपको प्राप्त हुआ। मिटा क्या? –भोग, मोह और आसक्ति। यह आपकी नाश हो गई। इस दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव का बड़ा भारी महत्त्व है, बुद्धि का महत्त्व नहीं है। यह महत्त्व बुद्धि की उस दृष्टि का है जो दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त कर लेती है– उस दृष्टि का है। नहीं तो बुद्धि ही तो, आप देखेंगे कि चोरी करने का तरह-तरह का तरीका बुद्धि ही बताती है। किस प्रकार से कानूनी चोरी की जाय कि इन्कम टैक्स बचाया जा सके! बुद्धि नहीं बताती क्या? बोलो, जी? तो उस बुद्धि का महत्व थोड़े ही है! वह भी उस दृष्टि का जो इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को न रहने दे, उस बुद्धि-दृष्टि का महत्त्व है।

और वह बुद्धि-दृष्टि कब प्राप्त होती है? जब बुद्धि विवेकवती हो। जब तक बुद्धि विवेकवित नहीं होती, तब तक वह काम करने के लायक ही नहीं होती, सही काम कर ही नहीं सकती। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आपने बड़े सुन्दर ढंग से प्रश्न रखा, ईमानदारी से रखा कि "परमात्मा अपना है और हम परमात्मा के हैं।"–यह बात समझने के द्वारा सिद्ध नहीं हुई। यह बात समझने में बड़ी कठिन मालूम होती है। मैं तो कहता हूँ कि सम्भव ही नहीं है, कठिन क्या मालूम होती है! यह तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास का विषय है।

परमात्मा है–इसका सबूत क्या है? सिवाय इसके कि आपने चाहे वेद-वाणी से, चाहे गुरु-वाणी से, चाहे भक्त-वाणी से परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया।यही इसका उपाय हुआ। तो परमात्मा के स्वीकार करने की स्वाधीनता आपको आस्था के आधार पर है, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर है। और किसी प्रकार से नहीं है। फिर भी आप परमात्मा को मानते ही हैं, या मानना चाहते ही हैं तो मानिये।

यहाँ एक बात और ज्यादा कहना जरूरी है। मान लीजिये, आप परमात्मा को नहीं मानना चाहते, तो भी आपको परमात्मा मिलेगा। आप चौंक जायेंगे कि कैसा आदमी है कि कहता है कि परमात्मा के न मानने से भी परमात्मा मिलेगा! भाई, मानने से परमात्मा बनता थोड़े ही है! और न मानने से कोई बिगड़ जाता है क्या? तो मानने से क्या होता है कि हमारा सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो जाता है। सम्बन्ध से स्मृति और प्रियता उदय होती है। और बस, उसकी प्राप्ति हो जाती है।

लोग कहेंगे कि ठीक है। न मानने से कैसे मिलेगा? परमात्मा को न मानने का अधिकारी वही होता है जो सममुच फिर किसी चीज को मान ही नहीं पाता। यह नहीं है कि हम परमात्मा को नहीं मानेंगे, संसार को मानेंगे, हम अपने को मानेंगे। तो अपने को मानना भी, संसार को मानना भी आप तर्क से सिद्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि जिस संसार की स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उसको आप मानेंगे क्या? जब आपने अपने आपको कभी देखा ही नहीं, तो मानेंगे क्या?

परमात्मा ही बिना देखा हुआ है, सो बात नहीं है। किसी भाई ने, किसी बहन ने "मैं" को कहाँ देखा है, बताओ? बोलो, आपमें-से कोई हो बहादुर तो बताये– मैंने "मैं" को देखा

है। जो देखा है, सो "यह" कहलाता है। "मैं" उसका नाम ही नहीं हुआ। तो जैसे "मैं" बिना देखा हुआ, ऐसे ही "परमात्मा" भी बिना देखा हुआ है। लेकिन आप बिना देखे हुए "मैं" को मानें, और परमात्मा को न मानें–यहतो आपका न्याय नहीं होगा, यह तो आपकी दलील सही नहीं होगी।

और देखा हुआ संसार आप मान ही नहीं सकते। क्योंकि इसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। तो जब कभी मानने की बात आयेगी भाई मेरे! तो बिना देखे की आयेगी, सुने हुये की आयेगी। देखे हुए की नहीं आयेगी। क्योंकि देखे हुए की स्थिति सिद्ध हुई नहीं, पकड़ में आया नहीं। इसलिए देखे हुए संसार को मान ही नहीं सकते। बिना देखे "मैं" को मानते हो, तो बिना देखे "है" को क्यों नहीं मानते? अगर आप यह कहें कि हम परमात्मा को नहीं मानेंगे बिना देखे, तो बिना देखे "मैं" को क्यों मानते हो? उसे भी मत मानो।

इस दृष्टि से अगर देखा जाय तो जब आप परमात्मा को भी नहीं मानेंगे और संसार को भी नहीं मानेंगे और अपने को भी नहीं मानेंगे, तो आप अप्रयत्न हो जायेंगे, अचाह हो जायेंगे, निर्मम हो जायेंगे, निष्काम हो जायेंगे, असंग हो जायेंगे। जहाँ निर्ममता आजायेगी, जहाँ निष्कामना आ जायेगी, जहाँ असंगता आ जायेगी, जहाँ अप्रयत्न आजायेगा, वहाँ अपने आप बिना किसी प्रयत्न के "मैं" "है" में विलीन हो जायेगा। तो "मैं" "है" में विलीन हो गया तब भी वही बात हुई, और जब "मैं" ने "है" को स्वीकार कर लिया तब भी वही बात हुई।

इसलिए परमात्मा का मिलना तो मानने, न मानने वाले दोनों के लिए समान है। अब भाई, आपकी मर्जी है। मानने की प्रणाली आपको पसन्द है, कि न मानने की! उसमें कोई घटिया-बढ़िया नहीं है, ऊँची-नीची नहीं है। कोई कठिन-सुगम नहीं हैं। जिसमें मानने की सामर्थ्य है वह मानकर परमात्मा को प्राप्त करें और जिसमें न मानने की सामर्थ्य है वह न मान कर परमात्मा को प्राप्त करें।

क्योंकि जो प्राप्त होता है उसी का नाम "परमात्मा" है। यों भी कह सकते हैं कि "परमात्मा" ही प्राप्त होता है। और कुछ चीज प्राप्त होती नहीं। और चीज की तो प्रतीति होती है। और चीजों में तो प्रवृत्ति होती है, प्रतीति होती है; प्राप्ति तो होती नहीं। परमात्मा की आपको प्रतीति तो होती नहीं, इसलिए आपकी उधर प्रवृत्ति भी नहीं

होती। प्रवृत्ति न हो, प्रतीति न हो तो भी तो निवृत्ति होगी न? प्रवृत्ति नहीं होगी तो निवृत्ति होगी। प्रतीति नहीं होगी तो विमुखता होगी। दृश्य की विमुखता, प्रतीति की विमुखता । तो निवृत्ति और प्रतीति की विमुखता से भी नित्य प्राप्त परमात्मा के साथ समीपता, एकता और अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि भाई, यदि कोई चीज प्राप्त होती है, तो उत्तर में लिखदो–परमात्मा। अगर कोई प्राप्त होता है तो परमात्मा ही। और प्रतीति भी हो, प्रवृत्ति भी हो, प्राप्ति न हो तो भाई, उसी का नाम–संसार है। प्रतीति तो होती है उसकी, और प्रवृत्ति भी होती है, लेकिन प्राप्ति नहीं होती।

तो इस ज्ञान के द्वारा संसार की निवृत्ति होती है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास के द्वारा परमात्मा की स्वीकृति होती है। जब हम परमात्मा को स्वीकार कर लेंगे–बड़ी अच्छी वैज्ञानिक बात मैं निवेदन कर रहा हूँ आपसे, अपने आप प्रेरणा हुई–तो निर्णयात्मक स्वीकृति के कारण या निर्णयात्मक स्वीकृति आजाने पर कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रहती, प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। और जहाँ प्रवृत्ति समाप्त हुई, तब क्या होगा? कि आपकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जायेगी, आपका चित्त बिना आधार के शान्त हो जायेगा। और जब दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो गई और चित्त बिना आधार के शान्त हो गया, तो योग की प्राप्ति हो गई।

और जब योग की प्राप्ति हो जाती है तो बोध और प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है। क्योंकि योग की पूर्णता हो और बोध न हो–यह हो ही नहीं सकता। और बोध हो और प्रेम न हो–यह हो ही नहीं सकता। जैसे भोग में मोह और आसक्ति रहती ही है। कोई नहीं कह सकता कि मैं भोग पसन्द करूँगा और मोह-आसक्ति मुझमें नहीं रहेगी। यह हो ही नहीं सकता। ऐसे ही जब योग की प्राप्ति हो जाती है तो बोध और प्रेम उसमें रहता ही है।

क्योंकि इन तीनों में स्वरूप से विभाजन नहीं होता। योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम स्वतः ओत-प्रोत है, निहित रहता है। इसलिए भाई, किसी भी प्रकार से योग प्राप्त करो। संसारकी निवृत्ति के द्वारा भी योग की प्राप्ति होती है और परमात्मा के अस्तित्व को, परमात्मा के महत्त्व को, परमात्मा के अपनत्व को स्वीकार करने से भी परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध होता है। और आत्मीय सम्बन्ध से भी योग की प्राप्ति होती है।

आत्मीय सम्बन्ध भी तो योग ही है, ओर क्या है? इस दृष्टि से विश्वास के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। और केवल विचार के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे ज्ञान का मार्ग हो तो, और विश्वास का मार्ग हो तो, 'परमात्मा' ही प्राप्त होता है, और कोई प्राप्त होने वाला है नहीं। इसलिए परमात्मा के लिए कह दिया गया–वह सदैव है। परमात्मा ने यह नहीं कहा कि मैं सदैव नहीं हूँ। सर्वत्र है। परमात्मा ने यह नहीं कहा कि मैं सर्वत्र नहीं हूँ। सभी का है, अद्वितीय है, समर्थ है। जो सदैव है वह अभी भी है, सर्वत्र है तो अपने में भी है। सभी का है तो अपना भी है तो अपने में अपना परमात्मा अभी मौजूद है। इसी का नाम तो आस्था हुआ। और आस्था क्या है? अपने में अपना परमात्मा मौजूद।

जब अपना होने से प्रिय है। और अपने में होने से वर्त्तमान की बात हो गई। उसकी प्राप्ति वर्त्तमान की चीज हो गई। क्योंकि अपने में है, अभी है। इस दृष्टि से विचार करके देखेंगे आप, तो परमात्मा की प्राप्ति ही मानव के लिए अत्यन्त सुलभ है, सहज है, स्वाभाविक है। और कोई चीज प्राप्त होती होगी, तो वह सभी के लिए, सदा के लिए सम्भव है नहीं। संसार में कोई वस्तु, कोई सामर्थ्य, कोई योग्यता ऐसी नहीं है कि जो सदा के लिए हो, सभी के लिए हो। इसलिए जो सदा के लिये नहीं है, जो सभी के लिए नहीं है उसे विवेकियों ने अपने लिये स्वीकार नहीं किया। और विश्वासियों ने यह श्रवण करके कि परमात्मा सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है–यह स्वीकार करके परमात्मा को प्राप्त किया।

तो चाहे आप विवेकी होकर परमात्मा को प्राप्त करें और चाहे आप विश्वासी होकर परमात्मा को प्राप्त करें। प्राप्त परमात्मा ही होगा। और कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती।

अगर इस वास्तविकता में आपका विकल्प-रहित विश्वास हो जाय, तो जिसकी प्राप्ति में विकल्प-रहित विश्वास हो जाता है, उसकी तीव्र लालसा जाग्रत हो जाती है, उसकी माँग जाग्रत हो जाती है।

अब आप सोचिये कि यदि हमारे-आपके जीवन में परमात्मा की माँग जाग्रत हो गई, तो काम रह सकता है क्या? बोलो क्या राय है? अगर जीवन में परमात्मा की माँग जाग्रत हो गई, तो फिर कोई 'काम' रह जायेगा क्या? नहीं रहेगा। कर्त्तव्य नहीं, 'काम' नहीं रहेगा। यानी संसार का

आकर्षण नहीं रहेगा। परमात्मा की माँग से संसार का आकर्षण नाश होता है, संसार नहीं नाश होता है।

और आकर्षण के नाश होने से अपने आप आपको निर्विकारता, निर्विकल्पता प्राप्त हो जायेगी। निर्विकल्पता जो है वह निस्सकल्पता से बहुत आगे की चीज है। यानी आप स्वतः निर्विकल्प हो जायँ, कोई विकल्प आप में नही रहे। क्यों? संकल्प नहीं रहेगा, यों। संसार का आकर्षण नाश होने के बाद संकल्प का नाश हो जाता है। और संकल्प का नाश होने से निर्विकल्पता आ जाती है। और निर्विकल्पता में जीवन है, रस है, स्वाधीनता है। इनमें कोई सन्देह की बात ही नहीं। इसलिए परमात्मा की प्राप्ति ही सर्व सुलभ है, बिल्कुल कठिन नहीं है।

श्रोता:– महाराज! काम रहते हुए माँग अपने में उत्पन्न हो सकती है क्या?

स्वामीजी:– माँग बीज रूप से तो रहती ही है, स्ट्रोंग नहीं होती, सबल नहीं होती। यह भी विचित्रता हैं कि काम के रहते हुय माँग रहती तो है, लेकिन सबल नहीं रहती। काम के नाश होने से माँग सबल होती है और फिर पूरी होती है।

श्रोता:– माँग उत्पन्न हो जाने पर ही 'काम' नष्ट होता है, ऐसा आपने अभी-अभी.....?

स्वामीजी:– नहीं, नहीं। यह भी ठीक कहा। माँग जाग्रत होती है, माँग की पूर्ति भी होती है। और काम नाश नहीं हुआ है मान लीजिए थोड़ी देर के लिए, तो वही माँग की जाग्रति ही को काम नाश भी करती है। वैसे बीज रूप से तो माँग सभी में है। जैसे, अविनाशी जीवन किसको नहीं चाहिये?भोगी को नहीं चाहिए क्या?

श्रोता:– जी, चाहिए।

स्वामीजी:– इसका मतलब हुआ कि बीजरूप से तो माँग मौजूद हैं। परन्तु कठिनाई क्या है? कि अविनाशी जीवन चाहिये–यह तो माँग बीज से हुई। परन्तु, उस जीवन की प्राप्ति मुझे हो सकती है – जब यह दृढ़तापूर्वक आप स्वीकार करेंगे, तब यह माँग सबल हो जायेगी। माँग सबल होगी, काम नाश हो जायेगा। एक बात। दूसरी बात यह है कि काम की पूर्ति नहीं होती, काम में प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति का जो परिणाम है– शक्तिहीनता, असमर्थता, अभाव, नीरसता, पराधीनता प्राप्त होना है अपने को। वह किसी को पसन्द नहीं है।

श्रोता:– महाराज! ऐसे योगियों को भी काम-वासना में.....?

स्वामीजी:– देखो भाई, यह तो आपने पर-चर्चा कर दी। जीवन की चर्चा तो खत्म हो गई। गम्भीरता से सोचिये।

श्रोता:– यह तो अपने में भी अनुभव करता हूँ, स्वामीजी।

स्वामीजी:– मैं कब मना करता हूँ कि नहीं करते हैं? आपकी बात को गलत कहने का तो मेरा मतलब ही नहीं है। पर यह पर-चर्चा हो गई! विवेकियों में भी काम रहता है। यह जो बात है न! और कामी में भी विवेक रहता है। तो विवेक के अनादर काल में काम रहता है कि आदर काल में?

श्रोता:– अनादर काल में।

स्वामीजी:– तो बस, तो मैं कहता हूँ– रोशनी हो रही हो ओर कोई आँख में पट्टी बाँध ले, जो उसमें आँख का अपराध तो नहीं है न? और न रोशनी का अपराध है, पट्टी का है। आपमें जो विवेक का प्रकाश, विश्वास का तत्त्व, बल का तत्त्व-ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ हैं महानुभाव! प्रत्येक भाई में और बहन में ये हैं हीं। अगर बल का तत्त्व न होता, तो कुछ-न-कुछ कैसे करते?

श्रोता:– महाराज! विषयाकर्षण में भी तो अपना बल है।

स्वामीजी:– देखिये, दृश्य में अपना बल है या हममें अपनी निर्बलता है?

श्रोता:– हाँ, अपनी निर्बलता है। दृश्य में भी तो बल है आकर्षित करने का?

स्वामीजी:– तो भाई, ऐसा न कह कर, कहें कि हमारी निर्बलता है कि दृश्य में आकर्षण होता है। और वह निर्बलता क्या है? कि हम विवेक का अनादर करते हैं। जो विवेक का प्रकाश है उसका ठीक आदर नहीं करते।

विवेक तो है। ऐसे ही परमात्मा तो है, पर मिलता नहीं है। क्यों? हम उसको पसन्द ही नहीं करते। पसन्द करते है कुछ और, और चर्चा करते हैं परमात्मा की। इसलिए परमात्मा मिलता नहीं। इसमें कुसूर परमात्मा का नहीं है कि क्यों नहीं मिलता। यह अपनी ही भूल है, क्योंकि हम उसे पसन्द नहीं करते। ऐसे ही यह विवेक का अपराध नहीं है, अपनी ही भूल है कि हम विवेक का आदर नहीं करते, विश्वास विकल्प-रहित नहीं हैं।

29

प्रेमियों ने कभी नहीं सोचा कि प्यारे कैसे हैं और मेरे साथ क्या करेंगे! क्यों? वे मानते हैं कि प्रभु उनके हैं-और वे जानते हैं कि 'वे' जो करेंगे, वही मजे की बात होगी।

सर्वस्व समर्पण में सभी शंकायें डूब जाती हैं।

परमात्मा में आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति साधक स्वयं अपने द्वारा करता है। आँख बंद करने, कान बंद करने, स्वांस रोकने, आसन लगाने अथवा मुद्रा साधने की आवश्यकता ही नहीं।

जिसे लोग जड़-जगत् कहते हैं, यह प्रभु की ओर आकर्षित करने की उनकी लीला है। संसार बेचारा भगवान् को याद दिलाने के लिए आपकी पकड़ में ही नहीं आया!

इस तरह यह सारी सृष्टि हमें निरन्तर प्रभु से मिलाना चाहती है। लेकिन हम प्रभु से विमुख होकर सृष्टि को प्रभु से विमुख करते हैं।

परमात्मा इतने महान् हैं, ऐसे परम सुहृद हैं कि यदि आप उन्हें पसन्द कर लेंगे, तो वे अवश्य आपको अपनालेंगे।

29(अ) प्रेमीजन कृप्या यह कैसेट सुनना न चुकें।

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

जिसको कोई प्रिय होता है न! उसके जीवन में नीरसता कभी नहीं आती। और जिसके जीवन में नीरतसा नहीं आती, उसके जीवन में काम की उत्पत्ति होती नहीं-मुझे यह चाहिये कि मुझे वह चाहिये–यह तो नीरसता को मिटाने के लिये काम की उत्पत्ति होती है। नीरसता उत्पन्न होती है कब? जिसका कोई प्रिय नहीं है, तब होती है। तो यह मान लिया कि 'प्रभु मेरे अपने हैं, 'अपने में हैं'–बाहर तलाश कहाँ करोगे?'अभी हैं'– तो आप भविष्य की आशा क्यों रखोगे?'समर्थ हैं'–तो डरने की बात क्या है?'अद्वितीय है'–तो कसौटी पर कसने की जरूरत ही नहीं है। अद्वितीय माने एक ही हैं। तो जब एक ही हैं, तो फिर कैसे हैं? यह प्रश्न ही नहीं आता। तो प्रेमियों ने कभी यह नहीं सोचा कि 'वे' कैसे हैं?–कभी नहीं सोचा। और यह भी कभी नहीं सोचा कि 'वे' मेरे साथ क्या करेंगे! 'उनका' तो मुझ पर अधिकार ही है।

मैं तो 'उनका ही हूँ', इसलिये 'वे' जो करेंगे वही मजे की बात होगी, उसी में मजा आयेगा। और 'वे' कभी-भी मुझसे अलग नहीं हो सकते।

अपनी सत्ता के बाहर 'वे' मुझे नहीं कर सकते, कभी भूल नहीं सकते। क्यों? अपने हैं, यों। कैसे भूलेंगे? कोई दो थोड़े हीं है! जो यह सोचना पड़ेगा कि वे क्या करते हैं, कहाँ रहते हैं? आप खुद ही सोचिये कि किसी का कोई अपना हो तो वह उसके सम्बन्ध में कहाँ सोचेगा कि तुम क्या करते हो? अपने हो, इसलिए मुझको प्यारे हो। जो तुम करते हो, उसी में मुझको मजा है।

अगर यह ताकत आ जाती हैं विश्वास के आधार पर साधक में, तब फिर वह बिल्कुल अचाह हो जाता है। क्यों? अपनी कमी पूरी करने के लिए तो 'वे' अपने हैं ही। जब 'वे' अपने हैं, तो आप स्वयं सोचिये कि हमको क्या कमी रहेगी? बिल्कुल नहीं। क्या अभाव रहेगा? और फिर हमें क्या चाहिए? तो प्रेमीजन स्वभाव से अचाह हो जाते हैं, चाह उनमें कोई नहीं रहती। जब चाह नहीं रहती, तो अशान्ति कहाँ से आयेगी?

अच्छा, कोई और उनका रहता नहीं हो बन्धन कैसा? कोई और हो तब न! बन्धन हो। और जो अपना है वह अपने में हैं ही है, तो बाहर तलाश कैसी? तो प्रेमियों के जीवन में न तलाश रहती है, न बन्धन रहता है, न किसी प्रकार की कमी रहती है। केवल 'वे' अपने हैं, अपने को प्यारे लगते हैं। ऐसी बात नहीं है कि हम उन्हें अपना मानते हैं, इसलिए 'वे' हमको प्यारे लगते हैं। अरे बाबा! हमें तो वे अपना करके जानते ही है। इतना ही तो फर्क है! भक्त में, भगवान में अन्तर क्या है? भक्त तो मानते हैं कि प्रभु अपने हैं और प्रभु जानते हैं कि भक्त मेरा है। तो जब यह नियम ही है कि अपना अपने को प्यारा लगता ही है। तो हम तो 'उनको' प्यारे लगते ही हैं, हमें भी 'वे' प्यारे लगें–इसी का नाम भक्ति है। भक्ति का अर्थ यह थोड़े ही है कि हम कोई बैठ कर अभ्यास करेंगे और उसका परिणाम कुछ होगा। उसको भक्ति नहीं कहते। भक्ति मानें–भगवान को हम प्यारे लगते ही हैं, हमें भी 'वे' प्यारे लगें। जब 'वे' हमें प्यारे लगते हैं, तब फिर हमें कुछ और भाता नहीं है। हमारी दृष्टि में कोई और रहता नहीं है। क्योंकि प्रेमियों की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कभी कुछ रहा नहीं कभी-भी।

अब कोई और है नहीं, तो मन जायेगा कहाँ? अब कुछ चाहिये ही नहीं, तो अशान्ति कैसी? बताओ? तो मन के लिये कोई ठोर रहता है क्या, कि कहाँ जायेगा?

'प्रभु हैं'–इतने मात्र से, 'कोई और है'–यह बात जीवन में-से निकल जाती है। 'प्रभु हैं'–अगर ऐसा मानते हो, तो यह मान लो कि कोई और नहीं। यह तो रहा ऊँचे-से-ऊँचा दर्शन। और सरलता पूर्वक ऐसा मानलो कि भाई, अपना कोई और नहीं है। इस पचड़े में न रहना हो, तो यह मानलो कि अपना कोई और नहीं है।

नहीं तो महाराज! यह दार्शनिक सत्य है कि अगर परमात्मा का अस्तित्व है, तो फिर जगत् का नहीं है। यह दार्शनिक सत्य है। अगर आत्मा का अस्तित्व है, शरीर का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि आप यह सोचिये कि शरीर का भी अस्तित्व हो, और आत्मा का भी अस्तित्व हो, और दोनों विपरीत हों। कभी आपने अंधकार और प्रकाश को मिलते देखा है?

श्रोता:- जी, नहीं।

स्वामीजी:- कोई बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक अन्धकार और प्रकाश को मिलाकर दिखा सकता है?

तो स्वयंप्रकाश आत्मा पर-प्रकाश्य शरीर के साथ कैसे मिल सकता है? आप सोचिये। अखण्ड, अविनाशी, अनन्त, समर्थ, पूर्ण परमात्मा और सतत परिवर्तनशील जगत् दो स्वतन्त्र सत्तायें कैसे मिल सकती हैं? नहीं मिल सकतीं।

लेकिन अगर किसी को इस दार्शनिकता का बोध न हो और ये दार्शनिकता न भाती हो, तो वे भोले-भाले साधक यह कह देते हैं–'भैया, हमारा तो कोई और है नहीं।' कोई कहता है कि संसार है।–'होगा भैया!' कोई कहता है कि अमुक है। –'होगा भैया, पर हमारा कोई और नहीं है।'

अब यह बात हम अपने द्वारा न! स्वीकार करेंगे? इसमें आँख बन्द करेंगें कि कान बन्द करेंगे कि स्वाँस रोकेगे कि आसन लगायेंगे कि मुद्रा लगायेंगे? क्या शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण इनके द्वारा हम यह व्रात स्वीकार करेंगे कि हमारा कोई और नहीं है? या कि अपने द्वारा हम यह बात स्वीकार करेंगे कि हमारा कोई और नहीं है? अपने द्वारा स्वीकार करेंगे। जब हमने अपने द्वारा यह स्वीकार कर लिया कि हमारा कोई और है नहीं और उसके बाद कुछ ऐसा मालूम हुआ कि भाई, कुछ चारों ओर

मालूम होता है, तो भक्त लोग कह देते हैं कि यह सब हमारे प्यारे की लीला होगी।

जब यह मालूम होता है कि संसार है तो अगर संसार भासित हुआ भक्तों को तो, वे संसार शब्द नहीं जानते हैं, वे तो जानते ही नहीं। जब लोग कहते है कि संसार है। तो बोलते हैं कि 'हमारा तो कोई और है नहीं होगा भैया।' लेकिन जब उन्हें मालूम होता है कि कुछ है, तब कहते हैं कि 'यह तो हमारे प्यारे की लीला है।'

अब आप सोचिये कि प्रभु-विश्वासी साधक हर समय प्यारे की लीला को देखता है और प्यारे को अपना मानता है। तो अपना मानने से उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता है। और लीला देखने से उसको सुख मिलता है, रस नहीं। सुख मिलता है। क्योंकि अपने की कोई लीला देखे तो अपने को अच्छा लगता है कि नहीं?–वाह प्यारे! प्रातः काल सूर्य उदय से पहले जब चिड़ियाँ चह चाहती हैं! तो जब प्रेमी देखता है कि 'प्यारे, तुम बड़े लीलाधारी हो! तुम चिड़ियों के रूप में हमें सोते से जगा रहे हो! तुम सूर्य के रूप में प्रकाश दे रहे हो! तुम वायु के रूप में स्वाँस लेने दे रहे हो! तुम जल के रूप में प्यास बुझा रहे हो! तुम भूमि के रूप में आश्रय दे रहे हो! मेरे को सुख देने के लिये तुम अनेक प्रकार की नित-नव लीलायें कर रहे हो! तुम्हीं मेरे अपने हो! और कोई मेरा अपना नहीं है।

प्यारे! एक ऐसी लीला भी करो, कि मैं तुमको ही अपना मानूँ। मैं कोशिश करूँ कि न मानूँ, तब भी मेरे बस की बात न रहे!' अगर कुछ माँगना है प्रभु से, तो यहीं माँगों कि प्रभु मेरे बस की बात न रह जाय कि मैं किसी और को अपना मान पाऊँ, और मेरी दृष्टि में कोई और रह जाय अथवा मेरी दृष्टि कहीं और जाय। इतना ही नहीं, किसी और का आस्तित्व ही न रह जाय मेरी दृष्टि में! जायेगी कहाँ दृष्टि! जब किसी और का अस्तित्व मानूँगा तब न! दृष्टि जायेगी। जब किसी और का महत्त्व मानूँगा, तब न! आकर्षण होगा! तो 'प्रभु! आप अपनी अहैतुकी कृपा से इतनी मुझ पर कृपा करना कि मेरी दृष्टि में किसी और का अस्तित्व, किसी और का महत्त्व न रह जाय। केवल तुम्हारा ही अस्तित्व रह जाय! केवल तुम्हारा ही महत्त्व रह जाय और तुम्हीं में अपनत्व रह जाय।'

अगर मैं किसी और के अस्तित्व को मान बैठा तो किसी और का महत्त्व भी न! कहीं आजाय मेरी आस्था में, तो मैं तो आपसे विमुख हो

जाऊँगा! अरे भाई, क्या भगवान् ने हमको अपने से विमुख किया है? क्या किसी संसार ने कहा है कि तुम भगवान् से विमुख हो जाओ? अरे, संसार तो बेचारा भगवान् की याद दिलाने के लिए आपकी पकड़ में ही नहीं आया अभी तक! आप तो बहुत बड़े पकड़ पाये क्या? आप सच मानिये, जिसे लोग जड़ जगत् कहते हैं यह प्रभु की ओर आकर्षित करने की उनकी लीला है। यह सारी सृष्टि हमें निरन्तर प्रभु से मिलाना चाहती है।

एक पुष्प खिलता है, आप उसे देखकर खुश होते हैं। उसको दुःख होता है–हाय! हाय!! मुझ में जिसकी सुन्दरता है, मुझ में जिसकी सत्ता है, यह उसे नहीं देखता! अब मैं नहीं जिन्दा रह सकता! पुष्प मुरझा जाता है। आपको सन्देश देता है–तुम मुझको देखते हो? मुझमें मेरा कुछ नहीं है, मुझमें जो सौन्दर्य है, वह उस अनन्त सौन्दर्य का है। मुझमें जो सत्ता है, वह उस स्वतन्त्र सत्ता की है। तुम मुझे मत देखो! आप देखेंगे कि सारा संसार हमें और आपको सदैव इस ओर संकेत कर रहा है–मुझे मत देखो! उसको देखो, जो तुममें है, तुम्हारा है। मुझे मत देखो! जब हम 'उनको' देखने लगते हैं तब कह बैठते हैं-"दर-दीवार दरपन भयौ जित देखूं तित तोय! यह हमारी दृष्टि का परिवर्तन है। वास्तव में तो 'वे' है हीं।

आप सोचिए कि अगर किसी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह वस्तु हमारी पकड़ में आजाती। वस्तु का अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व प्रभु का ही है। अगर शराब में मस्त करने की ताकत होती तो बोतल को मस्त कर देती। यह ताकत प्रभु में हैं और प्रभु अपने में हैं, इसलिए वह मस्ती आती है। नहीं तो शराब से बोतल को मस्त हो जाना चाहिये।

अगर मान लीजिये, खुराक में शरीर को ताकत देने की ताकत होती, तो खुराक तो खाते ही रहे आप, कमजोरी आ कहाँ से गई? बल नाश हो कहाँ से गया? अगर संसार की भोग-सामग्री में सुख होता, तो भोग तो भोगते ही रहे। पर आज भूखे क्यों हैं? आज अभाव क्यों है?

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसार की प्रत्येक गतिविधि भी हमें अपने प्यारे की ओर धकेल रही है, फेंक रही है। पर हम आपसे क्या बतायें! जिस समय साधक प्रभु विश्वास को लेकर, सब ओर से विमुख होकर प्रभु की ओर आकर्षित होता है, उस समय यह सारी सृष्टि हर्ष मनाती है,

जय-जयकार करती है। और आपके साथ-साथ स्वयं अपने प्रेमास्पद की ओर गतिशील होती है।

हम प्रभु से विमुख होकर सृष्टि को प्रभु से विमुख कर रहे हैं। और सृष्टि हमें सदैव संकेत दे रही है– 'मुझे मत पकड़ो, मुझे मत मानों! मुझमें मेरा करके कुछ नहीं है। जिसकी तुमको माँग है, मुझको भी उसी की माँग है। पर 'वह' तुम्हीं में है! मुझमें वह होता तो मैं तुम्हें पेश कर देती। लेकिन वह तो तुम्हीं में है।

जब तुम सब ओर से अपने को हटा लेते हो और प्रभु की ओर आकर्षित होने की आवश्यकता अनुभव करते हो। कोई आपको श्रम नहीं होता है, प्रभु की ओर चलने में। कोई आपको कठिनाई नहीं होती। केवल जब आप आवश्यकता अनुभव करते हो–"प्रभु! मेरा कोई और नहीं है, और मुझे कुछ नहीं चाहिये, आप ही मेरे अपने हो।" उसी समय सारी सृष्टि अपना भेष बदल-बदल कर आपसे अभिन्न होकर प्यारे की प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है।

आप जानते हैं, लोग कहते हैं–"सिया राम मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।" अरे बाबा! सिया और राम ही तो हैं! और कुछ है थोड़े ही! सिया और राम ही तो हैं! इसलिए सृष्टि भी हममें विलीन हो जाती है। हम 'उनकी' प्रीति हो जाते हैं। और प्रीति होकर उनको जब रस मिलता है, तो प्रीतम स्वयं प्रीति होते हैं। 'उनकी' ओर से आई हुई प्रीति जब लौट कर उनकी ओर जाती है, तो रस का कोई पारावार नहीं रहता। और ये प्रीति और प्रीतम का जो नित्य विहार है, इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका कभी नाश नहीं होता। यह अविनाशी है, यह असीम है, यह अनन्त है। इसलिए कहा गया है कि प्रीति जो है वह प्रीतम को रस प्रदान करती है।

वास्तव में प्रीति आती कहाँ से है? सत्ता किसकी है? 'उन्हीं' से आती है। अगर उन्हें प्यारे न लगते होते, तो सच मानिये हमें कभी याद तक न आतीं। यह जो हर भाई के जीवन में, हर बहन के जीवन में एक उदासी रहती है, एक अभाव रहता है, सोचता रहता है, कि –कहाँ रस है? कहाँ जीवन है? कहाँ पूर्णता है? और उसके लिए अपनी भूल से जब परिस्थितियों की ओर से सम्बन्ध जोड़ता है, सृष्टि की ओर सम्बन्ध जोड़ता है, तो एक बार नहीं, अनेक बार धोखा खाता है, प्रत्येक पल में धोखा खाता है। प्रीतम कहाँ है! रस

कहाँ है! जीवन कहाँ है! पता चलता है कि अपने में है, अपने में है।

अब अपने में अपना प्रीतम है–यह आस्था ही वास्तव में आस्था है। तो जब हम अपने में अपने प्रीतम को स्वीकार करते हैं, तब स्वभाव से सब ओर से विमुख होते हैं। स्वभाव से हमारी गति अन्तर्मुख हो जाती है। आजकल लोग कहते हैं- अन्तर्मुख गति करो। पत्थर करो। अरे बाबा! जब हम अपने में अपने प्रीतम को स्वीकार करेंगे, तब गति अन्तर्मुख होती ही है। तो जो चीज होती है वह है–साधना। और जो "है" वह है साध्य।

तो साधना भी हममें है और साध्य भी हममें है। तो साधना से साध्य को रस मिलता है। और हम असाधनरहित होते हैं। लेकिन जब हम असाधन-रहित हो जाते हैं तो साधना जो है वह प्रियता के रूप में परिणत हो जाती है फिर। फिर उसका एक ही रूप हो जाता है अद्वितीय प्रियता, अखण्ड प्रियता, अगाध प्रियता।

आप देखेंगे, प्रियता 'प्रिय' को रस देती है और उसका कोई काम ही नहीं है। और प्रियता कभी पूरी नहीं होती, कभी उसका नाश नहीं होता। उसी प्रियता को भक्ति-तत्त्व भी कहते हैं, उस प्रियता को। उसी प्रियता का जो बाह्य रूप है आता है व्यवहार के क्षेत्र में वह "सेवा" कहलाती है। उसी प्रियता का जो विचार का रूप होता है वह "त्याग" कहलाता है। और जब ये तीनों चीजें इकट्ठी हो जाती है–सेवा, त्याग, प्रेम–वही भक्ति है।

उस भक्ति से भगवान को रस मिलता है। असल में भगवान् को रस भगवान् की भक्ति देती है। लेकिन उस भक्ति को अभिव्यक्त होने के लिए हमें और आपको भक्त होना है। भक्त होने का अर्थ क्या है? भगवान् से जातीय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना है।

कभी किसी सद्ग्रन्थ ने यह नहीं कहा कि वह भी समय कभी आता है, जब गौरी और शंकर का विहार समाप्त होता है। कभी नहीं कहा, कभी नहीं कहा। कभी किसी भक्त ने यह नहीं कहा कि वह भी समय कभी आता है, जब सीता और राम का विहार समाप्त होता है। कभी नहीं कहा कि राधा और कृष्ण का विहार समाप्त होता है। आप ही बतलाइये कि प्रीति और प्रीतम का विहार कैसे समाप्त हो जायेगा? कभी समाप्त होता ही नहीं।

इसलिए वही जीवन है, वही अविनाशी है। यह जो जीवन का

अभाव है, यह जीवन की जो नीरतसा है वह तभी समाप्त होगी, जब हमी में अर्थात् भक्त में भक्ति का अवतरण हो। अब भक्ति का अवतरण– ये अपने आप होता है। और सत्संग के द्वारा हम भक्त होते हैं। सत्संग का अर्थ क्या है? सत्य को स्वीकार करने से हम भक्त होते हैं। "सत्य" क्या है?–जिसे में देखता था, जिसकी ओर मैं दौड़ता था, वह है नहीं। क्यों नहीं हैं? क्या दलील है?– होता तो मुझे मिलता! वह है नहीं अर्थात् सृष्टि है नहीं।

किन्तु है क्या? जब मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूँ कि सृष्टि नहीं है, तब अपने आप स्वतः स्वभाव से समस्त इन्द्रियाँ अपने विषय से विमुख होकर मन में विलीन होती हैं, मन निर्विकल्प होता है, बुद्धि सम होती है।

यह किस बात का फल है?– यह इस बात का फल है कि सृष्टि नहीं है–केवल इसका। या मेरे लिए नहीं है भाई– जैसा कि कहा था। सृष्टि नहीं है– इसका फल है कि आपको जो अपने ओर अपने प्रीतम के बीच में जो दूरी मालूम होती है, वह समाप्त हो जाय और प्रीतम की समीपता की उपलब्धि हो जाय। इसको योग कहते हैं। परमात्मा से जो हमें समीपता प्राप्त होती है न! वह योग से होती है। सृष्टि नहीं है–इस सत्य को स्वीकार करने के बाद अपने आप योग की अभिव्यक्ति होती है। उस योग के बाद जो उस योग में गति है, तो पहले वह योग "बोध" में परिवर्तित होता है। क्योंकि जिसकी हमें समीपता प्राप्त होती है, उसके साथ हमारी एकता भी होती है। और उसके बाद "बोध" जो है वह "प्रेम" में परिणत होता है।

तो तात्पर्य क्या निकला? कि प्रिय-मिलन के लिये योग, बोध और प्रेम अपेक्षित हो गया। और योग, बोध, प्रेम के लिये केवल एक ही सत्य–मेरा कोई और नहीं है, किसी और का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कोई और नहीं। हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं।

कोई और नहीं है-यह ज्ञान है। और कोई गैर नहीं है–यह आस्था है। गैर नहीं है कोई–अर्थात् अपने ही है। और यह बात जब आ जाती है जीवन में कि कोई और है नहीं, तभी भक्त लोग कह बैठते हैं कि मेरे मन में किसी और के लिये तो ठौर ही नहीं है। और जब ये बात आ जाती है कि कोई गैर नहीं है, तब भक्त लोग कह उठते हैं कि मेरे पास मन ही नहीं है।

यह सब जो भक्त-चरित्र है, भक्त-गाथा है– ये भक्ति-तत्त्व की ओर

ले जाने का संकेत हैं, इशारा है। क्या सोचते हो? कोई और तो नहीं है। अरे, इतना ही नहीं, गैर भी तो नहीं है कोई? जहाँ गैरियत मिटती है, वहाँ न! प्रियता उदित होती है। जहाँ और-पन मिटता है, वहाँ न! अभयपन होता है। इसका अनुभव कीजियेगा। जब तक कोई और होता है, तब तक न! भय होता है। जब तक गैरियत होती है, तब तक प्रेम पैदा होता है। क्या? नहीं तब तक प्रेम नहीं पैदा होता। तो कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है–यदि इस सद्गुरु वाक्य में हमारी आस्था हो जाय, यदि हमारा विश्वास हो जाय तो महाराज! अभी-अभी हम सब भक्त हो जायँ। और भक्त होने के बाद भगवत्-कृपा से स्वतः भक्ति की अभिव्यक्ति हो जाय। और भक्ति की अभिव्यक्ति होने से यह जीवन भगवान् के काम आ जाय। यही इस जीवन का सार सर्वस्व है। हम-सब प्रभु की कृपा से भक्त होकर भक्ति-तत्त्व में प्रवेश पा जायें, जिससे भगवान को रस मिले।

इसी सद्भावना के साथ सभी को प्रणाम्!!

29(ब) होनेवाला चिंतन करनेवाला चिंतन से मिटेगा यह भ्रम है।

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

जिस समय आपका देश आजाद हुआ था, अँग्रेजी शासन यहाँ से समाप्त हुआ था, उस समय मैंने राजेन्द्र बाबू से पूछा कि–"बाबू जी! यह बताइये कि लीडरी का अन्त यदि मिनिस्ट्री में हो जायेगा तो लीडर कहाँ से आयेगा? और वहीं हुआ। नतीजा यह हुआ कि देश नेता-विहीन हो गया। आप देखिये, आज देश की नैतिकता कितनी गिर गई! गिर गई कि नहीं? जी, गिर गई?

श्रोता:– हाँ।

स्वामीजी:– मतलब क्या हुआ? जो नेता मिनिस्टर बन जायेगा। तो नेता नहीं रहेगा। तो सरकार में और प्रजा में एकता कौन रखेगा? क्या राय है? नेता ही रख सकता है। समझ में आ गया न?

इसी तरह से अगर सेवा का अन्त त्याग में नहीं हुआ तो सेवा क्या हुई! सेवा क्या हुई? सेवा तो नहीं हुई। और त्याग का अर्थ क्या है भैया? त्याग का अर्थ केवल घर छोड़ देना नहीं है, हिमालय की कन्दरा में घुस जाना

नहीं। त्याग का अर्थ है कि हर मानव, हर भाई, हर बहन ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करें कि संसार में मेरा कुछ नहीं है। त्याग का एक अंग। दूसरा अंग–मुझे कुछ नहीं चाहिये। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जहाँ मेरा कुछ नहीं है तो शरीर और संसार का तो विभाजन हो ही नहीं सकता। यानी तीनों शरीरों में मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरे नहीं हैं। संसार से मुझे कुछ चाहिए नहीं। मिला हुआ मेरा नहीं है। जो दिखाई देता है उससे कुछ चाहिये नहीं। यह हुआ त्याग।

इस त्याग का फल होता है कि आप अपने में सन्तुष्ट हो जायेंगे अपने आप। और जब आप अपने में सन्तुष्ट हो जाते हैं। तो फिर भगवान् की वाणी है–गीता भगवती–देखो मेरी आदत नहीं प्रमाण देने की, पर आप लोग मानेंगे थोड़े ही– तो उसमें लिखा है कि आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्म सन्तुष्टि होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। पढ़ लेना। (हास्य) तो आत्म-संतुष्टि अपने में संतुष्ट होने से तीन चीजें मिल जायेंगी– अविनाशी-जीवन, स्वाधीन-जीवन, रस रूप जीवन। रस-रूप जीवन कहो, चाहे प्रेम कहो। स्वाधीन-जीवन कहो, चाहे मुक्ति कहो। अविनाशी-जीवन कहो, चाहे नित्य जीवन कहो।

तो अगर आपको स्वाधीन, अविनाशी, रस रूप जीवन चाहिये तो अपने में अपने को सन्तुष्ट करना ही होगा। अब कोई कहे कि साहब, अपने में सन्तुष्ट करने से यह क्यों मिल जायेगा? तो वहाँ में यह कहता हूँ कि भाई, अपने में परमात्मा है। ये तीनों विशेषण परमात्मा के हैं– जिसका कभी नाश न हो, जो परम स्वतन्त्र हो, जो अगाध-अनन्त रस रूप हो–ये परमात्मा ही के लिये विशेषण हैं। अनन्त रस, परम स्वतन्त्र, अविनाशी परमात्मा ही है। तो इसलिए, चूंकि अपने में संतुष्ट हो जायेंगे तो परमात्मा मिल जायेगा।

अब हम बेपढ़े-लिखे लोग तो ऐसे सन्तोष करते हैं। और पढ़े-लिखे लोग क्या कहते हैं? कि साहब, वह तो मैं ब्रह्म हूँ , ब्रह्म मुझ में नहीं है–यह पढ़े-लिखों की बात है भाई। तो वे जाने। यह भी एक तरीका है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि वह पद्धति गलत है। वह भी है एक। पर मैं उससे परिचित नहीं हूँ। मैं इससे परिचित हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो शरणागत होकर, चाहे अचाह होकर, चाहे बल के सदुपयोग के द्वारा–जरूरी काम पूरा करके,

बिना जरूरी काम छोड़ के–किसी तरह से अपने में सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। तो आपको अपने में परमात्मा मिल जायेगा। अवश्य मिल जायेगा। और यह कहने-सुनने की बात नहीं है, यह तो आपके अभी अनुभव करने की बात है। आप अपने में सन्तुष्ट होकर देखिये तो सही। बिना अचाह हुये आप अपने में सन्तुष्ट हो नहीं सकते। जरूरी काम बिना पूरा किये अपने में सन्तुष्ट हो नहीं सकते। बिना जरूरी काम को बिना छोड़े सन्तुष्ट हो नहीं सकते, समर्पित हुये बिना हो नहीं सकते।

तो चाहे आस्था के आधार पर शरणागत होकर अपने में सन्तुष्ट हो जाइये, चाहे कर्त्तव्य-पथ से अपने में सन्तुष्ट हो जाइये, चाहे विचार-पथ से अपने में सन्तुष्ट हो जाइये। अपने में सन्तुष्ट होने पर परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह अनुभव सिद्ध सत्य है। फिर भी न जचे तो मत मानिये। इसमें कोई आपत्ति तो है नहीं, मेरा कोई आग्रह तो है नहीं। मैं यह थोड़े ही कहता हूँ कि जो मैं कहता हूँ, सो आप मान लीजिये। लेकिन अगर आपकी समस्या हल हो, तो मान लीजिये, नहीं तो मत मानिये। अनेकों मार्ग हैं, अनेको लोग हुए हैं, अनेकों ढंग से एक ही परमात्मा को प्राप्त किया है, कोई एक ढंग से तो किया नहीं है।

अरे, जब दो व्यक्ति भी समान योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के नहीं है, तो सबकी एक साधना कैसे हो सकती है, एक तरीका कैसे हो सकता है? अलग-अलग ही होगा। तो मेरा निवेदन यह था कि आप अगर भगवान को मानते ही हैं तो मानिये, मैं मजबूर नहीं करता हूँ। क्योंकि इससे बड़ा मैं भगवान् का क्या अपमान करूँगा कि आपसे प्रार्थना करूँ कि आप मान लीजिए! तो हमारे भगवान् इतने घटिया होगये कि जो आपसे प्रार्थना की जाय? यह तो मैं बड़ा भारी अपमान समझता हूँ भगवान् का। हाँ, अगर आपका काम नहीं चलता, तो मान लीजिए। तो वे इतने उदार हैं! इतने महान् हैं! इतने परम सुहृद है! कि अगर आप उनको पसन्द कर लेंगे तो वे आपको अवश्य अपनालेंगे। चाहे आपका भूतकाल कैसा ही बीता हो!

आप विचार कीजिए, अमूल्य परमात्मा, अनमोल परमात्मा आपके छोटे-मोटे मोलों से नहीं मिला करता। क्या सीमित गुणों से कहीं अनन्त गुणों वाला प्राप्त हुआ है? कहीं सीमित बल से अनन्त बलवाला प्राप्त हुआ है? असम्भव, सर्वदा असम्भव! हाँ, समर्थ

की प्राप्ति का एक ही जरिया है कि उसको पसन्द कीजिए, उसके होकर रहिये, उसके नाते वर्तमान कार्य को विधिवत् कीजिए। यह उसकी पूजा है।

आप काम करते हो, हम कहते हैं भाई! पूजा करो। आप अभ्यास करते हो, हम कहते हैं कि स्वीकार करो। आप बौद्धिक परिश्रम करते हो, हम कहते हैं भाई! ज्ञानपूर्वक अनुभव करो। इतना ही तो फर्क है। और तो कोई फर्क है ही नहीं। बाकी मैं आप जो करते हो, उसका विरोध थोड़े ही करता हूँ। मेरा विरोध नहीं है। किसी भी साधन प्रणाली से मेरा विरोध नहीं है।

हम क्या बतायें! हमारे यहाँ एक दफा आश्रम में एक अँग्रेज आया। और उन दिनों साधन-सत्संग मास चल रहा था। एक महीने के लिए सत्संग आयोजन किया था। तो उसने कहा– क्या मेरा हर बैठक में (हर सिटिंग कहते हैं अंग्रेजी में शायद), बैठना शामिल-होना जरूरी है? मैनें कहा– बिल्कुल नहीं। बोला, तब भी मैं यहाँ ठहर सकता हूँ? मैने कहा–जरूर ठहर सकते हो। अरे, हम अपनी बैठक का अपमान करें कि आपके बैठने से हमारी बैठक बनेगी! तो उसने कहा–कि ऐसा तो मैंने आश्रम देखा नहीं, जहाँ इतनी स्वाधीनता हो। फिर उसने कहा–आप मुझे मैडीटेशन बता सकते हैं क्या? ध्यान करना बता सकते हैं क्या मैंने कहा–नहीं। बोले, क्यों? मैंने कहा–तुमसे होगा नहीं, यों। (हास्य) अरे भाई! बताया जाय और न हो, तो लाभ क्या हुआ?

तो मैं यह निवेदन करता हूँ आपसे कि अगर परमात्मा के मानने वालों को परमात्मा की याद नहीं आती, और करनी पड़ती है–यह कोई कम दुःख की बात है? यह कम आश्चर्य की बात है? क्यों भैया? अरे, मरे हुए बुजुर्गों की याद आती है आपको, गये हुए धन की याद आती है आपको। नहीं आती? जी? तो परमात्मा इतना घटिया हो गया कि उसकी याद आपको करनी पड़े? क्या राय है?

श्रोता:– कुछ संस्कार.....?

स्वामीजी:– बेकार बात मत करो यार। संस्कार-फंस्कार कुछ नहीं। गलत बात। मैं बताता हूँ। याद नहीं आती है इसलिये कि आप अपना नहीं मानते। देखों, संस्कार सामने आ सकता है अगर 'हाँ' न करें तो मिट जाता है। वह मंत्र भी हमको मालूम है। लेकिन लोग तो प्रश्न करते ही नहीं। हम कहाँ से क्यों, अपनी तरफ से क्या खोज-खोज कर निकलें? जितने

संस्कार हैं वे क्या काम करेंगे? संस्कार होते हैं भोगे हुए के। जिन सुखों को आपने भोगा है, उनका ख्याल आयेगा। यही न! संस्कार है? बोलो? और तो नहीं है न? तो पहले मानों, तो आगे बढ़ूँ। बिल्कुल यही है न?

श्रोता:– हाँ।

स्वामीजी:– अच्छा, कोई आपके सामने चाय का कप रखे और आप न पियें, तो चाय देखने से आपको पाप लग जायेगा क्या? बोलो? और संस्कार आया और आपने समर्थन नहीं किया। क्या करेगा वह?

श्रोता:– समर्थन कैसे न करें?

स्वामीजी:– हमारी राय है, न करो। संस्कार का समर्थन न करना–यह अपने हाथ की बात है। संस्कार को चिन्तन से मिटाना बिल्कुल अपने हाथ की बात नहीं है।

श्रोता:– महाराज! भीतर क्या है जो समर्थन करा देता है?

स्वामीजी:– देखो भाई, समर्थन कुछ नहीं करा देता है। तुम लोगों को तो भ्रम हो गया है। आप लोगों को यह भ्रम हो गया है कि हम बलपूर्वक संस्कार मिटा लेंगे। यह भ्रम हो गया है कि हम चिन्तन से चिन्तन को मिटा लेंगे।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जो होने वाला चिन्तन है न! उसको आप करने वाले चिन्तन से मिटाना चाहते हो– यह कभी नहीं मिटेगा। करने वाला अखण्ड है नहीं। अब होने वाला चिन्तन मिटता है होने वाली स्मृति से। यानी होने वाला चिन्तन मिटता है होने वाले चिन्तन से। तुम होने वाले चिन्तन को मिटाना चाहते हो करने वाले चिन्तन से। उससे डरते क्यों हो? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम 'हाँ' नहीं करोगे, तो वह नाश हो जायेगा। और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश हो जायेगा। और उससे अपने को मिलाओगे नहीं, तब भी नाश हो जायेगा। तीन तरह से नाश हो जायेगा–हाँ मत करो, उससे लड़ो मत, उससे अपने को मिलाओ मत।

एक दिन की घटना याद आ गई। हमारे पास तो बहुत बड़े-बड़े तार्किक आते हैं। देवकी जी शुरू-शुरू में आई थी। उस समय की बात कहता हूँ। बहुत तर्क करतीं थीं। मनोविज्ञान की पण्डित ठहरीं भाई। तो ऐसी-ऐसी दलील रखती थी कि हम आपको क्या बतायें! हम टहलने जाते थे कई आदमी मिलकर और जाकर बैठते थे एक जगह। वहाँ हमने कोई

एक पत्थर उठाया। और उठाकर उसे खूब प्यार किया और ईमानदारी से प्यार किया, कभी आँसू भी आजायँ। जैसे ईमानदारी से प्यार करते हैं शरीर द्वारा प्यार किया और वहाँ से चलें तो कहदें 'देखो भाई, कल फिर मिलना।' चले आयें। दूसरे दिन जायँ, बैठ जायँ। हमार हाथ उसी पत्थर पर चला जाय। हमने किसी से पूछा नहीं कि हमारा पत्थर ढूँढ दो। आँखों से अन्धे। कई दिनों तक यह होता रहा। लड़कियाँ कहें कि स्वामीजी क्या करते हैं ये? कहा कि कुछ नहीं करते हैं। आखिर जब कई दिन हो गए हमको वह पत्थर मिलता ही रहा। तो हमने देवकी जी से पूछा कि देवकी जी! बताओ तुमने देखा? मैंने पत्थर को तुमसे दिखवाया था क्या?–नहीं तो। अच्छा, मिल जाता था कि नहीं?– हाँ मिल जाता था। तो देखों, प्यार ऐसी चीज है जो पत्थर को भी पसन्द आता है, तो परमात्मा को पसन्द नहीं आयेगा? (हास्य)।"

तो भाई, होने वाले चिन्तन को आप मिटा नहीं सकते। और इसमें आप ही के जीवन का अनुभव है कि कितना काल बीत गया आपको चिन्तन करते करते। ऐसा-वैसा मानकर आपको थोड़े ही कहता हूँ। आपको वर्षों हो गया जप करते हुए, वर्षों हो गया पोथी पढ़ते हुए, वर्षों हो गया अभ्यास करते–नहीं हो गया क्या? फिरभी आपको वही शिकायत है। नहीं तो आपकी शिकायत नहीं होनी चाहिए थी।

श्रोता:– महाराज! इस अनर्थ का हेतु संस्कार है?

स्वामीजी:– संस्कार अनर्थ का हेतु नहीं है। अनर्थ का हेतु वह कर्म है जिससे संस्कार बना है। लेकिन आप मनोविज्ञान से अपरिचित से मालूम होते हो। द्वेष का चिन्तन करते-करते, संसार की निन्दा करते-करते निन्दनीय स्वभाव बन गया है हमारा। कोई चीज अनर्थ का हेतु नहीं है। हमारी भूल अनर्थ का हेतु है। और भूल यही है कि हम संस्कार का समर्थन न करें। बस, खतम। हम परमात्मा को पसन्द करें। हम बुराई न करें, हम भलाई का अभिमान न रखें। ठीक।

देखिए, आप जो कहते हैं, वह तो बुहत बड़ी ऊँची बात कहते हैं और परम्परा की बात कहते हैं। किन्तु सारे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है आपको। माफ कीजिए, बुरा मत मानियेगा। शास्त्रों में पूर्व पक्ष भी होता है और उत्तर पक्ष भी होता है।

एक पुरानी कहावत है कि महाभारत की कथा हुई। किसी ने

अपनी पत्नी से पूछा कि तुमने क्या समझा? पत्नी ने कहा कि मैंने यह समझा कि द्रोपदी ने पाँच पति किए थे, मैं भी करूँगी। उन्होंने भाई से पूछा कि तुमने क्या समझा? उसने कहा कि दुर्योधन ने कहा कि सूई की नोक के बराबर भी नहीं दूँगा, इसलिए मैं भी तुम्हें हिस्सा नहीं दूँगा। तो भैया, शास्त्र पढ़ने के लिए गुरु चाहिये। और गुरु उसे कहते हैं जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया हो। नहीं तो ये प्रेस वाले सभी शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। शास्त्रों को समझना कोई मजाक है क्या? अरे, तुम अपनी बात को तो समझ नहीं पाते, शास्त्र की बात समझलोगे? इसलिए उसकी बात नहीं करता हूँ। मैं तो शास्त्रों को हाथ जोड़ता हूँ, वैसे ही।

आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ, शास्त्रों के आधार पर अकारण ही हम लोग एकाध बात कर डालते हैं और डरने लगते हैं। सो डरो मत! धीरज रखो। सन्तों का ज्ञान, आपका ज्ञान, वेदों का ज्ञान-इनमें एकता है। ऐसी घटना सुना दूँ आपको।

एक दफा, मैं गंगा किनारे बैठा था। अच्युत मुनि महाराज वेदान्त के अद्वितीय पण्डित माने जाते थे। लाहौर कालिज में प्रोफेसर थे। पं. जगतराम नाम था, फिर अच्युत मुनि हुए। वे मुझ से अपने आप कहने लगे– "शरणानन्द!" मैंने कहा–'हाँ महाराज!" बोले, "तू जानता है अज्ञान क्या है?" मैंने कहा–"मुझे क्या मालूम अज्ञान क्या है और शरणानन्द को ज्ञान-अज्ञान से क्या मतलब? जो बेमालिक का हो, जिसका कोई आधार न हो वह सोचे।" बोले, "देख भैया, सबसे बड़ा अज्ञान यह है कि लोग समझते हैं कि वेदव्यास में ज्यादा ज्ञान था और मुझ में कम है।"

श्रोता:– बात यह आई कि जो 'हो रहा है' वह 'क्रिया' से नहीं मिटेगा। करके मिटाना चाहते हो–यह भ्रम है?

स्वामीजी:– हमारे जानते सम्भव नहीं है।

श्रोता:– आपके अनुभव में न आवे, यह बात दूसरी है। आपको न जचे, यह दूसरी बात है।

स्वामीजी:– किसी का मिट जाय तो मुझे क्या ऐतराज है बाबा? मैंने कभी यह थोड़े ही कहा कि सारी दुनिया इसको मानले। मैं तो बड़ी ईमानदारी से कह रहा हूँ कि यह भ्रम है और नहीं मिटा है। और इसका अनुभव लोगों का जीवन भी है जो मुझसे सवाल करते हैं। अब यही क्रिया

की जो बात है, इसका मैं दूसरा अर्थ लेता हूँ। धर्म का मतलब यह है कि जो नहीं करना चाहिए उसको छोड़दो, तो जो करना चाहिए, वह होने लगेगा, वह होने में आजावेगा।

श्रोता:– फिर करना तो हो गया महाराज?

स्वामीजी:– अब आप जबरदस्ती क्यों करते हो महाराज? जबरदस्ती मत करो, वही मानो। सब लोग वही मानलें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन आप मेरी बात पूरी सुन लेने दीजिए, और आप भी सुन लीजिए। कि 'न करने वाली बात' छोड़ देने से 'करने वाली बात' अपने आप होती है–ऐसा मैं मानता हूँ। जैसे, अगर कोई झूठ बोलना छोड़ दे, तो सत्य बोलने के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा, अपने आप सच बोलने लगेगा। जैसे कोई बेईमानी करना छोड़ दे तो ईमानदारी के लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ेगा। ऐसे ही कोई संसार का चिन्तन छोड़ दे– मैं नहीं करूँगा–और अपने आप सामने आये तो उसका समर्थन न करे। यही उसका छोड़ना है। मैंने तीन बातें बताई न!– उसका समर्थन न करे, उससे मिलाये नहीं, और लड़े नहीं। क्योंकि लड़ने से उसकी सत्ता बन जाती है, न लड़ने से वह अपने आप मिट जाता है।

श्रोता:– महाराज जी, आप जो यह बात बोलते हैं न! इस बात की आवृत्ति मुझे बहुत बार सुनने को मिलती है। लेकिन दूसरे जो कर रहे हैं, उस पर भी तो विचार करना चाहिए। आप उसे भ्रम क्यों कहते हैं?

स्वामीजी:– हमको भ्रम लगता है, इसलिए भ्रम कहते हैं। कोई पाप नहीं करते। हम झूठ नहीं बोलते, हम धोखा नहीं देते। अब मैं कहता हूँ कि लोग आपकी बात मानलें, मैं अपनी बात वापस कर लेता हूँ।

श्रोता:– अपने अनुभव की बात मैं आपके सामने रख दूँ।

स्वामीजी:– मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आपका अनुभव आपके लिए सत्य है, मेरा अनुभव मेरे लिए सत्य है। आपको अनुभव को लोग मानलें, मेरी बात को न मानें। मुझे कोई ऐतराज नहीं, मुझे कोई आपत्ति नहीं।

श्रोता:– नहीं मानने का तो प्रश्न ही नहीं कहूँ मैं, लेकिन भ्रम....

स्वामीजी:–देखिये महाराज! मुझे तो भ्रम लग रहा है, इसलिए भ्रम कहता हूँ।

श्रोता:– जैसे एक आदमी को बुरे संकल्प हो रहे हैं, तो बुरे संकल्प को मिटाने.....?

स्वामीजी:– महाराज! किसको समझा रहे हैं? मुझको कि इनको?

श्रोता:– नामरूप का वह चिन्तन करें, तो बुरे संकल्प मिटेंगे। उससे वह बुरे संकल्प अपने आप मिटेंगे महाराज जी।

स्वामीजी:– महाराज! किसे समझाते हो? मुझे कि इन लोगों को आप तो समझे हुए हैं ही, मैं मानने वाला हूँ नहीं। (हास्य) मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं कहाँ मना करता हूँ? बिना वजह मुझे क्यों लांछन लगाते हो? मैंने किसको मना किया है कि नामरूप का चिन्तन करना छोड़दो, मैंने तो किसी को मना किया नहीं। श्रद्धेय गोइन्काजी कहते थे कि शरणानन्द का और हमारा 14 आने सिद्धान्त मिलता है, दो आने नहीं मिलना है।' मैंने पूछा–कौनसा नहीं मिलता है?'वह भजन ध्यान की बात नहीं करता।' तो मैंने कहा कि क्या मैं विरोध करता हूँ? 'विरोध तो नहीं करता।' मैं कहता हूँ कि सबका (व्यर्थ चिन्तन) मिट जाय तो मेरा कोई नुकसान नहीं है। पर मेरे तो कान पक गए सुनते-सुनते। क्या आप जानते हैं?–समझ में आती है बात, ठीक मालूम होता है, पर जीवन में नहीं उतरी। चालीस-चालीस वर्ष के सत्संगी यह कहते हैं। तो मुझे जनता जनार्दन की सेवा करना है, ईमानदारी से करना है, और मेरा विरोध है ही नहीं। मैं कोई भगवत्-चिन्तन का विरोधी हूँ? मैं तो भगवत्-चिन्तन का विरोधी नहीं हूँ। मैं न ध्यान का विरोधी न चिन्तन का विरोधी। लेकिन 'होने वाला चिन्तन', 'करने वाले चिन्तन' से मिटता होगा– मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। किसी का मिट जाये, तो मुझे ऐतराज भी नहीं है! मुझे काहे का ऐतराज होगा भैया? भगवान् करे, सबका मिट जायँ। बड़ी सुन्दर बात। मैं तो प्रार्थना करता हूँ, उसमें भी यही कहता हूँ कि विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें। सबका भला चाहता हूँ मैं किसी का बुरा चाहता हूँ क्या? मैं किसी सिद्धान्त का विरोध करता हूँ क्या? आग्रह रखता हूँ क्या? पर मुझसे जो बात पूछो, तो मैं यह जानता हूँ और आपको न जचे तो मत मानो। बिल्कुल मत मानो। सभी बातें तो कोई किसी की मानता भी नहीं है। और सभी की मानी होती तो आज सुनने की जरूरत ही क्या रहती? इतने

दिन होगये सुनते-सुनते अगर मानली गई होती बात तो सुनने की जरूरत ही नहीं रहती।

मेरा नम्र निवेदन इतना ही है, मेरा अनुभव यही है कि 'होने वाला चिन्तन', 'होने वाले चिन्तन' से मिटेगा। वह 'होने वाला चिन्तन' जो होगा, वह 'स्मृति' के रूप में होगा 'प्रियता' के रूप में होगा। और स्मृति जो होगी, वह 'स्व' में उदय होगी। उसके लिए शरीर की आवश्यकता नहीं होगी, करण की अपेक्षा नहीं होगी। अगर यह बात नहीं जची है, तो न मानी जाय। मैं तो आग्रह नहीं करता हूँ। मैं तो कहता हूँ कि आपकी बातों से लोगों का कल्याण हो जाय। सुन्दर बात। मुझे कल्याण अभीष्ट है। मुझे कोई अपना मत तो अभीष्ट है नहीं।

श्रोता:– महाराज! मेरा तो इतना ही निवेदन था.....?

स्वामीजी:– आपको जो निवेदन था वह मेरी समझ में आया नहीं, आयेगा भी नहीं। क्योंकि मैंने बीसियों दफा देख लिया है। आप कहते हैं, आपमें केवल इतना ही नहीं है, आपमें बहुत ताकत है। आपको शान्ति दूसरे ढंग से मिल गई है, इस लिए आपको मालूम है। और यह तो लोगों को जरा कठिन लगता है कि मैं भगतव्-चिन्तन का विरोध करता हूँ– कठिन लगता है सुनने में–मैं भगतव्-स्मृति जगाने का प्रयास करता हूँ, आप चिन्तन करने की बात कहते हैं, इतना ही तो फर्क है। मैं कहता हूँ कि भगवत्-स्मृति जाग्रत होजाय, आपका भला हो जाय जल्दी। अल्प आयु हैं, अल्प सामर्थ्य है, न जाने कब क्या हो जाय! मेरा तो मत है यह। और जिनको दीर्घ काल का भरोसा है, जन्म जन्मान्तर का भरोसा है, वे वैसा करें।

श्रोता:– महाराज! यह स्मृति हमेशा बनी रहेगी?

स्वामीजी:– अरे, स्मृति हमेशा निरन्तर रहती है। उस स्मृति को स्मृति कहते हीं नहीं जो मिट जाय। देखों, 'अभ्यास' मिटता है, होने वाली बात मिटती नहीं है। स्मृति का ही अर्थ बोध है। स्मृति का ही अर्थ प्रेम है। स्मृति का ही अर्थ योग है। और आप देखेंगे भी। साधकों ने, बहुतों ने कहा कि 'मुझे स्मृति प्राप्त हो गई।' मुझे परम विश्राम मिल गया,' यह एक ने नहीं, अनेकों ने कहा है। तो आप तो सीखने वाली बात के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि बनी रहेगी कि नहीं बनी रहेगी? सो तो नहीं बनी रहेगी लेकिन 'होनेवाली' बात तो बनी रहेगी। क्योंकि स्मृति होती है। आत्मीय सम्बन्ध से

स्मृति होती है। निष्कामता से शान्ति मिलती है। निर्ममता से निर्विकारता आती है।

30

'अव्यक्त' जो होता है, यह हमेशा 'व्यक्त' की अपेक्षा सूक्ष्म और विभु होता है।

स्थूल जो पदार्थ होता है, वह देखने में कितना ही बड़ा मालूम हो, वह सूक्ष्म-तत्त्व के किसी एक अंश में रहता है।

अधिकार-लालसा ने ही भोगत्व-भाव को जन्म दिया।

जब तक प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा का रस नहीं आता, तब तक प्रवृत्ति अपने सुख के लिए होती है। जब प्रवृत्ति दूसरों के हित में होने लगती है, तब उसमें सेवा का भाव आता है।

'प्रियतम' किसमें छिपा हुआ है?–प्रीति में।

प्रीति में छिपा हुआ प्रीतम जब प्रकट होता है, तब प्रीति 'सेवा' का रूप धारण करती है और सेवा होकर 'सेव्य' को रस देती है।

(क) जो लेता है और देता है वह है 'असाधक'।

(ख) जो लेना छोड़ता है और देने को तत्पर है वह है 'साधक'।

(ग) जो केवल लेता है वह है 'जड़'।

(घ) और जो लेता नहीं है, केवल देता है वह है 'प्रभु'।

(ङ) जो लेता-देता है उसी को 'जड़-चिट-ग्रन्थी' कहते हैं।

30(अ) हम रस के भोगी है या रस के दाता है।

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

मावन-जीवन साधन युक्त जीवन है। यह बात इस साधन-पक्ष के उद्‌घाटन करते हुये आरदणीय सहाय जी ने बताई। और उसी का अनुवाद करते-करते आज का दिन आ गया।

एक बात प्रत्येक भाई और बहिन को समझना है और वह बात यह है कि क्या कोई ऐसा प्राणी है जिसे रस की माँग न हो? रस की माँग हम सभी को है। इस मूल समस्या पर विचार करने के लिए यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि रस का

उद्गम-स्थान क्या है? और रस का स्वरूप क्या है? रस उस समय तक नहीं प्रतीत होता, जिस समय तक रस की माँग न हो। रस की माँग ही रस का उद्गम-स्थान है। आप कहेंगे कि भाई, रस की माँग तो स्वाभाविक है। किन्तु विचार तो यह करना है कि आप रस-दाता हैं या रस-भोगी? रस के भोग में भी रस है और रस के देने में भी रस है। तो जो रस का भोगी होता है, वह रस के दाता के सदैव अधीन रहता है। और जो रस का दाता होता है, वह सदैव स्वाधीन रहता है।

आप कहेंगे कि जीवन में तो ऐसा देखने में आता है कि दोनों ही परस्पर में भोगी होते हैं और दोनों ही परस्पर में दाता होते हैं। जैसे, दो जब एक-दूसरे को रस देने लगते हैं, तो दोनों ही कभी-कभी यह मान लेते हैं कि मानों हम उस के भोगी भी हैं और रस के दाता भी हैं। परन्तु वास्तव में जब तक यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है कि हम रस के भोगी भी हैं और रस के दाता भी है, तब तक जो रस मिलता है उस रस का नाम ही भोग का रस है। भोग का जो रस होता है उसमें जिससे रस प्रतीत होता है उसका विनाश, और जिसको रस प्रतीत होता है; जो रस का भोक्त होता है उसमें, रस भोगने की शक्ति का ह्रास बना ही रहता है।

आप विचार कीजिये– किसी भाई को अथवा बहन को खूब ही तीव्र भूख लगी हो, और एक दूसरा भाई बड़ा ही सुन्दर, अनुकूल, रुचिकर भोजन लेकर आ जाय। तो जिस समय भूख ओर भोजन का सम्पर्क होता है अथवा थाली सामने आती है, उस समय जो रस होता है, वह भोजन के आरम्भ-काल में नहीं रहता। उस समय बड़े ही निर्विकार रूप से भोजन-रस की माँग है। और जहाँ भोजन आपने आरम्भ कर दिया, तब दो बातों पर दृष्टि गई–एक तो भोग्य वस्तु पर, और उस भोग को देने वाले व्यक्ति पर। कुछ लोग कहने लगते हैं कि 'देखिये, बड़ा ही सुन्दर भोजन बनाया है और यह बड़ा ही सुन्दर भोजन है!' बनाने वाले पर भी दृष्टि जाती है और उस वस्तु पर भी दृष्टि जाती है। और उस समय दोनों ही में सुन्दरता दिखाई देती है।

किन्तु धीरे-धीरे वह रस घटने लगता है, उसकी क्षति होने लगती है। और उसके साथ-साथ रस-भोगने की जो सामर्थ्य थी उसका भी ह्रास होने लगता है। और एक वह स्थिति आ जाती है कि वही भोजन है, वही भोजन

देने वाला है लेकिन अब उसमें रस का भास नहीं। यदि उस समय कोई विशेष आग्रह करें, तो जो यह मालूम होता था आरम्भकाल में कि यह बड़ा ही हमारा अपना प्यारा है, इसने हमको बड़ा ही सुन्दर भोजन दिया है। यदि विशेष आग्रह करे महाराज! तो शत्रु जैसा लगने लगता है। इतना ही नहीं, वह कहे कि नहीं! नहीं!! तुमको भोजन करना ही पड़ेगा और यदि आप भोजन कर लेंगे, तो हम समस्त-विश्व की सम्पत्ति आपको देना चाहते हैं। तब भी आप कहेंगे कि 'क्या करें! अब शक्ति का ह्रास हो गया, अब हम किसी भी प्रकार भोजन कर नहीं सकते। उन्होंने कहा कि देखो, अगर तुम विश्व की सम्पत्ति लेकर भी भोजन नहीं करते हो तो तुमको अभी गोली से मार दिया जायेगा।–'कि भाई देखो, हमारे बस की बात नहीं है। चाहे आप गोली से मारो और चाहे समस्त विश्व की सम्पत्ति दो, अब हम एक ग्रास भी भोजन नहीं कर सकते।' क्यों? 'भोगने की शक्ति का ह्रास हो गया।'

तात्पर्य क्या निकला? कि रस का भोगी और भोग्य-वस्तु इन दोनों के सम्पर्क से जो रस मिलता है, वह रस नित्य नहीं है। उसी को लोगों ने अपनी शास्त्रीय भाषा में कह दिया कि 'अनित्य है अनित्य'। यानी भोगों का रस जो है वह अनित्य है।

उस पर भी कहीं वस्तु का विनाश हो जाय और व्यक्ति का वियोग हो जाय, तब तो सभी को इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि भाई! भोग के रस में शोक है, रोग है, अभाव है।

देखिये, आज जो आप लोग यह प्रश्न करते रहते हैं, कि हमारा विषयों से मन हटता नहीं, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या सचमुच विषयों में रस नहीं है? यदि विषयों में रस का भास न होता, तो मन कभी लगता ही नहीं। लेकिन यदि उस रस में स्थिरता होती, तब मन हटाने का प्रश्न ही नहीं आता। तो यह जो मन के हटाने का प्रश्न आता है जीवन में कि विषयों से मन हटना चाहिये अथवा मन में-से विषय निकल जाना चाहिये– दोनों में थोड़ा-सा भेद तो है। किसी के मन में विषय रहते हैं और किसी का मन विषय में रहता है। तो मन में विषय रहते हों, तो निकल जायँ; और विषयों में मन लगता हो, तो हट जाय।

तो भाई! यह जो हटाने की बात आती है, वह क्यों आती है? रस की क्षति, रस का विनाश और रस-भोगने की शक्ति का ह्रास–यह किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इसलिए यह

प्रश्न पैदा होता है कि यदि मन में विषय-रस है, तो निकल जाय। और यदि विषय में मन लगा है, तो हट जाय। वास्तव में क्या है? यह तो बड़ी विचारणीय बात है। कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जो लोग इन्द्रिय-ज्ञान को अथवा इन्द्रिय के व्यापार को मन के किसी एक अंश में मानते हैं, वे दर्शनकार तो यह कहते हैं कि मन में विषय-रस भर गया, निकाल दो। और जो लोग स्थूल-दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापार को मन के किसी एक अंश में नहीं मानते, अपितु मन को इन्द्रिय के अधीन मानते हैं, वे कहते हैं कि भाई! विषय में मन लग गया, हटालो। यह एक दार्शनिक-दृष्टिकोण से भेद है।

आप कहेंगे कि आपका अपना मत क्या है? जरा विचार करो। और विचार इस बात को लेकर करो कि भाई, अपना तो कोई स्वतन्त्र ऐसा मत नहीं है जो आपका मत न हो। और भगवान् न करे कि कोई किसी के मत का अनुसरण करे। यह बड़ी बुरी बात है। अपने मत के अनुसरण में ही अपना कल्याण है।

तो अगर हम आपसे ही पूछें कि भाई, जिस नेत्र से तुम इतनी बड़ी सृष्टि की आकृति को देखते हो। सारी सृष्टि तो नेत्र से नहीं देखते न! उसकी केवल आकृति देखते हो। और नेत्र आपको बहुत छोटा-सा मालूम होता है और सृष्टि बहुत बड़ी-सी मालूम होती है। लेकिन किसी विज्ञान-वेत्ता से पूछो कि जो चीज देखने में बड़ी मालूम होती हो और जिससे देखी जाती है वह छोटी मालूम होती हो, तो वह छोटी चीज सूक्ष्म है या स्थूल? तो वह तुरन्त कह देगा कि वह सूक्ष्म है। और देखने में आती है वह? कि वह स्थूल है। तो नियम यह है कि सूक्ष्म वस्तु मालूम होता है कि बहुत छोटी है, लेकिन स्थूल की अपेक्षा विभु होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं। जब समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि इन्द्रियाँ विषयों की अपेक्षा विभु हैं। और विषय इन्द्रियों की अपेक्षा सीमित हैं।

यहाँ एक और ध्यान देने की बात है। और वह यह है कि जो लोग 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की उत्पत्ति स्वीकार कर लेते हैं, उनकी समझ में तो यह बात एक दम आयेगी। क्यों समझ में आजायेगी? कि 'अव्यक्त' जो होता है, वह हमेशा 'व्यक्त' की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, विभु होता है। एक बात। दूसरी बात, और जरा ध्यान दीजिये कि

जो लोग 'अव्यक्त' का कार्य 'व्यक्त' मानते हैं, वे भी इस बात को मान लेंगे। क्यों मान लेंगे? इसलिए मान लेंगे, कि 'कार्य' जो होता है, उसमें "कारण" की अपेक्षा गुणों की तो विशेषता होती है, परन्तु सत्ता की पराधीनता होती है। कोई भी 'कार्य' ऐसा नहीं होता, जिसमें 'कारण' की सत्ता न हो। लेकिन कोई भी 'कार्य' ऐसा भी नहीं होता, जो 'कारण' की अपेक्षा कुछ विशेष गुण न रखता हो।

इससे क्या सिद्ध हुआ? इससे यह सिद्ध हुआ कि स्थूल जगत् में जो स्थूलता दिखाई देती है और यह मालूम होती है कि जरा-सी आँख के प्रकाशन ने इतनी बड़ी सृष्टि को देख लिया। सृष्टि बहुत बड़ी है, आँख बहुत छोटी है। यह कार्य के गुण की विशेषता है, सत्ता की नहीं। सत्ता तो रूप में प्रकाश की है। साधारण आदमी सोचते हैं कि प्रकाश इस आँख की गोलक में है। और जैसे-जैसे विज्ञान की ओर अपना प्रवेश होता जाता है वैसे-ही-वैसे कहने लगते हैं कि भाई, प्रकाश तो उस सूर्य का है जरा ध्यान दीजिये, प्रकाश तो उस सूर्य की वस्तु है कि जिस सूर्य के किसी एक अंश में समस्त सृष्टि निवास करती है जिसके आकर्षण से रुकी है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, स्थूल जो पदार्थ होता है, वह देखने में कितना ही बड़ा मालूम हो, किन्तु सूक्ष्म-तत्त्व के किसी एक अंश में रहता है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं। और वे समस्त इन्द्रियाँ मन के किसी एक अंश में हैं। और वह मन बुद्धि के किसी एक अंश में हैं। और वह बुद्धि, बुद्धि के ज्ञाता के किसी एक अंश में हैं।

अब आप जरा सोचिये तो सही कि बुद्धि का ज्ञाता कितना महान् होगा! कितना अनन्त होगा! और कोई सहज भाव से पूछे–क्या आप अपनी बुद्धि को जानते हैं? तो हर भाई कहेगा, हर बहन कहेगी कि–"हाँ, अपनी बुद्धि को जानते है।" और फिर कोई कहदे– "तुम सारी सृष्टि से बहुत बड़े हो।" बोले–पागल हुये हो क्या? अरे, हम एक साधारण व्यक्ति और आप हमसे कहते हैं कि हम सारी सृष्टि से बड़े हैं?

भाई! जरा सोचो तो सही, यह जो तुम कहते हो कि हम साधारण–यह क्या मानकर कहते हो? तब आपको मानना पड़ेगा कि साड़े तीन हाथ का शरीर, जो समस्त विश्व का एक 'नहीं' के समान अंश है महाराज! आप विचार करें। अगर जैसे लोग गणित से हिसाब लगाते हैं कि भाई, अमुक वस्तु

अमुक वस्तु का कौनसा भाग है? इस सृष्टि से अगर आप हिसाब लगाने बैठें तो सृष्टि का एक बहुत-बहुत छोटा भाग हमारा-आपका शरीर मिलेगा, बहुत छोटा भाग। यानी अगर यह कह दिया जाय कि आज के गणित में इतनी सामर्थ्य नहीं कि इसका ठीक निर्णय कर सके कि एक व्यक्ति का शरीर समस्त सृष्टि का कौनसा भाग है? शायद न कहे सके! न कहे सके!!

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, एक ओर तो हमें यह मालूम होता है कि हमारा व्यक्तित्व है, वह सृष्टि के किसी एक अंश मात्र में है। और दूसरी ओर हमें यह मालूम होता है कि समस्त सृष्टि हमारे किसी एक अंश-मात्र में हैं।

आप जरा ध्यान दीजिए और गम्भीरता से विचार कीजिए कि यह जो दार्शनिक दृष्टिकोण है, इस दार्शनिक दृष्टिकोण से हम और आप रस के भोगी हैं या रस के दाता? अब मूल प्रश्न पर आइये। आप और हम अपने को रस का भोगी मानते हैं या रस का दाता? इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ की जो अपनी नीति है, उस नीति के अनुसार तो ऐसा मालूम होता है कि जो व्यक्ति अधिकार-लालसा में फँसा है, वह रस का भोगी हैं। और जो रस का भोगी है वह पराधीन है। और जो पराधीन है, वह जड़ता में आबद्ध है। जो जड़ता के आबद्ध है, उसके जीवन में अनेक प्रकार के अभाव है।

तात्पर्य क्या निकला? तात्पर्य यह निकला कि अब हमें और आपको देखना पड़ेगा, किसको? किसी और को नहीं, अपने व्यक्तिगत जीवन को। और किस दृष्टि से देखना पड़ेगा? इस दृष्टि से देखना पड़ेगा कि हमारे और आपके जीवन में अधिकार लालसा है या नहीं? चाहे वह अधिकार पुत्र का पिता से हो या माता से, चाहे माता और पिता का पुत्र से हो। चाहे पत्नी का पति से हो चाहे भाई का भाई से हो। चाहे व्यक्ति होकर समाज से हो, शरीर होकर विश्व से हो, और जीवन होकर ईश्वर से हो। इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि हमारे जीवन में अधिकार-लालसा है, तो हम भोक्ता हैं, भोक्ता!

और आप जानते हैं कि जो भोगी होता है, वह रोगी अवश्य होता है। यह नियम है। कोई कहे कि हम भोगी हैं और रोगी नहीं हैं। बिल्कुल झूठा। कोई कहे कि हम भोक्ता हैं और भोगने की शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। बिल्कुल झूठा है। जो भोक्ता होगा,

उसकी भोगने की शक्ति का ह्रास होगा।

तो भाई मेरे! विचार अब यह करना है कि क्या हम और आप भोक्ता होकर कर्त्तृत्व के अभिमान से, फल की आसक्ति से रहित हो सकते हैं? नहीं हो सकते। और अगर कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित नहीं हो सकते, तो क्या कर्म और कर्म का फल, और कर्म के संस्कारों से मुक्त हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इस दृष्टि से आप देखिये कि अधिकार-लालसा न ही भोगत्व-भाव को जन्म दिया। और यह अधिकार उत्पन्न कहाँ से होता है? महाराज! यह अधिकार उत्पन्न कहाँ से होता है? यह अधिकार उत्पन्न तब होता है, जब प्राणी इस बात को स्वीकार कर लेता है कि हमारे सुख का कारण कोई भी वस्तु, कोई भी व्यक्ति हो सकता है।

यह बात जब तक मानता रहेगा, तब तक वह अधिकार से मुक्त नहीं हो सकता। आप कहेंगे कि यह मानकर भी लोगों ने अपने-अपने व्यक्तिगत अधिकारों का त्याग किया। लेकिन भीतर से अगर आप देखें, तो अधिकार का त्याग कभी-कभी अधिकार पाने के लिए भी होता है। जैसे, सन् 1921 में हमारे बहुत से साथियों ने सर्विस छोड़ी थीं, पद छोड़े थे, टाइटिल छोड़े थे, वकालतें छोड़ी थीं और कुछ नौजवानों ने अपनी नौजवानी छोड़ी थी। और किसी-किसी ने तो अपने प्राणों का भी त्याग कर दिया महाराज! लेकिन किस लिये? अधिकार पाने के लिये।

तो अधिकार पाने के लिए जो अधिकार का त्याग होता है, वह त्याग अन्त में भोग में ही बदल जाता है। और जो त्याग भोग में बदल जाता है, वह सेवा 'स्वार्थ' में परिणत हो जाती है। और जो सेवा स्वार्थ में परिणत हो जाती है, उस सेवा के आधार पर भेदों की उत्पत्ति हो जाती है। अनेक भेद उत्पन्न हो जाते हैं। और वे जो अनेक भेद है, वे परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं।

एक वह समय था विभिन्न विचार के लोग अपने-अपने अधिकार पाने के लिए एक थे एक। और अधिकार पाते ही कितनी पार्टी बनीं आपके देश में! जरा ध्यान दीजिये। क्या है यह? यह मेरा कोई विषय नहीं है, उदाहरण है। और इस बात के लिए उदाहरण है कि अधिकार पाने के लिये जो अधिकार का त्याग है, वह दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है। क्यों? दर्शन किसे कहते हैं भाई? दर्शन कहते हैं उस सत्य को कि जो बदल न सके। और जो सत्य बदलता है, उसका

नाम दर्शन नहीं है। तो अधिकार पाने के लिए जो अधिकार का त्याग है, वह वास्तव में अधिकार का त्याग नहीं है।

इसी बात को अगर आप जरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखिये, जरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सोचिए, तो जिन प्रणियों ने सत्गति के लिए साधन किया– जरा ध्यान दीजिये– बड़े–बड़े तप किये, बड़े-बड़े त्याग किये, बड़े-बड़े अध्ययन किये। बोले, किसलिये करते हो? बोले, 'जन्म-मरण छूट जाय।' यह अधिकार हो गया न! जन्म-मरण छुटाने का एक अधिकार? तो जिन्होंने अधिकार पाने के लिए प्रभु को उपासना की, सत्य का विचार किया, वे ज्ञानी होकर पुजने लगे। जरा ध्यान दीजिये, वे ज्ञानी होकर पूजन लगे। कोई योगी होकर पुजने लगे। तात्पर्य क्या निकला? वहाँ भी भेद का नाश नहीं हुआ। क्यों नहीं नाश हुआ? कि अधिकार पाने के लिए अधिकार का त्याग किया। बोले, वासना का त्याग क्यों करने गये? बोले, 'चिर-शान्ति के लिये।' तो चिर-शान्ति का भोग करोगे? अगर चिर-शान्ति का भोग करोगे, तो अधिकार पाना हो गया। और जब तक अधिकार पाने का प्रलोभन है, तब तक भाई मेरे! योगी भी भोगी, ज्ञानी भी भोगी, प्रेमी भी भोगी और भोगी भी भोगी। यही नियम है।

इसलिए भाई! जब हम और आप रस के सम्बन्ध में विचार करने लगते हैं, तो हमको यही मालूम होता है कि जो भोगी है उसको वह रस नहीं मिल सकता, कि जिस रस की उसको माँग है।

तो अब हमारे और आपके जीवन में-से भोगी होने की भावना का नाश कैसे हो? उसका सीधा-सादा उपाय है कि अगर आप अपने को शरीर मानते हैं–कल्पना करो थोड़ी देर के लिए, जानता तो कोई नहीं। जानता कोई नहीं कि 'मैं शरीर हूँ। सब जानते हैं कि शरीर मेरा है अथवा मुझसे अलग है। यह हर एक भाई जानता है, हर एक बहन जानती है। लेकिन अपने को शरीर मानकर यदि आप विश्व में अपना कोई अधिकार रखते हैं, तो आपको वह रस नहीं मिलेगा जो मिलना चाहिए। और यदि अपने को शरीर मान कर विश्व के अधिकार में अपने शरीर की आहुति दे देते हैं– जरा ध्यान दीजिये– अपने को शरीर मानकर विश्व के अधिकार में अपनी आहुति दे देते हैं, तब आप भोक्ता नहीं रहते। ऐसे ही अपने को व्यक्ति मानकर समाज के अधिकार में अपनी

आहुति दे देते हैं, अब आप भोगी नहीं रहते। ऐसे ही अपने जीव को मानकर ईश्वर के अधिकार में अपनी आहुति दे देते हैं, तब आप भोगी नहीं रहते। यह है रस की दार्शनिक भित्ति।

क्या? कि भाई आप अपने को चाहे कुछ मानें और चाहे कुछ जानें! जानके अथवा मानके, देखना तो यह है कि आपके द्वारा आपके प्रिय की–जैसे, शरीर होकर प्रत्येक भाई का प्रिय विश्व हो सकता है–जरा ध्यान दीजिये–शरीर होकर प्रत्येक भाई का प्रिय विश्व हो सकता है, तो शरीर बनकर अपने विश्व रूपी प्रेमास्पद के अधिकार की रक्षा में अपने आपको गला ही सकते हो? व्यक्ति होकर समाज रूप में जो आपका प्रेमास्पद है, उसके अधिकार की रक्षा में अपने व्यक्तित्व को गला सकते हो? और भाई! जीव होकर प्रभु के अधिकार में अपने जीवनत्व को गला सकते हो? तो निस्संदेह आप रस के दाता हो जाते हो।

और रस का दाता जो होता है, वह रस का भोक्ता नहीं होता। और जो रस का भोक्ता नहीं होता, उसमें न तो भोगने की शक्ति का ह्रास होता है और न उसकी योग्य-वस्तु का कभी विनाश होता है। क्योंकि रस जो है वहीं एक ऐसी भोग्य वस्तु हैं कि जिसका कभी नाश नहीं होता। वस्तु का जो भोक्ता है वह भोक्ता भी नाश होता है और वह भोग्य वस्तु भी नाश होती है।

लेकिन, सेवा के रूप में प्रीति के रूप में, त्याग के रूप में, क्षमाशीलता के रूप में उदारता के रूप में, जो रस का दाता है–जरा ध्यान दीजिए-क्षमाशीलता से भी दूसरों को रस मिलता है। उदारता से भी दूसरों को रस मिलता है। अक्रोध से भी दूसरों को रस मिलता है। प्रियता से भी दूसरों को रस मिलता है। सेवा से भी दूसरों को रस मिलता है। इस प्रकार का जो रस का दाता है, उस रस-दाता का कभी नाश नहीं होता। और जिस रस दाता का कभी नाश नहीं होता, उस रस के भोगी का भी कभी नाश नहीं होता। क्यों नाश नहीं होता? जरा सोचिये, 'सेवा ओर सेव्य', 'प्रीति और प्रीतम', इन दोनों में जातीय भिन्नता नहीं रहती।

30(ब) मिले हुए का सदुपयोग है।

सेवा किसी और जाति की हो और सेव्य किसी और जाति का हो, प्रीति किसी और जाति की हो और प्रीतम किसी और जाति का हो–यह

कभी हो ही नहीं सकता। जब यह नहीं हो सकता, तब यह जो स्थूल आपका जो जीवन है, वह जीवन क्या हो सकता है? वह जीवन केवल एक साधन का क्षेत्र रह जाता है। कैसे?

विचार कीजिए, जब आप अपने को सेवक मान लेते हैं, तो आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा का रंग आ जाता है, सेवा का प्रभाव आ जाता है। जब सेवा का प्रभाव आ जाता है, तो प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित में होने लगती है, अपने सुख में नहीं। और जब तक हमारी प्रवृत्तियों में सेवा का रस नहीं आता, तब तक प्रत्येक प्रवृत्ति अपने सुख में होती है। और जहाँ अपने सुख में प्रवृत्ति हुई, वहाँ रस-दाता का पद नाश हुआ और रस के भोक्ता हो गये। और जो भोक्ता होगा उसकी शक्ति का तो ह्रास होगा ही, उसमें तो पराधीनता आयेगी ही, उसमें तो जड़ता रहेगी ही।

इसलिए भाई! आपका जो व्यक्तित्व है, आपका जो अस्तित्व है, वह क्या है? सेवा है, प्रीति है। सेवा किस काल में? प्रवृत्ति काल में। प्रीति किस काल में? निवृत्ति काल में। अब आप कहेंगे कि भाई! सेव्य और प्रीतम– क्या–इनमें भी कोई भेद है! भाई, इसमें कोई भेद नहीं है। एक बड़ा भारी भेद यह है कि जब हमारा प्रीतम सेव्य होता है, तब वह व्यक्त हो जाता है, प्रकट होजाता है, उसका प्रादुर्भाव होजाता है। वही प्रीतम जब सेव्य होगा तब व्यक्त रूप में होगा, प्रकटरूप में होगा। जिसको किसी ने जगत् के नाम से कहा, किसी ने माया-मात्र के नाम से कहा, किसी ने प्रतीति मात्र कहा और किसी ने लीला शब्द से उसका वर्णन किया।

तो भाई, हमारा सेव्य क्या है? वही प्रीतम जो कि छिपा हुआ है। किसमें? जरा ध्यान दीजिये, प्रीतम किसमें छिपा हुआ है? प्रीति में। बाहर नहीं, प्रीतम प्रीति में छिपा है। तो प्रीति में छिपा हुआ प्रीतम जब प्रकट होता है, तब प्रीति सेवा का रूप धारण करती है, और सेवा होकर सेव्य को रस देती है। और जब प्रीतम अपने प्रकटरूप को अपने में विलीन करता है, तब सेवा प्रीति होती है। और प्रीति होकर प्रीतम को रस देती है।

अब भाई, सच बात तो यह है कि जब प्रीति होकर प्रीतम को रस देती है सेवा, तब प्रीतम जो है उस प्रीति का भोगी होता है। जैसे सेव्य सेवा का भोगी है, ऐसे ही प्रीतम प्रीति का भोगी है। जब प्रीतम प्रीति का भोगी होता है, तब यह पता चलना बड़ा कठिन

होजाता है कि कौन प्रीति है और कौन प्रीतम! तो जहाँ प्रीति और प्रीतम के भेद का पता नहीं चलता, वहीं लोग चुप होते हैं। और चुप होकर वह रस कि जिसमें कभी क्षति नहीं, और वह रस का भोक्ता कि जिसमें शक्ति का कभी ह्रास नहीं। तो दशा क्या होती है?

कल्पना करो–किसी को ऐसी प्यास लगी हो, जो कभी बुझे नहीं, और ऐसा जल मिल जाय तो कभी घटे नहीं और ऐसा पेट हो जाए जो कभी भरे नहीं तब आप क्या कहेंगे? तब आपको कहना पड़ेगा कि प्रत्येक घूँट पर एक नया रस है। क्या नया रस है? कि प्यास बुझती नहीं, पेट भरता नहीं जल घटता नहीं। यही वास्तव में अगाध रस है, अनन्त रस है, नित्य रस है। और वह रस मानव-मात्र को प्राप्त हो सकता है। कब हो सकता है?

इसी बात को यदि हम लोग अपनी बोल-चाल की सीधी-साधी भाषा में कहें, तो कहेंगे भैया, अपने अधिकार का त्याग करो। बोले, इससे क्या होगा? कि इससे होगा यह कि साधक की सूची में आपका नाम लिखा जायेगा। बोले, हम तो यह नहीं कर सकते। अगर आप यह नहीं कर सकते, तो सरकार! साधक तो नहीं हो सकते, चाहे आप ब्रह्म भले ही हो जायँ, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं कि आप ब्रह्म नहीं है। सचमुच आप ब्रह्म हैं, पर साधक नहीं हो सकते। और मानव सेवा संघ का जो दृष्टिकोण है, वह साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का है।

आप कहेंगे–ऐसा क्यों? भाई देखो, ब्रह्म में तो साधन का प्रश्न हो नहीं सकता, जगत् में साधन का प्रश्न हो नहीं सकता। जरा सोचिये, जगत् में कोई साधन का प्रश्न होता है? ब्रह्म में कोई साधन का प्रश्न होता है? साधन का प्रश्न साधक में होता है। और साधक होता है मानव। जरा ध्यान दीजिए, साधक होता है मानव, कोई और साधक बनने नहीं आता।

तो हम और आप मानव सेवा संघ के दृष्टिकोण से जब देखते हैं तो हम सबको साधक होना है। और साधक होने के लिए, सबसे पहली बात हमें और आपको स्वीकार ही करनी पड़ेगी। और वह यह बात है कि भाई, हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। क्यों? लेने के लिए यदि हमारा जीवन होता, तो मानव जीवन नहीं होता महाराज! तो क्या होता?

पशु जीवन होता। क्योंकि पशु जीवन में लेने की बात है। आप कहते हैं कि पशुओं से तो लाभ होता

है, वृक्षों से तो बहुत लाभ होता है। तो वृक्षों से जो बहुत लाभ होता है, वह तो लाभ लेने वाला ले लेता है, वह बेचारा देता थोड़े ही है। वह थोड़े ही कहता है कि हम इसलिये उगे हैं कि हम तुमको छाया देंगे, कि हम तुमको फल देंगे, कि सूखने पर लकड़ी देंगे। ऐसा बेचारा अगर वृक्ष कहता है, तब तो यह मानना चाहिये कि वह सृष्टि नहीं है, वह वृक्ष नहीं है, वह तो प्रभु हैं। क्योंकि जो नहीं लेता और देता है, वह प्रभु का स्वभाव है। जरा ध्यान दीजिए, जो देता है और लेता नहीं वह प्रभु का स्वभाव। और जो देता है और लेता है ये दोनों बातें हैं–यह असाधक का स्वभाव है। और जो देने के लिए तत्पर है और लेना छोड़ता है–यह साधक का स्वभाव। और जो केवल लेता है–यह जड़ता।

जड़ता और कुछ नहीं है। चाहे वह जड़ता आप वृक्ष में आरोप करें, चाहे आप पशु-पक्षी में आरोप करें, और चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन में आरोप करें। जो केवल लेता ही लेता है, उसी का नाम जड़ है। जड़ और किसी का नाम नहीं है। चाहे कोई मनुष्य की आकृति में हो और कहे कि हमारा जीवन तो लेने ही के लिए हुआ है। तो भाई! जड़ की इससे ऊँची और कोई परिभाषा ही नहीं है। जड़ वह, जो केवल लेता ही लेता है। और जो लेता-देता है, उसी को जड़-चिद्-ग्रन्थि कहते हैं। जरा ध्यान दीजिए, जो कभी लेने की सोचता है कभी देने की, यहीं जड़-चिद्-ग्रन्थि है। और जो केवल देता है, उस श्रेणी में दो ही का नाम आता है या तो प्रेमी का या प्रेमास्पद का और किसी का नहीं।

इसलिए भाई! अब विचार यह करना है कि क्या आप और हम साधक नहीं हैं? यदि हम और आप साधक हैं, तो हमारे और आपके जीवन में जो लेने और देने दोनों की बात है, कभी लेने की सोचते हैं, कभी देने की सोचते हैं, उनमें-से एक बात निकाल देनी पड़ेगी। कौन सी? लेने की बात, लेने की बात निकाल देनी पड़ेगी। तो जब हम अपने जीवन में-से लेने की बात निकाल देते हैं, सच पूछिये, उसी समय जड़ता से मुक्त होते हैं।

जरा ध्यान दीजिए, जिसे कुछ नहीं चाहिए, क्या उसका शरीर से सम्बन्ध रह सकता है? विचार तो करो। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रह सकता। क्योंकि शरीर से तद्रूपता कामनापूर्ति के लिए अपेक्षित है, कामना निवृत्ति के लिए नहीं। लोगों ने तो यहाँ तक कह दिया आवेश में आकर, भावावेश में आकर–

अरे, भाई शरीर जो है, यह साधन का क्षेत्र है। ऐसा प्रायः कहते हैं न? तो वह शरीर जो साधन का क्षेत्र है, वह इसी अंश में कि आप इस मानव-जीवन में लेना बन्द कर सकते हैं। तो भाई, जब हम कुछ नहीं लेना चाहते हैं, तब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता।

और जब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, तब योग हो जाता है। देखिये, योग शरीर के नाश करने से नहीं होता। जरा ध्यान दीजिए। और योग शरीर को बनाए रखने से भी नहीं होता। आप कितना पुष्ट शरीर बना लीजिये, उससे कोई योग हो जाय, यह कोई जरूरी नहीं है। और आप शरीर का नाश कर दीजिए, उससे कोई योग हो जाय, यह सम्भव नहीं है।

योग कब होता है? कि जब आपका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। और शरीर से सम्बन्ध तोड़ने के दो उपाय हैं, बड़े सुगम दो उपाय। एक उपाय तो यह है कि भाई हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। अपने अधिकार का जो त्याग है, यह भी शरीर से सम्बन्ध तोड़ने का एक उपाय है। और दूसरा– निज-विवेक का आदर। कहेंगे, कैसे?

भाई, पता तो लगाओ कि हम क्या हैं? यह जब पता लगाओगे, तो अगर आपने यह मान लिया कि हम जीव हैं, तो यह आपका ज्ञान नहीं है। यह आपका विश्वास हो सकता है। अगर आपने यह मान लिया कि हम ब्रह्म हैं, तो यह भी आपका ज्ञान नहीं हो सकता, विश्वास होसकता है। इसका अर्थ कोई भाई-बहन यह न समझ बैठें कि मैं किसी के विश्वास को झूठ मानता हूँ, मैं विश्वास को झूठ नहीं मानता। किन्तु विश्वास को विश्वास मानता हूँ, ज्ञान नहीं मानता। बस, इतना ही अन्तर है। मैं यह नहीं मानता कि जो अपने को जीव मानता है, उसका विश्वास झूठ है। या जो अपने को ब्रह्म मानता है, उसका विश्वास झूठ है–ऐसा मैं नहीं मानता, लेकिन उसको मैं ज्ञान नहीं मानता, उसको विश्वास मानता हूँ।

तो ज्ञान आपको क्या है? आपको केवल इतना ज्ञान है कि "यह" काम "मैं" नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, "यह" का नाम "मैं" नहीं हैं। "स्वीकृति" का नाम "में" नहीं है। तो भाई, "स्वीकृति" क्या है? कि "स्वीकृति" जो साधनरूप है, वह तो कर्त्तव्य की प्रतीक है। और जो असाधनरूप स्वीकृति है, वह अकर्त्तव्य की प्रतीक है।

स्वीकृति के दो भाग होते हैं न? साधनरूप स्वीकृति कर्त्तव्य की

प्रतीक है। और "कर्त्तव्य" माने क्या है? कर्त्तव्य क्या है? दूसरे का अधिकार। कर्त्तव्य का अर्थ ही है–दूसरे का अधिकार। और "अकर्त्तव्य" क्या है? अधिकार-लालसा। अधिकार-लालसा अकर्त्तव्य का वह बीज है, जिसमें-से समस्त अकर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं। लेकिन आज अधिकार माँगने को विकास का साधन बताया जाता है। अगर अधिकार माँगना विकास का साधन है, तो ह्रास क्या है भैया? यदि अधिकार माँगने ही का नाम चेतना है, तो जड़ता क्या है? यदि अधिकार माँगने का नाम पूर्णता है, तो अपूर्णता क्या है? जरा ध्यान दीजिये।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई! ज्ञान आपको इसी बात का होता है कि "यह" का नाम "मैं" नहीं है। और दूसरा आपका ज्ञान यह है कि "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। न "स्वीकृति" का नाम "मैं" है, न "यह" का नाम "मैं" है। तो यह तो हुआ आपका ज्ञान। और इस ज्ञान का प्रभाव क्या होगा? इस ज्ञान का प्रभाव होगा–अधिकार का त्याग।

यह जो अधिकार-त्याग की बात आपसे मैं निवेदन करता हूँ, बिना दार्शनिक-भित्ति के नहीं करता हूँ। यह दार्शनिक-भित्ति है इस बात की कि जब "यह" का नाम "मैं" नहीं हे, तो बताओ, आपका क्या अधिकार हैं? किसी बहन से पूछो, किसी भाई से पूछो कि शरीर से अलग जानकर क्या आपको साड़ी चाहिए? आपको जेवर चाहिए? आपको पुत्र चाहिए आपको पति चाहिए? आपको बन्धु चाहिए? अगर ईमानदार बहन है, तो नहीं चाहिए। किसी पुरुष से पूछो कि भाई, शरीर से अलग जानकर क्या आपको पत्नी चाहिए? भगिनी चाहिए? पुत्री चाहिए? अगर ईमानदार पुरुष है, तो कहेगा–नहीं चाहिए।

तात्पर्य क्या? जिस समय आप अपने विवेक का आदर करते हैं और इतने ही अंश में जितने अंश में आप जानते हैं। "मैं जीव हूँ"–यह आप जानते नहीं, मानते हैं। "मैं ब्रह्म हूँ"–यह आप जानते नहीं, मानते हैं। "मैं शिव हूँ"–यह आप जानते नहीं, मानते हैं। तो भाई! मानने की बात तो पीछे कभी करेंगे, लेकिन जानने के आधार पर कोई भाई, कोई बहन यह कह ही नहीं सकते कि "मैं क्या हूँ"? बस, यही कह सकते हैं कि "यह" नहीं हूँ। निषेधात्मक ज्ञान है आपको अपने सम्बन्ध में, और प्रतीत्यात्मक ज्ञान है आपको जगत् के सम्बन्ध में। जरा ध्यान दीजिए। जगत् के सम्बन्ध में

आपका प्रतीत्यात्मक ज्ञान है, यानी प्रतीति है जगत् की, ज्ञान जगत् का भी नहीं है। और अपने सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञान है कि "यह" का नाम "मैं" नहीं है। "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है।

तो निषेधात्मक आप अपने सम्बन्ध में जानते हैं, और प्रतीत्यात्मक आप जगत् के सम्बन्ध में जानते हैं। तभी तो लोग कह देते हैं विचारशील कि हम कुछ नहीं जानते हैं–यही जानते है। यह जो बात कहते हैं वह असल पूछो तो उसका मूल यही है कि जगत् की प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। और जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसका ज्ञान कैसा? तो है क्या?

प्रतीति के आधार पर प्रवृति है। अब वह जो प्रवृत्ति है, उसके हैं दो रूप–अपने सुख के लिए या दूसरों के हित के लिए। अगर अपने सुख के लिए प्रवृत्ति है, तो जड़ता। और दूसरों के हित के लिए प्रवृत्ति है, चिन्मयता। तो कहने का तात्पर्य यह था कि प्रवृत्ति काल में वही "मैं" जिसके सम्बन्ध में आपने निषेधात्मक निर्णय किया था, और यह कहा था कि भाई "यह" का नाम "मैं" नहीं है, "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। वह "मैं" एक भाव शरीर में!

यहाँ जरा थोड़ी गम्भीर बात आयेगी। भाव शरीर किसे कहते हैं? जिसमें आकृति पीछे हो और भाव पहले हो–अरे, यह कौन हैं? यह लाला है लाला। अरे, यह कौन है? बोले, यह तो लाली है लाली। क्या माथे में लिखा है? क्या इसके माथे पर लिखा है कि लाली है? क्या इसके माथे पर लिखा है कि लाला है? एक बार हमारे यहाँ शुद्धबोध माताजी के पास एक बड़े अच्छे पढ़े-लिखे साधक आये, इन्कम टैक्स आफिसर थे। वे शुद्धबोध माताजी से पूछने लगे–माता जी! क्या आपको यह नहीं मालूम होता कि मैं स्त्री हूँ? तो माताजी बेचारी पढ़ी लिखी बिल्कुल नहीं। कहने लगीं–भैया मेरे! क्या तुम्हारे शरीर में आधा शरीर स्त्री का नहीं है? अब चुप। वे समझते थे कि शायद ये ज्ञान-ध्यान छाटेंगी। वे बेचारी ज्ञान-ध्यान क्या जानें!

उन्होंने कहा भैया! यह बताओ, तुम्हारे शरीर में आधा शरीर स्त्री का नहीं है? तो कौन पुरुष यह दम भरता है कि मैं पुरुष हूँ? वह क्या आधा नारी नहीं है? और कौन नारी कहती है कि मैं नारी हूँ? क्या वह आधी पुरुष नहीं है? लेकिन क्या? प्रतीति के आधार पर भाव! जो प्रतीति के आधार

पर भाव बनता हैं, उसी को जगत् कहते हैं। जगत् और कुछ नहीं है।

और भाई, और आगे चलो भीतर। जब भीतर की ओर चलते हैं तब? बोले, भाव पहले और आकृति पीछे। यहाँ आकृति पहले और भाव पीछे।

तो जहाँ भाव पहले होता है। कौनसा भाव? मैं सेवा हूँ। आरे भाई, पुरुष वर्ग ने कह दिया–सेवक हूँ। सेवक क्या? सेवक माने वह बिन्दु जो बिखरे तो सेवा हो जाय। जरा ध्यान दीजिये। सेवक माने वह बिन्दु जो बिखरे तो सेवा हो जाय। किसी नारी-शरीर ने कहा–मैं सेविका। अरे, सेविका माने क्या? जो बिखरे, तो सेवा होजाय। जरा ध्यान दीजिये। तो सेवक होकर भी सेवक का अस्तित्व सेवा होकर विभु होता है। और सेविका होकर भी सेविका का अस्तित्व सेवा होकर विभु होता है।

अब भाई, सेवा क्या है? सेवा का विवेकात्मक जो रूप है, वह है अधिकार-त्याग। और सेवा का जो भावात्मक रूप है, वह है–प्रियता। और सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वह है–मिले हुए का सदुपयोग। जरा ध्यान दीजिये। सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वही आज के बुद्धिमान मानव का कर्त्तव्य है। लेकिन है वह सेवा का क्रियात्मक रूप।

आप कहेंगे कि सेवा का जो भावात्मक रूप आपने प्रियता बताया, तो प्रियता क्या है? जरा ध्यान दीजिये। जिसमें हमारी-आपकी प्रियता होती है, न तो हम-आप उसे बुरा समझते हैं, न हम और आप उसका बुरा चाहते हैं, और न हम और आप उसके साथ बुराई करने की सोचते हैं। तो जब जीवन बुराई करने की सोचना भी बंद हो जाय और बुरा चाहना भी बन्द हो जाय, और बुरा समझना भी बन्द हो जाय, तब समझना चाहिए कि सेवा का जो भावात्मक रूप था, वह सिद्ध हुआ। और सेवा का विवेकात्मक रूप? बोले, हमको कुछ नहीं चाहिये। हमको कुछ नहीं चाहिये। क्यों भाई? क्यों कुछ नहीं चाहिये। यह सेवा का विवेकात्मक रूप है। तो जो सेवा का विवेकात्मक रूप है, उससे असंगता प्राप्त होती है। और सेवा का जो भावात्मक रूप है, उससे उत्तरोत्तर प्रियता की वृद्धि होती हैं। और सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, उससे संग्रह का नाश होता है, ममता का नाश होता है।

अगर हमारे जीवन में क्रियात्मक रूप से सेवा आ जाय तो न ममता रह सकती है, न संग्रह रह

सकता है। और जहाँ ममता और संग्रह नहीं हैं, वहाँ संघर्ष हो ही नहीं सकता। जितने संघर्ष होते हैं सरकार! वे होते हैं संग्रह में, ममता में। इसलिए आज स्थूल दृष्टि से हमारा दर्शन क्या हो जाता है?? हमारे रस का क्षेत्र क्या हो जाता है? बहुत बड़ी बात कहेंगे तो यह कहेंगे कि मिले हुए का सदुपयोग करो। यह भी मालूम है कि अंश में? अपनी जरूरत से ज्यादा हो, तब। आज की सेवा का अर्थ क्या?

बोले, आप कौन हैं साहब? हम मजदूर दल के लीडर हैं। बहुत सुन्दर बात। चलते हैं पैदल कि मोटर में? कि चलते तो हैं मोटर में। बात पत्र से करते हैं कि टेलीफोन से? कि बात तो करते हैं टेलीफोन से। और जाते कब हैं? बुलाने पर और बोले, स्वागत कराने पर। देते क्या हैं? कि खाली व्याख्यान। लेते क्या है? मजदूरों की कमाई। ध्यान दीजिये, यह सेवा का क्रियात्मक रूप नहीं है।

और आप कौन हैं साहब? हम हैं साहब! मिल ओनर! बोले, करते क्या हैं? कि आपको नहीं मालूम है? हमने अपनी फैक्ट्री में एक स्कूल खोल रखा है। अच्छी बात है। भाई, ईमानदारी से बताओ कि जितनी सम्पत्ति आपने अपने एक लड़के के लिए रखी है, उसका कितना छोटा भाग स्कूल में लगाया है? सो तो महाराज! ईमानदारी की बात यह है कि बहुत थोड़ा लगाया है। और किया क्या है?

लगाई के नाम अलग फर्म है और लड़के के लिए अलग हैं और साले के लिए अलग है और बहनोई के नाम अलग है और दामाद के नाम अलग है। और मालिक? कि मालिक तो महाराज! हमीं हैं। यह क्या है? जरा सोचो। यह हमारी वह ईमानदारी कि जिसको लोग बेईमानी नहीं कहते। जरा सोचिये। लेकिन है क्या? है वह बेईमानी कि जिससे बढ़कर और कोई बेईमानी हो ही नहीं सकती। जरा ध्यान दीजिये।

तो कहने का मेरा मतलब यह था कि आज सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वह कितना दूषित हो गया है! कि सेवा के नाम क्रियात्मक रूप में भी अधिकार-लालसा ज्यों-की-त्यों। और वही हमने सिखाई।

इसलिए भाई, आज का जो मौलिक प्रश्न है, वह यह है कि हमारे और आपके जीवन में जो रस की माँग है, वह रस की माँग पूरी नहीं हो सकती अधिकार माँगने से। इसलिये व्यक्तिगत दृष्टि से हम सबको इस बात

का विचार करना पड़ेगा कि क्रियात्मक रूप जो सेवा है, उसी का नाम कर्त्तव्य-परायणता है। और कर्त्तव्य का अर्थ ही है–दूसरे के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। इसलिए आज अगर हमको-आपको सचमुच रस प्राप्त करना है, तो प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने सेव्य की सेवा होकर रहना है प्रत्येक प्रवृत्ति में। बोले, सेव्य कौन है? जो प्रकट है। उस जाने हुए में जब आपकी निष्ठा नहीं रहती, उस जाने हुए में जब आपकी प्रियता नहीं रहती, तो जाने हुए में प्रियता न होना अथवा जाने हुए का प्रभाव न होना अथवा जाने हुए का आदर न करना–इन सबका एक ही अर्थ है।

वैसे तो प्रत्येक शब्द के अर्थ में आंशिक भेद रहता है। और वह आंशिक भेद इसलिए नहीं रहता कि अर्थ बदलता है। वह आंशिक भेद इसलिए रहता है कि किसी साधक को किसी प्रकार से समझ में बात आती है और किसी साधक को किसी प्रकार से समझ में बात आती है। क्योंकि समझने का जो प्रकार है, वह प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग है। और यही एक कारण है कि आज हम लोग जो इस बात का प्रयास करते हैं कि जो हम करते हैं, वही दूसरे लोग करें। जो हम मानते हैं, उसी बात को दूसरे मानें। यह जो हमारा-आपका आग्रह हो जाता है और खास तौर से सुधारकों का। इस आग्रह ने एक ऐसे स्थायी भेद को जन्म दिया है, एक ऐसे स्थायी संघर्ष को जन्म दिया है कि दो व्यक्ति ईमानदारी से एक दूसरे के साथ प्रेम नहीं कर पाते।

क्यों? प्रेम में क्या बाधा होती है? अजी, यह कौन है साबह? ये तो मुसलमान है। भाई, मुसलमान किसे कहते हैं? कि जो कलमा पढ़ता हो। तो भाई, कलमा का अर्थ क्याहै? कि भाई, कलमा का अर्थ तो यह है कि सिवाय खुदा के कुछ और है नहीं। बात ठीक! और कलमा किस भाषा में है? कि एक अरबी भाषा कहलाती है, बोले, उसमें वह कहा गया है। तो किसने कहा है? कि एक खुदा का दोस्त था और उसको इलहाम हुआ और उसने बताया है। बात ठीक है। लेकिन उसका अर्थ क्या है! बोले, उसका अर्थ तो यह है कि सिवाय खुदा के कोई और है नहीं, बात बडी सुन्दर है। जब सिवाय खुदा के कोई और है नहीं, तो समझ में नहीं आता कि आप उपदेश करने किसे जा रहे हैं? आप किसे कह रहे हैं कि आप कलमा पढ़िये? क्या

आप खुदा से कह रहे हैं कि कलमा पढ़िये? जरा ध्यान दीजिये।

इसी प्रकार कोई हिन्दु महोदय हों, वे कहेंगे–वाह! सर्व खल्विदं, ब्रह्मम् ब्रह्म से भिन्न तो कुछ हुआ ही नहीं। तो भाई, ब्रह्म से भिन्न तो कभी कुछ हुआ ही नहीं, तो फिर यह आप सिखाने किसको जा रहे हैं? यह किसको आप पाठ पढ़ा रहे हैं?

तो इन बातों का उत्तर आप किसी के पास है नहीं। तो करते क्या हैं लोग? कि इन प्रश्नों को ही गलत कर देते हैं। उसी प्रकार जब मैं यह कहता हूँ कि आप लोग विवेक का आदर कीजिये, तब भी यही लांछन लग सकता है कि भाई, विवेक का अनादर किया किसने? आप किसको कहते हैं कि विवेक का आदर कीजिये? तो मानव सेवा संघ की नीति में तो आदेश और उपदेश अपने को दिया जाता है।

31

विचारणीय बात यह है कि यदि संकल्प–पूर्ति काल में अपना अस्तित्व रह सकता है, तो संकल्प-निवृत्ति काल में भी अपना अस्तित्व रहेगा। अतः संकल्प-निवृत्ति को आदर देना बड़े महत्त्व की बात है।

जो भोगी है, वही कर्त्ता है। न तो शरीर कर्त्ता, न इन्द्रिय कर्त्ता, न मन कर्त्ता, न बुद्धि कर्त्ता।

अपने अधिकार माँगने का नाम 'पाप' रखलो और दूसरों के अधिकार की रक्षा का नाम 'पुण्य' रख लो।

जो जीवन है उसमें भेद नहीं है। जिसमें अपने को कुछ मान कर सन्तोष किया उसकी का नाम हो जाता है दार्शनिक भेद है।

(क) यह दार्शनिक भेद साधन हुआ।

(ख) जहाँ समस्त दार्शनिक भेद मिट कर एक होते हैं, वह साधन-तत्त्व हुआ।

(ग) और जो जीवन है, वह 'साध्य' है।

"है" मैं विशेष प्रियता, "है" में विशेष निष्ठ एवं "है" से अभिन्नता–यह साधन-तत्त्व है।

31(अ) सांप्रदायिक भेद बुरा नहीं है – प्रीतका भेद बुरा है।

इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर जब कर्त्ता संकल्प-पूर्ति के सुख को भोगना चाहता है, तब उसकी कर्म में प्रवृत्ति होती है। और जब कर्म में प्रवृत्ति होती है, जब यह प्रश्न पैदा होता है कि हमने भला काम किया या बुरा काम किया। आप विचार करके देखें कि यदि संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन हमको अभीष्ट न रहे–कल्पना करो कि हम इस बात का निर्णय कर लें कि भाई, हमें संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नहीं करना है। आप सच मानिये, चाहे आप अनन्त जन्मों के विकार मानें, चाहे आप इस जन्म के विकार मानें, जो साधक संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर देता है, उस साधक में कभी-भी अकर्त्तव्य का जन्म नहीं होता। तो अकर्त्तव्य का बीज क्या है? अकर्त्तव्य का बीज है–संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग।

अब कोई यह कहे कि भला, प्राणी संकल्प-पूर्ति के बिना रह ही कैसे सकता है! तो अगर हम आपसे यह पूछे कि भला, प्राणी के क्या सभी संकल्प पूरे हो सकते हैं? यो यह बात भी आपको माननी पड़ती है कि सभी संकल्प पूरे नहीं होते। तो जिस समय आपका संकल्प पूरा नहीं होता, क्या उस समय आपका अस्तित्व नहीं रहा? यदि उस समय अस्तित्व रहता है, तो हमें इससे बड़ा प्रकाश मिलता है। और वह प्रकाश यह मिलता है कि यदि संकल्प-पूर्ति में अपना अस्तित्व रह सकता है, तो संकल्प-निवृत्ति में भी अपना अस्तित्व रह सकता है। अगर हम संकल्प निवृत्ति को आदर देने लगें, संकल्प-निवृत्ति का महत्त्व अपनालें, तो संकल्प-अपूर्ति का जो दुःख था, वह अपने आप मिट जाता है। और जब संकल्प-अपूर्ति का का दुःख मिट जाता है, तब संकल्प-पूर्ति के सुख का कोई महत्त्व ही नहीं रहता।

तात्पर्य क्या निकला? कि जब संकल्प-पूर्ति के सुख का महत्त्व नहीं रहता, तब अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होता।

अब लोग सन्देह करते हैं कि हाय! हाय!! यह कैसी निर्दोषता है, जो जरा-सी असावधानी से दोष में बदल जाती है! नहीं-नहीं भाई, निर्दोषता कभी दोष में नहीं बदलती तो दोष में कौन बदलता है? कि जो आंशिक निर्दोष और आंशिक दोषी है।

देखिये, जरा ध्यान दीजिये! दोष "यह" मैं नहीं है, दोष "है" में नहीं है। "है" में दोष हो नहीं सकता, क्योंकि

"है" कहते ही उसका हैं, जो अविनाशी हो। और जो अविनाशी होता है, उसमें विकार नहीं होता। यह नियम है। और जिसमें विकार नहीं होता, उसमें दोष आयेगा कहाँ से?

और 'यह' कहते किसको है? कि जो विनाशी हो। जरा ध्यान दीजिये। विनाशी बेचारे में दोष रहेगा कहाँ से! विनाशी ही एक इतना बड़ा दोष है कि जो और सभी दोषों में आ ही नहीं सकता।

तो विनाशी में दोष नहीं, अविनाशी में दोष नहीं। जरा ध्यान दीजिये। जिसका नाश हो रहा है, उसमें कर्त्तव्य नहीं होता और जो अविनाशी है, उसमें भी कर्त्तृत्व नहीं होता। यहाँ जरा दर्शन की बात आ गई। जो विचारक हैं, उन्हें तो रस मिलेगा। और भोले-भाले बेचारे कहेंगे कि यह क्या बक रहा है! जरा ध्यान दीजिये। जो अविनाशी है, उसमें कर्त्तृत्व हो नहीं सकता क्योंकि उसे कुछ चाहिये नहीं। और जो विनाशी है, उसमें कर्त्तृत्व हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें चेतना नहीं है। जिसमें चेतना नहीं है उसमें कर्त्तृत्व नहीं। और जो स्वभाव से ही चैतन्य है, उसमें कर्त्तृत्व नहीं।

तो कर्त्तृत्व है किसमें? मानना पड़ेगा कि उसमें, जो न अविनाशी है और न नाशवान! आप कहेंगे, कि बड़े आश्चर्य की बात है, कहते हैं कि अविनाशी भी नहीं है, और है, और नाशवान भी नहीं है, और है। यही तो आश्चर्य है। और इसी आश्चर्य को हल करने के लिए आपको और हमें यह सोचना पड़ेगा कि बताओ, संकल्प का उद्गम स्थान क्या है!

संकल्प किसमें उत्पन्न होता है? जो आजकल के सस्ते छापे खाने में पढ़ कर लोग कहते हैं कि मन में होता है! अरे भाई! मन में संकल्प? कोई मन कर्त्ता है? कोई कहदे कि फाउण्टेनपैन में लिखने का संकल्प है। आप कहेंगे कि पागल हो गया! भला, कलम में भी लिखने का संकल्प होता है? बहुत ठीक। तो फिर मन में कैसे लिखने का संकल्प हो जायेगा?

मन भी तो कारण है। तो मन में संकल्प करने की सामर्थ्य नहीं है। जरा ध्यान दीजिये। मन संकल्प का कर्त्ता नहीं है। मन कर्त्ता की रुचि-पूर्ति के लिये संकल्प के रूप में परिणत होता है। जरा ध्यान दीजिये। साधारण व्यक्ति कहते हैं कि मन में संकल्प होता है। मन में संकल्प नहीं होता। मन और संकल्प, ये दोनों अभेद हैं

'अभेद'। लेकिन इस रहस्य को आप जान क्यों नहीं पाते? इसलिये नहीं जान पाते कि आंशिक संकल्प आपके पूरे होते रहते हैं, कुछ बिना पूरे हुए रहते हैं।

इसलिये पूर्ति-अपूर्ति का जो द्वन्द्व है, इस कारण आप कभी-भी संकल्प और मन का विभाजन देख नहीं पाते। और जब संकल्प और मन का विभाजन नहीं देख पाते, तो हार मान कर आप कहने लगते हैं, कि मन में संकल्प उठते हैं। अच्छा भाई, मन में संकल्प उठें और दुःखी आप हों! जैसे कोई कहे कि मोटर चल रही है, लेकिन परेशान हम हैं। अजीब आदमी हो, चल रही है मोटर और परेशान हैं आप!

इससे भाई, यह सिद्ध होता है कि हम लोग ज्ञान के सम्बन्ध में भी सीखी हुई बातों को अमल में लाते हैं। तो जब तक जिज्ञासु सुनी हुई और सीखी हुई बात को अमल में लायेगा, तब तक यह सिखाने वाला ज्ञानी तो हो जायेगा, पर उसे ज्ञान नहीं होगा। इसलिये कभी-कभी मैं विनोद में कहता हूँ कि पढ़ने से ज्ञान नहीं होता। लोग इसको विनोद समझकर टाल भी देते हैं, और कोई-कोई जो पण्डित होते हैं, जो सचमुच पण्डित होते हैं, वे इस बात को मान भी लेते हैं।

क्यों? जरा सोचिये। ज्ञान का प्रकाश विवेक में अवतरित हुआ। विवेक से बुद्धि में आया। बुद्धि ने उसको संकल्प का रूप देकर मन के स्तर पर कर दिया। और मन ने इन्द्रियों के स्तर पर लाकर के दो भागों में बाँट दिया–एक क्रिया रूप में, एक ज्ञान रूप में।

अगर आँख देखती है, तो पैर चलता है। अब आँख ने देखा कि अमुक वस्तु वहाँ पड़ी हैं। लेकिन आँख में यह सामर्थ्य नहीं है कि उस वस्तु को उठाले, तब पैर वहाँ तक चलेगा। लेकिन पैर में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह उस वस्तु को उठाले, तब हाथ उठायेगा। लेकिन हाथ में भी वह सामर्थ्य नहीं है कि वह उस वस्तु को खाले। तब मुँह खायेगा। और जब मुँह खायेगा, तो मुँह में यह सामर्थ्य नहीं है कि उस वस्तु को पचाले। तब वह पेट के पास संग्रह कर देगा। और पेट पचायेगा और सब अवयवों को बाँट देगा। यह प्रवृत्ति आप रोजाना देखते हैं ही नहीं? लेकिन इसमें आपने कभी यह भी विचार किया कि क्रिया में ज्ञान नहीं, ज्ञान में क्रिया नहीं!

अब आप भौतिक बुद्धि से जोर लगायें कि भाई, देखना भी एक क्रिया है और सुनना भी एक क्रिया है। अरे भाई, देखना तो ज्ञान-इन्द्रिय है, वह भी क्रिया है? इस प्रकार के ज्ञान को जब आप क्रिया मान लेते हैं, तब वह ज्ञान-इन्द्रिय बिना संकल्प के काम नहीं करती।

तात्पर्य क्या निकला? कि मन के स्तर पर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों एक हो जाते हैं। जहाँ मन के स्तर पर पहुँची वृत्ति, जहाँ आपने मन के स्तर तो समझा, तो वहाँ देखने का जिसमें संकल्प उसी में हाथ से उठाने का संकल्प। संकल्प-कर्त्ता दो नहीं। जरा देखिये। जिसको देखने का संकल्प होता है, उसी को चलने का भी संकल्प होता है, उसी को सुनने का भी संकल्प होता है। संकल्प का कर्त्ता एक और देखने व करने में यन्त्र दो, दो प्रकार के हो गये। एक को ज्ञानेन्द्रिय के नाम से कहा आपने और एक को कर्मेन्द्रिय के नाम से कहा। तो मन के स्तर पर कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ दोनो एक हो गई।

लेकिन मन में संकल्प उठे, आप निर्णय कर दें कि अमुक काम हम नहीं करेंगे– अगर आप यह निर्णय कर दें कि यह करने योग्य नहीं है, हम नहीं करेंगे, तो मन अपने आप उस संकल्प को छोड़ देता है। तो आप सोचिये कि अगर मन स्वतन्त्र संकल्पकर्त्ता होता तो बुद्धि के निर्णय मात्र से कैसे छोड़ देता? तो पता चला कि बुद्धि के निर्णय मात्र से कैसे छोड़ देता? तो पता चला कि बुद्धि भी एक करण है। और उसने जो बात बताई, उसके आधार पर संकल्प का त्याग कर दिया अथवा पूरा कर दिया।

अब आप सोचिये कि बुद्धि यह निर्णय कब करती है? अगर आपने संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग स्वीकार किया है, तभी बुद्धि निर्णय करेगी कि ऐसा करो। और आप कहें कि हमें संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग स्वीकार नहीं है, तो बुद्धि बेचारी कभी निर्णय करने नहीं जायेगी। सार क्या निकला? कि जो भोगी है, वही कर्त्ता है।

जरा ध्यान दीजिये। न तो शरीर कर्त्ता, न इन्द्रियाँ कर्त्ता, न मन कर्त्ता, न बुद्धि कर्त्ता। कर्त्ता कौन? बोले, भोगी। अब भोगी का पता लगाओ कि भोगी कौन है? अब आप भोगी का पता लगाने चलेंगे, तो सच मानिये–"यह" को आप भोगी नहीं कह सकते। जिसको "यह" कहके सम्बोधन करते हैं, उसको आप भोगी नहीं कह सकते। और जिसको 'है' करके अथवा "वह"

करके सम्बोधन करते हैं, उसको आप भोगी नहीं कह सकते।

तो "यह" भोगी नहीं और "वह" भोगी नहीं। इससे तो यह सिद्ध हो गया कि जो विनाशी था, वह भोगी नहीं है। और "है" भोगी नहीं हुआ। जो अविनाशी है, वह भोगी नहीं है। तो भला, बताओ तो भाई! फिर भोगी है कौन? अविनाशी भोगी नहीं, विनाशी भोगी नहीं। तो जब आप भोगी का पता लगाने चलेंगे और अपने को "यह" से भी हटा लेंगे और "है" से भी हटा लेंगे, तो "यह" से और "है" से हटाते ही भोगी नाश हो जायेगा। और जब भोगी नाश हो जायेगा, तब योग रह जायेगा। लेकिन एक बात जानते हैं आप कि उसमें एक बड़ा चमत्कार है। और वह चमत्कार यह है कि "यह" को निकाल देने के बाद और "है" को निकाल देने के बाद, भोगी का अस्तित्व नहीं रहता। यह निर्विवाद सत्य है। किन्तु रहता क्या है? योग रहता है योग!

जब भोगी नहीं रहता, तब भोग नहीं रहता। और जब भोग नहीं रहता, तब रहता है "योग"। तो क्या वह योग श्रम-साध्य है? कदापि नहीं। और आप जानते हैं कि जो श्रम-साध्य नहीं होता, वह हमेशा अखण्ड होता है। और जो श्रम-साध्य होता है, वह हमेशा खण्डवाला होता है। तो उलझन कहाँ पड़ी? कि भोगी रहते हुये, योग-दर्शन की टीका कर बैठे। जरा ध्यान दीजिये। भोगी होकर किया योग-दर्शन का टीका, तो लगाया योग में भोग। और यह विभूति-पद क्या है? यह योग में भोग है। तो भोगी होकर किया योग–दर्शन का टीका तो लगा दिया योग में भोग। और भोगी होकर किया वेदान्त दर्शन का टीका, तो लगा दिया ज्ञान में भोग। और भोगी होकर किया आस्तिक-दर्शन का टीका तो लगा दिया प्रेम में भोग।

प्रेम में भोग कैसा? ज्ञान में भोग कैसा? और योग में भोग कैसा? आप कहने लगे–"मैं योगी!" आप कहने लगे–"मैं ज्ञानी!" आप कहने लगे–"मैं प्रेमी!" तो भाई, जरा सोचो तो सहीं मैं और योगी दो चीज हो गई न! अच्छा भाई, योग को निकाल कर "मैं" क्या चुप होना पड़ता है। ज्ञान को निकाल कर "मैं" क्या होना चुप पड़ता है। प्रेम को निकालकर "मैं" क्या चुप होना पड़ता है।

तात्पर्य क्या निकला? तात्पर्य यह निकला कि भाई, योग प्राप्त होने पर जब तक हम योगी हैं, तब तक योग के भोगी हैं। और ज्ञान प्राप्त होने पर जब तक हम ज्ञानी है, तब तक ज्ञान के

भोगी है। और प्रेम प्राप्त होने पर जब तक हम प्रेमी हैं, तब तक हम प्रेम के भोगी हैं। और भाई, जो प्रेम का भोगी है, वह कभी-कभी काम का भोगी हो सकता है। और जो ज्ञान का भोगी है, वह कभी-कभी अज्ञान का भोगी हो सकता है। और जो योग का भोगी है, वह कभी-कभी भोग का भोगी हो सकता है। इस कारण यह समस्या सुलझ नहीं पाती। और जितना इसको सुलझाते हैं, उतनी उलझती ही मालूम होती है कि भाई, हम कैसे मान लें कि वर्तमान निर्दोष है!

अरे भाई, वर्तमान निर्दोष तो ऐसे मान लो कि जहाँ भोगी का नाश है, वहाँ दोष का अत्यन्त अभाव है। तो भोगी का नाश कैसा हाता है? किसी अभ्यास से होता है? नहीं, नहीं। भोगी का नाश होता है विवेक से। और किस विवेक से होता है? जो विवेक आपको प्राप्त है। कौनसा विवेक आपको प्राप्त है?

जरा सोचो तो सही। कर्त्तव्य के क्षेत्र में किसे अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है? कर्त्तव्य के क्षेत्र में सभी का अकर्त्तव्य को ज्ञान है। कर्त्तव्य के क्षेत्रके ऊपर है योग-विज्ञान। कर्त्तव्य-विज्ञान की जहाँ समाप्ति होती है, वहीं से योग-विज्ञान का प्रारम्भ होता है।

आप कहेंगे, योग-विज्ञान क्या है? जहाँ शुद्ध संकल्प की पूर्ति के सुख का भोग नहीं है। जहाँ अशुद्ध-संकल्प की निवृत्ति है और शुद्ध-संकल्प की पूर्ति है–यह है कर्त्तव्य-विज्ञान। अशुद्ध-संकल्प की निवृत्ति से दोषों का नाश और शुद्ध-संकल्प की पूर्ति से दूसरों के अधिकार की रक्षा। यही नियम है। शुद्ध-संकल्प की पूर्ति जो होती है, वह दूसरों के अधिकार की रक्षा में होती है। और अशुद्ध संकल्प का जो त्याग होता है, वह अपने अधिकार के त्याग में होता है।

आप कहेंगे, हम कैसे मान लें? जरा ध्यान तो दीजिये। अशुद्ध संकल्प कहते किसको है? अशुद्ध संकल्प का अर्थ है–वस्तु के द्वारा, सुख की आशा। सुख मिले न मिले, अलग की बात लेकिन सुख की आशा। तो जब वस्तु के द्वारा सुख की आशा हुई, तो लोभ की उत्पत्ति हो गई। और जब व्यक्ति के द्वारा सुख की आशा हुई, तो मोह की उत्पत्ति हो गई। और जहाँ लोभ-मोह की उत्पत्ति हुई, वहाँ सभी विकारों की उत्पत्ति हो गई।

क्योंकि प्रत्येक विकार में अनन्त विकार है। ऐसी कोई विकार नहीं है, जिसमें सभी विकार न हो। इसी प्रकार ऐसी निर्विकारता कोई नहीं

है, जिसमें समस्त निर्विकारता न हो। हम लोग यह ध्यान नहीं देते, विचार नहीं करते। सच बात तो यह है कि जब विकार का नाश होता, है, तब समस्त विकारों का नाश होता है। जब तक समस्त विकारों का नाश न दिखाई दे, तब तक सोचना चाहिये कि विकार की कमी हुई। और विकार की कमी तो सदैव ही जीवन में रहती है। क्योंकि सर्वांश में तो कोई विकारी होता ही नहीं। सर्वांश में तो कोई दोषी होता ही नहीं।

तो आंशिक निर्दोषता तो जीवन में रहती ही है। लेकिन आंशिक निर्दोषता को निर्दोषता नहीं कहते। इसलिये नहीं कहते कि जब सर्वांश में निर्दोषता आती है, तभी निर्दोष-जीवन कहते हैं। तो तात्पर्य कहने का यह निकला कि वस्तु, व्यक्ति के द्वारा जो सुख की आशा है, यह है अपना अधिकार और इसी का नाम है अकर्त्तव्य। सच मानिये तो अपने अधिकार का दूसरा नाम दोष है। और दूसरों के अधिकार की रक्षा का दूसरा नाम निर्दोषता कह सकते हैं। अगर अपने अधिकार का नाम 'पाप' रख लो, तो दूसरे के अधिकार का नाम 'पुण्य' रख लो, तो दूसरे के अधिकार का नाम कर्त्तव्य रख लो। अगर अपने अधिकार का नाम अकर्तव्य रख लो। जो यह कर्त्तव्य-विज्ञान है, इसमें अपने अधिकार का त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा की बात बताई है।

और इसका फल यह बताया कि कर्त्तव्य-विज्ञान सुन्दर समाज का निर्माण करके कर्त्ता को राग-रहित कर देता है। यानी कर्त्तव्य-विज्ञान का यह फल है कि सुन्दर समाज का निर्माण भी हो जायेगा और कर्त्ता राग से रहित भी हो जायेगा। तो जब कर्त्ता राग से रहित होता है तब कर्त्तव्य-विज्ञान अपने आप योग-विज्ञान में विलीन हो जाता है, चाहे तो यों मान लो। और चाहे यों मान लो कि कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी योग को प्राप्त हो जाता है।

तो योग-विज्ञान क्या है भाई? कि योग-विज्ञान में श्रम नहीं है। अच्छा, और क्या है? योग-विज्ञान में बाहरी हल-चल नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है। तो क्या गति नहीं है? कि नहीं, गति तो हैं। यहाँ गति में और प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर है।

प्रवृत्ति हमेशा "पर" की ओर होती है। और गति हमेशा "स्व" की ओर होती है। तो जो "पर" की ओर प्रवृत्ति होती है, वह पराधीनता में, जड़ता में, अभाव में आबद्ध करती है। और "स्व" की ओर जो गति होती है,

वह स्वाधीनता से, चिन्यमता से, पूर्णता से अभिन्न करती है। इसलिये योग-विज्ञान की जो गति है, वह "स्व" की ओर है, "पर" की ओर नहीं अथवा यों कह दो कि वह "है" की ओर है, "यह" की ओर नहीं है। अथवा यों कह दो कि वह "अनन्त" की ओर है, "सीमित" की ओर नहीं है।

तो योग-विज्ञान की जो गति है, उस गति में कर्त्तव्य की गंध भी नहीं है। और जिसमें कर्त्तव्य की गंध भी नहीं है, वह स्वत' है स्वतः। और स्वतः कहते ही उसको हैं, जो अपने आप हो। तो वही योग-विज्ञान किसमें बदलता है? तत्त्व-ज्ञान में। जब तत्व-ज्ञान में योग-विज्ञान बदलता है, उसी को आध्यात्म-विज्ञान कहना चाहिये। कर्त्तव्य-विज्ञान ने हमें योग-विज्ञान में प्रवेश करा दिया। और योग-विज्ञान ने अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश करा दिया। तो अध्यात्म-विज्ञान से क्या मिलता है भाई? अध्यात्म-विज्ञान जो है वह केवल परम प्रेम का प्रतीक है। अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ ही यह होता है कि जहाँ केवल परम प्रेम है। उसी परम प्रेम का नाम आस्तिक-विज्ञान है।

तो आस्तिक-विज्ञान जो हुआ, वह 'साध्य' हुआ। और अध्यात्म-विज्ञान, योग-विज्ञान और कर्त्तव्य-विज्ञान–ये क्या हुये? ये साधन-तत्त्व हुये। जरा ध्यान दीजिये। कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान–ये हैं साधन-तत्त्व, साधन नहीं, साधन-तत्त्व। और आस्तिक-विज्ञान जो है, यह है 'साध्य-तत्व'। तो साध्य-तत्त्व और साधन-तत्त्व, इन दोनों में जातिय एकता है इन दोनों में स्वरूप की एकता हैं। और इन दोनों में स्वरूप की एकता होने से 'साधन-तत्त्व' और 'साध्य' में कभी दूरी नहीं रहती, कभी भेद नहीं रहता। जरा ध्यान दीजिये। दूरी नहीं रहती, भेद भी नहीं रहता। और सच पूछिये तो कभी मिलन भी नहीं होता।

आप कहेंगे, अजीब आदमी है। दूरी भी नहीं मानते, भेद भी नहीं मानते और मिलने नहीं मानते। तो भाई, अगर दूरी मिटा करके चुप होजाते हैं, तो उन्हीं में योग का अभिमान रहता है। जो दूरी मिटा करके चुप होजाते हैं, और कहते हैं कि बस, यही पूर्णता है, उन्हीं में योग का अभिमान होता है। और जो भेद मिटा करके चुप होजाते हैं और ये स्वीकार करते हैं कि इसी में पूर्णता है, उन्हीं को इस बात का अभिमान होता है कि 'मैं ज्ञानी हूँ'। और जो भाई प्रेम प्राप्त

करके उसकी पूर्णता मान लेते हैं, उन्हीं में यह बात रहती है 'मैं प्रेमी हूँ'।

तो "मैं प्रेमी हूँ", "मैं ज्ञानी हूँ", "मैं योगी हूँ–यह अलग-अलग जो आप स्वीकार करते हैं, वह दार्शनिक भेद होता है। दार्शनिक भेद और कुछ नहीं। किसी ने योगी मान कर सन्तोष किया, किसी ने ज्ञानी मानकर सन्तोष किया, किसी ने प्रेमी मान कर सन्तोष किया। तो जिसने 'कुछ' मान कर सन्तोष किया, उसी का नाम होजाता है–दार्शनिक भेद। यह दार्शनिक भेद कोई बुरी बात नहीं है। यह मत समझिये कि दार्शनिक भेद का होना कोई असाधन है, असाधन नहीं है। लेकिन दार्शनिक भेद होने पर भी जो जीवन है, उसमें भेद नहीं।

तो दार्शनिक भेद हुआ-साधन। और जहाँ समस्त दार्शनिक भेद मिट करके एक होते हैं, वह हुआ–साधन तत्त्व। और जो जीवन है, वह हुआ 'साध्य'। तात्पर्य क्या निकला? कि प्रत्येक साधक को अपने-अपने साधन द्वारा साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है। वह साधन-तत्त्व क्या है? आस्तिक-विज्ञान, आस्तिकता नहीं। जरा ध्यान दीजिये। आस्तिकता में और आस्तिक-विज्ञान में एक अन्तर है।

आस्तिक विज्ञान कहते हैं– "है" का विज्ञान। "है" का विज्ञान या "है" विशेष-निष्ठा–यह भी कह सकते हैं। "है" में विशेष-प्रियता–यह भी कह सकते हैं। और यह भी कह सकते हैं कि "है" अभिन्नता। तो यह जो आस्तिक-विज्ञान है, यह है 'साधन-तत्त्व'। और यह साधन-तत्त्व 'साध्य' का स्वभाव है।

और इसी बात को जब मैं अपनी बोल-चाल की भाषा में कहता हूँ, तो कहता हूँ कि भाई, 'प्रेम' जो है वह प्रेमी का तो जीवन है और प्रेमास्पद का वह स्वभाव है। उसी आस्तिक-विज्ञान को व्यक्त करने के लिए किसी ने 'राधा-तत्त्व' कहा। किसी ने 'गौरी-तत्त्व' कह दिया। और किसी ने 'सीता-तत्त्व' कह दिया। और आस्तिक-विज्ञान को व्यक्त करने के लिये किसी ने ज्ञान के साथ 'विज्ञान' कह दिया, निर्विशेष में अगाध-प्रियता।

ज्ञान के साथ विज्ञान। और जो निर्विशेष है, उसी में अनन्त विशेषण भी है। उसके साथ जो अगाध प्रियता है, उसी को किसी ने राधा-तत्त्व के नाम से कहा, किसी ने गौरी-तत्त्व के नाम से कहा, किसी ने सीता-तत्त्व के नाम से कहा।

तो बात क्या हुई? कि हम देहाभिमानियों ने इनको अलग-अलग करके, बीच में अपने-अपने साम्प्रदायिक भेद को जन्म दिया। तो मानव-सेवा-संघ की नीति के अनुसार साम्प्रदायिक भेद बुरा नहीं है। लेकिन साम्प्रदायिक भेद में प्रीति का भेद हुआ, यह बुरा है। इसीलिए भाई! प्रत्येक साधक का अलग-अलग साधन होने पर भी, यदि प्रत्येक साधक में प्रत्येक साधक के प्रति प्रीति की एकता नहीं है, तो वह साधक नहीं हो सकता।

क्यों? प्रीति की भिन्नता सत्य की खोज नहीं करने देगी। प्रीति की भिन्नता द्वेष का नाश नहीं होने देगी। जहाँ द्वेष का नाश नहीं होता, वहाँ राग का नाश कभी नहीं होता। और जहाँ राग का नाश नहीं होता, वहाँ भोग का नाश कभी नहीं होता। और जहाँ भोग का नाश नहीं होता, वहाँ योग की प्राप्ति कभी नहीं होगी। और जहाँ योग-विज्ञान में ही प्रवेश नहीं होता, तो अध्यात्म-विज्ञान की तो बात ही कहाँ चल सकती है! और जहाँ अध्यात्म-विज्ञान में ही प्रवेश नहीं है, वहाँ आस्तिक-विज्ञान की तो चर्चा ही नहीं हो सकती।

इसलिये भाई! जो हमारा-आपका मौलिक प्रश्न है, वह है–निर्दोष जीवन से अभिन्न होना। तो निर्दोष-जीवन से अभिन्न होने के लिये कर्त्तव्य-विज्ञान द्वारा हम अपने को रोग-रहित बनायें और सुन्दर समाज का निर्माण करें।

31(ब) धनीको महानिर्धन बनने वाले रोग।

अब एक बात ध्यान देने की है कि सुन्दर समाज का निर्माण करें–यह बात तो बोल-चाल की भाषा है। नहीं तो, सीधी बात तो यह है कि कर्त्तव्य-विज्ञान को अपनाते ही सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है। सुन्दर समाज निर्माण की कसौटी यह नहीं है कि सुन्दर-सुन्दर सड़के बन जायँ, सुन्दर-सुन्दर मकान बन जायँ, सभी आवश्यक सामान मिल जाय, कोई व्यक्ति ऐसा न रहे कि जिसके पास पाँच कमरे न हों, कोई व्यक्ति ऐसा न रहे कि जिसके पास कार न हो। यह जो लोग सोचते हैं कि सुन्दर समाज के अर्थ में, यह उनका सोचना इस दृष्टि से भले ही सही मालूम होता हो कि भाई, कार की वासना है और कार नहीं मिलती ठीक बात है भाई। अगर कार में कोई भी बैठ सकता है, तो हर एक भाई बैठ सकता है।

तो मैं इस भावना का विरोधी नहीं हूँ। इस भावना का विरोधी नहीं हूँ कि हर आदमी को कार न मिले। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि कार की जीवन में आवश्यकता हर आदमी को नहीं होनी चाहिये। देखिये, जरा ध्यान दीजिये। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि हर आदमी को बंगला न मिले, कि हर आदमी को कार न मिले। यह मेरा तात्पर्य कभी-भी नहीं है। लेकिन जरा सोचिये। हर आदमी को कार की आवश्यकता है क्या? आप कहेंगे, क्यों नहीं? हर आदमी को कार की आवश्यकता है। तो मैं आपसे पूछता हूं कि हर आदमी को कार की ही आवश्यकता है, तो और चीजें कौन बनायेगा? तो मानना पड़ता है कि जिसको समय कम हो और कार्य अधिक हो, उसको कार की आवश्यकता है। और जिसको समय अधिक है और कार्य कम है, उसके लिये कार बेकार है। मैं सच कहता हूँ, बिल्कुल बेकार।

क्यों? घोड़े से जब ऐक्सीडैण्ट होता था, तो बहुत कम चोट लगती थी। और कार से जब होता है, तब? और प्लेन से जब होता है, तब क्या दशा होती है? तो जहाँ आप कार में बैठने के सुख के प्रलोभन में आबद्ध होते हैं और यह सोचने लगते हैं कि हर आदमी को कार चाहिए या जिसके पास कार है वह सोचता है कि मुझको हर वक्त कार चाहिये– ये दोनों बातें गलत है। हर वक्त कार नहीं चाहिए। और हर वक्त कार चाहिए, तो कार वाले आकर जंगल में घूमते क्यों हैं? जरा विचार कीजिये। हर वक्त अगर कार चाहिए, तो घूमने का काम तो कार नहीं दे सकती!

तो ये जो आज हमारे जीवन में एक सन्तुलन नहीं रहा, एक सावधानी नहीं रही कि जो चीज हमको नहीं चाहिये, वह भी चाहिये और जो चीज चाहिये, वह भी चाहिए। इस रोग ने आज के धनी को महाराज, महा निर्धन बना दिया! कोई अभिमान भले ही करे कि मेरे पास धन है। मैं तो कहता हूँ कि धनी जितना निर्धन है, उतना निर्धन निर्धन नहीं है।

क्यों? निर्धन को श्रम करना पड़ता है और श्रम करता है और पेट भरता है। और धनी जो है, वह श्रम भी करता है, पेट भी भरता है और भूखा भी रहता है। जितनी चिन्ता जितना भय, जितनी संकीर्णता–जरा ध्यान दीजिये– संकीर्णता का अर्थ यह नहीं है। आपने दस लाख में से एक लाख दे दिया और बड़ें उदार हो गये। अरे,

आपने तो अपने में-से एक बटा दस दिया। उदार तो वह है जिसने डेढ़ रुपया मजदूरी से कमाया और रात को उपवास किया और पूरा दे दिया। आप किसी धनी को इतना दानी बता सकते हैं कि जिसने अपनी पूँजी का बड़ा हिस्सा दान में दिया हो और छोटा हिस्सा रखा हो? आपको हम गरीबों में सैंकड़ों को बता दें कि जिन्होंने बड़ा हिस्सा दान में दिया और छोटा हिस्सा रखा। तो बताइए उदार कौन ज्यादा हुआ? इसका अर्थ कोई भाई यह न समझ बैठें कि मैं किसी व्यक्ति विशेष से यह बात कहता हूँ। उसूल से सोचिए।

तो धन के संग्रह से कोई निर्धनता मिट जाय–यह बात नहीं है। हाँ, धन के संग्रह से एक मिथ्या अभिमान आ जाय, यह बात जरूर है। और धन न रहने से कोई निर्धन हो जाय, यह बात भी जरूरी नहीं है। तो आज रोग क्या लगा? कि जिसके पास धन नहीं है, वह भी अपने को निर्धन मानता है और जिसके पास धन है, वह भी अपने को निर्धन मानता है। और दोनों निर्धन मान कर एक सोचता है कि हम किसी तरह से नहीं देंगे, एक कहता है कि हम बलपूर्वक छीन लेंगे।

तो जरा ध्यान दीजिए। क्या यह मानवता है? वह मानवता नहीं है। क्या यह साधन है? साधन नहीं है। क्या इससे विकास होगा? विकास नहीं होगा। आज तुम छीन लोगे, तो छीनने की मनोवृत्ति से कल दूसरे लोगों में यह बात पैदा होगी। और वे भी छीन लेंगे। और छीनने का एक क्रम चल जायेगा।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि जो आपको प्राप्त है–शरीर वाले को शरीर प्राप्त है, योग्यता वाले को योग्यता प्राप्त है, वस्तु वाले को वस्तु प्राप्त है। जो जिसको प्राप्त है, वह उसका दुरुपयोग न करे। बस, इतनी-सी बात है। जब हम प्राप्त का दुरुपयोग नहीं करते, तो आप जानते हैं? एक बड़ा भारी सत्य है। और वह सत्य यह है कि जो प्राप्त का दुरुपयोग नहीं करता, उसको आवश्यक वस्तु स्वतः प्राप्त होती है।

परन्तु आज इस कर्त्तव्य-विज्ञान पर भरोसा नहीं रहा। न तो मुझे मजदूर का दिखाई देता है भाई, न महाजन का दिखाई देता है। और व्यक्तिगत रूप से मजदूर में भी है और महाजन में भी है। सभी में है। लेकिन सामूहिक रूप से नहीं दिखाई देता। क्यों? यह भरोसा अगर होता, तो

हम चौबीस घण्टे में आठ ही घण्टे काम करेंगे–यह बात मजदूर कभी नहीं मानता। उसे यह बात मालूम होती है कि यह मेरा जो श्रम है, शारीरिक श्रम जो मुझे प्राप्त है, और पढ़े-लिखे को मालूम होती है कि बौद्धिक श्रम जो मुझे प्राप्त है, उस श्रम से ही मेरी आवश्यकता पूरी होगी। पर ऐसा नहीं मानता, बड़ा भयभीत होता है।

एक बार एक मिल के इन्जीनियर हमसे मिलने आये। हमने पूछा–आपको क्या तनुख्वाह मिलती है? उन्होंने कहा–बारह सौ रुपया मिलता है। हमने कहा–हमें एक बात बताओ दोस्त, वह बेपढ़ा-लिखा सेठ धन कमाता है कि तुम? तो उसे कहना पड़ा कि हम। तो मालिक तुम कि वह? बोले, मालिक वह। हमने कहा–वह कैसे? कि वह हमको निकाल सकते हैं। तो हमने कहा कि अगर तुम अपनी योग्यता में विश्वास करो (पढ़े-लिखे लोग)– देखिये, सब कहते हैं कि पूँजीपति ने समाज को बिगाड़ दिया। अगर मुझसे कोई पूछे, तो सबसे ज्यादा तो मैंने बिगाड़ दिया। क्योंकि जब वीतराग पुरुष नहीं रहते, तो पढ़े-लिखे लोग बिगड़ जाते हैं। उसके बाद नम्बर आता है, पढ़े-लिखों ने बिगाड़ दिया। क्योंकि जब पढ़े-लिखे लोग बिगड़ते हैं, तो राष्ट्र बिगड़ जाता है। और जब राष्ट्र बिगड़ता है, तो सारी जनता बिगड़ जाती है। तो सबसे बड़ा दोषी तो है–मैं, मैं बस, दुष्टता अपनी मानता हूँ।

तो मैंने उनसे कहा कि अगर पढ़े-लिखे लोग यह सोचें कि भाई देखो, इस सेठ ने अमुक मैंनेजर के साथ अन्याय किया, तो हम नहीं काम करने जायेंगे। तो क्या सेठ बेचारा तुमको निकालेगा? और अगर तुम ठीक-सही काम करो, सहीं काम इस मायने में कि जो योग्यता तुम्हें प्राप्त है, उस योग्यता के आधार पर न सेठ के अधिकार का अपहरण होने दो, न मजदूर के अधिकार का अपहरण होने दो, तो कभी झगड़ा पैदा होगा? बोले, कभी नहीं। लेकिन तुम करते क्या हो? कि अपने लालच में सेठ की उस नीति को मान लेते हो, जो नहीं माननी चाहिये।

और यही दोष हमारे नेता में आया। हमारे नेता ने मजदूर की उस नीति को मान लिया, जिसे नहीं मानना चाहिए। क्यों मान लिया? इसलिये नहीं कि उन्हें मजदूर के साथ कोई सहानुभूति है। इसलिए कि हर मजदूर के चन्दा में-से जो हिस्सा मिले, वह

अपना धन, और पूँजीपति से जो मिले चुपचाप, वह अपना धन। तो दोहरा धन बनाकर हर एक व्यक्ति ने धन के सम्पादन का प्रयास किया और नाम लिया सुधार का। जरा सोचिए, निन्दा करते है धनी की। किस लिये? बोले, उसके पास धन है। और चाहते क्या हैं? बोले, धन। तो जिस धन ने आज किसी को भी पागल बनाया, क्या वह धन आपको पागल नहीं बनायेगा? तो भाई, इसका नाम सुधार नहीं है। इसका नाम कर्त्तव्य-विज्ञान नहीं है।

कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि अगर आप सचमुच मानव हैं, तो जो वस्तु आपको प्राप्त है– शरीर भी एक वस्तु है मेरे भाई, इन्द्रियाँ भी एक वस्तु हैं, बुद्धि भी एक वस्तु है, मन भी एक वस्तु है, प्राण भी एक वस्तु है। तो जो वस्तु आपको प्राप्त है, उसका सदुपयोग कीजिये। आज हमसे यह भी नहीं हो पाता कि हम अपने मन से किसी को बुरा न समझें! आज हमसे यह भी नहीं हो पाता कि हम शरीर को संयमी बना सकें। आज हमसे यह भी नहीं हो पाता कि हम बुद्धि को मन के अधीन न रखें। तो जो चीज आपको प्राप्त है, उसी का अब आप सदुपयोग नहीं कर पाते, तो जो आगे प्राप्त होगी, उसका आप सदुपयोग कर पायेंगे? कदापि नहीं कर पायेंगे।

इसलिए मानव सेवा संघ की नीति में यह बात स्वीकार कर ली गई कि प्रत्येक मानव मानव है। और मानव होने के नाते उतना ही महान् है, जितना कोई भी मानव हो सकता है। एक मिल-ओनर जितना मानव हो सकता है, एक मजदूर भी उतना ही मानव हो सकता है। एक आँखों का अन्धा जितना मानव हो सकता है, एक आँखों वाला उतना ही मानव हो सकता है। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि परिस्थिति भेद होने से, योग्यता भेद होने से हम मानव में भेद हो जाय– इस बात को मानव सेवा संघ नहीं मानता।

तो किस बात को मानता है? कि जब मानव होने के नाते हम सब एक हैं, तो हमारा-आपका वास्तविक जीवन एक है। और वह वास्तविक जीवन कब मिलेगा? जब कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान, आस्तिक-विज्ञान और हमारे जीवन में एकता हो।

तो मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ है–दूसरे के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। अब इस

मंत्र को आप मजदूर और महाजन में लगा लीजिए, दो वर्गों में लगा लीजिए, दो देशों में लगा लीजिए, दो सम्बन्धित में लगा लीजिए। अगर सभी स्तरों पर इस मंत्र से सफलता न हो जाय, तो आप जो चाहें सो कीजिए।

फिर क्या होगा? कर्त्तव्य-विज्ञान के आधार पर कैसे समाज का निर्माण होगा? भाई, ऐसे समाज का निर्माण होगा कि जिस समाज को न तो रानी के पेट से निकले हुए राजा की आवश्यकता होगी और न जनता के पेट से निकले हुए प्राइम मिनिस्टर की आवश्यकता होगी। यानी राष्ट्र की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। कब? जब जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान होगा तब।

और कर्त्तव्य-विज्ञान किसके जीवन में होगा? मानव सेवा संघ का इस सम्बन्ध में ऐसा निर्णय है कि उपदेश दूसरे को नहीं देना है। यह तो हमको और आपको स्वयं ही मानना होगा। यानी हमको मानना होगा कि हमारे जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान हो। आपको मानना होगा कि हमारे जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान हो। तो अपने सुधार से पूर्व जो दूसरे के सुधार की बात कही जाती है, यह सुधारवाद एक पेशा है। और मैं भी उसी पेशे में हूँ। क्योंकि मैं भी तो वही न! कर रहा हूँ। लेकिन यह कहता हूँ कि अपना सुधार जो नहीं कर सकता, वह किसी का सुधार नहीं कर सकता, सुधार के नाम पर अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है।

कल मैं विद्यार्थियों से बात कर रहा था। मैंने कहा कि तुम किसको बढ़ा आदमी मानते हो? तो लोगों ने जवाहरलाल जी का नाम लिया और राजेन्द्र बाबू का नाम लिया। बड़े-बड़े लोगों का नाम लिया, महात्मा गाँधी का नाम लिया, तिलक का लिया। तो मैंने कहा कि सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए कि भोग में? तो वहीं छोटे-छोटे बच्चे कहते हैं–त्याग में। तो हमने कहा कि इन लोगों में-से कुछ लोगों ने त्याग में अन्त किया कि भोग में बोले कि भोग में। तो सेवा हुई कि पुण्य-कर्म? तो बच्चों को कहना पड़ा कि पुण्य-कर्म।

तो आज-कल हम लोग साधन करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि हम मानव है। और करते क्या हैं? कि साधन सीखने को साधन मानते हैं। साधन सिखाने को साधन मानते हैं और असाधन का त्याग करके साधन की अभिव्यक्ति नहीं होने देते। अब आप जरा ध्यान दीजिये। और गम्भीरता से इस बात पर विचार कीजिए कि अपने अधिकार का

त्याग क्या श्रम-साध्य है या विचार-सिद्ध!

अगर आप ने यह विचार कर लिया कि चाहे पति-पत्नी के बीच की बात हो और चाहे पिता पुत्र के बीच की बात हो चाहे प्रजा और राष्ट्र के बीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो, चाहे दो देशों के बीच की बात हो– अगर आज का मानव इस बात को मान लेता है कि मुझे अपने अधिकार का त्याग करना है। सच मानिये, विद्यमान राग तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करने से नाश होगा। लेकिन अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी। यह बड़ा भारी सत्य है। विद्यमान राग दूसरे के अधिकार की रक्षा से नाश हो जाता है और अपने अधिकार का त्याग करते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। और जब नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, तो राग-रहित होने पर जो प्रवृत्ति होती है, उसमें कतृत्व का अभिमान नहीं होता, उसमें फल की आसक्ति नहीं होती।

तो आज हमसे भूल क्या हुई? कर्म-योग को खूब सीखा और खूब सिखाया, किन्तु किया नहीं। क्यों नहीं किया? कि अपने अधिकार का त्याग आज अभीष्ट नहीं है। दूसरे के अधिकार की रक्षा में आज आकुलता नहीं है, व्याकुलता नहीं है। व्याकुलता तो ऐसी होनी चाहिए कि हाय! हाय!! हम अगर दूसरे के अधिकार की रक्षा नहीं करेंगे, तो हमारा विद्यमान राग नाश ही नहीं होगा। अगर यह भावना हम और आप स्वीकार करलें, तो हर एक भाई प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा राग-रहित हो जाय।

आज एक बड़े समझदार साधक हमारे अभिन्न हृदय हमसे कहते हैं कि यह तो एक बन्धन होगया, बड़ी सजगता होगई। जरा सोचो तो सही, दूसरे के अधिकार की रक्षा बन्धन है? यह महान् स्वाधीनता है। और अपने अधिकार का त्याग कोई श्रम है? लेश-मात्र भी श्रम नहीं है।

तो जो आप कर सकते हैं अथवा जो आप करते हैं, उसमें क्या इस बात का प्रकाश है कि हम दूसरे के अधिकार की रक्षा कर रहे हैं? क्या ऐसा है? अच्छा, और क्या अपने अपने अधिकार का त्याग कर दिया है? यदि आपने अपने अधिकार का त्याग कर दिया है और प्रवृत्ति दूसरे के अधिकार की रक्षा में है, तो प्रवृत्ति भी राग-रहित होने का साधन और सरकार! निवृत्ति? तो बोले, निवृत्ति भी राग-रहित होने का साधन। और जहाँ राग-रहित भूमि

प्राप्त हुई कि योगरूपी वृक्ष आ गया अपने आप। यह बड़ा अलौकिक वृक्ष है, सींचना नहीं पड़ता। और जहाँ योगरूपी वृक्ष आया कि उसमें तत्त्व-ज्ञान रूपी फल लग गया अपने आप। और जहाँ तत्त्व-ज्ञान रूपी फल लगा कि उसमें प्रेम का रस परिपूर्ण है।

तो साधन का आरम्भ कहाँ से हुआ भाई? कर्त्तव्य-विज्ञान से। अन्त कहाँ हुआ? आस्तिक विज्ञान में। और मध्य में क्या है? योग-विज्ञान, आध्यात्म विज्ञान। अब जरा ध्यान दीजिए। कर्त्तव्य-विज्ञान का फल है सुन्दर समाज का निर्माण। योग-विज्ञान का फल है–सामर्थ्य सम्पादन। अध्यात्म-विज्ञान का फल है–स्वाधीनता और अमरत्व। आस्तिक विज्ञान का फल है–अगाध-अनन्त रस। जहाँ ये समस्त विज्ञान एक हो जाते हैं, उसका नाम मानव सेवा संघ की भाषा में 'मानवता' है। और उस मानवता में ही पूर्णता निहित है।

क्यों? मानव की माँग सभी को। और मानव की? बोले अपनी तो कोई माँग ही नहीं। आप कहेंगे, मानव की माँग सभी को क्यों हो गई? इसलिए होगई कि मानव-जीवन जगत् के लिए उपयोगी है। यह उसकी कसौटी है। और मानव-जीवन अपने लिए भी उपयोगी है और मानव-जीवन प्रभु के लिए भी उपयोगी है।

तो मानव-सेवा-संघ उसी को 'मानव' मानता है कि जिसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो और। वह हो सकता है। क्यों हो सकता है। कि उस जीवन के लिए हमें 'पर' की ओर नहीं देखना है।

देखिए, मानवता का ह्रास तभी होता है, जब मानव-जीवन पाकर चाहें उसकी कितनी ही भयंकर परिस्थिति हो, कितनी ही प्रतिकूल परिस्थिति हो। जब मानव होकर यह सोचता है कि मेरे सुख का कारण कोई और हो सकता है अथवा मेरे दुःख का कारण कोई और हो सकता है–यही सबसे बड़ी मानवता है। और यह मानव के लिए बड़े ही कलंक की बात है कि मानव-जीवन पाकर कोई यह सोचें कि मुझे किसी और से सुख मिलेगा, और मुझे किसी और ने दुःख दिया है। भाई, यह बात हम लोग जब तक सोचते रहेंगे, सच पूछिये मानव-जीवन का महत्त्व ही नहीं जान सकते। और जब मानव-जीवन का महत्त्व ही नहीं जान सकते, तब मैं आपसे पूछता हूँ–साधन का प्रश्न क्या ब्रह्म में पैदा हुआ? साधन का प्रश्न क्या ब्रह्म में है? या साधन का प्रश्न का जगत् में है?

न जगत् में साधन का प्रश्न है, न ब्रह्म में साधन का प्रश्न है। साधन का प्रश्न है मानव में। इसलिए साधन का **उत्तर-**दायित्व मानव-मात्र पर है। और वह साधन हमें तभी प्राप्त हो सकता है, जब हम इस बात को स्वीकार करलें कि कर्त्तव्य-विज्ञान के द्वारा हम सुन्दर-समाज का निर्माण करेंगे, योग-विज्ञान के द्वारा हम सामर्थ्य-सम्पन्न हो जायेंगे, अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा हम अमर हो जायेंगे और आस्तिक-विज्ञान के द्वारा हम अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि करेंगे। यह जिसका उद्देश्य है और जो स्वाधीनतापूर्वक इस उद्देश्य को पूरा कर सकता है, मेरे विचार से उसी का नाम 'मानव' है और उसी की माँग जगत् को भी है, प्रभु को भी है।

32

साधक का परम पुरुषार्थ है–अपने जानते अपनी वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना। उसका सबसे सुन्दर उपाय है–परदोष-दर्शन न करना। न हम किसी को बुरा समझें और न किसी की बुराई सुनें।

सबसे बड़ी सेवा है–पराये दुःख से करुणित होना तथा दूसरों के सुख से प्रसन्न होना।

कर्त्तव्यपरायणता फैलती है कर्त्तव्य पालन से, न कि उपदेश आदेश या सन्देश से।

सत्संग का अर्थ है–मौजूद का संग। उसमें श्रम, काल अपेक्षित नहीं है। जो नित्य विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का अनुभव वर्तमान की उपलब्धि है।

'करने वाले चिन्तन' से होने वाला चिन्तन' कुछ क्षणों के लिए दब भले ही जाय, मिटता नहीं है। 'होने वाला व्यर्थ चिन्तन' "होने वाली मधुर स्मृति" के उदय होने पर मिटता है।

32 (अ) हमारा कर्तव्य कोई दूसरा ना बतायेगा।

किसी दूसरे के द्वारा बताया हुआ जो दोष है, उसका निवारण हो सके अथवा न हो सके, किन्तु अपने जाने हुए दोष के त्याग में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं। दोष का ज्ञान और दोष-जनित वेदना प्राकृतिक नियमों के अनुसार तो युगपत् है। क्यों? कोई भी अपने को दोषी बना कर रखना पसन्द नहीं करता। यही कारण है कि जब कोई किसी को बुरा समझता है,

तो उसे अच्छा नहीं लगता। किन्तु जब वह स्वयं अपने दोष को जानता है, तब उसे अपने सम्बन्ध में विचार करने की सामर्थ्य आती है; और अपने पर अपने द्वारा न्याय करने में तत्पर होता है। निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय है–अपने प्रति न्याय करना। जब हम अपने प्रति न्याय करना आरम्भ कर देते हैं, तब वर्तमान निर्दोषता स्वतः सुरक्षित हो जाती है।

आप विचार करें–परस्पर में बैर-भाव क्यों होता है? जीवन में अशुद्ध संकल्प क्यों उत्पन्न होते हैं? आपको स्पष्ट ज्ञान होगा कि जब तक हम किसी को बुरा नहीं समझते, तब तक वैर-भाव की उत्पत्ति नहीं। और जब बैर-भाव की उत्पत्ति ही नहीं होती, निर्बैरता अपने आप आती है। जिसके जीवन में निर्वैरता है, उसी के जीवन में निर्भयता है। और जब निर्भयता आती है, तो समता भी आ जाती है। और जब समता आजाती है, तब मुदिता अर्थात् अखण्ड प्रसन्नता स्वतः रहने लगती है। अब आप विचार करें–वैर भाव से रहित होने में कितना लाभ है! परम लाभ है।

वैर-भाव का जो सूक्ष्मरूप है, वह क्या है? दूसरों को बुरा समझना, गैर मानना, उनके और अपने बीच बीच में स्वरूप की एकता स्वीकार न करना। इन्हीं सब बातों से वैर-भाव पोषित होता है। जब साधक पर-दोष दर्शन से रहित हो जाता है, तब उसे अपने दोषों का ज्ञान होता है। दोष का ज्ञान जिस काल में होता है, उस काल में वह निर्दोष होता है, अर्थात् निर्दोषता में ही दोष का ज्ञान होता है। उसे यह व्यथा तो होती है कि हाय! मुझसे भूल हुई! पर उसे यह अनुभव नहीं होता कि मैं भूल कर रहा हूँ।

दोष किया जाता है, दोष सदैव नहीं रहता। यह नियम है कि 'करने' का अन्त होता है। उसके परिणाम का भी कालान्तर में नाश होता है। किये हुए का परिणाम सदैव नहीं रहता, और न करना सदैव रहता है। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि दोष सदैव नहीं रहता। और उसका जो फल है, वह भी नाश हो जाता है। यह है प्राकृतिक विधान।

अब केवल इतना ही दायित्व है अपने पर कि हम अपने जानते अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखें। उसका सबसे सुन्दर उपाय है–पर दोष दर्शन न करना। न हम किसी को बुरा समझें और न किसी की बुराई सुनें। तो जो दूसरों की बुराई से अपने को बचा लेता

है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोष होने के लिए तत्पर हो जाता है।

आप देखिये कि हमें जो 'दोष, को दोष जानने केी शक्ति मिली है, उसका उपयोग तो है जीवन में। उसका उपयोग है अपने पर। और प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन को यह अनुभव होगा कि उसमें क्षमा करने की शक्ति भी है। यदि क्षमा करने की शक्ति न होती, तो स्वयं बुराई करने पर अपने को क्यों सन्तुष्ट रखता है? यही न! कारण है कि वह अपने को क्षमा कर लेता है। सोचने लगता है–'क्या बतायें! परिस्थिति ऐसी आगई, जिससे मुझे क्रोध आ गया। मुझसे यह भूल हुई।' तो उस भूल का कारण परिस्थिति को मान लेता है। यह क्या है? यह बड़े ही सूक्ष्म ढंग से अपने को क्षमा करना है।

परिस्थिति तो साधन-सामग्री है। और दोष भूल-जनित है। तो अपने दोष का कारण परिस्थिति को मान लेना, यह अपने को क्षमा करना है। और आप जानते हैं, अपना विकास अपने को क्षमा करने से नहीं होता। अपना विकास होता है अपने प्रति अपने ही द्वारा न्याय करने से। यह जो क्षमा का प्रयोग है, वह 'पर' के लिये है। और यह न्याय की जो प्रणाली है, वह 'अपने' लिये है।

तो जब मानव अपने प्रति न्याय करने लगता है, तब वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोषता को सुरक्षित रखता है। यह बात बहुत गम्भीरता से विचारणीय है कि निर्दोषता मौजूद है। हम किये हुए दोषों से उसे ढकते रहते हैं। निर्दोषता कहीं से आयेगी, उसकी उत्पत्ति होगी–ऐसी बात नहीं है। निर्दोषता तो आपके जीवन में हैं। क्यों? जिसने आपका निर्माण किया है, वह निर्दोष है। निर्दोष का किया हुआ निर्माण दोषयुक्त नहीं हो सकता। तो आप कहेंगे कि दोष की उत्पत्ति क्यों हुई? अपनी भूल से।

भूल होती है जाने हुये की। बिना जाने की भूल नहीं होती। तो अपनी भूल क्या है? हमनें अपने सम्बन्ध में विचार करना बन्द कर दिया।

मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार प्रत्येक भाई-बहन को जगने के बाद, सोने के पहले, कार्य के आदि और अन्त में शान्त होना है। शान्त होने से जो हम कर चुके हैं, उसकी स्मृति आती है। उसके आने से हम अपनी वस्तु, स्थिति से परिचित होते हैं। और जब साधक अपनी दशा

से भली-भाँति परिचित हो जाता है, तब उसमें एक चेतना आती है, जागृति आती है। वह विचार करने लगता है कि मैंने ऐसा क्यों किया! मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था! बस, जब उसने यह स्वीकार किया कि मुझे यह नहीं करना चाहिए था, तो इसका अर्थ यह हो जाता है कि 'अब कभी नहीं करूँगा।' इस प्रकार दैनिक व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा हम अपना निरीक्षण कर सकते हैं। और निरीक्षण के आधार पर जो भूल हो चुकी है, उसके न दोहराने का निर्णय कर सकते हैं।

जब आप किसी दूसरे से अपने कर्त्तव्य के बारे में पूछते हैं, तब आप सचमुच अपनी ओर देखते नहीं है। मेरा यह अनुभव है कि अपने कर्त्तव्य का ज्ञान अपने में मौजूद है और उसके पालन की सामर्थ्य भी है। यदि ऐसा न होता, तो अपने पर कोई दायित्व नहीं हो सकता था। जिस बुराई को हम बुराई करके नहीं जानते, भला, उसके त्याग का प्रश्न ही कैसे आयेगा! और जिसे नहीं कर सकते, वह हमारा कर्त्तव्य ही कैसे होगा!

यो यह बात प्रत्येक भाई बहन को अपने जीवन में से सदा के लिए निकाल देना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य कोई दूसरा बतायेगा। हाँ, यह बात हो सकती है कि हम जिन पर श्रद्धा रखते हैं, उनका परामर्श ले सकते हैं, और अपने निर्णीत कर्त्तव्य का समर्थन पा सकते हैं। आज्ञा नहीं, ज्ञान नहीं, केवल समर्थन कि हाँ, ठीक बात है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार यही प्रणाली थी कि जब कोई साधक किसी से परामर्श लेता, तो वह स्वयं अपनी बात सामने रख देता–यह मेरी दशा है। और वह बड़े संकेत से कहता कि भाई, तुम क्या कर सकते हो? कि मैं यह कर सकता हूँ। अगर यह ठीक है, तो समर्थन मिलता। और समर्थन को लेकर वह अपने कर्त्तव्य पर स्वयं आरूढ़ हो जाता। क्यों? क्योंकि वह अपना जाना हुआ था, यों। उससे स्वयं क्रमिक विकास होता। जैसे-जैसे कर्त्तव्य पालन करता जाता, वैसे वैसे कर्त्तव्य का ज्ञान भी बढ़ता जाता। और एक समय वह आ जाता कि वह, जो करना चाहिए था, उसके अन्त में उसे पूरा करके, 'करने' के राग से रहित हो जाता।

सच पूछिये, तो क्या करना है, 'करने' के राग से रहित होना है और क्या करना है! करने के राग से रहित होने पर तादात्म्य नहीं रहेगा। न वस्तुओं से, न योग्यता से, न सामर्थ्य से,

तादात्म्य ही नहीं रहता अर्थात् असंगता आ जायेगी। और असंगता के आते ही निर्वासना, निर्भयता, निर्वैरता, समता और मुदिता–ये दिव्य गुण स्वतः प्राप्त होते हैं। अब आप सोचिये कि 'करने' का राग रहते हुए असंगता सम्भव ही नहीं है। और असंगता के बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह सामने आता है कि यदि हम अपने कर्त्तव्य से परिचित हैं, तो अकर्त्तव्य की उत्पत्ति क्यों होती है? मेरे जानते, उस ज्ञान का जिससे हम कर्त्तव्य को जानते हैं, अनादर करने से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। न जानने से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे, कल्पना करो, आपके जितने सम्बन्धी हैं, वे सब किसी-न-किसी रूप में आपको अपना मानते हैं, और आप उन्हें अपना मानते हैं। किन्तु क्या कोई ऐसा सम्बन्धी है जो केवल आप ही का हो? आपकी पत्नी किसी की बहन भी है, किसी की बेटी भी है, किसी की माँ भी है। अनेक सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के साथ हैं। आप यह सोचें कि ये सारे सम्बन्ध तोड़कर केवल हमारे ही सम्बन्ध को माने, तो क्या यह सम्भव होगा? कभी नहीं होगा।

हाँ, एक बात सम्भव होगी कि यदि आप चाहें तो सभी सम्बन्धों को तोड़कर किसी 'एक' में और उस 'एक' में जो सभी का है–उससे नहीं, जो किसी का हो और किसी का न हो। जो सभी का 'एक' है, वह तो सर्व का आश्रय न! होगा, सर्व का प्रकाशक न! होगा, सर्व का ज्ञाता न! होगा। हाँ, आप स्वयं सभी सम्बन्ध तोड़कर 'उससे सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। और जब उससे' सम्बन्ध जोड़ेंगे, तो सभी की सेवा का दायित्व आप आ जायेगा। क्योंकि सभी उसके है। जिसको आपने अपना स्वीकार किया, उसके सभी है। तो 'उसके' नाते सभी की सेवा कर सकते हैं। किन्तु किसी और को अपना न मानने से किसी से सुख की आशा नहीं कर सकते।

अब आप विचार करें कि जब आपने किसी 'एक' के नाते सभी की सेवा की और सभी की ममता तोड़ने से अपने जीवन में से सुख की आशा का त्याग किया, तब आपका चित्र क्या होगा? जो मानव किसी से सुख की आशा नहीं करता और सभी की सेवा करता है, उसे क्या प्राप्त होता है? सुख की आशा न करने से उसके जीवन में क्षोभ नहीं होता, क्रोध नहीं होता, राग नहीं रहता। क्षोभ और क्रोध के न रहने

से स्मृति आती है। वह जानता है कि मुझे क्या करना चाहिए? वह जानता है कि 'मैं' क्या हूँ? वह जानता है कि मेरा कौन है? इसलिए क्रोध-रहित होने पर स्मृति स्वतः जागृत होती है।

आज हमने इस मानव-जीवन के विज्ञान को भुला दिया है। हम लोग मानने लगे हैं कि मानो क्रोध प्राकृतिक दोष है। प्राकृतिक दोष नहीं है, यह अपना बनाया हुआ दोष है। और यह दोष तब आता है जीवन में, जब हम किसी से सुख की आशा करते हैं। और हम दूसरों से सुख की आशा तब करते हैं, जब अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं। अथवा यों कहो कि जब हम अपने प्रेमास्पद को भूलते हैं। जो अपना नहीं है, उसे जब अपना मानते हैं, तब सुख की आशा करते हैं। जो हमारा-आपका सभी का अपना है, 'उसको' जब आप अपना मानते हैं, तब आप किसी से सुख की आशा नहीं करते। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि क्रोध प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु अपनी भूल का परिणाम है।

आप सोचिए तो सही, जिससे आप सुख की आशा करते हैं, क्या वह स्वयं दुःखी नहीं है? किसी निर्धन से कोई धन की आशा करें, किसी निर्बल से कोई बल की आशा करे, तो वह आशा भ्रमात्मक नहीं है? आप विचार करें, गम्भीरता से विचार करें। आंशिक सुख जीवन में है, सर्वांश में कोई सुखी नहीं है। आप स्वयं भी अगर अपने सम्बन्ध में सोचेंगे तो आप सर्वांश में सुखी नहीं है। इसीलिए आप किसी के दुःख को दूर नहीं कर सकते। यह मानव मिथ्या अभिमान कर लेता है कि मैं तुम्हारा दुःख दूर कर दूँगा। यह बिल्कुल मिथ्या अभिमान है। क्यों? क्या तुम सर्वांश में सुखी हो, जो दुःख दूर कर दोगे?

हाँ, एक बात कर सकते हो, आंशिक सुख को बांट सकते हो, पराये दुःख से करुणित हो सकते हो, दूसरे के सुख से प्रसन्न हो सकते हो। यही सेवा है। तो सेवा कर सकते हैं। आप किसी का दुःख दूर नहीं कर सकते। जब आप किसी का दुःख दूर नहीं कर सकते, तब आप दूसरों से क्यों आशा करते हैं कि उसके द्वारा आपको सुख मिले? यह आशा करना बड़ी भूल है। और इसी भूल का परिणाम यह होता है कि परस्पर में राग-द्वेष हो जाता है।

हम सोचने लगते हैं कि उन्होंने वह हमारे साथ नहीं किया, जो उन्हें करना चाहिए था। हम यह भूल जाते हैं कि भाई, क्या वे कर भी सकते

थे, जो हम चाहते हैं? कल्पना करो, मेरे साथ कई मित्र रहते हैं। मैं यह सोचलूं कि मेरे साथ मेरा जो मित्र रहता है, वह किसी और को अपना न माने। क्या मेरे अधिकार की बात है? क्या यह कभी सम्भव है? कभी सम्भव नहीं है। जिसे आप अपना कहते हैं, वह औरों का भी है भाई! जब वह औरों का भी है, तो आप उसके द्वारा सभी के अधिकारों को सुरक्षित क्यों नहीं होने देते? क्यों नहीं सभी को प्यार करने देते? क्यों नहीं सभी की सेवा करने देते? आप यह क्यों सोचते हैं कि जिसको हम नहीं प्यार करते, उसको वह भी प्यार न करे? जिसे हम नहीं मानते, उसे वह भी न माने? यह आप सोच ही कैसे पाते हैं? आप कहेंगे कि हम जो कुछ करते हैं, वह उसके हित के लिए करते हैं।

विचार तो कीजिये, हित किसमें है? विद्रोह में हित है? क्रोध में हित है? द्वेष में हित है? वैर-भाव में हित है? कभी नहीं। हित प्यार में है, हित उदारता में है, हित त्याग में है। त्याग आप करते नहीं क्योंकि त्याग जब आप करेंगे, तब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रह जायेगा। यह जो आप अपने में गुणों का अभिमान करते हैं, यह एक प्रकार का राग ही है। क्योंकि गुण हैं प्राकृतिक और आप मान लेते हैं अपने। दोष हैं भूल-जनित, और आप मान लेते हैं प्राकृतिक।

तो सत्संग के प्रकाश में ऐसा अनुभव होता है कि हमें कभी-भी किसी भी परिस्थिति में यह अधिकार ही नहीं है कि हम यह बात स्वीकार करें कि दूसरे लोग वह करें, जो हम चाहते हैं। यह अधिकार ही नहीं है। दूसरे लोग जो चाहें सो करें, पर हम उनके साथ वह करें, जो हमें करना चाहिये। हमारे कर्त्तव्य से उनमें कर्त्तव्य परायणता आयेगी। हमारे उपदेश व आदेश से वे कर्त्तव्यनिष्ठ होंगे–सो नहीं होंगे। न हमारे आग्रह से होंगे, न हमारे दबाव से होंगे।

अगर समाज में कर्त्तव्य परायणता फैलती है तो कर्त्तव्यपालन से फैलती है, उपदेश-आदेश और सन्देश से नहीं फैलती। यह बात मैं बहुत दिनों के बाद समझ सका। इसलिये मेरा यह निवेदन है कि आप जब कभी किसी के सम्बन्ध में विचार करें तो यह विचार करें कि इन्होंने क्या भूल की! यह विचार करें कि हमें इनके साथ क्या और करना है! इसी पर विचार करें। जिस समय आप इसे

सामने रखकर सोचेंगे, तो आपको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होगा। और जब आप उसका पालन करेंगे, तब आपकी कर्त्तव्य परायणता से समाज में कर्त्तव्य परायणता आयेगी।

किसी और प्रकार से हम कर्त्तव्यपरायणता का प्रचार कर सकते हैं–ऐसा मेरा विश्वास नहीं है और अनुभव भी नहीं हैं। कर्त्तव्य निष्ठ होने से ही कर्त्तव्यपरायणता फैलती है–समझाने से नहीं, उपदेश करने से नहीं, शासन करने से नहीं, भय देने से नहीं, प्रलोभन देने से नहीं। कोई भी किसी को कर्त्तव्य निष्ठ नहीं बना पाता?

मुझे ऐसी घटनायें मालूम हैं, जिनमें साधक ने जो कहा, वही पूरा हो गया। मैंने सोचा कि अब इनमें प्रभु-विश्वास, कर्त्तव्य-विश्वास, साधन-विश्वास आ जायेगा। आप सच मानिये, नहीं आया। तो किसी प्रलोभन से हम किसी को कर्त्तव्य निष्ठ बना लेंगे, वह बड़ी भूल है। किसी प्रकार का भय देकर किसी को कर्तव्यनिष्ठ बना लेंगे। यह उससे बड़ी भूल है। इसलिये भाई! प्रलोभन देकर किसी पर शासन मत करो, भय देकर किसी पर शासन मत करो अपितु अपने कर्त्तव्य द्वारा उसके अधिकार की रक्षा करो।

उसे अपने ढंग से देखने दो, सोचने दो, समझने दो, करने दो। उसमें भी 'वह' मौजूद है, 'जो' आप में है। बोले, क्या? विवेक-रहित कोई भाई-बहन नहीं है। विवेक ही वास्तव में गुरु-तत्त्व है। कोई व्यक्ति किसी का गुरु है–इसके समान कोई भूल ही नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी का सुधारक है–इसके समान कोई भूल नहीं है। मानव का अपना विवेक ही उसका अपना सुधारक है, वही उसका गुरु है, वही उसका नेता है, वही उसका शासक है। जिसके जीवन पर विवेक का गुरुत्व, विवेक का नेतृत्व, विवेक का शासन नहीं रहता उसके जीवन में कभी भी निर्दोषता नहीं आती।

इसलिये भाई, मानव सेवा संघ की यह अमर वाणी है कि मानव-मात्र सत्-पथ का अधिकारी है, चल सकता है।

आप यह न सोचें कि आपकी उदारता से कोई आगे बढ़ेगा। अपितु यह विचार करें कि जो आपमें उदारता उदय हुई है, उससे आपका हित होगा। वह आपके लिए कल्याणकारी होगी।

32(ब) जिसको जैसा देखना चाहते हो उसे वैसा ही समझो।

अगर कोई भूल कर रहा है, तो इस बात से क्षुभित न हों कि वह भूल क्यों कर रहा है! अपितु इस बात से दुःखित हों कि भूल न करता तो अच्छा था! भूल न करे, तो बड़ा अच्छा हो! पर उसे यह न मालूम हो जाय कि आप इस बात को जानते हैं कि वह भूल कर रहा है। यह आपकी मूक-सेवा होनी चाहिये। मूक-सेवा के समान कोई सेवा नहीं है।

मूक-सेवा का अर्थ क्या है? किसी की अवनति को देखकर पीड़ित होना। किन्तु आप-हम पीड़ित कब होते हैं? जब देखते हैं कि हमारे अधिकार का अपहरण हुआ है, हमारा स्थान सुरक्षित नहीं रहा, तब हम पीड़ित होते हैं। हम इस बात को लेकर पीड़ित नहीं होते कि कोई बेचारा भूल क्यों कर रहा है! भूल न करता तो अच्छा होता! यही तो क्षमाशीलता है।

क्या आप समझते हैं कि क्षमा माँगने पर क्षमा करना चाहिये? नहीं, नहीं, अपने प्रति होने वाली बुराई के काल में ही क्षमा करना चाहिये। जब कोई हमारे साथ बुराई कर रहा है, तभी हमें क्षमा करना चाहिए। क्यों? उसने स्वयं अपने को बुरा बनाया है, इसलिये बुराई कर रहा है। और अपने को बुरा बनाया है, वह प्रमाद से बनाया है। स्वभाव से वह बुरा नहीं है, स्वरूप से बुरा नहीं है। प्रमाद मिट सकता है, सदैव नहीं रहता। इसलिये वह भला हो जायेगा, बुराई नहीं करेगा। तो हमें दूसरों के सम्बन्ध में यही सोचना है कि कोई बुरा न रहे, कोई बुरा न रहे! और उसके लिए सबसे सुन्दर उपाय है कि हम किसी को बुरा न समझें।

देखिये, उपासना का रहस्य क्या है? जिसको जैसा देखना चाहते हो, उसमें वैसी ही स्थापना करो। यह वैज्ञानिक सत्य है। जिसको जैसा देखना चाहते हो, उसको वैसा ही समझो।

एक भाई ने मुझसे कहा कि आप मुझे परम आस्तिक क्यों कह रहे हैं? मैं तो परम आस्तिक नहीं हूँ। मैंने कहा–मैं इसीलिये कहता हूँ कि आप आस्तिक हो जायेंगे। यह कोई कल्पना नहीं है, यह वास्तविकता है। जिसको आप जैसा समझेंगे, जैसा सोचेंगे, जैसा मानेंगे, वैसा वह हो जायेगा। इससे क्या सिद्ध हुआ? हम किसी को बुरा न

समझें। तब किसी के बुरे होने में हमारा हाथ नहीं रहेगा। अगर आप यह चाहते हैं कि कोई बुरा न रहे, तो उसका सुगम उपाय है कि आप किसी को बुरा न समझें।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आप भला समझें। यह मैं नहीं कहता। यह तो आपकी विशेष उदारता है। और यह आपके लिए आपका एक बड़ा स्वधर्म है। लेकिन कम-से-कम बुरा तो न समझें। यह कम-से-कम बात है। बुरा न समझने मात्र से आप तो भले हो जायेंगे। और आपके भले होने से जब आपमें कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होगी, तब उस कर्त्तव्यपरायणता से वह भी भला हो जायेगा। आप जानते हैं, कोई बुराई क्यों करने लगता है? उसके साथ बुराई होती है इसलिये बुराई करने लगता है। अगर उसके साथ बुराई न हो, तो वह कभी बुराई कर ही नहीं सकता। पर इतनी गम्भीरता से हम इस समस्या पर विचार नहीं करते। और ऐसा मानने लगते हैं कि उसने जान-बूझ कर बुराई की।

और अपने सम्बन्ध में?–क्या बतायें! हमारे संस्कार ही ऐसे थे, हमारी परिस्थिति ही ऐसी थी। तो अपने से जब बुराई होती है, तब तो हम बेबसी अनुभव करते हैं। और जब दूसरे से बुराई होती है, तब उसकी असावधानी अनुभव करते हैं , उसकी भूल अनुभव करते हैं। इसीलिए हमें उस पर क्रोध आता है। और अपनी क्योंकि बेबसी अनुभव कर लेते हैं, इसलिए अपने को क्षमा कर बैठते हैं। बेबसी अनुभव करना चाहिए दूसरे की, भूल अनुभव करना चाहिये अपनी। तब अपने प्रति न्याय होगा, दूसरे के प्रति क्षमा होगी।

आप जानते हैं, दूसरे के प्रति क्षमा करने से ही एकता आती है, वैर-भाव मिटता है, समता का उदय होता है, मानव द्वेष-रहित होता है, क्रोध रहित होता है, क्षोभ-रहित होता है। और उसके होने से उसमें 'स्मृति' जागृत होती है। यह जो 'स्मृति' है वह ज्ञान के अर्थ में भी है, प्रीति के अर्थ में भी है, प्राप्ति के अर्थ में भी है। जैसे, कोई वस्तु आप रखकर भूल गये और आपको स्मृति आ गई, तो प्राप्त हो गई कि नहीं?

एक बार मैं श्रीनाथद्वारा में कुछ मित्रों के साथ स्नान कर रहा था। एक मित्र इस कार्य में सहयोग दे रहे थे। जब मैं नदी से निकला, तो शरीर पौंछने के लिये वस्त्र की आवश्यकता हुई। मेवाड़ की भाषा में उसे हस्ताया कहते हैं वे लोग। तो जो भाई मदद कर

रहे थे नहाने में, उनके कन्धे पर वह हस्ताया रखा हुआ था और इधर-उधर ढूँढ़ते फिर रहे थे– कहाँ है? कहाँ है? कहाँ है? तब तक दूसरे भाई ने कहा कि आपके कन्धे पर क्या है?–अरे, कि मैं भूल गया था। तो स्मृति और प्राप्ति युगपत् हो गई न? जिस समय स्मृति आ गई, उसी समय प्राप्ति भी हो गई। तो 'स्मृति' 'प्राप्ति' के अर्थ में भी है। और 'स्मृति' 'प्रीति' के अर्थ में भी है। और 'स्मृति' 'ज्ञान' के अर्थ में भी है।

तो कर्त्तव्य की स्मृति, अपने स्वरूप की स्मृति, अपने प्रिय की स्मृति कब आयेगी? जब हम क्षोभ और क्रोध से रहित होंगे। क्षोभ के रहते हुये, क्रोध के रहते हुए न कर्त्तव्य की स्मृति आयेगी, न अपने स्वरूप की स्मृति होगी, न अपने प्रिय की स्मृति होगी। अब आप सोचिये कि क्रोध-रहित होना कितना आवश्यक है! आप कहेंगे कि हमको तो क्रोध नहीं आता, हम किसी पर बिगड़ते नहीं, हम किसी को कुछ कहते नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमको क्रोध नहीं आता।

क्रोध का स्वरूप क्या है? किसी दूसरे की कोई भी बात, जिस वक्त आपको यह भासित होती है कि ठीक नहीं है और उसके पश्चात् हृदय करुणा से नहीं भरता, उदारता से नहीं भरता, तो समझना चाहिये कि क्रोध आ गया। नहीं तो करुणा उदय होनी चाहिये न! उसके प्रति सद्भावना रहनी चाहिए न! उनके प्रति प्यार उदय होना चाहिए न! कि हे प्यारे, तुम ऐसा करते हो, बड़ा दुःख होता है! कहीं यह आवाज आती है क्या? आवाज आती है–तुम बड़े बेसमझ हो, तुम बड़े बदतमीज हो, तुम्हारे समान कोई धूर्त नहीं है। तुम ऐसा करते हो? यह आवाज निकली है। यह आवाज क्रोध का संकेत है।

कहीं यह आवाज निकलती– "मेरे प्यारे, तुम ऐसा करते हो तो मुझे बड़ा दुःख होता है! और देखो, कोई बात नहीं है। क्या तुम मेरी प्रसन्नता के लिए ऐसा करना छोड़ सकते हो? मुझे बड़ा हर्ष होगा।" यह भी बढ़िया बात नहीं है। इससे और बढ़िया बात तो यह है कि भीतर इतनी सद्भावना जागृत हो कि उसकी भूल हमें अपनी भूल मालूम पड़े कि क्या हमसे कोई भूल हुई है इसलिए इन्होंने भूल करना सीख लिया! जिसको हम प्यार करते हैं, जिसको अपना मानते हैं, उससे वह भूल क्यों हुई! मालूम होता है, हमारे द्वारा प्यार नहीं मिला। मालूम होता है कि हमसे कोई भूल हो गई है। यदि

हमसे भूल न हुई होती, तो क्या हमारे साथी कभी भूल करते?

इस प्रकार का विचार जब उदय हो। इस प्रकार की विचार-लहरियाँ (थौट वेब) जब उत्पन्न हों, तब समचुच आप उसके हित-चिन्तक हो सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं। और जब तक ऐसी बात नहीं आती, तब तक तो यही समझना चाहिये कि किसी ने राष्ट्र बनकर शासन किया, तो किसी ने सम्बन्धी बन कर शासन किया, तो किसी ने भय देकर शासन किया, तो किसी ने प्रलोभन देकर शासन किया। शासक जो होता है, वह सुधारक नहीं होता। शासक कभी सुधारक नहीं हुआ। आज तक नहीं हुआ, न हो सकता है, और न कभी होगा। इसलिये यह भ्रमात्मक धारणा है कि हम बल के प्रयोग से किसी का सुधार कर लेंगे–बड़ी ही भूल की बात है।

हाँ, सेवा करने में असमर्थ पाते हो, तो क्षमा माँगे कि हम इस योग्य नहीं है कि हम आपकी सेवा कर सके। त्याग कर सकते हैं, असहयोग कर सकते हैं। असहयोग में द्वेष की गंध भी नहीं होती। असहयोग में तो एक प्रकार की अपनी असमर्थता होती है और एक नवीन जीवन की खोज होती है। असहयोग का अर्थ क्या है? कि "अच्छा भाई! हम आपकी सेवा नहीं कर सके, इसलिए ममता का त्याग करते हैं, सम्बन्ध विच्छेद करते हैं। और सम्बन्ध विच्छेद करके उससे अभिन्न होंगे, जो हमारा अपना है। आप हमारे अपने नहीं है। आप तो हमारे प्यारे के हैं, 'उनके' नाते हमें आपकी सेवा करना है। हमने भूल यह की थी कि अपने प्यारे को भूल गये और आपको अपना मान लिया।"

"आपको अपना मानने से हमारे में विकार की उत्पत्ति हो गई। क्योंकि जहाँ ममता होती है, वहाँ विकार की उत्पत्ति होती है। और विकार के उत्पन्न होने से हम अपने कर्त्तव्य को भूल गये और आपके कर्त्तव्य की बात सोचने लगे। यह हमसे भूल हुई। इसलिए हम सब आपसे असयाहेग करते हैं। और 'जो' हमारा अपना है, 'जो' आपका भी अपना है, 'उससे' सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। यदि हमारे जीवन में सामर्थ्य आयेगी, तो हम आपकी सेवा करेंगे। पर, अपना मान कर नहीं करेंगे। हमने भूल की थी, जो आपको अपना माना। आप हमारे अपने नहीं है। आप तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे हैं"।

विचार कीजिये, अपने नहीं है, इसका मतलब गैरियत नहीं। "आप तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे हैं। हमारे 'प्यारे' कौन है? 'जो' हमें जानते हैं, 'जिन्हें' हम नहीं जानते। और उनके आप प्यारे हैं। तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे होने से आप हमारे सेव्य हैं, हम आपके सेवक हैं। हमने भूल की थी कि ममता के आधार पर अपना अधिकार माना था और आपकी सेवा नहीं की थी। अब हम या तो आपकी सेवा करेंगे, और जब तक आपकी सेवा के योग्य नहीं होंगे, तब तक हम असहयोग रखेंगे। और वह सदा के लिए आपकी ममता से रहित होकर, निर्विकार होकर अपने 'प्यारे' के नाते आपकी सेवा करेंगे।" तब कहीं जीवन में निर्दोषता सुरक्षित रहती है।

हम लोगों ने इस बात पर विचार करना बन्द कर दिया कि हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है! और जब आप किसी को अपने दुःख का कारण नहीं मानते, तब आपको क्रोध आया क्यों? विचार तो कीजिये। क्रोध क्यों आया? द्वेष क्यों उत्पन्न हुआ? हमने किसी को बुरा क्यों समझा? तभी न! हम बुरा समझते हैं, जब हम यह मानते हैं कि आपने हमें दुःख दिया? मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर कोई हमें दुःख दे सकता है, तो क्या कभी दुःख मिट सकता है?

बहुत गम्भीरता से विचार करें। यह अध्यात्मवाद है। अगर हमें कोई दुःख दे सकता है, तो दुःख मिट ही नहीं सकता, एक बात। दूसरी बात सोचिये, क्या दुःख उस प्रभु के विधान से मिला है? बहुत गम्भीरता से सोचिये। उसने दुःख दिया है? नहीं, उसमें दुःख है नहीं। और जगत दुःख दे सकता नहीं। भला, सतत परिवर्तनशील जगत, पर-प्रकाश्य जगत् हमको दुःख दे पायेगा? और जिसमें दुःख है ही नहीं, क्या उससे दुःख मिलेगा तो मानना पड़ता है कि हमारे दुःख का कारण कोई और नहीं है।

या तो दुःख प्राकृतिक विधान है और हित के लिए आया है। क्योंकि दुःख से सुख के प्रलोभन का नाश होता है। विधान जो होता है वह मंगलकारी होता है। यदि आप यह सोचें कि ऐसे दुःख भी तो आते हैं, जिनका कर्त्ता कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता और स्वयं भी नहीं होते और दुःख आ जाता है। तो वह दुःख वास्तव में आपको भासता है कब? जब आप किसी वस्तु से तद्रूप होकर उसका सुख भोगते हैं। मुझे अन्धे होने का दुःख क्यों हुआ? आँखों का सुख भोगने

से। अगर मैं आँखों का सुख न भोगता, तो अन्धे होने का दुःख हो सकता था क्या?

तो यह जो दुःख आपको भासित होता है, वह अपनी भूल से भासित होता है। और यह जो परिवर्तन आता है कि वस्तु का वियोग होगया, व्यक्ति का वियोग होगया, परिस्थिति बदल गई–यह विधान है।

तो परिवर्तन का अर्थ यह थोड़े ही है कि आपको दुःख हो। आपको दुःख तो आपकी ममता से होता है! परिवर्तन आपको एक अलौकिक जीवन के लिए प्रेरणा देता है। आप उस दिव्य जीवन से विमुख होकर इसी जड़ता के साम्राज्य में रहता चाहते हैं, यह आपकी भूल है। इस भूल से आपकी परिवर्तन दुःखद मालूम होता है।

आप सोचिए तो सही। अगर परिवर्तन को विधान से हटा दिया जाय और जो बीज बोया है वह वृक्ष न बने, तो आपको क्या मिलेगा? जी? अगर पिता का वीर्य और माता का रज शरीर के रूप में न बदले और शरीर विकसित न हो, तो क्या आपको कुछ लाभ मालूम होता है? आप कहेंगे– कोई लाभ नहीं होगा, बड़ी हानि होगी।

तो परिवर्तन जीवन में विकास का मूल है कि ह्रास का मूल है? आप विचार तो कीजिये। अगर शरीर नहीं रहता है, अगर वस्तु नहीं रहती है, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर और वस्तु से परे जो जीवन है, उसमें आपका प्रवेश होता है। परन्तु आप उस परिवर्तन को अपने विकास का साधन न मानकर कहने लगते हैं कि हम तो बड़े अभागे हैं। क्यों? अमुक वस्तु नहीं रही, यों, अमुक व्यक्ति नहीं रहा, यों।

भाई, जरा सोचो तो सही। जो 'नहीं' था, वही नहीं रहा, या जो 'है' वह भी नहीं रहा? जो 'है' वह तो सदैव है। परन्तु हमने 'है' में आत्मीयता स्वीकार नहीं की, 'नहीं' में ममता करली। परिवर्तन ने ममता के त्याग की सामर्थ्य दी। हम इस रहस्य को भूल कर अपने को दुःखी बनाते हैं, दुःखी होते हैं।

वास्तव में मानव-जीवन दुःख भोगने के लिए नहीं है। सुख-दुःख का भोग तो पशु-पक्षी भी कर सकते हैं। मानव-जीवन सुख की दासता से रहित होने के लिए, दुःख के भय से रहित होने के लिए, जगत् के लिये उपयोगी होने के लिये, अपने लिए उपयोगी होने के लिए, प्रभु के लिए उपयोगी होने के लिए ही मिला है। ऐसा अनुपम जीवन

हम सबको प्राप्त है। फिर भी आप-हम अपने को अभागा मानें, दुःखी मानें, अपने दुःख का कारण दूसरों को मानें, दूसरों के दुःख के कारण बन जायँ–यह अपनी भूल ही है।

इस भूल का नाश एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग का अर्थ है, 'है' का संग, अविनाशी का संग–वस्तु का संग नहीं, व्यक्ति का संग नहीं, परिस्थिति का संग नहीं, अवस्था का संग नहीं, श्रम का संग नहीं–श्रम-रहित होकर 'है' का संग।

यही सत्संग अगर आप अपना लेते हैं अर्थात् प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहते हैं। जगने के बाद, सोने से पहले शान्त होते हैं। जैसे-जैसे आप शान्ति का सम्पादन करते जायेंगे, वैसे-वैसे आपका सर्वतोमुखी विकास होगा। शन्ति में ही कर्त्तव्य की, निज-स्वरूप की, अपने प्रिय की स्मृति उदय होती है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन प्रत्येक भाई के लिए, प्रत्येक बहन के लिए अनिवार्य है।

उसका बाह्य साधन-अनावश्यक कार्य का त्याग, आवश्यक कार्य को फलासक्ति-रहित पूरा करना। अर्थात् जिस कार्य में आपके विवेक और सामर्थ्य का विरोध हो, उसके लिये क्षमा मांगना। और जो कार्य सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप हो, उसकी निष्काम-भाव से अपने 'प्रिय' के नाते पूरा कर देना। बस, यही सफलता की कुंजी है।

33(अ) कोई भी सर्वांशमें, सर्वदा, और सभीके लिए दोषी नहीं होता।

कामना-पूर्ति के अन्त में हम उसी स्तिथि में आते हैं, जिस स्थिति में कामना-उत्पत्ति से पूर्व हैं। परन्तु पुनः कामना-पूर्ति के प्रलोभन से नवीन कामना को उत्पन्न करते हैं। वैसे भी अगर देखा जाए, तो कामना-पूर्ति के अन्त में क्या प्राप्त होता है? जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व प्राप्त था वही प्राप्त होता है। अर्थात् कोई बात ऐसी प्राप्त नहीं होती, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व न हो और जो कामना-पूर्ति में प्राप्त हो जाए। आप कहेंगे, ऐसा तो होता है। जैसे एक विद्यार्थी यह कामना करता है कि मैं एम. ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँ और जब वह एम. ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, तो वह अपने में यह पाता है कि मैं एम. ए. हो गया। ठीक है, किन्तु एम. ए. होने के अन्त में

जब तक कोई कामना उत्पन्न नहीं होती, तब तक उसका एम. ए. होना और न होना क्या अर्थ रखता है?

बहुत ही गम्भीरता से जब आप विचार करेंगे, तो आपको स्वयं ही यह अनुभव होगा कि किसी कामना-पूर्ति के लिए हम एम. ए. का उपयोग करें, यह बात अलग है। किन्तु जब तक दूसरी कामना पूरी नहीं होती, तब तक कोई अन्तर नहीं होता, एम. ए. होने में, न होने में। क्यों अन्तर नहीं होता? क्योंकि कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है वह सदैव है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता और हां नवीन कामना पूर्ति से कोई नई बात हो जाती हो ऐसा भी नहीं होता तो प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है- ऐसा प्रत्येक भाई को, बहन को अपने-अपने जीवन में देखने से अनुभव होगा।

अब आप विचार करें कि कामना-पूर्ति होने पर भी नवीन कामना का ही जन्म हुआ। तो मिला क्या? कहना पड़ता है कि परिणाम में कामना-अपूर्ति। यदि कामना-पूर्ति के अन्त में कामना की उत्पत्ति न हो, तब तो आप कह सकते हैं कि भाई, अन्त में कामना-निवृत्ति हो गई। किन्तु कामना-पूर्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हुए तो ऐसा नहीं होता। एक कामना पूरी होती है, अच्छा लगता है और उस अच्छा लगने का परिणाम यह होता है कि एक नवीन कामना का जन्म हो जाता है। तो कामना-पूर्ति कामना को ही जन्म देती है, उससे कोई और वस्तु नहीं मिलती। कोई ऐसी वस्तु नहीं मिलती कि जो कामना को उत्पन्न न होने दे। अर्थात् हम उसी दशा में रहते हैं, जिसमें हैं। किन्तु ऐसा मालूम नहीं पड़ता। मालूम पड़ता है कि हम बदल गए। क्यों मालूम पड़ता है कि हम बदल गए? हम यदि प्रत्येक परिस्तिथि की वास्तविकता पर विचार करें कि असलियत क्या है, तो आपको सभी परिस्थितीयाँ समान दिखाई देंगी। किस दृष्टि से? कि सभी कामनाएँ पूरी होती ही नहीं, यह सभी परिस्थितियाँ की बात है; और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं। तो बताइए, अन्त क्या हुआ मजदूर से लेकर मिल-ऑनर तक, बेपढ़े से पढ़े-लिखे तक?

जब यह नियम ही है कि सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होती और कुछ कामनाएं सभी की पूरी होती है तो यह जो परिस्थितियों का महत्त्व हमारे जीवन में है, वह क्या अर्थ रखता है? परिणाम में तो कुछ अर्थ नहीं रखता। हाँ बाह्य दृष्टि से भेद मालूम

होता है, पर वास्तविकता में कोई भेद नहीं है। इस बात का ठीक-ठीक अनुभव कर लेना काम के नाश में हेतु है, अर्थात् आप में से जगत् का बीज मिट सकता है। जगत् रहेगा या मिटेगा, यह बात

जगत् जानें । परन्तु आप में से जगत् का बीज नाश हो जाएगा। कब? जब आप इस अपने अनुभव का आदर करें कि बाह्य भेद होने पर भी सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं, कोई अन्तर नहीं होता। क्यों? यह परिस्थिति के तादात्म्य का ही परिणाम है।

जब हम किसी भी परिस्थिति में अपने को आबद्ध कर लेते हैं, तब परिणाम में हमें यही मिलता है कि कुछ कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और कुछ नहीं होतीं, अर्थात् सुख और दुःख। कामना-पूर्ति काल में सुख की अनुभूति और अपूर्ति-काल में दुःख की अनुभूति। किन्तु सुख में भी पराधीनता है और दुःख में भी। तो वास्तविकता सुख और दुःख की समान हो गई न? अगर सुख काल में स्वाधीनता रहती और दुःख काल में पराधीनता रहती, तब तो आप कह सकते हैं कि भाई, सुख और दुःख की वास्तविकता में भेद है। किन्तु इतना ही अन्तर है कि सुख अच्छा लगता है, परचला जाता है, दुःख अच्छा नहीं लगता, किन्तु आ जाता है। इसके अतिरिक्त आप सुख और दुःख में कोई भेद नहीं कर सकते। जो अच्छा लगता है वह रहता नहीं, जो अच्छा नहीं लगता वह आ जाता है। यह भी एक पराधीनता हुई न? तो मानव सुख में भी पराधीन रहता है और दुःख में भी।

अब कल्पना करो कि यदि किसी की माँग स्वाधीनता है, तो उसके लिए सुख और दुःख में क्या भेद मालूम होगा? कोई नहीं। तो स्वाधीनता की जो माँग है जीवन में, वह कब पूरी होगी? जब जीवन में सुख का कोई महत्त्व न रहे और दुःख का कोई भय न रहे। अर्थात् जब सुख का प्रलोभन और दुःख का भय नहीं रहता, तब अपने आप स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाते हैं।

अब आप देखिए, सुख तो रहता नहीं, हम केवल प्रलोभन रखते हैं। तो जो नहीं रहता उसका प्रलोभन क्या अर्थ रखता है? जैसे, किसी से कहा जाए, कि हमारे जीवन में लालच तो है। बोले, किसका? जो नहीं रहता उसका। तो यही कहेंगे कि तुम बड़े अजीब आदमी हो। अरे भाई, नहीं रहने वाले के लालच से क्या लाभ?

बोले, लाभ हो या न हो, पर लालच है उसी का, जो नहीं है। इसी का नाम भूल है, असत् का संग है कि आज हम उसका प्रलोभन रखते हैं जो नहीं है अथवा यों कह लो भाई, जो नहीं रहता। और भयभीत किससे होते हैं? कि जिसको मिटा नहीं सकते, हटा भी नहीं सकते। अरे भई, जिसके साथ रहना ही है उससे भयभीत होने से क्या लाभ? यदि हम दुःख से भयभीत न हों और सुख का प्रलोभन न रखें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक काम का नाश हो सकता है।

काम का नाश होते ही जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप होती है। पर इस बात को बहुत से लोग मानते ही नहीं हैं। कहते हैं कि नहीं, निष्काम होने के बाद भी जिज्ञासा तब पूरी होगी जब कोई तत्त्वतेत्ता महापुरूष महावाक्य का उपदेश करेंगे। इस प्रकार की धारणा भी है, ऐसा भी लोग मानते हैं।

इस सम्बन्ध में मानव-दर्शन का यह सुझाव है कि भाई, माँग-पूर्ति की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है किन्तु जब आप अपनी ओर से एक धारणा बना लेते हैं कि जब तब कोई दुसरा अर्थात् बाह्य गुरू हमें महावाक्य नहीं सुनाएगा, तब तक साक्षात्कार नहीं होगा। यह आपकी धारणा भले ही आपके लिए इस बात को बताए कि ऐसा करने से ऐसा होगा। किन्तु यह तो बताइए कि जो बाह्य गुरू मिलेगा वह किसकी प्ररेणा से मिलेगा? आप आवश्यकता ही अनुभव करते हैं, पर उस आवश्यकता की पूर्ति तो किसी विधान से ही होती है।

क्या वह गुरूतत्त्व आपको आपके विवेक के रूप में नहीं प्राप्त हो सकता? मेरा तो यह विश्वास है कि विचार का उदय आप में ही होता है। कब? जब आप जिज्ञासा-पूर्ति को ही अपने सामने रखें तब। कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित होकर कामना-अपूर्ति के दुःख के भय से मुक्त होकर अथवा यों कहो कि भयभीत न होने पर स्वतः जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार का उदय होता है। नहीं तो, आप ही बताइए कि जो सबसे पहला गुरू रहा होगा उसका कौन गुरू होगा, तो आप यह बताइए कि सबसे पहले तत्त्व-साक्षात्कार कैसे हुआ होगा? हुआ होगा कि नहीं? आखिर गुरू-परम्परा चली होगी कि नहीं? तो जो सबका गुरू होगा, मानना पड़ेगा कि उसका कोई गुरू नहीं होगा। यदि एक व्यक्ति को भी बिना गुरू के तत्त्व-साक्षात्कार हो सकता है, तो यह विधान तो नहीं

हुआ कि बिना गुरू कि तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य गुरू के द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होगा, यह अर्थ मत लगा लीजिए। पर यह विधान मत बना लीजिए कि बिना बाह्य गुरू के तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होगा। यह तो आपकी अपनी अभिरुचि की बात है, आपकी अवस्था की बात है।

अगर आप यह सोचते हैं कि भाई, जब तक कोई महापुरूष हमें स्वयं महावाक्य नहीं सुनाएगा, तब तक हमें बोध नहीं होगा, तो विधान से आपको कोई ऐसा महापुरूष भी मिल जाएगा और वह सुना भी देगा। किन्तु बोध की माँग किसमें होगी? वह आप में होगी और प्रलोभन और भय से रहित होने पर होगी। जब तक दुःख के भय में हम आबद्ध हैं, तब तक तो जिज्ञसा की जागृति नहीं होती और जब तक प्रलोभन में आबद्ध हो तब जिज्ञासा की जागृति नहीं होगी। तो सुख के प्रलोभन से रहित होना और दुःख के भय से रहित होना, यह तो आपको स्वयं अपनाना होगा।

आप कहेंगे, दुःख के भय से कैसे रहित हों? आप विचार कीजिए कि जब जीवन में सुख का प्रलोभन नहीं रहता, तब दुःख का भय भी नहीं रहता। सुख के प्रलोभन का ही परिणाम है कि जो दुःख के रूप में आपको प्रतीत होता है। क्यों ? जहाँ कामना-पूर्ति का ही प्रश्न नहीं है, वहाँ अपूर्ति का दुःख कैसे हो जाएगा? इससे क्या सिद्ध हुआ? कि एकमात्र सुख के प्रलोभन का ही त्याग करना है। अथवा यों कहो कि अब हमें स्वाधीन होना है, पराधीन नहीं रहना है। इस माँग को ही जाग्रत करना है कि हम किसी भी प्रकार पराधीन होना स्वीकार न करें। पराधीन रहना स्वीकार न करें, तब अपने आप स्वाधीनता यानी 'स्व' में, अपनें में अपनी आस्था होगी।

पराधीनता का वास्तविक रूप क्या है? अपने में अपनी आस्था का न होना। पराधीनता है, तो आप अपने में अपनी आस्था ही नहीं कर सकते। तब आप अपने में अपने को सन्तुष्ट कैसे रख सकते हैं? जिसे पराधीनता नहीं भाती, वह अपने में अपनी आस्था करता है। जब वह अपने में अपनी आस्था करता है, तब उसे अपने में अपनी प्रियता प्राप्त होती है। अपने में अपनी प्रियता प्राप्त होने पर समस्त आसक्तियों का स्वतः नाश हो जाता है। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि स्वाधीनता आपको

स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त होती है। किसी 'पर' के आश्रय से स्वाधीनता मिलती हो, ऐसा है नहीं। आप सोचिए कि जो स्वाधीनता स्वाधीनतापूर्वक मिल सकती है, उससे हम क्यों निराश होते हैं? पराधीन होने पर भी पराधीनता सुरक्षित नहीं रहती, उसकी आवश्यकता हम क्यों अनुभव करते हैं? किसी अन्य के द्वारा जो हमें मिलेगा वह सदैव हमारे साथ कभी नहीं रहेगा। जो सदैव रह ही नहीं सकता उसको आप सदैव रखने की बात क्यों सोचते हैं? अर्थात् जो हो ही नहीं सकता, उसको सोचते हैं कि होना चाहिए और जो हो सकता है, उससे निराश हो जाते हैं।

हम अपनें में अपने को सन्तुष्ट रख सकते हैं, हम अपने में अपनी आस्था कर सकते हैं, हम अपने में अपनी प्रियता रख सकते हैं- इससे तो हम हो जाएँ निराश और जो नहीं कर सकते हैं, जो नहीं रख सकते हैं, उसकी करें आशा। यही न पराधीनता है?

बहुत दिन की बात है, एक सन्त ने अपनी ओर से करूणा से पीड़ित होकर मेरे सम्बन्ध में कहा कि महाराज जी की सेवा करें और उसको पूरा निभाया। हम लोग दोनों साथ-साथ थे। कुछ ऐसी बात हो गई कि जिससे उनके मन में यह बात आ गई कि अब हम अलग हो जाएँ। मिलन के साथ-साथ अलग होना अनिवार्य है। तो जब उन्होंने कहा कि हम अलग होना चाहते हैं-आप जानते हैं कि जो पराधीन होता है उसको यह बात अच्छी नहीं लगती-तो मेरा चित्त कुछ उदास हुआ। मुझको उदास देखकर उन्होंने कहा कि देखो, मैं एक बात कहता हूँ-बड़े अच्छे सन्त थे वे-जो कोई घर छोड़ता है, वह किसी व्यक्ति के लिए नहीं छोड़ता। तुम यह बात अपने जीवन में से निकाल दो कि कोई मेरे साथ रहे। यदि तुम प्रीतिपूर्वक भी यह बात रखोगे, तो तुम्हारा चूँकि निर्बल पक्ष है, इसलिए दूसरा आदमी यही समझेगा कि यह अपने सुख के लिए साथ रखना चाहते हैं। इतना कहकर अन्त में वे बड़े प्रसन्न हुए, बड़ा दुलार किया और कहने लगे कि नारायण! जब फिर मिलेंगे, तो इसी प्यार से मिलेंगे। उनके इस आदेश-सन्देश से मुझे बड़ा लाभ हुआ। ऐसा मालूम हुआ मुझको कि मानो, मैं जीवन भर के लिए बिल्कुल स्वाधीन हो गया। जब मैं उनसे अकेला होकर रहने लगा, तो मुझको कोई असुविधा नहीं हुई। ऐसी कोई बात नहीं हुई कि

जिससे मैं यह अनुभव करुँ कि हाय! हाय!! मैं अकेला। सारी आवश्यक बातें अपने आप पूरी होने लगीं।

आप यह सोचते हों कि आपकी कामना आपके कार्य को पूरा करती है, सो नहीं करती। कार्य की पूर्ति तो वैधानिक दृष्टि से होती ही है। हम कामना करके अपने को पराधीन बना लेते हैं। इसके अतिरिक्त कामना से कोई भी लाभ नहीं होता। इसलिए भाई, जो हमारे बिना रह सके, हम उसके बिना सहर्ष रह सकें। रहना तो पड़ता ही है। न रहना पड़े, ऐसी बात नहीं है; किन्तु हर्षपूर्वक नहीं रहते। बस, यही पराधीनता है।

यदि काम का नाश करना हो, तो यह नियम बहुत आवश्यक है कि जो हमारे बिना रह सके, हम उसके बिना सहर्ष रहेंगे। ऐसा निर्णय करते ही अप्राप्त की कामना नाश होगी, प्राप्त से असहयोग होगा। क्यों? हम जानते ही हैं कि एक दिन शरीर भी हमारे बिना रह सकेगा, तो फिर प्राप्त से असहयोग हो जाय अर्थात् अंसगता हो जाए और अप्राप्त की कामना न रहे। तब क्या मिलेगा? तब जिज्ञासा की पूर्ति होगी।

अब आप देखिए, जिज्ञासा-पूर्ति के लिए केवल इतना ही प्रयास है कि जो वस्तुरूप से, योग्यता रूप से, सामर्थ्यरूप से प्राप्त है, उससे असहयोग अर्थात् उसमें अपना तादात्म्य न रखें और जो अप्राप्त है, उसकी कामना का त्याग करें। यह आप स्वाधीनतापूर्वक कर सकते हैं। इसमें आप पराधीन नहीं हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता मिल सकती है। किन्तु आज ऐसा मालूम होता है कि भला, हम जैसे साधारण मानव को कहीं स्वाधीनता मिलेगी! तो मैं आपसे पूछता हूँ, क्या स्वाधीन को स्वाधीनता मिलेगी? उसी को न मिलेगी जो पराधीनता में आबद्ध है? पराधीनता क्या है? प्राप्त में तो हम तादात्म्य कर लेते हैं

और अप्राप्त की हम कामना करते है। इसके अतिरिक्त बताइए, पराधीनता क्या है? प्राप्त के तादात्म्य के अतिरिक्त और अप्राप्त की कामना के अतिरिक्त और तो कोई पराधीनता नहीं है।

अगर हम अनुभव करें कि जो मिला है, जिसे जानने की हम में शक्ति है-जैसे, हम जानते हैं कि हमें बोलने की शक्ति मिली है, सुनने की शक्ति मिली है, देखने की शक्ति मिली है, सोचने की शक्ति मिली है, काम करने की शक्ति मिली है-क्या उससे

हमारा नित्य सम्बन्ध रहेगा? तो आपको स्वयं अनुभव होगा कि बोलते-बोलते, न बोलने की स्थिति आएगी, मिलना वियोग में बदलेगा अथवा यों कहिए कि बदल रहा है। जब हम और आप यह जानते ही हैं, तो तादात्म्य तोड़ने में क्या कठिनाई होगी? अब आप कहेंगे कि तादात्म्य तोड़ना तो चाहते हैं, पर नहीं टूटता। वह तो इसलिए नहीं टूटता कि आप निर्ममता और निष्कामता को नहीं अपनाते। यदि आप अपना भी लेते हैं, तो निर्ममता से उदित निर्विकारता और निष्कामता से प्राप्त जो शान्ति है उसको अपने में आरोप कर लेते हैं। आप इस बात का रस लेने लगते हैं कि मैं निर्विकार हूँ, मैं शान्त हूँ। अर्थात् किसी-न-किसीअवस्था से तद्रूप हो जाते हैं। निष्काम होना है; पर निष्कामता से जो शान्ति प्राप्त होती है उसमें रमण नहीं करना है। निर्मम होना है; किन्तु निर्ममता से जो निर्विकारता प्राप्त होती है उसमें जीवन-बुद्धि नहीं रखना है।

अगर कोई यह कहे कि जब हम निर्विकारता में, शान्ति में जीवन-बुद्धि नहीं रखेंगे, तब क्या निर्विकारता और शान्ति रहेगी? रहेगी। क्यों? सत्संग से जो चीज प्राप्त होती है वह अविनाशी होती है। तो मिले हुए की ममता का त्याग सत्संग है, अप्राप्त की कामना का त्याग सत्संग है। सत् के संग से जो प्राप्त होगा वह अविनाशी होगा और असत् के संग से जो प्राप्त होगा वह नाशवान् होगा। ममता के आधार पर आपको जो सुख मालूम होता है वह सदैव नहीं रहता। कामनापूर्ति के आधार पर जो आपको सुख मालूम होता है वह सदैव नहीं रहता। क्यों नहीं रहता? असत् के संग से जो मिलता है वह सदैव रहता ही नहीं और सत् के संग से जो मिलता है उसका कभी नाश होता ही नहीं। अब आप कहें कि जब नाश होता ही नहीं, तो निर्विकारता में और शान्ति में जीवन-बुद्धि रखने से क्या हानि होगी? हानि यह होगी कि आप में परिच्छिन्नता बनी रहेगी। जिसमें जगत् का बीज, तत्त्व की जिज्ञासा और प्रीति की लालसा है, वही तो अहंभावरूपी अणु है, जिसमें यह तीनों चीजें मौजूद हैं।

यदि आप शान्ति में रमण करेंगे अथवा अपने में दिव्य गुणों का आरोप करके अपने में सन्तुष्ट होंगे, तो अहंरूपी अणु ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहेगा। जब तक वह सुरक्षित रहेगा, तब तक किसी-न-किसी रूप में सत् से दूरी रहेगी। दूरी के रहते हुए नित्य-

योग नहीं हो सकता, भेद के रहते हुए बोध नहीं हो सकता और भिन्नता के रहते हुए अगाध प्रियता नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए इस अहंरूपी अणु का अन्त करना अनिवार्य है। उसके बाद ही तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति होती है।

अहंरूपी अणु का नाश कैसे होगा? निर्ममता से जो निर्विकारता प्राप्त हुई और निष्कामता से जो शन्ति मिली उसका आश्रय हम न लें, उसे अपनी खुराक न बनाएँ। ऐसा न अनुभव करें कि मैं निर्विकार हूँ, मैं शान्त हूँ। ऐसा भोग न करें। जो निर्विकारता का भी भोग नहीं करता, जो शान्ति का भोग नहीं करता, उसे स्वाधीनता मिलती है। किन्तु एक विशेष बात यह होती है कि स्वाधीनता भी मिलती है और निर्विकारता तथा शान्ति भी रहती है। तो निर्विकारता का भोग न करने से अथवा शान्ति में रमण न करने से शान्ति भी रही, निर्विकारता भी रही और स्वाधीनता मिली।

आप विचार कीजिए, किसी के आश्रय से जो चीज प्राप्त होती है वह अनन्त नहीं होती, वह आपकी परिच्छिन्नता को नहीं मिटा सकती। शान्ति में रमण न करने से जब स्वाधीनता प्राप्त हुई, तो रमण न करने में आप स्वाधीन हैं, पराधीन नहीं। जैसे, ममता के त्याग में स्वाधीन हैं, कामना के त्याग में स्वाधीन हैं, वैसे ही निर्ममता और निष्कामता से जो दिव्य जीवन प्राप्त होता है, जो विशेषता प्राप्त होती है, उस विशेषता में भी रमण न करें, इसमें आप पराधीन नहीं हैं। रमण न करने का अर्थ क्या होगा? उसका आश्रय लेकर अपना मूल्यांकन न करें।

क्या आप शान्ति के बिना नहीं रह सकेंगे? पर एक बात है, शान्ति आपके बिना न रह सकेगी। आप निर्विकारता के अभिमान से रहित होकर भी रह सकेंगे, पर निर्विकारता आपके बिना न रह सकेगी। यह स्वाधीनता की महिमा है कि समस्त दिव्य जीवन स्वाधीनतापूर्वक सदैव रहता है। क्यों? स्वाधीन किसी का भोगी नहीं है। जो किसी का भोगी नहीं है उससे किसी को भय नहीं है। आप मानें या न मानें, भोक्ता से सभी को भय होता है। क्यों? वह उसके विनाश में हेतु है, यों। अपना नाश करने वाले से सभी को भय होगा कि नहीं? अगर भोजन बोलता होता, बात करता होता, तो आपको देख कर काँप जाता कि आया, मुझे खा जाएगा। तो भोक्ता सभी को भय देता है और स्वयं पराधीन रहता है। क्यों? जो दूसरे को

भय देगा वह स्वयं स्वाधीन कैसे हो सकता है?

इस दृष्टि से अगर आप विचार करेंगे, तो जिसके जीवन में भोग की रूचि नहीं है अर्थात् जो पराधीनता में सन्तुष्ट नहीं है, वही स्वाधीन होता है और स्वाधीन होते ही समस्त दिव्य गुण, जैसे निर्विकारता, शान्ति, समता आदि समस्त दिव्य गुण स्वतः प्राप्त होते हैं। किन्तु उनमें भी अपने को आबद्ध नहीं करना चाहिए। नहीं तो, आप दूसरों को विकारी और अपने को निर्विकार मानकर मिथ्या अभिमान में आबद्ध हो जाएँगे। अभिमान के रहते हुए परिच्छिन्नता का नाश हो जाए, पराधीनता का अत्यन्त अभाव हो जाए, यह कभी सम्भव नहीं है। इससे क्या सिद्ध हुआ? आप स्वयं इतने सुन्दर हैं कि समस्त दिव्य गुण आपसे आश्रय पाते हैं। किन्तु जब आप अपनी सुन्दरता को भूल जाते हैं, तब गुणों का आरोप करके अपनी महिमा मानने लगते हैं। जहाँ आपने अपने सौन्दर्य को भुलाया और पराधीनता को स्वीकार किया; बस, फिर तो जीवन में अभाव ही अभाव रहेगा, और कुछ नहीं रह सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप में जो स्वाधीनता है वह आपकी उपार्जित है। यह इसका अर्थ मत लगाइए।

इसके सम्बन्ध में विचार कीजिए कि वह कौन है, जिसने आपको स्वाधीनता प्रदान की? अगर आप इस पर विचार करेंगे, तो आपको यह मानना ही पड़ेगा कि कोई हम सबका अपना है, जिसे हम जानते नहीं हैं। आप कहें कि नहीं-नहीं, स्वाधीनता तो हमारी अपनी वास्तविकता है। तो यह तो बताओ भाई, पराधीनता में आबद्ध क्यों हो गए? तब आप कहेंगे कि भूल से हैं। जब आप भूल सकते हैं और कहीं फिर भूल गए तो? तो पराधीन हो जाएँगे कि नहीं? इससे यह सिद्ध होता है कि भूल तो हमारी उत्पन्न की हुई है और भूल मिटाने कि लिए जो विवेक रूपी प्रकाश मिला है वह किसी की देन है। जिसकी वह देन है वही आपका अपना है। आपने स्वयं उसको भुलाया है, उसने आपको नहीं भुलाया। सोचें, वह कौन हमारा अपना है कि जिसने हमें स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश कराया है? यदि

आप उसमें आत्मीयता स्वीकार करते हैं आस्थापूर्वक, श्रद्धापूर्वक, विश्वासपूर्वक; तो बड़ी ही सुगमता से आपमें जो प्रियता की माँग है उसकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य क्या

निकला? काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रियता की प्राप्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस पूर्णता से किसी भी भाई को, किसी भी बहन को किसी भी परिस्थिति में और कभी भी निराश नहीं होना चाहिए।

जब हम वास्तविक जीवन से निराश नहीं होते, तब अपने आप उस जीवन की माँग ममता, कामना के त्याग की शाक्ति प्रदान करती है। यह माँग की महिमा है कि वह काम को खा लेती है और जब काम को खा लेती है, तब माँग पूरी होती है। किन्तु आज हम इस रहस्य को भूल जाते हैं और सोचने लगते हैं कि भला, हम साधारण आदमियों को इस परिस्थिति में क्या निर्विकारता मिल सकती है, परम शान्ति मिल सकती है, हम स्वाधीन हो सकते हैं? अरे भाई, क्यों नहीं हो सकते? बताओ तो सही कि इस कारण से हम नहीं हो सकते।

आजकल लोग क्या कहते हैं? ममता कैसे छूटेगी, कामना कैसे मिटेगी? अजी, ममता अगर अपने आप छूटेगी, तो होती ही नहीं। क्यों? जो चीज आपने बनाई है उसको कोई और नहीं मिटा सकता। वस्तु आपको मिली, किन्तु उसको आपने अपनी मान लिया। अपनी मर्जी से, कि किसी के कहने से? यह जानते हुए भी कि जो मिला है वह सदैव नहीं रहता। किस भाई को किस बहन को इस बात का ज्ञान नहीं है कि यहां है कि यहाँ आकर बैठे हैं और उठना पड़ेगा जो मिला है अलग होगा? बहुत सी ऐसी चीजें थीं जो आपको मिली थीं, और आज नहीं हैं। तो बताइए, जब आप यह जानते ही हैं, तो इस जाने हुए का अनादर करके आपको कैसे निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता मिलेगी? नहीं मिलेगी। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि जाने हुए का आदर अनिवार्य है प्रत्येक भाई और बहन के लिए। इसमें कोई कन्सेशन नहीं होगा। आप यह सोचें कि हम जाने हुए का आदर बिना करे निर्विकारता, परम शान्ति और स्वाधीनता को प्राप्त कर ले। कभी नहीं कर सकते।

जाने हुए का आदर करने पर आपको निर्विकारता न मिले, परम शान्ति न मिले, स्वाधीनता न मिले-यह हो ही नहीं सकता। तो मूल प्रश्न क्या रहा? हमें और आपको केवल जाने हुए का आदर करना है, कोई नई बात नहीं जानना है। यह जो भ्रम हो गया है कि हम पोथी पढ़ कर या किसी सत्पुरूष के पास जाकर कोई नई बात जानेंगे, यह बड़ी भ्रमात्मक धारणा है। हाँ, जाने

हुए में जो विकल्प करते हैं, वह नहीं रहेगा। अगर किसी ग्रन्थ से कोई लाभ होता भी है, किसी गुरू से कोई लाभ होता भी है, तो केवल इतना ही होता है कि हम अपने आप अपने जाने हुए में विकल्प कर लेते हैं और किसी महापुरूष ने कह दिया कि नहीं भाई, इसमें विकल्प न करो। ठीक है। या किसी ग्रन्थ में आपने पढ़ लिया कि विकल्प करना ठीक नहीं है, तो आपने जाने हुए का आदर कर लिया। बस, फिर आप निर्विकार हो सकते हैं, आपको शान्ति मिल सकती है, आपको स्वाधीनता मिल सकती है। इन बातों के लिए, आपको किसी पर विश्वास नहीं करना है, कोई और प्रयास नहीं करना है। केवल जाने हुए का आदर करने से ही आपको निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता मिल सकती है।

जाने हुए का आदर करना और ममता, कामना का त्याग करना, बिल्कुल एक ही बात है। जैसे, आप यह जानेंगे कि मिला हुआ अपना नहीं है। यह तो ज्ञान हुआ कि मिला हुआ अपना नहीं है। इसका फल क्या हुआ? निर्ममता। अब आप देखिए, "मैं निर्मम हूँ," ऐसा चिन्तन भी नहीं करना पड़ेगा। केवल यह जानना ही है कि मिला हुआ मेरा अपना नहीं है। मिला हुआ मेरा अपना नहीं है, यह बात तो आप जानते हैं। इस जानने में विकल्प रहित होना है।

हाँ भैया! मिला हुआ मेरा नहीं है और सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं। आप भी जानते हैं कि पूरी नहीं होतीं। जो नहीं होती उसको जमा क्यों रखना? अर्थात् मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ नहीं है-यह किसका परिणाम है? यह इस बात का परिणाम है कि आप जानते हो कि जो मिला है वह सदैव नहीं रहेगा; अतः मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ नहीं है-क्या इस ज्ञान में जीवन नहीं है? है। परन्तु हम विकल्प कर बैठते हैं और सोचने लगते हैं कि किसी पोथी को पढ़ेंगे, तब हमारे जीवन में निर्ममता आएगी। किसी गुरू के पास जाएँगे, तब हम निष्काम हो जाएँगे। यदि किसी दूसरे के द्वारा निर्ममता और निष्कामता मिल सकती होती, तो संसार में ऐसे-ऐसे उदार हैं जो आपको निष्कामता, प्रदान कर देते। दूसरे लोग परामर्श दे सकते हैं, इस बात का समर्थन कर सकते हैं। पर आपकी ममता आपको छोड़नी है, न अपने आप मिटेगी और न उसे कोई छुड़ा पाएगा।

अब आप सोचिए कि आप कब तक अशान्ति में, विकारों में, पराधीनता में रहना चाहते हैं? यह मत सोचिए कि हम कब निर्विकार होंगे, कब हमें शान्ति मिलेगी, कब हम स्वाधीन होंगे। यह न सोच कर यह सोचिए कि भाई, कितने दिन हो गए पराधीनता में रहते हुए, अशान्ति के साथ रहते हुए, विकारों में आबद्ध रहते हुए! अब तो हमको विकारों में आबद्ध नहीं रहना है, पराधीन नहीं रहना है, अशान्ति नहीं रखना है। जब आपने यह निर्णय किया कि नहीं रखना है, तब आपके लिए निर्ममता, निष्कामता क्या कठिन होगी भैया? बिल्कुल कठिन नहीं होगी, सहज होगी, सुगम होगी, अत्यन्त सुगम होगी। किन्तु आप सोचते क्या हैं? क्या बताएँ, ममता नाश नहीं होती, कामना नाश नहीं होती! तो अपने आप ममता और कामना कभी नाश नहीं होती, यह आप भी जानते हो और मैं भी कह दूँ कि नहीं होगी।

यदि आप यह चाहते हैं कि ममता और कामना का नाश हमें करना है, तो अभी कर सकते हैं और अपने द्वारा ही कर सकते हैं। आप कहेंगे, ऐसा कहने मात्र से क्या हो जाएगा कि मेरा नहीं है? तो मैं आपसे पूछता हूँ कि यह जो विकार उत्पन्न हुआ है वह कहने मात्र से हुआ है या कोई विकार जैसी चीज आपने देखी है क्या? बताइए जरा। जब आप वस्तु को अपना मानते हैं, तब लोभ आता है। जब आप किसी व्यक्ति को अपना मानते हैं, तब मोह की उत्पत्ति होती है। क्या बिना अपना मानें मोह की उत्पत्ति होती है? आप कहेंगे, वस्तु को अपना न मानें, तो उसकी सुरक्षा कैसे होगी, उसका उत्पादन कैसे होगा? भाई देखो, अपना मानने से सुरक्षा होती, तो बहुत सी वस्तुएँ आज आपके पास नहीं। क्या किया, क्या सुरक्षा की आपने? मैंने तो कभी नहीं सोचा था कि आँखें मेरी नहीं हैं, लेकिन कहाँ हैं? किसी बुड्ढे ने कभी नहीं सोचा था कि जवानी मेरी नहीं है, पर वह जवानी कहाँ है? जरा विचार तो कीजिए।

आपके अपना न मानने से वस्तु नहीं रहेगी अथवा मानने से रहेगी, यह कोई सिद्धान्त नहीं है। अपना मानो तो और अपना न मानो तो, वस्तु के रहने और न रहने में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। किन्तु अपना न मानने से निर्विकारता मिलेगी। कामना के त्याग से शान्ति मिलेगी। कामना से कामना पूरी होती हो, ऐसा नियम नहीं है। कामना यदि पूरी होती है तो विधान से, कामना से नहीं। वस्तु यदि रहती है तो

विधान से, ममता से नहीं। तो जब हम और आप इस बात को जानते ही हैं कि ममता और कामना से केवल अशान्ति और विकारों की ही उत्पत्ति होती है और उससे कोई लाभ नहीं होता। तो जिससे कोई लाभ नहीं होता और बहुत बड़ी क्षति होती है, आज उसके लिए आप कहते हैं कि बड़ा कठिन है। यानी देखिए, तीन बातें हैं-कर सकते हों, परम लाभ हो, कोई हानि न हो। फिर भी न करें, तो इससे बढ़कर बेसमझी क्या होगी? कौनसा गुरू आपको ऐसा ज्ञान देगा, कौनसी पोथी आपको ऐसा पथ दिखाएगी कि जब आप यह कहेंगे कि हाँ, अब हम कामना और ममता को छोड़ सकते हैं? जबकि आप छोड़ सकते हैं और आप जानते हैं कि इससे बड़ी भारी क्षति है, हानि है। तो क्या नहीं छोड़ पाएँगे? अर्थात् यह कार्य आपको अभी-अभी करना होगा, अपने द्वारा करना हो। आप कर सकते हैं।

अब आप सोचिए कि जिसे आप अपने द्वारा अभी कर सकते हैं, उसको कभी पर छोड़ देना, इससे बढ़कर क्या कोई असावधानी, जड़ता, प्रमाद हो सकता है? आपको मानना पड़ेगा, नहीं हो सकता। इसलिए भाई, अभी-अभी अपने ही द्वारा यह अविचल निर्णय कीजिए-मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। उसके पश्चात् निर्विकारता और शान्ति में रमण मत कीजिए। जब निर्विकारता और शान्ति में रमण नहीं करेंगे, तब असंगता अपने आप आएगी। असंगता के लिए आपको प्रयास नहीं करना है, वह अपने आप आएगी। जब असंगता अपने आप आएगी, तो असंगता के आते ही अवस्थातीत, परिस्थिति-अतीत, वस्तु-अतीत जीवन से अभिन्नता अपने आप होगी। किन्तु यदि उसमें भी आपने यह स्वीकार कर लिया कि, सन्तुष्ट रहूँगा यानी स्वाधीनता में सन्तुष्ट रहूँगा, चिन्मय जीवन में सन्तुष्ट रहूँगा, अमर जीवन में सन्तुष्ट रहुँगा-तो आप में यह भेद बना रहेगा कि मैं मुक्त जीव हूँ और सब बद्ध जीव हैं, मैं गुरू हूँ और सब शिष्य हैं, मैं विशेष हूँ और सब सामान्य हैं।

इस प्रकार के भेद का नाश कब होगा? जबकि असंगता से जो स्वाधीनता प्राप्त हो उसमें भी सन्तुष्ट नहीं होना है। अर्थात्, मैं स्वाधीन हूँ-इस प्रकार के महत्त्व का अपने में आरोप नहीं करना है। अथवा यों कहो कि स्वाधीनता का भी भोग नहीं करना है। स्वाधीनता का भोग न करने पर आप पराधीन हो जाएँगे, ऐसी बात नहीं

है। पर एक बात हो जाएगी कि अहंभाव रूपी जो अणु है वह नाश हो जाएगा। उसके नाश होते ही आपके जीवन में स्वतः प्रेम का प्रादुर्भाव होगा। यह नहीं कि आप प्रेम न चाहें, तो आपको प्रेम न मिले। सत्य कहते ही उसको हैं कि जो न चाहने पर भी मिलता है और असत्य कहते ही उसको हैं जो चाहते हुए भी नहीं मिलता।

अतः प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता और अगाध प्रियता अवश्य प्राप्त होगी। पर कब? जब जाने हुए असत् का त्याग करें तब। इस दृष्टि से यदि हम और आप विचार करेंगे, तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाएगा कि सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

33(ब) संकल्प निवृतिसे जो शान्ति,शक्ति,स्वाधीनता मिलती है।

सच बात तो यह है कि हम लोग अपने को सामने रख कर नहीं सोचते। उसका परिणाम यह हुआ है कि साधक यह नहीं जान पाता कि मेरी अपनी वास्तविक समस्या क्या है। करना, जानना और मानना-इस प्रकार तीनों प्रकार की शक्तियों में प्राणी रमण करता है। करने का अर्थ है, जिससे किसी का अहित न हो। जानने का अर्थ है, जिससे निस्संदेहता प्राप्त हो जाए और मानने का अर्थ है, जो अविचल श्रद्धा जाग्रत कर दे। इन तीनों की एकता में साधन की पूर्णता और साधन की पूर्णता में सिद्धि।

हम और आप जो कुछ करते हैं, उससे किसी का अहित तो नहीं होता, किसी को हानि तो नहीं पहुँचती, किसी का अनादर और तिरस्कार तो नहीं होता-इस बात पर अगर आप ध्यान देते हैं, तो आप सचमुच अपने कर्त्तव्य को जानते हैं। जब प्राणी यह भूल जाता है कि हम जो कुछ कर रहे हैं उससे दूसरे का भले ही अहित हो, पर हमें तो करने में ही रस मिलता है, सुख मिलता है। यह बात जब तक जीवन में रहती है, तब तक मनुष्य की तो कौन कहें, हम अपने को पशु संज्ञा में भी नहीं रख सकते। पशु जानबूझ कर किसी को हानि नहीं पहुँचाता। वह तो प्रकृति के विधान में बँधा हुआ सुख-दुःख भोगता है। उसमें यह शाक्ति नहीं है कि वह भूखा हो, उसकी भोजन-

सामग्री मौजूद हो और न खाए, यह सामर्थ्य पशु में नहीं है। भूख न हो और खाए, यह सामर्थ्य भी उसमें नहीं होती। इसलिए पशु जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न नहीं है।

कर्त्तव्य का प्रश्न उसी जीवन में आता है कि जिस जीवन में हित और अहित का, भले और बुरे का, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान है। वह ज्ञान जिसे हम कर्त्तव्य का ज्ञान कहते हैं मानवमात्र में मौजूद है। ध्यान दीजिए, ज्ञान एक प्रकार का प्रकाश है। ज्ञान किसी पर शासन नहीं करता। यदि ज्ञान शासन करता होता, तब तो जीवन में अकर्त्तव्य का प्रश्न ही नहीं आता। आप कहेंगे कि भाई, ज्ञान को शासन करना चाहिए। जो शासन करता है वह हमेशा जड़ता में आबद्ध रहता है। ज्ञान तो पथ-प्रदर्शन करता है, आपको कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य ठीक-ठीक बताता है। आप उसकी बात मानें, न मानें, इसमें आप स्वाधीन हैं। इसलिए प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को करने से पूर्व अपने ज्ञान के प्रकाश में उन संकल्पों को रखना चाहिए, जिन्हें पूरा करना चाहते हैं।

संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन में प्राणी कभी-कभी वह कर बैठता है जो उसे नहीं करना चाहिए। यदि जीवन में से संकल्पपूर्ति का प्रलोभन निकल जाए, तो फिर अकर्त्तव्य का जन्म ही न हो। जो कुछ बुराई जीवन में आती है, वह तभी आती है, जब हम अपने संकल्प को पूरा करने में लग जाते हैं और दूसरे के संकल्प पर ध्यान नहीं देते। यद्यपि संकल्प-पूर्ति में जो महत्त्व है वह तभी है, जब जिनके द्वारा संकल्प की पूर्ति हो वह संकल्प उनका संकल्प हो जाए। तब संकल्प-पूर्ति में जो रस आता है वह रस और किसी प्रकार से नहीं आता। अगर आप बोलना चाहते हैं, तो किसी श्रोता का भी संकल्प होना चाहिए। अगर आप मिलना चाहते हैं, तो किसी मिलने वाले का भी संकल्प होना चाहिए। अगर आप सुनना चाहते हैं, तो किसी वक्ता का भी संकल्प होना चाहिए।

अपने में संकल्प उत्पन्न हो जाए और जिन साधनों से उसकी पूर्ति होती है, वे साधन उपस्थित न हों, तो उस दशा का नाम ही दरिद्रता है, अभाव है। इसलिए प्रत्येक भाई और बहन को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि संकल्प-पूर्ति से जो कुछ मिलता है वह सदैव नहीं रहती। इस कारण संकल्प-पूर्ति का उतना महत्त्व नहीं है, जितना हम लोग मान लेते हैं। इतना ही नहीं, संकल्प-निवृत्ति

से जो शान्ति मिलती है, जो शक्ति मिलती है, जो स्वाधीनता मिलती है, वह शान्ति, वह शक्ति, वह स्वाधीनता किसी भी संकल्प की पूर्ति से नहीं मिलती। इस अद्‌भुत विधान पर जब हम विचार करते हैं, तो एक ऐसा अनुपम प्रकाश मिलता है कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन उस जीवन को बड़ी ही सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं, जो जीवन वास्तविक जीवन है।

इसी आधार पर संकल्प-निवृत्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है। परन्तु लोग सोचते हैं कि जब तक संकल्प पूरा न हो, तब तक तो जीवन ही कुछ नहीं है और इस बात को भूल जाते हैं कि संकल्प-पूर्ति में पराधीनता सदैव रहती है। संकल्प-पूर्ति का सुख स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रहने देगा। इस रहस्य को जान कर हमें अपने सभी संकल्प, यदि हम भौतिक दर्शन पर विश्वास करते हैं, तो समाज के संकल्पों में विलीन कर देना चाहिए। यदि हम अध्यात्म दर्शन पर विश्वास करते हैं, तो सभी संकल्पों से असंग हो जाना चाहिए। यदि हम आस्तिक दर्शन में श्रद्धा रखते हैं, तो प्रभु के संकल्प में अपने संकल्प विलीन कर देना चाहिए। तो बड़ी ही सुगमतापुर्वक संकल्प-निवृत्ति की सामर्थ्य आ जाएगी।

संकल्प-निवृत्ति की सामर्थ्य हमें जड़ता से चेतना की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और असत् से सत् की ओर अग्रसर करेगी। परन्तु यह भी एक बड़ी दुर्गम घाटी है। संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण न करें, यह बड़ी महत्त्व की बात है। क्यों? संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में दुःख की निवृत्ति है, परन्तु अंह की निवृत्ति नहीं है। लोग सोचने लगते हैं कि मुझको कुछ नहीं चाहिए, मैं शान्त हूँ। मैं शान्त हूँ यानी शान्ति का भोग। शान्ति का जो भोग है वह सुख के भोग से बहुत ऊँचा भोग है, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु भोग है और भोग होने के नाते उसमें परिवर्तन भी होता है। इसलिए शान्ति का सम्पादन तो आवश्यक है, परन्तु शान्ति का भोग आवश्यक नहीं है।

अब आप कहेंगे कि भाई, शान्ति का सम्पादन तो कर लिया, पर भोग से कैसे बचें? तो उसका महत्त्व अपने से अधिक न मान लें। ऐसा सोचें कि जैसे संकल्प-पूर्ति का सुख एक अवस्था है, किन्तु उसमें पराधीनता है। ऐसे ही संकल्प-निवृत्ति की शान्ति भी एक अवस्था है। अवस्था जो होती है वह सदैव परप्रकाश्य होती है, स्वयं

प्रकाश नहीं होती। यह नियम है कि जो वस्तु परप्रकाश्य होती है, उसमें परिवर्तन स्वभाव से ही होता है। इस कारण शान्ति का सम्पादन करना है, पर रमण नहीं करना है। तब स्वाधीनता प्राप्त होती है।

स्वाधीनता वह जीवन है जिसमें अभाव और जड़ता की गन्ध भी नहीं है। उस स्वाधीनता को प्राप्त करने में प्रत्येक वर्ग का मानव, प्रत्येक देश का मानव, प्रत्येक समाज का मानव स्वाधीन है। स्वाधीन है स्वाधीनता प्राप्त करने में। क्योंकि स्वाधीनता का साधन भी स्वाधीन ही है। स्वाधीनता प्राप्त कब होती है? जब पराधीनता सहन न हो। बस, यही इसका साधन है। जो पराधीनता सहन नहीं कर सकता उसी को स्वाधीनता मिलती है।

अब आप कहेंगे कि पराधीनता किसको सहन नहीं होती? जो सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त है। सुख की दासता रहते हुए प्राणी पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि रखता है। दुःख का भय रहने से भी प्राणी पराधीनता की ओर ही अग्रसर होता है। तो दुःख का भय न हो और सुख का प्रलोभन न हो। दुःख का भय कैसे मिटे? दुःख के स्वरूप को जानने से। दुःख क्या है, इस पर विचार करो। जब हमारे-आपके मन की बात पूरी नहीं होती, तभी दुःख का अनुभव होता है। उदाहरण लीजिए, लोग कहते हैं कि मुझको यहीं आराम करना चाहिए और मेरे मन में यह बात आ जाए कि मुझको यहाँ से जाना है, तो रहना दुःख बन जाए। मान लीजिए मैं यहाँ रहना चाहूँ और लोग कहें कि चले जाओ, तो जाना दुःख हो जाए। अब आप सोचिए कि यदि रहने में दुःख था, तो जाने में दुःख क्यों मालूम हुआ और जाने में दुःख था, तो रहने में दुःख क्यों मालूम हुआ? इससे यह सिद्ध होता है कि जब हमारे-आपके मन की बात पूरी नहीं होती, तभी दुःख का अनुभव होता है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना ही दुःख है। है पराधीनता, लेकिन मालूम होता है कि इसी में जीवन है; यही जीवन है।

अच्छा मकान नहीं मिला तो जीवन नहीं रहा, अच्छे कपड़े नहीं मिले तो जीवन नहीं रहा, अच्छा भोजन नहीं मिला तो जीवन नहीं रहा। इसका अर्थ कोई भाई, कोई बहन यह न समझ बैठे कि मैं यह चाहता हूँ कि लोगों को अच्छा मकान न मिले, कपड़े न मिलें भोजन न मिले। ऐसा मेरा मतलब नहीं है। मतलब केवल इतना है कि थोड़ा विचार करो। पराधीनता में जीवन है,

इसी का नाम दुःख है और इसी का नाम सुख भी है। आप विचार कारो। सुख-दुःख के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। इसलिए आप देखेंगे कि जब तक सुख रहता है, तब तक दुःख रहता ही है और जब तक दुःख रहता है, सुख रहता ही है। ऐसा आप कभी जीवन में नहीं देखेंगे कि दुःख रहे और सुख न हो और सुख रहे और दुःख न हो, ऐसा कभी नहीं देखेंगे। यदि आपको सुख का अनभुव होता है, तो दुःख का अनुभव जरूर होगा। अगर आपको दुःख का अनुभव होता है, तो सुख का अनुभव जरूर होगा। क्यों? जब मन में कोई बात उठी और जब तक वह पूरी नहीं होती, आप दुःख का अनुभव करेंगे और जब पूरी होगी, तब आप सुख का अनुभव करेंगे।

संकल्प पूरा होने का सुख तभी अनुभव होगा, जब संकल्प उठने का दुःख अनुभव करोगे। बड़ी विचित्र बात है कि दुःख का अनुभव किये बिना सुख का अनुभव होता ही नहीं और सुख का भोग दुःख को जन्म बिना दिये रहता नहीं। यह ऐसी पहेली है कि न जानें, इसमें कितने जन्म बीत गए। लोग सुख के सम्पादन करने का प्रयत्न करते रहे और दुःख से बचने की सोचते रहे। किन्तु सुख से बचने की नही सोची, इसलिए दुःख से नहीं बच सके। अगर आप सचमुच दुःख से बचना चाहते हैं, तो सुख से बच जाइए। जीने की आशा छोड़िए, मरने का भय गया। संयोग का सुख छोड़िए, वियोग का भय गया। आप सोचिए।

सुख से बचने का प्रयास नहीं किया, इसलिए दुःख भोगना पड़ा। अगर आप यह चाहते हैं कि आपको दुःख न भोगना पड़े, तो सुख से छुटकारा लीजिए। सुख से छुटकारा लेने का उपाय है, पराए दुःख से दुःखी होना। पहला उपाय स्थूल उपाय। दूसरों के दुःख से जितना आप दुःखी होंगे, उतना ही आप सुख से छूट जाएँगे। दूसरी बात, बेमन का जीवन, बेसाथी का जीवन, बेसामान का जीवन। आप कहेंगे, अजीब पागल आदमी है। भला जिस जीवन में कोई सामान नहीं, जिस जीवन में साथी नहीं, जिस जीवन में मन नहीं, वह भी कोई जीवन है? परन्तु किसके लिए? जो सुख-दुःख दोनों से छुटकारा पाना चाहता है उसके लिए।

अब यह बात इतनी कठिन मालूम होती है। अगर अपने जीवन को सामने रखकर इसको सोचें कि बेसामान का जीवन कैसा होगा। वह शरीर-रहित होगा, शरीर-सहित नहीं

होगा। अब कोई कहे कि शरीर-रहित जो जीवन है, क्या शरीर के रहते हुए उसका अनुभव हो सकता है? हो सकता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह की बात नहीं है। शरीर-रहित जीवन का अनुभव शरीर के रहते ही हो सकता है। पर है भाई बड़ी कठिन बात। किस दृष्टि से कठिन है? इस दृष्टि से कठिन है कि शरीर को सुरक्षित रखने के लिए ही जीवन भर प्रयत्न चलता रहा और अब एक दम यह बात सामने आ जाए कि भाई, हमको शरीर के रहते हुए शरीर-रहित जीवन चाहिए।

शरीर के रहते हुए शरीर से रहित जीवन कब मिलेगा? जब कर्म, चिन्तन और स्थिति, तीनों से असंगता प्राप्त हो। कर्म से सम्बन्ध न रहे, चिन्तन से सम्बन्ध न रहे और स्थिति से भी सम्बन्ध न रहे। कोई-कोई दर्शनकार तो शरीर से रहित जीवन से इतने घबरा गए कि यह सोचने लगे कि वह जो अमरत्व है उसकी अभिव्यक्ति इसी शरीर में होनी चाहिए। ऐसा लोगों ने सोचा।

एक बात तो सोचिए कि शरीर-रहित जीवन में और शरीर-सहित जीवन में अन्तर क्या है? अन्तर केवल इतना है कि शरीर-रहित जीवन ही सच पूछिए तो जीवन है और शरीर-सहित जीवन तो जीवन की लालसा है। बहुत पहले किसी मित्र को पत्र लिखा था, जिसमें यह बात लिखी थी कि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवन का साधन है, जीवन नहीं।

साधन का महत्त्व साध्य से भी अधिक होता है। परन्तु किसलिए? साध्य की उपलब्धि कि लिए। इस दृष्टि से इस मानव-जीवन की बड़ी महिमा गाई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि महिमा शरीर की है। यह महिमा इस बात की है कि इसी जीवन में वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है। यह जो वर्तमान जीवन है, इसके तीन फील्ड हैं-कर्म का क्षेत्र, चिन्तन का क्षेत्र और स्थिति का क्षेत्र; स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत्, कारण जगत्, इन तीनों से असंग होना है। कैसे? चाह-रहित होकर। देखो, कैसी विचित्र बात है कि चाह-रहित होने से असंगता प्राप्त होती है। तात्पर्य क्या? अचाह, अप्रयत्न और अभिन्नता-यह हुई साधन-सामग्री।

अब बताइए, इस साधन में कहाँ पराधीनता है? चाह-रहित होने में कोई पराधीन नहीं, अप्रयत्न होने में कोई पराधीन नहीं और अभिन्न होने मे कोई पराधीन नहीं। इसलिए भाई, यदि

आप इस मानव-जीवन का महत्त्व सचमुच जानना चाहते हैं, जो चाह-रहित होने में है। अब चाह-रहित कैसे हों? इसका बड़ा सीधा-सादा उपाय है। आप स्वयं अपने विचार से इस बात को जानें कि चाह का उद्गम स्थान क्या है? तो मानना पड़ेगा कि किसी-न-किसी प्रकार की स्वीकृति अथवा दृश्य के साथ तादात्म्यभाव। स्वीकृति के दो भाग हैं, एक वह भाग जो कर्त्तव्य का प्रतीक है और एक वह भाग जो भोग की रूचि को जन्म देता है।

कर्त्तव्य की प्रतीक कौन सी स्वीकृति है? जिस स्वीकृति को आपने प्रकाशित किया है। भोग की रूचि किससे उत्पन्न होती है? जिससे आपने तद्रूपता स्वीकार की है, तादात्म्य भाव, देह के साथ तादात्म्य भाव। इस स्वीकृति ने भोग की रूचि को जन्म दिया। साधनरूप मान्यता की जो स्वीकृति है, जैसे आप किसी के भाई हैं, किसी के पुत्र हैं, किसी के पिता हैं, किसी के मित्र हैं, किसी संस्था के सदस्य हैं, किसी समाज के व्यक्ति हैं इत्यादि-इत्यादि। यह जितनी भी स्वीकृतियाँ हैं वे सब कर्त्तव्य की प्रतीक हैं। इन स्वीकृतियों के आधार पर आपको दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना है, जिससे जो विद्यमान राग है वह नाश हो जाए और अपने अधिकार का त्याग करना है जिससे कि नवीन राग की उत्पत्ति न हो जाए।

साधनरूप स्वीकृतियाँ अभिनय के स्वरूप में पूरी हो सकती हैं। और तादात्म्यरूप जो स्वीकृतियाँ हैं वे निज-विवेक से मिट सकती हैं। निज विवेक के प्रकाश में जब आपने 'यह' से अपने को अलग जाना; क्या जाना, यह बात नहीं। इसमें जरा दार्शनिक द्वन्द्व है। कोई कहेगा कि मैं जीव हूँ, कोई कहेगा कि मैं ब्रह्म हूँ। यह सब विश्वास-मार्ग है। पर इस बात को सभी कहेंगे कि "यह", "मैं" नहीं है। इसमें किसी का द्वन्द्व नहीं है। तो "यह", "मैं" नहीं है, इसका फल यह होगा कि भोग की रूचि का नाश हो जाएगा। भोग का नाश हो जाएगा, यह मत सोचिए। भोग की रूचि का नाश। भोग माने, सुख-दुःख रहेगा, पर भोग की रूचि नहीं रहेगी।

भोग की रूचि का नाश होने से सहज योग। सहजयोग माने, वह योग जिसमें श्रम अपेक्षित नहीं है, वह प्राप्त होगा। उस सहज योग से ही "यह", "मैं" नहीं हैं, इस बात का दश्ढ़ बोध होगा। तो फिर "मैं" है क्या? मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि "मैं" माने, अनन्त की प्रीति। आप लोग भी

सोचिए।अगर आपको यह मालूम हो कि "मैं" माने, आत्मा या "मैं" माने, ब्रह्म या "मैं" माने, जीव। अपने को इसमें विरोध नहीं है। लेकिन जीव किसे कहेंगे आप? प्रभु के प्रेम का नाम जीव होगा। आत्मा किसे कहेंगे आप? आत्मा का अर्थ होता है कि जिससे भिन्नता स्वीकार न हो सके; जिससे भिन्नता न हो सके, जिससे विभाजन न हो सके। जिससे विभाजन नहीं होता, वह है प्रेम। प्रेम ही एक ऐसा तत्त्व है कि जो विभाजन नहीं होने देता।

'यह' से अतीत जो है वह है, 'है' का प्रेम। प्रेम कोई श्रम तो है नहीं भाई, कोई अभ्यास भी नहीं है, कोई विचार भी नहीं है। लेकिन एक बात सोचिए कि प्रेम स्वभाव से ही रसरूप है; रसरूप होने से काम का नाशक है और काम का नाशक होने से निर्विकार है। तो वह निर्विकार जीवन जो कि रसरूप है, कब प्राप्त होता है?'यह'से तादात्म्य न रहने पर।'यह' से तादात्म्य-भाव कैसे नाश होता है? निज ज्ञान के प्रकाश से, और किसी प्रकार से नहीं।

निज ज्ञान का प्रकाश तीन भागों में बँट जाता है- कर्त्तव्य में, असंगता में और विश्वास में। आप कहेंगे, कैसे? विवेक-विरोधी कर्म का जो त्याग है इसी का नाम है, कर्त्तव्य-विज्ञान। विवेक-विरोधी विश्वास का जो त्याग है उसी का नाम है, प्रभु-विश्वास। विवेक विरोधी सम्बन्ध का जो त्याग है उसी का नाम है, समाधि से असंगता, सभी अवस्थाओं से असंगता। यह तीन बातें-अवस्थाओं से असंगता, विवेक-विरोधी कर्म का त्याग और विवेक-विरोधी विश्वास का अभाव। जहाँ विवेक-विरोधी कर्म का त्याग हुआ कि सुन्दर समाज का निर्माण हो गया। जहाँ विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग हुआ कि निर्विकार जीवन प्राप्त हो गया। जहाँ विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग हुआ कि सद्गति हो गई।

आप सोचिए-सद्गति, निर्विकारता और कर्त्तव्यपरायणता, यह तीनों बातें एक ही जीवन में हैं; तीन जीवन में नहीं। इसका चित्र क्या बनता है? कर्त्तव्यपरायणता से तो शरीर विश्व के काम आ जाता है, निर्विकारता से हृदय प्रेम से भर जाता है और असंगता से निरभिमानता आ जाती है। तो जीवन का चित्र क्या बना? शरीर विश्व के काम आ जाए, हृदय प्रेम से भर जाए और अंह अभिमान-शून्य हो जाए, अभिमान-रहित हो जाए। यह है, आपका अपना मानव-जीवन। इस जीवन की प्राप्ति में हम सब सर्वदा

स्वाधीन हैं। इसका साधन है-चाह रहित होना, प्रयत्न रहित होना और अभिन्न होना।

कोई और है नहीं, तो अभिन्नता हो गई। कोई और नहीं है, इस अभिन्नता में जो रस है वह बड़ा ही विलक्षण रस है। किसी और की सत्ता ही स्वीकार नहीं की, तो अहं का नाश हो गया, दूरी मिट गई, भेद मिट गया। अथवा यों कहो कि योग, ज्ञान, प्रेम की अभिव्यक्ति हो गई। लेकिन यह अभिन्नता अप्रयत्न के बिना ठहरती नहीं। तो साधन निकला-चाह रहित होना। चाह रहित होना। चाह रहित होकर हम सब वर्तमान में ही वास्तविक जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। यह बात मैंने आपको अपनी ओर से निवेदन की। मैं यह सोचता हूँ कि किसी बात को दोहराने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

34(अ) दु:खका प्रभाव सुखमें दु:खका दर्शन।

बड़े हर्ष की बात है कि अनन्त की अहैतुकी कृपा से आज हमें और आपको परस्पर में पुनः विचार-विनिमय करने का सुअवसर मिला है। अभी हमने-आपने सुना कि साधनयुक्त जीवन ही मानव जीवन है। बात बड़ी सुन्दर है, सच्ची है और हम सबकी अपनी है। यह बात किसी और की बात नहीं है, मानवमात्र की अपनी बात है। इस दृष्टि से अब यह विचार करना होगा कि हमारे और आपके जीवन में असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति कैसे हो?

इस मूल प्रश्न पर विचार करते हुए संघ की नीति ने यह बात बताई कि समस्त असाधनों की उत्पत्ति का कारण असत् का संग है और समस्त साधनों की अभिव्यक्ति सत् के संग निहित है। इसी सिद्धान्त के आधार पर अभी जो जयपुर में विचार-विनिमय हुआ था और संघ की बैठक हुई थी, उसमें यह बात सभी ने बड़ी ईमानदारी से स्वीकार की। अब आवश्यकता इस बात की हो गई है कि प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन के लिए व्यक्तिगत रूप से और पारिवारिक रूप से सोने से पहले और उठने के बाद पहला कार्य सत्संग हो। तभी हम सबका जीवन साधननिष्ठ हो सकता है।

अब आप कहेंगे कि सत्संग का अर्थ क्या है, सत्संग किसे कहते हैं? सत्संग का अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति विशेष आ गया, उसने एक व्याख्यान दे दिया और हम सब लोगों ने श्रवण कर लिया। यह तो सत्संग का सहयोगी साधन है। वास्तव में यह

सत्संग नहीं है। सत्संग का वास्तविक स्वरूप है, अपने जाने हुए असत् का त्याग। किसी और के बताए हुए असत् का त्याग नहीं, किसी और के सिखाए हुए असत् का त्याग नहीं, माने हुए असत् का भी नहीं, अपने जाने हुए असत् का त्याग। आप कहेंगे कि क्या माना हुआ भी असत् होता है? हमने ऐसी बातें सुनी हैं कि जिनमें यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि यह माना हुआ असत् है। जैसे, किसी ने कह दिया कि हाथी के पैर से दब जाना अच्छा है, लेकिन जैन मन्दिर में घुस कर बचना अच्छा नहीं है। यह क्या है? यह माना हुआ असत् है, यह वास्तविक असत् नहीं है।

मानव-सेवा-संघ की नीति में इस बात का बड़ा ध्यान रखा गया है कि हमें इससे मतलब नहीं कि आपका मत क्या है, आपका सम्प्रदाय क्या है, आपकी विचारधारा क्या है। इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो यह देखना है कि आपकी विचारधारा, आपका मत, आपके सम्प्रदाय ने आपको सच्चे माने में मानव बनाया या नहीं। आप इतने सुन्दर हो गए कि नहीं कि आपकी सभी को माँग रहे और आपकी अपनी कोई माँग न रहे। यही मानव का चित्र है। मानव उसे नहीं कहते, जो अपने लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। मानव उसे भी नहीं कहते, जो जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ और भाई, सच बात तो यह है कि मानव उसे भी नहीं कहते, जो प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

चाहे जिस मत का मानव हो, चाहे जिस वर्ग का मानव हो, चाहे जिस विचारधारा का मानव हो, वही मानव है कि जो अपने लिए, जगत् के लिए और प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाए। ऐसा जो मानव-जीवन है, यह जीवन मानवमात्र को प्राप्त होना चाहिए। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि आज हम मूल्यांकन करते समय इस बात को तो भूल जाते हैं और यह सोचते हैं कि हम तभी बड़े आदमी हो सकेंगे, जब हमको अमुक पद की प्राप्ति हो जाएगी। अथवा हम तभी ठीक-ठीक आदमी हो सकेंगे, जब हमारे पास बहुत सा सामान हो जाएगा अथवा हम तभी बड़े आदमी हो सकेंगे, जब हमारे साथ एक बहुत बड़ा संगठन होगा।

इन सब बातों को सामने रखकर हम मानव-जीवन का मूल्यांकन करते हैं। परिणाम उसका यह होता है कि हमारा और आपका जीवन वस्तुओं की, व्यक्तियों की,

विचारधाराओं की, परिस्थितियों की आसक्ति में इतना आबद्ध हो जाता है कि जिस निर्विकारता को प्राप्त करने के लिए जीवन मिला था, वह निर्विकारता तो आती नहीं; किन्तु ऐसे विचार आ जाते हैं कि जो ऊपर से निर्विकारता का भेष बनाते हैं और यह बताते हैं कि हम ठीक बात कहते हैं, हम ठीक बात जानते हैं, हमारा मत बहुत अच्छा है, हमारी विचारधारा से ही संसार का हित होगा। किन्तु स्वंय? स्वयं का तो हित नहीं हुआ।

इस मूल समस्या को हल करने के लिए हम आवश्यकता हो गई कि जो असाधन जीवन में उत्पन्न हो गए हैं, उनका नाश हो जाए और उस स्थान पर साधन की अभिव्यक्ति हो जाए। साधन का अर्थ यह नहीं है कि जिसमें लेशमात्र भी अस्वाभाविकता हो। साधन का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें असमर्थता हो और साधन का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें असिद्धि हो। साधन वही साधन है, जिसमें स्वाभाविक प्रियता हो। साधन वही है, जो अपनी सामर्थ्य के अनुरूप हो और जिसमें सिद्धि हो। इस दृष्टि से आज हमको और आपको विचार-विनिमय करना है। उस साधन की अभिव्यक्ति किसी मत विशेष में ही होती हो, ऐसा मेरा अपना विश्वास नहीं है। उस साधन की अभिव्यक्ति किसी मत में न होती हो, ऐसा भी मेरा विश्वास नहीं है। मेंरा विश्वास है कि उस साधन की अभिव्यक्ति प्रत्येक मत में हो सकती है, प्रत्येक काल में हो सकती है और प्रत्येक परिस्थिति में हो सकती है। परन्तु कब? जब वह मत मानव का अपना मत हो।

आप कहेंगे कि अपने मत का अर्थ क्या है? अपने मत का अर्थ यह है कि जिस मत का प्रादुर्भाव हमारे और आपके जीवन से हो, वह है अपना मत। उस मत का हमें और आपको ज्ञान कैसे हो? इसके लिए ही यह बात बताई गई कि यदि हमें और आपको अपने जीवन में कोई अपना जाना हुआ असत् दिखाई देता हो, समझ में आता हो, तो उसका त्याग करें। त्याग करने का अर्थ क्या है? भूतकाल की घटनाओं के आधार पर वर्तमान को दोषी न मानें, पहली बात तो यह है और उस भूल को पुनः न दोहराएँ। इसका नाम है, जाने हुए असत् का त्याग। मान लो कि कल मुझको क्रोध आ गया और यदि मैंने अपने अहभाव में यह बात अंकित कर ली कि मैं क्रोधी हूँ, तो सच मानिए, क्रोध का नाश नहीं होगा। तो करना क्या चाहिए? भाई, कल मुझे

क्रोध आ गया था और क्रोध जो है वह तो असाधन है। क्यों? क्योंकि क्रोध आने पर कर्त्तव्य की विस्मृति होती है, स्वरूप का प्रमाद होता है और प्रेम का नाश होता है। इतनी बातें क्रोध से होती हैं, यह बड़ा असाधन है। अब मैं क्रोध नहीं करूँगा। तो यह त्याग हो गया। लेकिन उसी समय, मुझमें क्रोध नहीं है, इसकी दृढ़ स्थापना भी करना है।

आप कहेंगे कि अब मैं क्रोधी नहीं हूँ, इससे क्या लाभ होगा? इससे क्या लाभ होगा, यह तो आपका जीवन बताएगा, आपका भविष्य बताएगा। यदि आपने वर्तमान में निर्दोषता की स्थापना की है अपने जाने हुए दोष के त्याग से, तो आप सच मानिए कि आप निर्दोष हो जाएँगे। क्यों निर्दोष हो जायेंगे? इसमें एक दार्शनिक रहस्य है और वह यह है कि दोषों की स्वतन्त्र सत्ता है नहीं। कोई भी दोष स्वतन्त्र सत्ता वाला नहीं है। इसका एक जीता-जागता उदाहरण देखिए, आप अपने सम्बन्ध में सोचिए अथवा किसी अन्य के सम्बन्ध में सोचिए। यद्यपि संघ की नीति में किसी अन्य के सम्बन्ध में सोचने का कोई मूल्य नहीं है, किन्तु हम लोग आदी हो गए हैं दूसरों को सामने रख कर सोचने के। आप अपने सम्बन्ध में अथवा दूसरों के सम्बन्ध में सोचेंगे, तो आपको यह प्रकाश मिलेगा कि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं होता, सर्वदा दोषी नहीं होता, और सभी के लिए दोषी नहीं होता। क्या कारण है भाई? उसका कारण और कुछ नहीं है, उसका एकमात्र कारण यही है कि किसी भी दोष की स्वतन्त्र सत्ता होती ही नहीं। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, वह सर्वांश में हो ही नहीं सकता और सर्वदा रह नहीं सकता। सभी के प्रति उसका उपयोग भी नहीं हो सकता।

इसलिए भाई, इस दार्शनिक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमको और आपको कभी भी इस बात से निराश नहीं होना चाहिए कि निर्दोषता हमारा जीवन नहीं है, निर्दोषता हमारे वर्तमान की वस्तु नहीं है या निर्दोषता से हमारी अभिन्नता नहीं हो सकती। इस बात से कभी भी निराश नहीं होना चाहिए। जब हम और आप इस बात से निराश नहीं होंगे, तब क्या होगा? दार्शनिक भेद से उस निर्दोषता का हम और आप अपना अलग-अलग अर्थ लगाएँगे।

आस्तिक दर्शन पर श्रद्धा रखने वाला कहेगा कि निर्दोषता का अर्थ है, प्रभु की प्राप्ति या प्रेम की प्राप्ति। अध्यात्म दर्शन वाला कहेगा

कि निर्दोषता का अर्थ है, स्वाधीनता की प्राप्ति। भौतिक दर्शन वाला कहेगा कि निर्दोषता का अर्थ है, चिर-शन्ति तथा सुन्दर समाज का निर्माण। लेकिन जरा सोचो तो सही भाई, मानव-जीवन में क्या इन सभी दर्शनों की माँग नहीं है? अगर हम-आप विचार करेंगे तो मानव जीवन में इन तीनों ही दर्शनों का समावेश है, तीनों ही दर्शन मानव जीवन में हैं, तीनों ही की हमें आवश्यकता है।

जब इन तीनों ही की हमें आवश्यकता है, तो फिर मानव-दर्शन क्या हुआ, मानव-दर्शन का चित्र क्या बनेगा? मानव-दर्शन का चित्र हुआ कि मानव-दर्शन सुन्दर समाज का निर्माण भी हो सकता है, अपना कल्याण भी हो सकता है, परम प्रेम की अभिव्यक्ति भी हो सकता है। यह हुआ मानव-दर्शन। जब यह मानव-दर्शन है, तो हम सबकी इससे एकता भी हो सकती है, उसकी प्राप्ति भी हो सकती है। जब उसकी प्राप्ति हो ही सकती है, तो फिर उससे निराश होना भूल है।

दूसरी बात सोचिए कि प्राप्ति उसकी नहीं होती, जो वर्तमान में नहीं है। प्राप्ति उसकी ही होती है, जो 'है'। अच्छा, जिसको आप 'है' कहेंगे वह अविनाशी सिद्ध होगा, और जो अविनाशी सिद्ध होगा, उससे देश-काल की दूरा नहीं रहेगी। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति में असमर्थता, पराधीनता हो ही नहीं सकती। पराधीनता और असमर्थता किसकी प्राप्ति में होती है? जिससे देश की, काल की दूरी हो। तो सत् से न देश की दूरी हो सकती है, न काल की दूरी हो सकती है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं हो सकती, उसकी प्राप्ति में सभी स्वाधीन हैं। लेकिन एक ही पराधीन है। कौन पराधीन? जो प्राप्त करने से इन्कार कर दे, निराश हो जाए। अथवा वह पराधीन, जो अपने जाने हुए असत् का त्याग न कर सके। बाकी तो सत्य की प्राप्ति में सभी भाई, सभी बहन सर्वदा स्वाधीन हैं।

इस दृष्टि से आज यह मौलिक प्रश्न हमारा और आपका अपना प्रश्न हो जाता है। यह किसी और का प्रश्न नहीं है। मानव-सेवा-संघ की नीति में हमें किसी और का प्रश्न हल करना है, यह दम्भ नहीं है। उसमें तो स्पष्ट है कि हमें अपना प्रश्न हल करना है और हमारे प्रश्न के हल होने में हमारा जीवन अपने लिए, जगत् के लिए, प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। यदि हमने अपना प्रश्न हल नहीं किया, तो न तो हमारा जीवन हमारे लिए उपयोगी

होगा, न जगत् के लिए उपयोगी और न प्रभु के लिये उपयोगी होगा।

ऐसा अनुपम अनूठा जीवन हमें और आपको मिला है कि जो सभी के लिए उपयोगी हो सकता है। उस जीवन का महत्त्व हम वस्तुओं के आधार पर न आँकें, पद के आधार पर न आँकें और परिस्थिति के आधार पर न आँकें। वस्तुओं की दासता, पद की दासता, परिस्थिति की दासता मानव को मानव नहीं होने देती।

इस बात पर बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् जो मुझे प्रकाश मिला है वह यह है कि हम मानव होने के नाते बड़े ही सुन्दर हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। आप जानते हैं कि जो स्वयं सुन्दर है उसे किसी और से सुन्दरता नहीं लेनी पड़ती, अपितु उसकी सुन्दरता से और सुन्दर होते हैं। अतः मानव अपनी सुन्दरता से वस्तुओं में सुन्दरता प्रदान कर सकता है, परिस्थिति को सुन्दर बना सकता है, व्यक्तियों को सुन्दरता बाँट सकता है, पद को सुन्दर बना सकता है अपनी सुन्दरता से।

जब हम अपनी सुन्दरता से परिस्थिति को सुन्दर बनाने की बात समझ जाएँगे, तब सच पूछिए, हम सब निर्दोष सिद्ध होंगे। किन्तु आज यह पराधीनता कि हाय! हाय!! क्या बताएँ, अमुक संकल्प पूरा नहीं हुआ, तो मानो, जीवन में कुछ रहा ही नहीं। भाई, जरा सोचो तो सही, ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिसके अनेकों संकल्प पूरे न हुए हों? अनेकों संकल्प हम सबके पूरे हुए हैं। क्या कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा, जो यह कहे ईमानदारी से कि मेरे सभी संकल्प पूरे हो गए? नहीं मिलेगा। कैसा मिलेगा? कुछ संकल्प पूरे भी हुए, पर सभी पूरे नहीं हुए। इसमें रहस्य क्या है? इसमें बड़ा रहस्य यह है कि संकल्प पूरा करना जीवन नहीं है। लेकिन जीवन का एक भाग है कि जिस राग का नाश विचार से न कर सकें, तो भाई, करके देख लो। पर पूरा करने में ही आबद्ध न हो जाएँ, इसके लिए प्रकृति का यह विधान बन गया कि भैया, सभी संकल्प तो पूरे नहीं होंगे। हमारे संकल्पों का पूरा न होना हमारे लिए पथ-प्रदर्शन है, इससे तो हमें प्रकाश मिलता है। संकल्प का पूरा होना जो है वह हमें एक आश्वासन देने वाली बात है, जीवन नहीं है।

इसलिए भाई, हमें और आपको इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि संकल्प-पूर्ति मानव-जीवन नहीं है। किन्तु कोई यह कहे कि संकल्प-

पूर्ति का जीवन में स्थान क्या है? तो संकल्प-पूर्ति का स्थान इतना ही है कि हमारा कोई भी संकल्प ऐसा न हो, जो समाज का संकल्प नहीं है-भौतिक दर्शन। हम संकल्प-पूर्ति की वासना से सर्वदा मुक्त हों-अध्यात्म दर्शन। हमारा संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जाए-आस्तिक दर्शन।

इस दृष्टि से आज हमें और आपको निर्विकल्प होना है। हम और आप संकल्प-पूर्ति में पराधीन हो सकते हैं? आप जरा विचार तो करें। अल्प काल की निर्विकल्पता क्या चिर शान्ति में प्रवेश नहीं कराती? कराती हैं। किन्तु अभी तक हमने यह सोचा ही नहीं कि जीवन में निर्विकल्पता का भी कोई महत्त्व है। जब सोचा तब यही सोचा कि हमारा अमुक संकल्प पूरा हो जाए, हमारा अमुक संकल्प पूरा हो जाए। यह सोचते-सोचते और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग करते-करते तथा संकल्प अपूर्ति के दु:ख का भोग करते-करते न जानें कितने जीवन बीत गए! इस पर चाहे किसी भाई को विश्वास न हो, पर इस बात पर तो विश्वास होगा ही कि इस जीवन का बहुत बड़ा भाग इसी संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में ही बीत गया। किन्तु इससे अतीत भी कोई जीवन है, इस पर दृष्टि ही नहीं गई।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हम सब मानव हैं और मानव होने के नाते उत्पन्न हुए असाधन का नाश कर सकते हैं। उत्पन्न हुए असाधनों का नाश होते ही स्वतः स्वाभाविक रूप से अपने आप साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है। साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन अभिमान के रूप में नहीं रहता, यह बड़ी सुन्दर बात है। जब साधन अभिमान के रूप में नहीं रहता, तब साधक और साधन में दूरी और भेद नहीं रहता। जब साधक और साधन में दूरी और भेद नहीं रहती, तब उसका जीवन स्वतः स्वाभाविक विभु हो जाता है, विधान हो जाता है। वह चाहे हिमालय की कन्दरा में बैठा हो अथवा चाहे आजकल की पद्धति के अनुसार प्राइम-मिनिस्टर बन कर संसार का बड़े-से-बड़ा काम कर रहा हो। दोनों ही का आन्तरिक जीवन एक हो जाता है। दोनों ही से समाज का हित होता है, उनका अपना हित तो होता ही है।

इसलिए भाई, हम सबका जो आन्तरिक जीवन है, आज हमें उसकी ओर दृष्टि डालना है। बाह्य जीवन की ओर देखते-देखते न जानें कितनी

कठिनाइयों का हमने सामना किया और कितना बड़ा-बड़ा पुरूषार्थ किया महाराज! हमारे बहुत से साथी फाँसी के तख्तों पर झूल गये! हमारे बहुत से साथियों ने वर्षों कारागार की वेदना सही, हमारे बहुत-से साथियों के घर बर्बाद हो गये इस बाह्य जीवन के परिवर्तन के प्रयास में। किन्तु वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं देखा। इसलिए भाई, विवश होकर आज यह बात माननी पड़ती है कि हम सबका जो आन्तरिक जीवन है, जो वास्तविक जीवन है, जिस जीवन के बिना जीवन नहीं है, उस जीवन को प्राप्त करने के लिए हम सबको साधननिष्ठ होना है और साधननिष्ठ होने में हम पराधीन नहीं हैं, असमर्थ नहीं हैं। परन्तु भाई, उसके लिए हमको और आपको अपने-अपने जाने हुए असत् का त्याग करना होगा। अगर आप कहें कि भाई, हम असत् जान तो लेते हैं। किन्तु असत् का त्याग नहीं कर पाते।

अभी 27 तारीख को राष्ट्रपति भवन में, एक हमारे मित्र की प्रेरणा से या कैसे, मैं वहाँ गया। हमारे पुराने परिचित भाई मैथिलीशरण गुप्त भी वहाँ बैठे थे। प्रश्न-उत्तर का सत्संग था। मैंने उनसे कहा कि आप कोई प्रश्न कीजिए। शिष्टाचार के नाते जैसे प्रायः लोग कह देते हैं, तो उन्होंने कहा कि पथ-प्रदर्शन कीजिए। मैंने कहा कि चलने की रूचि में पथ का दर्शन है, पथ का दर्शन है, पथ दिखाई देता है। इस प्रश्न को आदरणीय राजेन्द्र प्रसाद बाबू जी ने अपना प्रश्न बनाया और यह बात स्वीकार की कि चलने की रूचि भी है, पथ भी दिखाई देता है; किन्तु चल नहीं पाते। बड़ी सुन्दर बात कही उन्होंने और बड़ी सच्ची बात कही। यह बात उन्हीं की अपनी बात हो, ऐसा नहीं है। किसी-न-किसी अंश में हम सबकी ही यह बात है। मैंने कहा कि न चलने की वेदना में चलने की सामर्थ्य निहित है। वे प्रसन्न हो गए, शान्त हो गए, गम्भीरता से विचार करने लगे।

भाई, यह बात नहीं है कि हम और आप अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकते। लेकिन उस असत् का त्याग न होने की व्यथा कितनी है और असत् के संग द्वारा सुख-लोलुपता कितनी है? इन दो बातों को सामने रखकर सोचिए। आज हमें अपने जाने हुए असत् के त्याग में जो कठिनाई मालूम होती है, उसका कारण और कोई नहीं है। असत्-जनित सुखलोलुपता और उसके त्याग न होने की व्यथा, इन दोनों में देखना होगा कि किसका पल्ला भारी है। सच

मानिए, असत् का त्याग न होने की व्यथा से असत् का त्याग स्वतः हो जाएगा। यदि असत् के संगजनित सुख का प्रलोभन है, तो भाई, जाने हुए का प्रभाव नहीं होगा। जब तक जाने हुए का प्रभाव नहीं होता, तब तक मिले हुए का सदुपयोग नहीं होता। यह बड़ा भारी सत्य है।

गम्भीरता से विचार करें कि जाने हुए के प्रभाव के बिना, मिले हुए का सदुपयोग सम्भव नहीं है और मिले हुए के सदुपयोग के बिना, कर्त्तव्यपरायणता आ ही नहीं सकती। कर्त्तव्यपरायणता के बिना, न अपना कल्याण हो सकता है, न सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है। इस दृष्टि से हम और आप गम्भीरतापूर्वक सोचें कि भाई, जाने हुए का प्रभाव जीवन में क्यों नहीं है? उसका उत्तर मुझको यही जान पड़ता है कि केवल इसलिए नहीं है कि अधूरे ज्ञान से उत्पन्न होने वाला जो सुख है, उस सुख का प्रलोभन हम नहीं छोड़ते।

सुख को हम न छोड़ें, पर सुख तो हमें छोड़ ही देता है, उसे तो हम पकड़ सकते ही नहीं। यह बड़ी विचित्र बात है कि हम सुख को नहीं पकड़ सकते। हम नहीं छोड़ेंगे,, तो वह हमें छोड़ देगा। लेकिन हम उसका प्रलोभन पकड़े रहते हैं। एक ही बात में इसको कहा जाए, तो सुख का प्रलोभन रखते हैं। आप कहेंगे कि सुख क्या चीज है? संकल्प-पूर्ति। और सुख कुछ नहीं है। आप भी विचार कर लें। सुख के सम्बन्ध में मैंने बहुत सोचा है। सच पूछिए, तो मेरे जीवन का पहला प्रश्न ईश्वर-प्राप्ति नहीं था, न सद्गति-प्राप्ति का ही था। मेरे जीवन का पहला प्रश्न ही यह था कि क्या कोई ऐसा सुख हो सकता है, जिसमें दुःख न हो? यह जीवन का पहला प्रश्न था।

सुख के सम्बन्ध में मैंने दिन-रात सोचा है, महीनों-वर्षों सोचा है। किन्तु भाई, मुझे तो पराधीनता के अतिरिक्त सुख का और कोई स्वरूप दिखाई नहीं दिया। यद्यपि आज हमारे बहुत से साथी जब अध्यात्म-चर्चा करना शुरू करते हैं, तो वे कहते हैं कि हम सब सुख चाहते हैं और सुख के साथ विशेषण लगाते हैं-अक्षय सुख, नित्य सुख और परम सुख इत्यादि। लेकिन सच पूछा जाए और हम-आप अपने-अपने जीवन को सामने रखकर सोचें, तो सुख का भास कब होता है? जब मन की बात पूरी हुई। जब तक मन की बात पूरी नहीं होती, तब तक सुख का भास होता है क्या? मन की बात पूरी हो और जीवन में पराधीनता

न आए, मन की बात पूरी हो और जीवन में जड़ता न आए, मन की बात पूरी हो और नवीन बात मन में उत्पन्न न हो जाए, क्या यह सम्भव है? कभी सम्भव नहीं है।

इसलिए मेरे भाई, सुख का जो प्रलोभन है, यही वास्तव में असाधन है। अगर असाधन के स्वरूप का वर्णन करते हुए उस पर विचार किया जाए, तो एक ही वाक्य में यही कहना पड़ेगा कि सुख के प्रलोभन का ही दूसरा नाम असाधन है। अब सुख के प्रलोभन का नाश कैसे हो? यह प्रश्न पैदा होता है। सुख के प्रलोभन का नाश होता है, दुःख के प्रभाव से। जरा ध्यान दीजिए, दुःख के प्रभाव से, दुःख के भोग से नहीं। दुःख के भोग से तो सुख की रूचि जाग्रत होती है, स्थायी होती है। किन्तु दुःख के प्रभाव से सुख के प्रलोभन का नाश होता है।

आप कहेंगे कि दुःख का भोग और दुःख के प्रभाव में क्या अन्तर है? बड़ा अन्तर है। दुःख का प्रभाव सुख में दुःख का दर्शन कराता है और दुःख का भोग सुख की दासता में आबद्ध करता है, व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करता है, वस्तु-व्यक्ति आदि का दास बनाता है दुःख का भोग। हाय! हाय!! क्या करें, अमुक व्यक्ति होता तो यह दुःख न होता, अमुक वस्तु होती तो यह दुःख न होता, अमुक परिस्थिति होती तो यह दुःख न होता। तो दुःख का भोग मनुष्यता नहीं है। दुःख के प्रभाव में मनुष्यता है।

दुःख का प्रभाव जिस पर हो जाए, तो मेरा ऐसा ख्याल है कि दुःखहारी उसके पास आ जाते हैं आस्तिक दृष्टिकाण से। दुःख का प्रभाव जिस पर हो जाए, तो उसके दुःख की निवृत्ति हो जाती है आध्यात्मिक दृष्टिकोण से। तात्पर्य क्या निकला कि दुःख के प्रभाव की आवश्यकता है। अब दुःख का प्रभाव कितने दुःख के बाद जीवन में होगा, बस यही व्यक्तिगत बात है। यह सामूहिक बात नहीं है। जैसे, आँख में जरा सी मिट्टी करक जाती है महाराज, और पैर पर सेर भर रख दो, करक सकती है क्या? यह तो व्यक्ति की अपनी-अपनी बनावट है कि किस व्यक्ति पर दुःख का प्रभाव कितने दुःख के बाद होगा? व्यक्तिगत दुःख से दुःख का प्रभाव होगा, कि कौटुम्बिक दुःख से दुःख का प्रभाव होगा अथावा सामाजिक दुःख से दुःख का प्रभाव होगा या और किसी प्रकार के दुःख से दुःख का प्रभाव होगा, यह बात व्यक्तिगत है। किन्तु दुःख हम सबके

जीवन में है, इस बात को कोई भी भाई, कोई भी बहन इन्कार नहीं कर सकते। अगर कोई भाई या बहन कहे कि हमारे जीवन में दुःख नहीं है, तो मैं कहूँगा कि या तो तुम परमात्मा हो, क्योंकि उसके पास कोई दुःख नहीं है या तुम पत्थर के टुकड़े हो, उसके पास भी दुःख नहीं है।

मनुष्य हो और कहे कि हमारे जीवन में दुःख नहीं है, यह हो नहीं सकता। हाँ, दुःख तो है, किन्तु उस दुःख का प्रभाव नहीं है। दुःख के प्रभाव का न होना महान् दुःख की बात है भाई। बड़ी ही शोचनीय बात है, बड़ी विकट बात है कि दुःख है और दुःख का प्रभाव नहीं। इसलिए भाई, दुःख का प्रभाव जीवन में हो और सुख का उपयोग जीवन में हो।

आप कहेंगे कि सुख का प्रभाव क्या है? सुख के प्रभाव ने तो सर्वनाश किया है। सुख का तो हो उपयोग। सुख का उपयोग मालूम है कैसे होता है? पराए दुःख से दुःखी होने पर। पराए दुःख से दुःखी हो जाओ। मैं तो मजाक में लोगों से कहता हूँ कि तुम्हारी आँखें अन्धे के लिए हैं, तुम्हारा धन निर्धन के लिए है, तुम्हारा बल निर्बल के लिए है, तुम्हारी योग्यता के लिए है। अगर तुम ऐसा नहीं करोगे, तो स्वयं योग्य होते हुए अयोग्य सिद्ध हो जाओगे, बल के रहते हुए निर्बल सिद्ध हो जाओगे, आँखों के रहते हुए अन्धे सिद्ध हो जाओगे। बात बड़ी सच्ची है।

मैं आपसे पूछता हूँ, जरा विचार तो करो। जो बल आपको प्राप्त है, जो वस्तु आपको प्राप्त है, उसका उपयोग किसके साथ करोगे भैया? बल का उपयोग क्या समान बल वाले के साथ कर लोगे? अधिक बल वाले के साथ तो कर नहीं सकते । योग्यता का उपयोग विशेष योग्यता वाले के साथ कर लोगे क्या? नहीं कर सकते। वस्तु का उपयोग क्या उसके साथ करोगे, जिस पर तुमसे अधिक वस्तु है? नहीं कर सकते। वस्तु का उपयोग किए बिना, योग्यता का उपयोग किए बिना, सामर्थ्य का उपयोग किये बिना आप अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकेंगे क्या? आप आदर और प्यार पा सकेंगे क्या? आपका अस्तित्व रह सकेगा क्या? नहीं रह सकता, कदापि नहीं रह सकता। इसलिए भाई, वस्तु का उपयोग करो, वस्तु-जनित सुख का उपयोग करो उसके साथ कि जिसके पास वस्तु नहीं है। योग्यताजनित सुख का उपयोग करो उसकी सेवा में, जिसके पास योग्यता नहीं है। सामर्थ्यजनित सुख का

उपयोग करो उसकी सेवा में जिसके पास सामर्थ्य नहीं है। यह क्या है? यह सुख का सदुपयोग है। अब आप कहेंगे कि दुःख का प्रभाव क्या है?

कल मैं एक बहन से बात कर रहा था। शायद वे यहाँ होंगी भी। उनका चित्त बड़ा दुःखी था। किस बात से दुखी था? जैसा कि हिन्दू समाज नारी का आदर नहीं करता ईमानदारी के साथ। तो वे बेचारी इस दुःख से दुःखी थी कि उसके घर के लोग उसे खर्च नहीं देते, तो बड़ा दुःख था। उसने आवेश में आकर मुकद्दमा लड़ा, डिग्री भी कराली। लेकिन जैसा कि मैं कहता हूँ कि मातृशक्ति का आदर ही नहीं है। तो डिग्री कराने से भी उसे रूपया नहीं मिला। वे बेचारी बड़ी दुःखी थीं। मुझसे पूछा, मै क्या करूँ? भाई, जैसा कि मेरा स्वभाव है, मैंने कहा, यदि तुम्हारे मन में रूपया का महत्त्व है, तो दुर्गा बन कर उसकी छाती पर चढ़ जाओ कि तेरे बाप को खा लिया, तुझे भी खालूँगी, नहीं तो रूपया दे। चौबीस घंटे ऐसा करो। यदि तुममें मातृशक्ति है, माता कहते किसे हैं? भाई, जो करुणा की प्रतीक हो, जो स्नेह की प्रतीक हो। तो सचमुच तुम स्नेह की प्रतीक हो सकती हो, करुणा की प्रतीक हो सकती हो। तो कह दो कि बेटा, तेरी सौ बार गरज हो तो देना। खाते-खाते आखिर मर जाऊँगी, तो भूखी मरने में मेरा क्या बिगड़ता है? उन्होंने कहा कि महाराज! मुझे बड़ा प्रकाश मिला, सन्तोष हुआ। अब इन दो में से जो मेरा मन करेगा, वही कर डालूँगी। महाराज! एक दम उनका चित्त शान्त हो गया।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि दुःख के प्रभाव का अर्थ क्या है? अगर जीवन में दुःख का प्रभाव हो जाए, तो जिसे हम सुख कहते हैं, उसमें साक्षात् दुःख का दर्शन होगा। क्यों? दुःख का प्रभाव संयोग में वियोग का, जीवन में मृत्यु का, घर में वन का दर्शन करा देता है। जिस वक्त संयोग में वियोग का दर्शन होता है महाराज! नित्य योग के हम अधिकरी हो जाते हैं। जिस समय सुख में दुःख का दर्शन होता है, उस समय दुःख-निवृत्ति के अधिकारी हम हो जाते हैं। जिस समय जीवन में मृत्यु का दर्शन होता है, उस समय हम अमरत्व के अधिकारी बन जाते हैं। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में समस्त विकास और सुख के सदुपयोग में समस्त विकास।

अब भौया सोचो तो सही, हमारी-आपकी परिस्थिति है क्या? आपको मानना ही पड़ेगा कि किसी

अंश में सुखमय है और किसी अंश में दुःखमय है। कोई भाई, कोई बहन किसी भी विचारधारा के हों, किसी भी मत और सम्प्रदाय को मानते हो, परिस्थिति में तीसरी चीज नहीं बता सकते। कोई परिस्थिति नहीं बता सकते कि जिसमें सुख-दुःख न हो। सभी परिस्थिति नहीं बता सकते कि जिसमें सुख-दुःख न हो। सभी परिस्थितियाँ सुख-दुःख से युक्त हैं। जब सभी परिस्थितियाँ सुख और दुःख से युक्त हैं, तो मानव-जीवन परिस्थितियों के भोग के लिए नहीं है, परिस्थितियों की दासता के लिए नहीं है। मानव-जीवन है, परिस्थिति के सदुपयोग के लिए।

परिस्थिति के सदुपयोग की दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है। जब प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है, तब हम साधननिष्ठ नहीं हो सकते, हमें सत्य नहीं मिल सकता, यह बात बनती नहीं है। क्यों? सदुपयोग की दृष्टि से तो सभी परिस्थितियाँ समान हैं। कल्पना करो कि यदि हम अन्धे होने की परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकते, तो क्या आप आँखों के होने की परिस्थिति का सदुपयोग कर सकते हैं? कभी नहीं कर सकते।

इसलिए भाई, यह तो प्रभु का मंगलमय विधान है आस्तिक दृष्टिकाण से, प्राकृतिक विधान है भौतिक दृष्टिकोण से कि जो परिस्थिति आपको प्राप्त है, उसके सदुपयोग के द्वारा परिस्थिति से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है, जो हम सबका वास्तविक जीवन है। एक सुखी सुख का दुरूपयोग करके उस दुखी से बहुत पीछे है, जिसने दुःख का सदुपयोग किया है। इस दृष्टि से हम सुखी हैं तो मानव, दुखी हैं तो मानव। सुख-दुःख के होने से अपना कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । बनता-बिगड़ता है, सुख-दुःख के सदुपयोग न करने से। सुख-दुःख का सदुपयोग न करना, यह हमारी असावधानी है, यह हमारी भूल है। वास्तव में यह कोई प्राकृतिक दोष नहीं है कि हम और आप आये हुए सुख का, आये हुए दुःख का सदुपयोग नहीं कर सकते। अवश्य कर सकते हैं।

सुख के सदुपयोग का मूल मंत्र है, उदारता और दुःख के सदुपयोग का मूल मंत्र है, त्याग का अर्थ है, 'अह' और 'मम' का नाश। उदारता का अर्थ है, करुणा और प्रसन्नता से युक्त जीवन। तो आप अह और 'मम' का नाश करके भी उसी जीवन को प्राप्त कर सकते हैं, जिसको

सुखी करुणा और प्रसन्नता के द्वारा प्राप्त कर सकता है। क्योंकि करुणा और प्रसन्नता से भी निर्विकार जीवन की उपलब्धि होती है और 'अह-मम' के नाश से भी निर्विकार जीवन की उपलब्धि होती है।

जब सुख-दुःख दोनों के सदुपयोग का एक ही फल है, तो सोचो भाई, दुखी क्या सुखी से कम है और सुखी क्या दुखी से कम है? कोई किसी से कम नहीं, कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं, कोई भला नहीं, कोई बुरा नहीं। क्यों? अगर हम सुखी हैं और उसका सदुपयोग करते हैं, तो बुरे हो ही नहीं सकते, नीचे हो ही नहीं सकते। अगर हम दुखी हैं और दुःख का सदुपयोग कर सकते हैं, तो हम बुरे हो ही नहीं सकते, नीचे हो ही नहीं सकते।

वह जीवन जिसमें ऊँचाई-निचाई, भलाई-बुराई नहीं है, क्या ऐसा जीवन हम सबको प्रिय नहीं है? अवश्य है। किन्तु आज हमने मानव-जीवन का महत्त्व मानव होने के नाते न मान कर, परिस्थितियों के आधार पर अंकित किया है। उसका परिणाम यह हुआ कि आज हम परिस्थितियों की दासता में इतने आबद्ध हो गए कि जो परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग नहीं कर सके और सदुपयोग न करने से उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त नहीं कर सके, परिस्थिति की दासता से मुक्त भी न हो सके। इस असावधानी को मिटाने के लिए चाहे हमारे और आपके बीच में अनेक भेद हों, कोई चिन्ता की बात नहीं; किन्तु मानवता के नाते प्रीति का भेद न हो। प्रीति की एकता को लेकर हम और आप परस्पर में विचार-विनियम करें और अपने-अपने जाने हुए असत् का त्याग करके असाधन का नाश करें। असाधन का नाश वर्तमान की वस्तु है। असाधन के नाश में ही साधन की अभिव्यक्ति निहित है।

इस दृष्टि से हम सबका वर्तमान सरस हो सकता है। जब वर्तमान सरस हो जाता है, तो किसी मनोविज्ञान के पंडित से पूछना, वर्तमान की सरसता काम का जन्म नहीं होने देती। काम का जन्म न होने पर क्या होता होगा, जरा सोचो तो सही। इसका पता कैसे चलेगा? भाई, काम का जन्म होने से क्या होता है? काम का जन्म होने से पराधीनता आती है, जड़ता आती है, अभाव आता है। कामना के न होने से क्या होगा? तो स्वाधीनता आएगी, चिन्मयता आएगी और अभाव का अभाव होगा।

क्या आज हमें और आपको स्वाधीनतायुक्त दिव्य चिन्मय जीवन

प्रिय नहीं है? क्या यह हमारी अपनी माँग नहीं है? यदि यह हमारी-आपकी अपनी माँग है तो इसकी पूर्ति अनिवार्य है। आवश्यकता कहते ही उसको हैं, जिसकी पूर्ति होती है और कामना कहते ही उसको हैं, जिसकी निवृत्ति होती है। प्रेम कहते ही उसको हैं, जिसकी प्राप्ति होती है। इसलिए भाई, कामना की निवृत्ति में, आवश्यकता की पूर्ति में, प्रेम की प्राप्ति में प्रत्येक बहन सर्वदा स्वाधीन है और समर्थ है और इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है

34(ब) आवश्यकता अनेक कामनाओंको खा लेती है।

मैं कोई ऐसी नई बात बताने नहीं आया हूँ कि जिसे आप नहीं जानते। आपकी जानी हुई बातों को ही आपके सामने रखना है। प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी किसी को ऐसी बात नहीं बता सकता, जो उसमें बीजरूप से नहीं है। शिक्षा का मूल मंत्र इतना ही है कि जो चीज विद्यमान है, वह विकसित हो जाए। इस दृष्टि से आपको अपनी जानी हुई बातों का ही आदर करना है।

आप जानते हैं कि मानवमात्र यह आवश्यकता अनुभव करता है कि सुन्दर समाज का निर्माण हो और अपना कल्याण हो। यह इस जीवन का चरम लक्ष्य है। किन्तु विचार यह करना है कि अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण, क्या दो अलग-अलग बातें हैं अथता एक है? मानवता की नीति के अनुसार तो यह दोनों बातें एक ही जीवन की हैं। जो अपना कल्याण कर सकते हैं, उन्हीं के जीवन से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और जो सुन्दर समाज के निर्माण में लग जाते हैं, उन्हीं का अपना कल्याण भी हो जाता है। दोनों में से एक के अपना लेने पर दोनों बातें अपने आप पूरी हो जाती हैं।

अब विचार यह करना होगा कि अपने कल्याण का अर्थ क्या है, किसे अपना कल्याण कहते हैं? इस सम्बन्ध में मुझे ऐसा मालूम होता है कि यदि प्राणी परम शान्ति, अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता प्राप्त कर ले, तो उसे समझना चाहिए कि मेरा कल्याण हो गया। और सुन्दर समाज के निर्माण की क्या बात है भाई? सुन्दर समाज का निर्माण किसे कहते हैं? सुन्दर समाज का अर्थ है, जहाँ दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में परस्पर एकता हो, स्नेह हो, विश्वास हो। अनेकों भेद होने पर भी जैसे, कर्म का भेद हो,

भाषा का भेद हो, रहन-सहन का भेद हो; पर प्रीति की एकता हो, विश्वास की एकता हो, लक्ष्य की एकता हो। यही सुन्दर समाज का निर्माण है।

सुन्दर समाज की पहचान यह नहीं है कि बिल्डिंग्स बहुत अच्छी हैं, सड़कें बहुत अच्छी हैं; पर चलने वाले चाहे जैसे हों, रहने वाले चाहे जैसे हों। यह सुन्दर समाज के निर्माण की पहचान नहीं है। जिस समाज को अपने लिए पुलिस की आवश्यकता होती है, न्यायशाला की आवश्यकता होती है, फौज की आवश्यकता होती है, वह सुन्दर समाज नहीं कहा जा सकता। सुन्दर समाज में तो परस्पर भेद नहीं रहता, भिन्नता नहीं रहती। हाँ, भिन्नता किस रूप में होती है? जैसे, आपका शरीर है, उसका प्रत्येक अवयव अलग-अलग आकृति रखता है, अलग-अलग कर्म करता है। पैर की जो आकृति है वह नेत्र की नहीं है, नेत्र की जो आकृति है वह पैर की नहीं है। नेत्र का जो कर्म है वह पैर का नहीं है और पैर का जो कर्म है वह नेत्र का नहीं है। किन्तु परस्पर में प्रीति की कितनी गहरी एकता है कि पैर में काँटा लगता है, तो आँख में आँसू निकलते हैं। आँख में जब चोट लगती है, तो पैर लड़खड़ाता है। इसी प्रकार समस्त विश्व के साथ हमारी स्नेह की एकता हो।

किन्तु बड़े ही दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज हम जो कि अपने को मानव कहते हैं, इन्सान कहते हैं और उसके साथ-साथ यह भी कहते हैं कि हमारा मजहब, हमारा इज्म सबसे अच्छा है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपका मजहब और इज्म अच्छा नहीं है। सचमुच अच्छा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु भाई, सोचो तो सही कि क्या आपके मजहब ने, आपके इज्म ने आपको सुन्दर बनाया या नहीं? यदि आपका मजहब सुन्दर है और उसने आपको सुन्दर नहीं बनाया, तो आप कैसे कहते हैं कि हमारा मजहब है, हमारा इज्म है?

भाई, कोई आदमी अगर यह कहे कि हमारा भोजन बहुत बढ़िया है, बड़ा ही स्वास्थ्यकर है, बड़ा ही रुचिकर है और बड़ा ही सुपच है। कोई उससे पूछे कि तुम्हारी दशा क्या है? बोले, भूख के मारे प्राण निकले जा रहे हैं, कमजोर हो रहे हैं, किसी काम के नहीं हैं। फिर भी तुम्हारा भोजन बढ़िया है?

आज यह रोग लग गया है कि विचारों का भेद, मान्यताओं का भेद, कर्म का भेद, भाषा का भेद, पद्धतियों

का भेद होने पर हम परस्पर में घोर संघर्ष करते हैं। परन्तु इस बात को नहीं सोचते कि प्रकृति की रचना क्या है? बहुत गम्भीरता से विचार करें कि किसी एक वृक्ष के दो पत्ते भी सर्वांश में एक जैसे नहीं होते, किसी-न-किसी अंश में भिन्नता अवश्य होगी। भिन्नता है तो इतनी और एकता है तो कितनी?

आज सभी से पूछा जाए कि भाई, सच बताओ कि तुम क्या चाहते हो तुम्हारी माँग क्या है? तो आप सच मानिए कि कोई भी भाई, कोई भी बहन यह नहीं कहेगी कि हमको अगाध अनन्त रस नहीं चाहिए, हमको अमर जीवन नहीं चाहिए, हमको सामर्थ्य नहीं चाहिए। कोई ऐसा नहीं कहेगा। सबकी माँग एक है। पिता-पुत्र को लीजिए, सहोदर बन्धुओं को लीजिए, सहोदर बहनों को लीजिए, पति-पत्नी को लीजिए, प्राणीमात्र की माँग एक है। किन्तु रुचि एक नहीं है, योग्यता एक नहीं है, सामर्थ्य एक नहीं है, परिस्थिति एक नहीं हैं। तो रुचि का भेद है, योग्यता का भेद है, सामर्थ्य का भेद है, परिस्थिति का भेद है; किन्तु माँग एक है।

इसलिए मानव-सेवा-संघ यह मानता है कि दर्शन अनेक हैं, दृष्टिकोण अनेक हैं; पर जीवन एक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इनमें और दूसरों में चाहे कितने ही भेद हों; किन्तु भाई, जीवन की दृष्टि से एक हैं, लक्ष्य की दृष्टि से एक हैं। इसलिए सब अपने हैं। अपने के साथ कोई बुराई नहीं करेगा। बुराई के नाश का उपाय क्या है? केवल एकमात्र कही उपाय है कि भाई, कोई बुरा न रहे, न बुराई करे। इस मूल सत्य को हम भूल जाते हैं और बुराई के बदले में बुराई करने लगते हैं। यह मानने लगते हैं कि बलपूर्वक बुराई मिट जाएगी, नाश हो जाएगी। पर ऐसा होता नहीं। होता क्या है? आज आप बलपूर्वक किसी को दबा दीजिए। कालान्तर में वही निर्बल सबल हो जाएगा और आप निर्बल हो जाएँगे। आपको स्वयं वही दिन देखने पड़ेंगे, जो आपने बल के दुरुपयोग से दूसरों के साथ किया।

आज बड़ी ही गम्भीरतापूर्वक विचार करना है कि आप अगर यह चाहते हैं कि कोई किसी के साथ बुराई न करे, तो उसका एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि भाई, कोई बुरा न रहे। अब कोई बुरा न रहे, इसके लिए प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को क्या करना है? इस सम्बन्ध में आप विचार करें। तो सबसे पहली बात यह करना है कि हम स्वयं बुरे न रहें। यदि हम

स्वयं बुरे न रहेंगे, तो हमारे द्वारा कोई बुराई नहीं होगी। जब हमारे द्वारा बुराई नहीं होगी, तब हमारा व्यक्तिगत जीवन बुराई के प्रसार में सहयोगी नहीं रहेगा, अपितु भलाई स्वतः होने लगेगी।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि हम बुरे कैसे न रहें? तो इसका एक बड़ा सुगम उपाय है। वह उपाय यह है कि भूतकाल हमारा-आपका अथवा किसी का कितना ही सदोष रहा हो, बुरा रहा हो; किन्तु वर्तमान प्रत्येक भाई का, प्रत्येक बहन का निर्दोष है। क्यों? अगर आज किसी भाई से, किसी बहन से पूछा जाए कि बताओ, अब तुम्हारे जीवन में क्या बुराई है? तो वह कहेगी कि साहब, हमने पहले यह किया था, हमें क्रोध आ गया, हम काम से पीड़ित हो गए, हमें लोभ ने सताया, हमें मोह न सताया इत्यादि-इत्यादि। किन्तु यदि यह पूछा जाए कि बताने से पहले की यह बातें हैं या इस समय की? तो प्रत्येक भाई-बहन को यह मानना पड़ेगा कि भाई, बताने से पहले की हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम सबका वर्तमान निर्दोष है।

जब हम सबका वर्तमान निर्दोष है, तो केवल इतनी-सी जिम्मेदारी आ जाती है कि भूतकाल में जो बुराई कर चुके हैं, उसको नहीं करेंगे। यह है निर्णय। यह अभ्यास नहीं है, यह निर्णय है। यह निर्णय किस आधार पर है? निज-ज्ञान के आधार पर, जाने हुए के आधार पर, अपनी अनुभूति के आधार पर। हम और आप यह जानते हैं कि अगर कोई बुराई बनी है हमसे तो भूतकाल में बनी है, वर्तमान में कोई बुराई नहीं है। तो भूतकाल की बुराई को वर्तमान में आरोप करना, क्या अपने द्वारा अपने प्रति घोर अन्याय करना नहीं है? इससे बढ़कर हम और कोई बुराई अपने साथ नहीं कर सकते।

इसलिए भाई, अपने जीवन का पहला प्रश्न यही है कि हम वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखेंगे। उसके सुरक्षित रखने के लिए एक बात बहुत आवश्यक है कि हम दूसरों को बुरा नहीं समझेंगे। जब तक हम दूसरों को बुरा समझते रहेंगे, तब तक हम अपने को भी बुरा समझते रहेंगे। आपने देखा होगा अपने जीवन में, मैंने भी अनुभव किया है कि जब कभी हम लोग आपस में बैठकर पर-चर्चा करते हैं, तब सिवाय इसके कि हम किसी को यह बताएँ कि उसने यह भूल की, इसके सिवाय और क्या करते हैं? या भाई,

किसी से यह कहें कि उसने हमारे साथ यह भलाई की। तो की हुई भलाई-बुराई को हम आपस में कहते-सुनते हैं।

क्या आपके पास कोई सबूत है कि जिसको आपने बुराई करते देखा था, वह अब भी बुरा है? यदि वह अब बुरा नहीं है, तो क्या आपका यह निर्णय सत्य हो सकता है? क्या सर्वांश में मिथ्या नहीं है? मानना पड़ेगा कि मिथ्या है। आप कहें कि हम कैसे मान लें कि वह अच्छा हो गया? तो हम आपसे पूछते हैं कि आपने कैसे मान लिया कि वह अब तक बुरा ही है। अगर आप किसी को अच्छा नहीं मान सकते, तो आपको किसी को बुरा मानने का क्या हक है, इसलिए हम क्यों इस झंझट में पड़ें कि हम पर-चर्चा करें? हाँ, परसेवा करें।

यदि चर्चा करनी ही है, तो प्रिय-चर्चा करे। जो अपना प्यारा है, उसकी जब हम चर्चा करेंगे, तो प्रीति की वृद्धि होगी। अपना प्रिय कौन हो सकता है भैया? प्रभु। बड़ी सुन्दर बात बताई, प्रभु। वस्तु और व्यक्ति, इन दोनों को हम अपना प्रिय नहीं कह सकते भाई। वस्तु का तो सदुपयोग करना है और व्यक्ति की सेवा करना है। व्यक्ति की सेवा और वस्तु का सदुपयोग कर सकते हैं। किन्तु इन दोनों को न अपना कह सकते हैं और न यह कह सकते हैं कि यह अपने प्रिय हैं। क्योंकि प्रिय उसे कह सकते हैं, जिससे जातीय एकता हो, स्वरूप की एकता हो, नित्य सम्बन्ध हो, उसी को प्रिय कह सकते हैं। आप अपने शरीर को अपना शरीर कहते हो, पर इससे आपकी जातीय एकता नहीं है। आप कहेंगे, कैसे? तो सभी भाई-बहन जो यहाँ बैठे हैं, अपने ज्ञान के प्रकाश में इस बात का अभी-अभी अनुभव करें कि भाई, क्या हम वह नहीं हैं, जो पहले थे? यहाँ बूढ़े भी होंगे, युवक भी, बालक भी होंगे।

हर भाई, हर बहन को यह भास होगा कि भाई, हम तो वही हैं, जो पहले थे। लेकिन क्या आपका शरीर वही है, क्या आपकी परिस्थिति वही है?, क्या आपकी अवस्था वही है? तो हर एक भाई को, हर एक बहन को मानना पड़ेगा कि भाई, हमारा शरीर जैसा पहले था, वैसा अब नहीं है; हमारी परिस्थिति जैसी पहले थी, वैसी अब नहीं है। परिस्थिति बदल गई, शरीर बदल गया, किन्तु अनुभव यह है कि हम वही हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भाई, शरीर बदल गया है, हम नहीं बदले हैं। तो बदलने वाले का और

न बदलने वाले का जातीय सम्बन्ध नहीं हो सकता, केवल मानी हुई एकता हो सकती है, माना हुआ सम्बन्ध हो सकता है।

यह जो हम मानने लगे कि शरीर हमारा है, बस इतना ही शरीर से सम्बन्ध है। वास्तव में शरीर की और हमारी जातीय भिन्नता है। आप विचार करके देखें कि जब शरीर की और अपनी जातीय भिन्नता है, तो सम्बन्धियों की और अपनी जातीय एकता कैसे हो सकती है, वस्तुओं की और अपनी जातीय एकता कैसे हो सकती है? जिससे जातीय एकता नहीं हो सकती, उसकी ममता, उसकी कामना, उसका तादात्म्य विनाश का मूल हो जाता है। जिससे जातीय भिन्नता है, यदि आप उसमें ममता करेंगे, तो क्या होगा? आप लोभ-मोह में आबद्ध हो जाएँगे। यदि उसकी आप कामना करेंगे, तो अभाव में आबद्ध हो जाएँगे। यदि उससे तादात्म्य रखेंगे, तो जड़ता में आबद्ध हो जाएँगे।

किसी भी भाई या बहन, चाहे वह किसी भी वर्ग, देश, मजहब और इज्म का हो, उससे यह पूछा जाए, कि क्या तुम पराधीनता चाहते हो, क्या तुम जड़ता चाहते हो, क्या तुम अभाव चाहते हो? तो कहेगा, नहीं चाहते, नहीं चाहते। तो भाई मेरे, आपकी जो स्वाभाविक माँग है, आपकी जो वास्तविक आवश्यकता है, वह शरीर के द्वारा पूरी नहीं हो सकती। वह किसी परिस्थिति के द्वारा पूरी नहीं हो सकती, वह किसी अवस्था के द्वारा पूरी नहीं हो सकती। वह कैसे पूरी हो सकती है? जब आप और हम मानव होने के नाते, एक इन्सान होने के नाते, इस बात पर विचार करें कि हम मानव क्यों हैं?

केवल एक ही बात की दृष्टि से हम और आप मानव हैं कि मानव अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सकता है, कोई अन्य पशु-पक्षी आदि नहीं कर सकता। एकमात्र मानव ही इस कार्य में समर्थ है कि वह अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सकता है। इसलिए भाई, यह जो विवेक-विरोधी सम्बन्ध आज हमारे जीवन में आ गया है कि जिसे हम सोचते ही नहीं कभी! बड़े-बड़े ईश्वरवादी-महाराज! क्षमा करें, बिगड़ न जाएँ-ठंडी तबियत से सोचें। बड़े-बड़े ईश्वरवादी जो अपने को कहते हैं कि हम बड़े समझदार हैं, बड़े सत्संगी हैं, वे क्या प्रश्न करेंगे कि हमारा मन भगवान् में क्यों नहीं लगता?

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या मन आपकी जाति का है, क्या मन जिस धातु से बना है, उसी धातु से आप बने हैं? क्या आपकी जो जाति है वही मन की है? तो आपको मानना पड़ेगा कि नहीं। बड़े से बड़े मनोविज्ञानी इस बात को सिद्ध नहीं कर सकते कि मन की, और वह जो यह कहता है कि मेरा मन, उसकी जातीय एकता है। यह बिल्कुल गलत कहता है, बिना सोचे-समझे कहता है, अपने जाने हुए का अनादर करके कहता है।

इसलिए भाई मेरे, प्रभु मेरे हैं, पर मन मेरा नहीं है, तन मेरा नहीं है, प्राण मेरे नहीं हैं, वस्तु मेरी नहीं है। हाँ, एक बात अवश्य है कि उस प्रभु ने जो वस्तु मुझे दी है, योग्यता दी है, सामर्थ्य दी है, वह इस ढंग से दी है कि ऐसा मालमू होता है कि मानो, मेरी ही है। प्रभु ने मुझ पर इतना विश्वास किया है, मुझे ऐसा समझा है कि मैं उसकी दी हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का उपयोग उसके दिये हुए विवेक रूपी विधान के प्रकाश में ही करूँगा। प्रभु ने प्राणीमात्र की ईमानदारी पर इतना विश्वास किया है।

किन्तु आज अपने विश्वासी में कि जिसने हम पर इतना विश्वास किया, हम कितना विश्वास करते हैं? जरा सोचो तो सही। आप बैंक के एकाउण्ट पर विश्वास करते हैं कि प्रभु पर विश्वास करते हैं? आप ज्ञान, विज्ञान और कला पर विश्वास करते हैं कि प्रभु में विश्वास करते हैं? विचार करें और बहुत गम्भीरता से विचार करें। कोई विरला ही आस्तिक ऐसा होगा, जो अपने को यह उत्तर दे सके कि मेरे जीवन में यदि विश्वास है तो केवल प्रभु का है, और किसी का विश्वास नहीं है। ऐसा उत्तर कोई विरला ही दे पाएगा। जो ऐसा उत्तर अपने को दे सकेगा, उसके जीवन में अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होगी, अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होगी, निष्कामता स्वतः आ जाएगी, परम शान्ति स्वतः आ जाएगी।

जिसकी प्रभु में आत्मीयता हो जाती है, उसकी किसी अन्य में ममता नहीं रहती, कामना नहीं रहती, उसका किसी से तादात्म्य नहीं रहता। आप विचार करके देखें कि ममता के नाश होने पर किसी भी विकार की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। ममता के रहते हुए, माफ कीजिए भाई, चाहे कोई नमाज पढ़े, चाहे कोई सन्ध्या करे-इसका अर्थ आप यह न समझिए कि मैं नमाज और सन्ध्या का विरोधी हूँ, विरोधी नहीं हूँ-लेकिन एक निवेदन यह है कि आप ममता को बिना छोड़े चारों वेद, छहों

शास्त्र, अठारह पुराण पढ़ जाओ, कुरान बाइबिल सब चाट जाओ, गीता का रोज पाठ करो, गायत्री का रोज जप करो-यह निरर्थक तो नहीं जाएगा, कालान्तर में भले ही उसका फल हो, किन्तु वर्तमान में आपको विवश होकर यह मानना पड़ता है कि क्या बताएँ महाराज! विकार नाश नहीं होते, काम से हम पीड़ित हैं, क्रोध से हम पीड़ित हैं, लोभ से हम पीड़ित हैं, मोह से हम पीड़ित हैं। लेकिन बोले, हम ईश्वरवादी हैं हम वैदिक धर्मी हैं, हम सनातन धर्मी हैं, हम इस्लाम को मानते हैं।

सोचो भाई, जरा विचार तो करो। विचार करो गम्भीरता से कि तुम्हारा प्रभु जब तुम्हारी दशा को देखता होगा, तो क्या सोचता होगा? क्या वह समझता होगा कि आप उसे मानते हैं? कदापि नहीं। इसलिए भाई मेरे, अब समय आ गया है कि इस बात की जरूरत नहीं है कि साहब, आपका दृष्टिकोण क्या है, आपकी फिलोसोफी क्या है, आपका मजहब क्या है, आपका इज्म क्या है? जो भी आपकी फिलोसोफी है, क्या उससे आपने अपने को सुन्दर बनाया या नहीं ? यह प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन का प्रश्न है और वर्तमान का प्रश्न है, आगे-पीछे का नहीं।

इसका अर्थ यह नहीं कि किसी का मजहब गलत है, किसी का इज्म गलत है ऐसा मैं कहने का हकदार भी नहीं हूँ। तुम जानो, तुम्हारा मजहब जानें। लेकिन यह बात तो सामने कहने में आती है कि हमने अपने मजहब को अपने जीवन से सिद्ध नहीं किया, हमने अपनी मान्यता को अपने जीवन से सिद्ध नहीं किया। आप जानते हैं, जो चीज जीवन में नहीं आती, वह विभु नहीं होती, वह नित्य नहीं होती। जो चीज जीवन में आ जाती है, वह विभु हो जाती है। क्यों? इसमें एक वैज्ञानिक रहस्य है, विचार करें। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से जिसके द्वारा जो चीज विषय की जाती है, वह विषय होने वाली वस्तु विषय करने वाली वस्तु से सीमित होती है, उसकी सीमा में होती है। इससे क्या सिद्ध हुआ? इन्द्रियों के द्वारा जिस सृष्टि को आप विषय करते हैं, वह सृष्टि इन्द्रियों के किसी एक अंश में है। अर्थात् इन्द्रियां अपने विषय सृष्टिसे अधिक विभु हैं।

जिन इन्द्रियों को आप मन के द्वारा विषय करते हैं, वह मन इन्द्रियों से अधिक विभु है। जिस मन के

संकल्प पर आप बुद्धि से निर्णय करते हैं, वह बुद्धि उस मन से अधिक विभु है। जो आप यह कहते हैं कि मेरी बुद्धि; तो आप बुद्धि से अधिक विभु हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ? जो चीज आपमें आ जाएगी, वह विभु हो जाएगी। अर्थात् जो चीज आपका जीवन हो जाएगी, वह विभु हो जाएगी। वह व्यापक हो जाएगी, वह अविनाशी हो जाएगी, वह नित्य हो जाएगी।

आज दशा क्या है? ईश्वर हमारे कथन में है, चिन्तन में भी है; किन्तु जीवन में नहीं है। धर्म आज हमारे कथन में है, चिन्तन में है; पर जीवन में नहीं है। इसका परिणाम है कि वह विभु नहीं है। इसलिए यह एक मौलिक समस्या है, जिसे आपको ही हल करना है। वह तभी हल होगी, जबकि आपका जीवन और आपका दर्शन एक हो, आपका जीवन और आपकी आस्था एक हो, आपका जीवन और आपका निर्णय एक हो। तब आप और हम सुन्दर हो सकते हैं और अपने सुन्दर होने से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

सुन्दर समाज का निर्माण किसी स्कीम से नहीं होता, किसी पद्धति से नहीं होता। सुन्दर समाज का निर्माण होता है सुन्दर जीवन से। सुन्दर जीवन कब होता है? जब हम अपनी दृष्टि से अपने को देखना आरम्भ करें तब। आप सोचिए, सत्संग क्या है? सत्संग का असली अर्थ यह है कि जब आप अपनी दृष्टि से अपने जीवन का निरीक्षण करते हैं और उस निरीक्षण से जब आप अपने में किसी प्रकार का असत् पाते हैं, तब उस असत् के त्याग का अर्थ सत्संग है। असाधन क्या है, अकर्त्तव्य क्या है और आसक्ति क्या है? यह और कुछ नहीं है, अपने जीवन में जो असत् है, उसका जब हम संग करते हैं, तब असत् के संग का जो परीणाम होता है, उसी का नाम अकर्त्तव्य है, उसी का नाम असाधन है और उसी का नाम आसक्ति है।

आज हमारी दशा क्या है? असत् का संग रखते हुए सत् की चर्चा करते हैं, सत् का चिन्तन करते हैं और बलपूर्वक सत् को प्राप्त करना चाहते हैं असत् का संग करते हुए। परिणाम क्या होता है? भगवत्-चिन्तन करते हैं और विषय-चिन्तन होता है; आत्मा का चिन्तन करते हैं और देह का चिन्तन होता हे और धर्म का चिन्तन करते हैं, अधर्म होता है। इसलिए भाई, किसी भी विध्यात्मक साधन करने से पूर्व इस बात पर विचार कर लो कि हमारे

जीवन में हमारा जाना हुआ असाधन क्या है। इस बात को मत देखो कि आपके जीवन में साधन क्या है। इसके देखने से कोई लाभ नहीं होगा। किन्तु इस बात को देखो कि हमारे जीवन में असाधन क्या है।

अपने असाधन के देखने से आपके जीवन में एक व्यथा जाग्रत होगी और उस व्यथा से एक चेतना आएगी। उस चेतना से आप असाधन के कारण को जान सकेंगे। जिस समय आप असाधन के कारण को जान लेंगे, तो कारण और कार्य दोनों का ही नाश हो जाएगा। असाधन के कारण के ज्ञान में ही उसका नाश निहित है। यह बड़ा भारी सत्य है कि असत् का ज्ञान असत् की निवृत्ति में हेतु होता है। जिस समय हमें असत् का ज्ञान होगा, उसी समय असत् की निवृत्ति होगी और असत् की निवृत्ति में ही सत् की प्राप्ति है, सत् की अभिव्यक्ति है, सत् से अभिन्नता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि एकमात्र अपने में जो असत् है, उसी को जानना है। किन्तु आज हम ईश्वर को जानने की कोशिश करते हैं, आत्मा को जानने की कोशिश करते हैं। ऐसी बातों को जानने की कोशिश करते है, जिनको अभी नहीं जान सकते। कभी नहीं जान सकते, ऐसा नहीं है। अभी क्यों नहीं जान सकते? भैया, जिस असत् को जानते हो, उसको तो छोड़ते नहीं। यानी असत् को जानने का तो आप प्रयास नहीं करते और सत् को जानना चाहते हो, नहीं जान सकते। तो होता क्या है? असत् को न छोड़ने से असत् के साथ-साथ सत् को भी मानते रहते हैं। यह भी मानते हैं कि परमात्मा है और यह भी अच्छी तरह से अनुभव करते हैं कि जीवन में आसक्ति है, मोह है, राग है, द्वेष है, काम है, क्रोध है जीवन में, साथ ही यह भी मानते रहते हैं कि परमात्मा है। मैं आपसे पूछता हूँ कि यह कोई परमात्मा का मानना हो गया? क्या राय है? नहीं हो गया।

इसलिए भाई, आज हमें और आपको निराश नहीं होना है, हार नहीं मानना है, अधीन नहीं होना है। किन्तु सजग होना है, सावधान होना है और अपने ही द्वारा अपने जीवन का ठीक-ठीक अध्ययन करना है। जिस समय हम और आप अपने जीवन का ठीक-ठीक अध्ययन करने लगेंगे, आप सच मानिए, अनायास हर एक भाई को, हर एक बहन को अपने असत् का दर्शन हो जाएगा। जो उसके जीवन में असत् है, उसका दर्शन हो जाएगा। असत् की दशा ऐसी होती है कि जैसे कोई आदमी प्रकाश के द्वारा अन्धकार को

विषय करना चाहे, तो नहीं कर सकता। उसी प्रकार जिस समय आप असत् को जानने का प्रयास करेंगे, तो असत् का ज्ञान होगा, किससे? जो सत् है उससे।

यह बहुत गम्भीर बात है, बड़े रहस्य की बात है कि असत् का ज्ञान सत् से होता है। जिस समय आप यह सोचेंगे कि हम असत् को देखें, कहाँ है हमारे जीवन में, तो उसी समय सत् से एकता हो जाएगी। असत् को देखने चलेंगे, तो ऐसी दशा होगी महाराज! कि जैसे सूर्य कहे कि अन्धकार को देखें, कैसा है? सूर्य कभी अन्धकार को देख नहीं सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ? असत् कों जानने की उत्कट जिज्ञासा मात्र से असत् आपको मुँह नहीं दिखाएगा, आपके जीवन में नहीं रहेगा। जब असत् आपके जीवन में नहीं रहेगा, तो जो सत् नित्य प्राप्त है, उसमें आपकी अगाध प्रियता होगी। इसी का नाम भक्ति है। अगाध प्रियता का नाम ही भक्ति है। असत् जीवन में न रहे, इसी का नाम मुक्ति है। मुक्ति और कुछ नहीं।

जीवन में से असत् निकल गया, बन्धन निकल गया, तो सत् में अगाध प्रियता हो गई। यह अपने आप हो जाती है। क्यों? असत् की ममता में जो शक्ति व्यय होती थी, असत् के नाश होते ही वह शक्ति सत् की प्रियता में परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् समस्त आसक्तियाँ अगाध प्रियता में बदल जाती हैं। इस दृष्टि से हम सबको अगाध प्रियता प्राप्त हो सकती है। यह सभी का अनुभव है कि प्रियता में रस से भिन्न कुछ नहीं है। प्रियता में एकमात्र रस ही रस है। रस किसे कहते हैं भैया? जिससे कभी तृप्ति न हो, जिससे कभी अरुचि न हो और जिसकी कभी पूर्ति न हो।

अगर तृप्ति हो गई, तो रस कैसा, अगर पूर्ति हो गई, तो रस कैसा और अरुचि हो गई, तो रस कैसा? अब कल्पना करो कि किसी को ऐसा रस मिल जाए कि जिससे न तृप्ति होती है, न अरुचि होती है, न पूर्ति होती है और न उसकी निवृत्ति होती है। उस रस का कोई पारावार हो सकता है क्या, उसकी सीमा कोई कर सकता है क्या, नाप-तौल कर सकता है क्या? कदापि नहीं। इसलिए भाई, यह मानव-जीवन उसी रस की प्राप्ति के लिए मिला है। उस रस की प्राप्ति प्रत्येक भाई को हो सकती है। उसके लिए किसी वस्तु विशेष की अपेक्षा नहीं है, किसी परिस्थिति विशेष की अपेक्षा नहीं है। किस बात की अपेक्षा है भाई? उसकी

आवश्यकता अनुभव करें, उसकी जरूरत महसूस करें, तो वह रस मिल सकता है। इससे ज्यादा सहज, इससे ज्यादा सुगम और इससे ज्यादा आसान क्या होगा कि जिसकी जरूरत महसूस करने से ही प्राप्ति होती है?

संसार में यह देखने में आता है कि एक आदमी किसी बात की कामना करता है, उसके लिए प्रयत्न करता है, फिर भी कामना पूरी हो, न हो, दोनों ही बातें सामने आती हैं। किन्तु अगाध अनन्त रस के सम्बन्ध में अनन्त का ऐसा मंगलमय विधान है कि जहाँ आपने उस अनन्त रस की आवश्यकता अनुभव की, कि आपको वह रस अवश्य प्राप्त हो जाएगा।

आवश्यकता का स्वाभाव क्या है? आवश्यकता अनेक कामनाओं को स्वतः खा लेती है, यह आवश्यकता का स्वभाव है। जब आप किसी एक जरुरत को महसूस करते हैं, तब और ख्वाहिशात नहीं रहतीं, यह नियम है। इसलिए भाई, उस अनन्त रस की हम आवश्यकता अनुभव करें। जब हम उसकी आवश्यकता अनुभव करेंगे, तब सभी कामनाएँ स्वतः नाश हो जाएँगीं। कामनाओं के नाश में ही परम शान्ति है। इसलिए निष्कामता से उदित परम शान्ति, असंगता से प्राप्त स्वाधीनता और आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता ही मानवता है। यह मानवता हर एक भाई में, हर एक बहन में मौजूद है। उसको विकसित करना, उसकी खोज करना है। उसको कहीं बाहर से लाना नहीं है। वह आप में मौजूद है और उसको विकसित करने का एकमात्र उपाय है, सत्संग।

सत्संग कई प्रकार से होता है। आज मैं केवल एक प्रकार का निवेदन करूँगा। वह सत्संग होता है, शान्त होने से। मानव-सेवा-संघ की भाषा में उसका नाम 'मूक सत्संग' है। शान्त होने का अर्थ क्या है? इस पर सोचिए। शान्त होने का अर्थ यह नहीं है कि हमने यह संकल्प कर लिया कि हम नहीं बोलेंगे, ऐसा नहीं। बोलने की रुचि नहीं है, देखने की रुचि नहीं है, सुनने की रुचि नहीं है, सोचने की रुचि नहीं है। बोले, क्यों? भाई, जैसा बोलना चाहिए था बोल लिया, जैसा देखना चाहिए था देख लिया, जितना सोचना चाहिए था सोच लिया।

सही कार्य करने से करने की रुचि का नाश होता है। जब करने की रुचि का नाश होता है, तब अपने आप शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। जब शान्ति का

प्रादुर्भाव होता है, तब नित्य प्राप्त सत् की प्राप्ति होती है। सत् किसको कहते हैं भाई? जो पहले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा। जो 'है', उसको सत् कहते हैं। आप जानते हैं, जो 'है' उससे देश की दूरी नहीं होती, काल की दूरी नहीं होती। जिससे देश-काल की दूरी नहीं होती, उसकी प्राप्ति के लिए श्रम अपेक्षित नहीं होता। आप सच मानिए। श्रम की आवश्यकता किसकी प्राप्ति के लिए होती है? जिससे देश और काल की दूरी हो। सत् से देश और काल की दूरी नहीं है। इसलिए श्रमरहित होते ही सत् का संग होता है।

जब सत् का संग होता है, तब सबसे पहले दुःख की निवृत्ति या दुःख का नाश हो जाता है, दुःख नहीं रहता। किन्तु दुःख न रहने मात्र में ही आप कहीं सन्तुष्ट मत हो जाना। अर्थात् शान्ति को सुरक्षित रहने देना, उसमें रमण मत करना। जब आप शान्ति में रमण नहीं करेंगे, तब अपने आप उस शान्ति से असंगता हो जाएगी, अपने आप होगी। जिस समय शान्ति से असंगता हो जाती है, उसी समय देह का अभिमान गल जाता है। आप चाहो तो गल जाए, न चाहो तो गल जाए। शान्ति से असंग हुए, कि देह का अभिमान गला।

देह का अभिमान गलते ही अपने आप बिना चाहे, निर्वासना आ जाती है। निर्वासना आते ही पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चेतना में विलीन हो जाती है। जब जड़ता चेतना में विलीन हो जाती है, तब अपने आप जो 'है', उसमें प्रियता जाग्रत होती है। उसे भले ही भौतिकवादियों ने विश्व-प्रेम कहा हो, उसे भले ही अध्यात्मवादियों ने आत्मरति कहा हो और भले ही ईश्वरवादियों ने प्रभु-प्रेम कहा हो। किन्तु वह प्रेम जाग्रत हो जाता है, जिसके जाग्रत होते ही जीवन में किसी भी प्रकार का अभाव नहीं रहता, नीरसता नहीं रहती। अर्थात् पूर्णता और नित-नवरस की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तव में जीवन है। इस दृष्टि से हम और आप सभी शान्त होकर, सत् का संग कर जीवन की पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।

अब आप कहेंगे कि उस शान्ति के लिए हम कौन सा समय निश्चित करें? तो सोने से पहले, जगने के बाद, प्रत्येक कार्य के आरम्भ में और प्रत्येक कार्य के अन्त में शान्ति का सम्पादन करें। उसके करने के लिए हम करने वाली प्रवृत्तियों पर सजगता से दृष्टि रखें कि हमसे कोई ऐसी बात न हो जाए, कि जो हमें नहीं

करनी चाहिए। बस, इसी से आपको सत्संग की प्राप्ति होगी। सत्संग की प्राप्ति होते ही जीवन कृतकृत्य हो जाएगा, यह निर्विवाद सत्य है।

35(अ) विश्वाससे समर्पित-शरणागत हो जाये।

साधन के जो प्रधान अंग हैं, वे तीन हैं-विश्वास, विचार और कर्त्तव्य। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है, विश्वास का सम्बन्ध प्रभु-विश्वास से है और विचार का सम्बन्ध देह-अभिमान के नाश से है। जो परिस्थिति हमें प्राप्त है, वह कर्त्तव्यपरायणता के द्वारा राग-निवृत्ति के लिए है। कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं है। इस दृष्टि से जब जैसी परिस्थिति हो, तब यह बात सदैव सामने रखनी चाहिए कि भाई, राग-निवृत्ति के लिए मंगलमय विधान से यह परिस्थिति मिली है। ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है, जो किसी और कार्य के लिए मिली हो। परिस्थिति का उद्देश्य ही राग-निवृत्ति है। इस दृष्टि से समस्त परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। इस रहस्य को जान लेने पर परिस्थिति-भेद होने पर भी सफलता में कोई बाधा नहीं होती, सिद्धि में कोई बाधा नहीं होती। किन्तु यह बात वे ही साधक समझ पाते हैं, जो अपने जीवन के उद्देश्य पर विशेष ध्यान देते हैं।

विचार का स्थान साधन में एकमात्र देह-अभिमान गलाने में है। यह देह का जो अभिमान हो गया है कि मैं देह हूँ या देह मेरी है, यह अभिमान विचार से नाश होता है। देह-अभिमान नाश होने पर चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है। उस जीवन में जड़ता की गन्ध भी नहीं है, अभाव नहीं है। यह जीवन अनित्य नहीं है। इससे तो ऐसा मालूम होता है कि विचार में कितनी ही समस्याओं का हल है।

अब विश्वास की बात कोई कहे कि विश्वास किसलिए है? तो सुने हुए प्रभु में आस्था करने के लिए और उनसे सम्बन्ध जोड़ने के लिए ही विश्वास है। साधक से भूल क्या होती है कि जो बात जिसके लिए है, उसका उपयोग उसमें न करके अपने मनमाने ढ़ग से उसका उपयोग कर बैठता है। जैसे, कोई कहे कि भाई, हमें जो परिस्थिति प्राप्त है, वह राग-निवृत्ति के लिए नहीं है, सुख-दुःख भोगने के लिए है। यदि कोई ऐसा सोचेगा, तो विधान से मिली हुई परिस्थिति का दुरुपयोग हो जाएगा। उससे साधक का कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि बड़ी क्षति होगी।

जो भी परिस्थिति हमें प्राप्त है, उसका अर्थ है कि इससे हम राग-

रहित हो जाएँ। जिस संकल्प की पूर्ति राग के मिटाने में हेतु है, उसकी पूर्ति हो जाएगी और जिस संकल्प की अपूर्ति राग के मिटाने में हेतु है, उसकी पूर्ति होगी नहीं। इसी का नाम परिस्थिति है। संकल्प की पूर्ति और अपूर्ति का ही तो दूसरा नाम परिस्थिति है। कोई परिस्थिति आपके लिए ऐसी आती है कि जो आपके उत्पन्न हुए संकल्पों को पूरा कर देती है और कोई ऐसी परिस्थिति आती है कि उत्पन्न हुए संकल्प पूरे नहीं होते। जो संकल्प पूरे होते हैं, वे भी इसीलिए कि हम राग-रहित हो जाएँ और जो संकल्प पूरे नहीं होते, वे भी इसलिए कि हम राग-रहित हो जाएँ। तो परिस्थिति का उपयोग राग-रहित होने में है।

अब यह बात उत्पन्न होती है कि जब सभी परिस्थितियों का उपयोग राग-रहित होने में ही है, तो वास्तविक जीवन किसी भी परिस्थिति में आबद्ध नहीं हो सकता। जब साधक दृढ़ता के साथ यह बात स्वीकार कर लेता है कि हमारा जो वास्तविक जीवन है, वह किसी परिस्थिति विशेष में आबद्ध नहीं है, तब उसके जीवन में बड़ी ही सजगता आती है, बड़ी ही जागृति आती है। एक ऐसी बात आ जाती है कि मानो, समस्त संसार समान है। विषमता नाश हो जाती है। विषमता के नाश होने से जितने द्वन्द्व होते हैं जीवन में, वे सब नष्ट हो जाते हैं। पर इस बात पर हम लोग कम ध्यान देते हैं। सोचने लगते हैं कि हाय! हाय!! ऐसा क्यों हो गया? अथवा बड़ा अच्छा हुआ कि ऐसा हो गया। यानी होने में सन्तुष्ट नहीं रह पाते, प्रसन्न नहीं रह पाते। या तो क्षोभित हो जाते हैं या मोहित हो जाते हैं।

क्षोभित होना या मोहित होना, यह तो कोई साधन नहीं है भाई। यह तो असाधन है। यह जीवन नहीं है। क्षोभित हो गए, तो क्रोधित हो जाएँगे। क्रोधित हो जाएँगे, तो विस्मश्ति आ जाएगी। मोहित हो गए, तो आसक्त हो जाएँगे। आसक्त हो जाएँगे, तो पराधीनता, जड़ता, वह सब दोष आ जाएँगे। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक के जीवन में न क्षोभित होने की आवश्यकता है और न मोहित होने की आवश्यकता है। तो होते क्यों हैं? केवल इसलिए कि हम इस बात को भूल जाते हैं कि प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है।

यदि दुःख है तो वह भी हित के लिए है और सुख है तो वह भी हित के लिए है। लेकिन दुःख के आते ही

लोग एकदम घबड़ा जाते हैं और सोचने लगते हैं कि जितनी जल्दी हो यह दुःख हमारे जीवन में से चला जाए, नष्ट हो जाए। पर ऐसा होता नहीं। जब तक प्राणी दुःख का पूरा प्रभाव अपने पर नहीं होने देता, तब तक उसके जीवन में दुःख आता ही रहता है। आप कहेंगे कि दुःख के पूरे प्रभाव का अर्थ क्या है? दुःख के पूरे प्रभाव का अर्थ है कि जब जीवन में दुःख का पूरा प्रभाव हो जाता है, तब भोग की रुचि, भोग की वासना मिट जाती है। भोग की वासना मिट जाने के बाद राग की उत्पत्ति ही नहीं होती अर्थात् जीवन राग-रहित हो जाता है, जिसके होते ही स्वतः बिना किसी श्रम के योग प्राप्त होता है।

आपने सुना होगा कि साधन में श्रम अपेक्षित नहीं है। इस दृष्टि से राग-रहित होने पर स्वतः योग होता है। आज हमसे भूल क्या होती है कि योग का सम्पादन नहीं होने देते। योग के फल में आस्था कर लेते हैं कि योग हो गया तो राग नाश हो गया कि नहीं योग हो गया तो सिद्धि आ गई कि नहीं, योग हो गया तो योग का जो फल है 'स्वरूप की अवस्था' वह हुई कि नहीं-ऐसी बातें अपने सामने रख लेते हैं। इससे बड़ी हानि यह होती है कि साधन की फलासक्ति नाश नहीं होती। फलासक्ति के नाश न होने से निष्कामता सुरक्षित नहीं रहती। निष्कामता के सुरक्षित न रहने से पुनः राग की उत्पत्ति हो जाती है।

इसलिए किस साधन से क्या फल होगा, इस पर पहले से कभी आस्था नहीं रखनी चाहिए। असाधन न रहे जीवन में, इससे बड़ी सिद्धि क्या होगी भाई? भोग की रुचि का नाश हो गया, भोग की वासना का नाश हो गया, यही बड़ी भारी परम सिद्धि है। राग-रहित होने से जो योग प्राप्त होगा, उससे क्या मिलेगा, जो बोध होगा, उससे क्या मिलेगा, जो प्रेम की अभिव्यक्ति होगी उससे क्या मिलेगा- इन सब बातों पर दृष्टि रखने से साधन में विघ्न ही होता है।

प्रत्येक परिस्थिति राग-निवृत्ति के लिए मंगलमय विधान से मिली है। अतः अपनी-अपनी परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करना चाहिए। किन्तु कितने साधक ऐसे हैं, जो अप्राप्त परिस्थिति का आह्वन नहीं करते? कोई कहता है कि एकान्त मिल जाता, तो कुटिया बना कर रहते। छोटी-छोटी बातों को लेकर लोग सोचते रहते हैं। दिन-रात किसी-न-किसी अप्राप्त परिस्थिति का

आह्वान और प्राप्त परिस्थिति का दुरुपयोग करते रहते हैं अथवा उसमें जीवन-बुद्धि रखते हैं। यह तीन दोष आ जाते हैं। इन दोषों से बचने का उपाय एकमात्र यह है कि प्रत्येक परिस्थिति अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है और राग-निवृत्ति के लिए मिली है, ऐसा मानें। परिस्थिति, जीवन नहीं है।

यदि किसी को कोई वस्तु विशेष मिल गई तो जीवन मिल गया हो, ऐसी बात नहीं है। यदि किसी को पद विशेष मिल गया तो उससे जीवन मिल गया हो, ऐसी बात नहीं है। यदि किसी को कोई व्यक्ति विशेष मिल गया तो उससे जीवन मिल गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। अब आप विचार करें कि कितने लोग ऐसे होंगे, जो वस्तु के मिलने से, व्यक्ति के मिलने से या पद आदि के मिलने से अपना जीवन नहीं मानते? कम लोग होंगे। वे वही लोग होंगे कि जिन्होंने जीवन के उद्देश्य को जान लिया है, अथवा निर्णय कर लिया है कि हमारा उद्देश्य क्या है।

आज जो सिद्धि में कठिनाई होती है, साधन में जो अस्वाभाविकता मालूम होती है, उसका कारण क्या है? उसका एकमात्र कारण यही है कि हम यह नहीं जानते कि हमारा साध्य क्या है? जैसे, कोई पथिक चला जा हा है बड़ी तेजी से। उससे पूछो, कहाँ जा रहे हो? बोले, पता नहीं। क्यों जा रहे हो? बोले, पता नहीं। ऐसे पथिक को आप क्या कहेंगे? कहेंगे कि मालूम होता है इसके मस्तिष्क में विकृति है। चला जा रहा है और कहता है कि हमको नहीं मालूम कि कहाँ जा रहे हैं।

इसलिए भाई, अपने साध्य पर विचार करो। कोई कहता है कि शादी करनी चाहिए, कि नहीं करनी चाहिए। इससे यह सिद्ध हो गया कि न तो शादी करना जीवन है और न शादी न करना जीवन है। क्योंकि अगर शादी न करना जीवन होता, तब तो यह बात सामने आ जाती कि शादी नहीं करना चाहिए। यदि शादी करना जीवन होता, तो यह बात सामने आ जाती कि शादी करना चाहिए। किन्तु जब यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है, तो इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से यह सिद्ध हो जाता है कि शादी करना भी साधन है और शादी न करना भी साधन है। पर साध्य नहीं है। ऐसे ही कोई कहे कि अमुक कार्य करना चाहिए, कि नहीं करना चाहिए। तो समझना चाहिए कि करना भी साध्य नहीं है और न करना भी साध्य नहीं है। किन्तु न करना भी साधन हो सकता है, और करना भी

साधन हो सकता है। तो भाई, जो कुछ करने और न करने के रूप में सामने आता है, वह सब साधन है, साध्य नहीं है। सही करने का फल साध्य है।

सही काम करने से क्या मिलता है और कुछ न करने से क्या मिलता है। सही करने से अथवा कुछ न करने से जो मिलता है, उसका नाम है, साध्य। सही करना अथवा कुछ न करना, यह है, साधन। किन्तु आज जो सही करने में अथवा कुछ न करने में या थोड़ा विश्राम पाने में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे बहुत काल तक साध्य को नहीं जान पाते। इसलिए भाई, जहाँ करने की बात आए, उसे भी साधन मान लो और जहाँ न करने की बात आए, उसे भी साधन मान लो। सही करना भी साध्य नहीं है और कुछ न करना भी साध्य नहीं है। साध्य है, इन दोनों का परिणाम। तो सही करने का परिणाम क्या होता है? सही करने का परिणाम होता है, करने के राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण भौतिक दृष्टि से। अच्छा, करने के राग की निवृत्ति से क्या मिलता है? करने के राग की निवृत्ति से चिर-शान्ति और दुःख-निवृत्ति मिलती है। कोई कहेगा कि दुःख-निवृत्ति हमारा साध्य है, कोई कहेगा कि चिर शान्ति हमारा साध्य है।

भाई, सुन्दर समाज के निर्माण से क्या मिलता है? सुन्दर समाज के निर्माण से एकता मिलती है, स्नेह मिलता है, समता मिलती है, निर्भयता मिलती है। यह सब सुन्दर समाज के निर्माण के अंग हैं। जहाँ सुन्दर समाज बन जाता है, वहाँ स्नेह, एकता, समता, निर्वैरता, यह सब गुण अपने आप आ जाते हैं। किसी व्यक्ति विशेष में आते हों, सो नहीं; सारे समाज में आ जाते हैं यह सब गुण। क्यों आ जाते हैं? सुन्दर समाज सही काम करने से हुआ। सही काम करने से दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों मे एकता होगी, प्रेम होगा। जहाँ एकता और प्रेम है, वहाँ भय भी नहीं है, विषमता भी नहीं है, नीरसता भी नहीं है। जब नीरसता नहीं है, तो विकार की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। जब भिन्नता नहीं है, तो विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। जब भय नहीं है, तब भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसलिए सही काम करने का अर्थ है, सुन्दर समाज का निर्माण। यह तो बाह्य लाभ हुआ। उसी सही काम को किसी ने अपने प्रेमास्पद की पूजा मान ली, तो सही काम करने वाले में अपने प्रेमास्पद की मधुर स्मश्ति जाग्रत होगी। यह हुआ आन्तरिक

लाभ। तो सही कार्य करने से कर्त्ता को अपने प्रेमास्पद की स्मृतिहो जाती है। यह आन्तरिक लाभ हुआ सही काम करने से।

कुछ न करने से क्या होता है भाई? कुछ न करने से कर्त्तापन का नाश होता है, कर्त्तृत्व नहीं रहता। जब कर्त्तृत्व नहीं रहता, तब किसी प्रकार के भोग की उत्पत्ति नहीं होती। जो कर्त्ता नहीं होता, वह भोक्ता भी नहीं होता। भोग का अभाव हो जाता है। भोग के अभाव में चिर शान्ति, दुःख-निवृत्ति, स्वाधीनता आदि जितने भी दिव्य गुण हैं, वे सब आ जाते हैं। अर्थात् कुछ न करने से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाता है और सही करने से जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है। अपने लिए उपयोगी होने का अर्थ क्या है? हमको स्वाधीनता प्राप्त हो जाए। तो भाई, कुछ न करने से भी सिद्धि मिलती है और सही करने से भी सिद्धि मिलती है।

यदि सही करने में जीवन-बुद्धि हो जाए अथवा कुछ न करने में जीवन-बुद्धि हो जाए, तो लोग कहने लगेंगे कि अगर कुछ न करने में जीवन है, तो यह जीवन उस पत्थर के टुकड़े को प्राप्त है, जो कुछ नहीं करता। जैसे, लोग कहते हैं कि हमारा मन स्थिर हो जाए। तो क्या हिमालय से ज्यादा स्थिर हो जाएगा तुम्हारा मन? क्या आकाश से ज्यादा विभु हो जाएगा तुम्हारा मन? आप विचार करें और गम्भीरता से विचार करें। तो कुछ न करने का नाम जीवन नहीं है। कुछ न करने का जो फल है, वह जीवन है। ऐसे ही सही करने का नाम जीवन नहीं है। सही करने का जो फल है, वह जीवन है।

अब आप विचार कीजिए कि वह परिस्थिति जो होगी, वह किस प्रकार की होगी? वह कुछ करने की प्रेरणा देगी और कुछ न करने की प्रेरणा देगी। उदाहरण के लिए, आँख खराब हो गई, तो अब देख नहीं सकते। जब देख ही नहीं सकते तो देखने की वासना का नाश कर दें। इसी प्रकार धन नहीं है, तो भाई, दान भी नहीं कर सकते और भोग भी नहीं कर सकते। तो भाई, देने की वासना भी छोड़ दें और लेने की वासना भी छोड़ दें। क्यों? जब अपने पास सामर्थ्य नहीं है, तो बिना सामर्थ्य के कुछ नहीं मिल सकता। इसलिए हमें कुछ नहीं चाहिए। वह अचाहपद हो गया और न देना भी हो गया। लेना भी कुछ नहीं और देना भी कुछ नहीं; लेना-देना खत्म। लेने के राग का भी नाश और देने के राग का भी नाश।

तात्पर्य यह है कि यदि हमाने जीवन में से राग का नाश नहीं हो रहा है, तो समझना चाहिए कि प्राप्त परिस्थिति का दुरुपयोग कर रहे हैं, सदुपयोग नहीं कर रहे। आप विचार करें। हमने बचपन में सुना था कि जो सुख चक्रवर्ती को नहीं मिलता, देवराज को नहीं मिलता, वह सुख वीतराग पुरुष को मिलता है। क्या यह कल्पनामात्र है, मजाक है? देवराज और चक्रवर्ती होना भले ही कठिन हो। परन्तु वीतराग होना सभी के लिए सम्भव है। चक्रवर्ती और देवराज को मिलने वाला सुख रागयुक्त अनित्य है, जब कि वीतराग को मिलने वाला सुख नित्य है। आज लोग रागयुक्त सुख को पसन्द करते हैं। इसीलिए परिस्थिति में जीवन-बुद्धि बन गई है। जब परिस्थिति में जीवन-बुद्धि हो जाती है, तब दीनता और अभिमान की उत्पत्ति अवश्य होती है। जब दीनता और अभिमान की उत्पत्ति होगी, तो फिर देखिए, कौन सा दोष ऐसा है, जो जीवन में न आजाए?

इसलिए प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है, राग-निवृत्ति में हेतु है, सहायक है। जिस विधान ने परिस्थिति प्रदान की है, वह विधान हमारे लिए हितकर है, अहितकर नहीं है। इसलिए भाई, प्रत्येक परिस्थिति का स्वागत करते हुए वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा चाहे तो अपने प्रभु की पूजा करो और चाहे सुन्दर समाज का निर्माण करो। बहुत-से लोग सोचते हैं कि सुन्दर समाज का निर्माण सही काम करने से कैसे होगा? यदि सही काम करने से सुन्दर समाज का निर्माण नहीं होगा, तो और किसी प्रकार से हो नहीं सकता। आप कहेंगे कि दण्ड-विधान से बल के दुरुपयोग को रोकेंगे। तो इसके लिए राष्ट्र की कल्पना की गई। परन्तु क्या आज राष्ट्र सुन्दर समाज का निर्माण कर सका? अगर व्यक्ति अपने सुधार में पराधीन होता, तब तो यह बात ठीक मान ली जाती। अपने सुधार के लिए पराधीनता का अनुभव कभी नहीं होता, अपने सुधार में सभी स्वाधीन हैं।

इसलिए भाई, सही काम किये बिना सुन्दर समाज का निर्माण होता ही नहीं। कुछ न करना भी साधन है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति का शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। वह गंगा-स्नान नहीं कर सकता, तो उसके लिए गंगा-स्नान न करना साधन है। ऐसे ही जो व्यक्ति गंगा-स्नान कर सकता है, उसके लिए गंगा-स्नान करना साधन है। तो स्नान न करना भी

साधन है और स्नान करना भी साधन है। इस प्रकार दोनों की प्रसन्नता सुरक्षित रहेगी कि नहीं? उच्च कोटि के दार्शनिक दृष्टिकोण से तो कुछ न करने में ही सब कुछ करना है। और सही करने का फल ही कुछ न करना है।

अब विचार करके देखिए कि सही करने की शक्ति कुछ न करने में से ही आती है। जब हमें यह बात मालूम हो जाती है कि सही करना भी साधन है और कुछ न करने में भी साधन है। तो फिर निर्बल-से-निर्बल भी उसी प्रकार सिद्धि पा सकता है, जिस प्रकार सबल-से-सबल सिद्धि पाता है। आज हम इस बात पर ध्यान नहीं देते और यह सोचने लगते हैं कि अगर हम कुछ नहीं कर सकते, तो हमारा साधन ही नहीं बनेगा। फिर वस्तु और व्यक्ति के आश्रित हो कर विकारयुक्त जीवन बना लेते हैं। इस प्रकार जीवन का बहुत बड़ा भाग धोखे-धड़ाके में निकल जाता है।

इसलिए भाई, इन तीन बातों पर खूब विचार करना चाहिए-एक तो यह कि परिस्थिति राग-निवृत्ति का साधन है, जीवन नहीं है। दूसरे यह कि विचार देह-अभिमान गलाने का साधन है, बुद्धि का व्यायाम नहीं है। और तीसरे यह कि विश्वास प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने में हेतु है, और कुछ नहीं। विश्वास के आधार पर हम अपना प्रेमास्पद स्वीकर करें कि हमारा कोई प्रेमास्पद है। आप कहें कि प्रेमास्पद कैसा है? तो गम्भीरता से सोचिए कि प्रेमास्पद जाना नहीं जाता, माना जाता है, विश्वास किया जाता है। जैसे, किसी लड़की से कह दिया जाय कि जिससे उसका सम्बन्ध हो रहा है, उसका रंग ऐसा है, सम्पत्ति इतनी है आदि। तो लड़की कहेगी कि जान लिया, क्योंकि पापाजी ऐसा कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह विश्वास है, ज्ञान नहीं।

शास्त्रों के द्वारा, गुरु के द्वारा प्रेमास्पद के बारे में जो कुछ सुनते हैं, वह हमारा ज्ञान नहीं है, विश्वास है। लोग उसे ज्ञान मान लेते हैं। विकल्प-रहित विश्वास को ज्ञान मान लेना, क्या प्रमाद नहीं है? अगर किसी ने प्रेमास्पद की महिमा को नहीं सुना है, तो क्या प्रेमास्पद नहीं है? बिना महिमा सुने यदि किसी ने अपना प्रेमास्पद स्वीकार कर लिया है, जो उसकी ज्यादा दृढता रहेगी। जो लोग महिमा सुन कर मानते हैं कि प्रभु में अनन्त सौन्दर्य है, अनन्त माधुर्य है, अनन्त ऐश्वर्य है, उनका सम्बन्ध, और एक आदमी यह स्वीकार करे कि भैया,

चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, मिलें या न मिलें, पर हमारे प्रेमास्पद हैं-बताओ, इन दोनों में बढिया प्रेमी कौन होगा?

यदि कुछ गुरु मिल जाएँ, तो मुसीबत हो जाए। कोई कहेगा कि प्रेमास्पद तो वह है, जो धनुष-बाण लिए हुए हैं। दूसरा कहेगा कि नहीं-नहीं, बिल्कुल गलत बात है। प्रेमास्पद तो वह है, जो वंशी बजा रहा है। तीसरा कहेगा कि वाह ! प्रेमास्पद तो वह है, जो मुण्डों की माला पहने हुए हैं। चौथा कहेगा कि नहीं, विल्कुल गलत बात है। प्रेमास्पद तो निराकार है। पाँचवा कहेगा कि नहीं, निर्विशेष है। तो ऐसे झगड़े वाला ज्यादा अच्छा प्रेमी हो सकता है, या कि वह, जो एक बात कह दे, कि भैया! मेरे प्रेमास्पद चाहे जैसे हों, पर मेरे हैं? बदल तो जाएँगे नहीं। क्या वे बदल जाएँगे हमारे मानने से? और न मानने से कोई घटिया हो जाएँगे? क्या दो प्रेमास्पद हैं? दो हैं नहीं। वे कैसे ही हों, अपने हैं।

आजकल लोगों ने प्रेमास्पद की सुनी तारीफ और फिर उसका बनाया कार्टून। फिर कहते हैं कि क्या बताएँ महाराज जी! हमने सुना तो यह था कि कोटि काम लजाते हैं, इतने सुन्दर हैं, पर ऐसा सुन्दर कोई चित्र तो देखा नहीं है। अगर ऐसा कहें, तो लोग कहेंगे कि तुम नास्तिक हो। भला भगवान् के विग्रह को ऐसा कहते हो? बाबा, हम ऐसा कहते नहीं, कहलवाते हो तुम। क्यों नहीं कह देते कि यह तो उनकी कृपा पर निर्भर है कि वे अपने सौन्दर्य का, अपने माधुर्य का, अपने ऐश्वर्य का बोध कराएँ, ज्ञान कराएँ?

लेकिन क्या तुम बिना प्रेमास्पद के रह सकते हो? यदि आपका हृदय कह दे कि नहीं रह सकते। तो प्रेमास्पद चाहे जैसे हों, हमारे अपने हैं। इसके अतिरिक्त विश्वास का और कोई उपयोग ही नहीं है, भाई मेरे। प्रेमास्पद हमारे अपने हैं। वे चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, मिलें, न मिलें और हमारे साथ जो चाहें सो करें। अच्छा भैया, किसी प्रेमी से पूछो कि प्रेमास्पद की ओर से जो कुछ होगा, वह तुम्हारे लिए रसरूप होगा कि नीरस होगा? फिर हम कौनसी कन्डीशन रखें कि प्रेमास्पद ऐसा करें? सच्चा प्रेमी वही होगा, जो प्रेमास्पद की ओर से जो कुछ हो, उसी में राजी रहे।

एक दिन हम लोग सत्संग में बैठे हुए थे। एक सज्जन आए और बोले कि भगवान् के काम के लिए जा रहे हैं, जगह दे दो। हमारे पास ठाकुर साहब बैठे थे। वे बोले कि हमारे ऊपर रख लो पैर। अरे, भगवान् के काम के लिए

जा रहे जो, तो जगह ढूँढने की क्या जरूरत है? हमने कहा कि बात तो ठीक है। कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि अगर हमारे प्रेमास्पद हैं, तो हमें कोई जरूरत नहीं है यह जानने की कि वे कैसे हैं। अतिथि जब किसी के घर जाता है, तो क्या पहले से तय कर लेता है कि आप हमें यह खिलाइए? मान लो, उसने और बढिया खिला दिया तो?

जितना हम सोचते हैं, उससे ज्यादा सुन्दर प्रेमास्पद निकले; अथवा उन्होंने मजाक में भद्दा वेष बना लिया, तो सन्देह और हो जाएगा। इसलिए उनके रुप के सम्बन्ध में क्यों सोचें? मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हम बिना प्रेमास्पद के नहीं हैं, हम अनाथ नहीं है, हमारे प्रेमास्पद हैं। बस, इतनी-सी बात में विश्वास का उपयोग है, यही मैं निवेदन कर रहा था। इसी बात में विश्वास का उपयोग कीजिए कि हमारे प्रेमास्पद हैं, वे हमारे हैं, हम अनाथ नहीं हैं।

विचार का उपयोग करना हो, तो केवल इसी बात में कीजिए कि कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु हमारे लिए नहीं है, कोई भी वस्तु हम नहीं है, और कोई भी स्वीकृति हम नहीं हैं। इन बातों में विचार का उपयोग कर लीजिए। इससे आगे अगर आप विचार का उपयोग करेंगे, तो विचार के नाम पर न जाने क्या कर बैठेंगे! जब कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु हमारी नहीं है, तो ममता गई। जब कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु हम नहीं हैं, तो अहंता गई। जब कोई भी स्वीकृति हम नहीं हैं, तो कर्त्तृत्व का अभिमान गया। मिला क्या? चिर विश्राम। विचार देता है चिर विश्राम, निर्विकारता और निर्वासना। तो विचार से मिला, चिर विश्राम। विश्वास से प्रेमास्पद से सम्बन्ध जुड़ गया। और भैया, परिस्थिति के सदुपयोग से राग-रहित हो गये। सिद्धि हुई कि नहीं? सफलता मिली कि नहीं?

आप विचार कीजिए कि भाई, साधन-निर्माण के लिए परिस्थिति सहायक है, विचार सहायक है और विश्वास सहायक है, चाहे तो यों कहो। चाहे यों कहो कि परिस्थिति भी साधन है, विचार भी साधन है और विश्वास भी साधन है। विचार साधन, विश्वास साधन और परिस्थिति साधन। परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा राग-रहित हो गए, विचार के द्वारा वासना-रहित हो गए और विश्वास के द्वारा समर्पित हो गए, शरणागत हो गए। शरणागत हो गए तो, वासना-रहित हो गए तो और राग-रहित हो गए तो, अन्तर क्या पड़ेगा

भैया? जहाँ राग की गन्ध नहीं है, जहाँ वासना की गन्ध नहीं है, जहाँ अपने में अपना करके कुछ नहीं है, वहाँ अहं और 'मम' रहेगा, क्या?

तीनों प्रकार के साधनों से अहं का भी नाश हुआ और मम का भी नाश हुआ। अहं और मम के नाश से हुआ क्या? तीनों बातें-योग, बोध और प्रेम। अहं और मम के नाश से योग, बोध और प्रेम मिला। योग, बोध और प्रेम क्या है? यह प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेमास्पद ने योग चिर शान्ति वालों के लिए रखा है, बोध सद्गति वालों के लिए रखा है और प्रेम अपने लिए रखा है। जो प्रेम का ही सम्पादन करते हैं, वे प्रेमास्पद के काम आते हैं। जो बोध में सन्तुष्ट होते हैं, वे अपने काम आते हैं। जो योग में सन्तुष्ट होते हैं?, वे चिर शान्ति पाते हैं और उनके दुःख की निवृत्ति भी हो जाती है।

योग, बोध और प्रेम ही साधनतत्त्व या गुरुतत्त्व हैं। गुरुतत्त्व कहो, साधनतत्त्व कहो, या योग, बोध, प्रेम कह दो। साधनतत्त्व से प्रत्येक साधक की अभिन्नता होती है। साधनतत्त्व से अभिन्नता होने पर साधक ऐसे जीवन को प्राप्त कर लेता है, जिस जीवन की माँग जगत् को भी है और जगत्पति को भी है। यह साधनतत्त्व की महिमा है। इसलिए हम सबको साधनतत्त्व के अभिन्न होना है। साधनतत्त्व से अभिन्न होने में हम सब सर्वदा स्वाधीन हैं, समर्थ हैं। कोई भी पराधीन नहीं है, कोई भी असमर्थ नहीं है। इस दृष्टि से अगर हम और आप देखें, तो मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व का जीवन है, प्रत्येक व्यक्ति का जीवन बड़े ही महत्त्व का जीवन है। अगर यह कह दिया जाए कि संसार के सभी मानव महत्त्व की दृष्टि से समान हैं, तो बताइए, कितने रस की अभिव्क्ति होगी, कितनी समता जीवन में आएगी?

आज हमारी दशा क्या है? परिस्थिति को जीवन मान लिया, तो दुःखी हो रहे हैं। क्यों? हाय! हाय!! पोद्दार जी को इतना रुपया मिलता है, हमको नहीं मिलता! मर जाओ सोच के मारे। मिल जाएगा क्या? आप विचार करो। अगर हम यह मान लें कि परिस्थिति राग-निवृत्ति का साधन है, तो बताइए, क्या अन्तर पड़ा? आप विचार करें, क्या अन्तर पड़ा? कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। इसलिए भाई, प्रत्येक परिस्थिति राग-निवृत्ति का साधन है। साधक को यह मानना ही पड़ेगा। बिना इसके स्वीकार किए आप चैन नहीं पा सकते।

अच्छा भाई, परिस्थिति जो होती है वह बनाई जाती है या अपने आप बनती है? अपने आप बनती है। जब परिस्थिति अपने आप बनती है, तो वर्तमान को छोड़ कर अपनी दृष्टि आगे-पीछे पर जाएगी क्या? नहीं जाएगी। जब आगे-पीछे पर अपनी दृष्टि नहीं जाएगी, तो वर्तमान सभी का निर्दोष है कि नहीं, सरस है कि नहीं, शान्त है कि नहीं? लेकिन जब आगे-पीछे का चिन्तन आ जाता है, तब सब किरकिरा हो जाता है कि नहीं? तो वर्तमान में किरकिराहट कब आती है? जब हम अपने आप आने वाली परिस्थिति का आदर नहीं करते, स्वागत नहीं करते।

जीवन में दुःख आया है तो राग-निवृत्ति के लिए और सुख आया है तो राग-निवृत्ति के लिए। चाहे यों कह दो कि दुःख आया है विरक्ति के लिए और सुख आया है उदारता के लिए। उदारता में भी सुख का भोग नहीं होता भाई। उदारता अगर आपके जीवन में है, तो क्या आप सुख का भोग कर सकते हैं? कदापि नहीं।

एक बार एक बड़े स्टेट के दीवान हमारे साथ उत्तराखण्ड की यात्रा में गए। जहाँ जिस चट्टी पर जाएँ, वहाँ बड़ी गन्दगी, बड़ी मक्खियाँ। वे घबराएँ और बार-बार कहें कि जब हम दीवान थे, तब हमारे लिए डाक बँगले का इन्तजाम हो जाता था। हमने एक दिन सुना, दो दिन सुना। फिर हमने कहा कि पापा ! हृदयहीन हुए बिना, बेईमान हुए बिना, अपना मूल्य बिना घटाए और पराधीन हुए बिना कोई आदमी सुख नहीं भोग सकता। अब वे बड़े घबराये। हमने कहा कि एक बात बताओ पापा, तुमको जो कुछ मिला है, क्या वह व्यक्तिगत है? बोले, नहीं। तो पराई वस्तु को अपना मान कर ही तो सुख भोगते थे। बेईमानी आ गई कि नहीं? पापा, आप ही बताओ, जिस जमीन पर आप सुख भोगते हो, उसके चारों ओर कितने लोग दुखी हैं? हृदयहीन हो गए कि नहीं? बिना हृदयहीन हुए क्या कोई सुख भोग सकता है? नहीं भोग सकता। अच्छा, जो परिस्थिति मिली है, उससे अपना मूल्य बिना घटाये क्या सुख भोग सकते हैं? पराधीन हो गए कि नहीं? मोटर का मूल्य हो गया, कोठी का मूल्य हो गया, पद का मूल्य हो गया, योग्यता का मूल्य हो गया। अपना मूल्य कुछ नहीं रखा। हमने कहा कि इसी को आप अपना गौरव मानते थे क्या? बोले, यह बात तो ठीक है।

कहने का तात्पर्य यह था कि भाई, सुख-भोग जीवन नहीं है। सुख तो उदार बनाने के लिए आया है। सुख जो आपके जीवन में आया, वह इसलिए आया कि आप उदार बन जाएँ और दुखियों के साथ आपकी एकता हो जाए। दुःख जो है वह विरक्त बनाने के लिए आया है कि आप तो विरक्त हो जाएँ और सुखियों के साथ आपकी एकता हो जाए। देखिए, जब दुखी विरक्त हो जाता है, तब वह सुखी को देख कर प्रसन्न होता है। आप सुखी हैं, तो आप दुखी को देखकर करुणित हो जाएँ। सुख करुणित होने के लिए आया था और दुःख विरक्त बनाने के लिए आया था।

भाई, सुख का भोगी और दुःख का भोगी साधक नहीं होता। सुख-दुःख का सदुपयोग करने वाला ही साधक होता है। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भाई, परिस्थिति राग-निवृत्ति में ही हेतु है। इसलिए जो भी परिस्थिति अपने आप आए उसे आने दो। निर्बलता आए, निर्धनता आए, बीमारी आए, अनादर आए, तिरस्कार आए, जो भी आए, आने दो। जब प्रतिकूल परिस्थिति आए, तो उससे जीवन में सजगता आनी चाहिए। जब परिस्थिति अनुकूल आए, तो जीवन में उदारता बनी रहे। बस, इतना ही ध्यान रखने की बात है।

परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा राग-रहित होने का जो निश्चय है, वह हमें सभी परिस्थितियों में समता प्रदान करेगा, सभी परिस्थितियों का आदर प्रदान करेगा। जब परिस्थिति का अनादर नहीं होगा, तब किसी भी परिस्थिति का आह्वन नहीं रहेगा और किसी भी परिस्थिति में ममता नहीं रहेगी। न ममता रहे और न आह्वान रहे, तब परिस्थिति से अतीत के जीवन में प्रवेश होगा कि नहीं? यदि किसी परिस्थिति में ममता न रहे और किसी परिस्थिति का आह्वान न हो, तो परिस्थिति से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाएगा। अथवा यों कहो कि राग-रहित हो जाएँगे और राग-रहित होने से परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश होगा।

परिस्थिति से अतीत का जीवन कर्म-सापेक्ष नहीं है। भाई, परिस्थिति से अतीत का जो जीवन है वह साधन-साध्य है। साधन का अर्थ क्या है? साधन का अर्थ है कि परिस्थिति के द्वारा राग-निवृत्ति, विचार के द्वारा देहाभिमान का नाश और विश्वास के द्वारा प्रेमास्पद की स्वीकृति। बस, इसी में सिद्धि है।

परिस्थिति आवश्यक है राग-रहित करने में, विचार आवश्यक है देहाभिमान नष्ट करने में और विश्वास आवश्यक है प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने में।

अब कठिनाई यही होती है कि हम यह सोचने लगते हैं कि परिस्थिति से अतीत कोई जीवन नहीं है। जो हमारी परिस्थिति है वही हमारा जीवन है, ऐसा सोचने लगते हैं। चाहे वह आदर हो, अनादर हो, सुख हो, दुःख हो-भाई, यह जीवन नहीं है। अनादर आया है, तो वह देहाभिमान का बोध करा देता है और आदर के राग की पूर्ति करा कर निवृत्ति करा देता है। विचार कीजिए, परिस्थिति के अनुसार किसी ने अनादर कर दिया, तो अनादर का जो दुःख हुआ उससे पता चल गया कि अभी तक हम अपने को देह मानते थे। आदर से सुख मिला, तब भी यही पता चला।

अनादर के दुःख ने यदि जागृति उत्पन्न कर दी, तो विचार द्वारा देहाभिमान नाश करना स्वाभाविक हो जाएगा। अगर देहाभिमान नाश हो गया, तो आदर और अनादर दोनों निरर्थक हो जाएँगे। इस दृष्टि से अपने आप आने वाला चाहे दुःख हो और चाहे सुख हो, चाहे आदर हो और चाहे अनादर हो, यह सब साधनरुप ही है। किन्तु अगर हम यह मान लें कि आदर-अनादर और सुख-दुःख ही जीवन है, तब तो साधन नहीं बनता। इसलिए परिस्थिति साधनरूप है राग-रहित होने के लिए। विचार साधनरूप है देहाभिमान नष्ट करने के लिए अथवा यों कहो कि निरभिमानता प्रदान करने कि लिए और विश्वास साधनरूप है प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने के लिए। इन तीनों में से किसी-न-किसी के अधिकारी तो हम होंगे ही। ऐसा तो आप नहीं कह सकते कि हम किसी के अधिकारी नहीं है।

जो साधक ऐसा है, जो मानव ऐसा है कि जो यह कहता है कि हम तो परिस्थिति से आगे की बात मान ही नहीं सकते, सोच ही सकते, तो वह परिस्थिति का सदुपयोग करें और राग-रहित हो जाएँ। यही आपने देखा होगा कि जिन्होंने संसार की सत्ता स्वीकार की, उन्होंने राग-रहित होकर दुःख-निवृत्ति को प्राप्त किया। जिन्होंने यह नहीं सोचा कि संसार से आगे भी कुछ है, उनको भी राग-रहित होना अनिवार्य हो गया। जिन्होंने यह विचार किया कि "शरीर मैं नहीं हूँ" उन्हें अमरत्व प्राप्त करना अनिवार्य हो

गया। जिन्होंने यह सोचा कि भाई, कोई अपना अवश्य है, उन्होंने प्रभु की सत्ता स्वीकार कर ली।

यह तीन बातें हो सकती हैं-

(1) मैं कुछ नहीं (2) मैं सब कुछ (3) मैं किसी की मधुर स्मृति किसी को तो यह रुचिकर होगा कि मैं कुछ नहीं हूँ।

किसी को यह रुचिकर होगा कि मैं सब कुछ हूँ। किसी को यह रुचीकर होगा कि मैं अपने प्रेमास्पद की प्रीति हूँ। जिसको यह रुचिकर है कि मैं कुछ नहीं, वह भौतिकवादी है। जिसको यह रुचिकर है कि मैं सब कुछ, वह अध्यात्मवादी है। जिसको यह रुचिकर है कि मैं अपने प्रेमास्पद का प्रेम हूँ, वह ईश्वरवादी है। इन तीन के अतिरिक्त कोई भी चौथी बात आप अपने सम्बन्ध में स्वीकार नहीं कर सकते। 'मैं' कुछ, यह भूल है। या तो मैं कुछ नहीं, या मैं सब कुछ, या मैं प्रेम।

मैं कुछ नहीं, यह कर्त्तव्यनिष्ठ होने के बाद सिद्ध होता है। मैं प्रेम, यह शरणागत होने के बाद सिद्ध होता है। मैं सब कुछ, यह अचाह होने के बाद सिद्ध होता है। इसीलिए कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति में समस्त साधन निहित हैं। यही कर्त्तव्यपरायणता शरणागत की पूजा है। यही असंगता शरणागत का समर्पण है। असंगता कहो या समर्पण कहो, एक ही बात है। यही अध्यात्मवादी की जो असंगता है, वही अचाहपद है, कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति, यही साधन के मूल तत्त्व हैं। इन तीनों में से किसी एक के आ जाने से तीनों अपने आप आ जाते हैं, ऐसा मेरा विचार है।

35(ब) अविनाशी,स्वाधीन,रसरुप,चिन्मय जीवन।

जीवन में जो पराधीनता आ गई है, जीवन में जो नीरसता आ गई है, वह मिट सकती है। नीरसता का अर्थ होता है, अच्छा न लगना। अगर आप कभी भी फील या महसूस करते हैं कि अच्छा नहीं लगता, तो समझ लो कि कोई-न-कोई भूल अवश्य है। ऐसे ही अगर आप यह अनुभव करते हैं कि क्या बताऊँ, जो मुझे करना चाहिए, उसको मैं जानता तो हूँ, लेकिन करता नहीं हूँ। तो अपनी भूल अवश्य है। किसी प्रकार की पराधीनता महसूस होती है, तो भी समझना चाहिए कि कोई-न-कोई भूल है।

भूल-रहित होने से, भूल को जीवन में से निकाल देने से मनुष्य में कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता-यह तीन बातें अपने आप आती हैं। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए उपयोग होता है, कारामद होता है। असंगता से अपने लिए और आत्मीयता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है। जीवन के यह तीन तत्त्व हैं-कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता। यह हम सभी को प्राप्त हो सकते हैं। कैसे हो सकते हैं? आप सब जानते ही हैं कि किसी का जो कर्त्तव्य होता है, वही किसी का अधिकार होता है। जैसे, वक्ता का जो कर्त्तव्य है, वही श्रोता का अधिकार है और जो श्रोता का कर्त्तव्य है, वही वक्ता का अधिकार है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ दो सम्बन्धी मिलते हैं, वहाँ एक का कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति का कर्त्तव्य समाज का अधिकार, सेवक का कर्त्तव्य सेव्य का अधिकार, आस्तिक का कर्त्तव्य प्रभु का अधिकार होता है। जो कर्त्तव्यनिष्ठ होते हैं, वे संसार के ऋण से मुक्त हो जाते हैं, उनमें संसार से ऊपर उठने की शक्ति आ जाती है।

क्या कारण है कि हम थोड़ी देर के लिए भी संसार के चिन्तन से रहित नहीं हो पाते, छूट नहीं पाते? इसका मूल कारण हमारी यही भूल है कि हमने अपने द्वारा संसार के साथ वह नहीं किया, जो करना चाहिए था। जब संसार के चिन्तन से नहीं छूटते, तो शान्ति और स्मृति कैसे उदित हो सकती हैं? संसार के चिन्तन से रहित नहीं होते इसलिए शान्ति मिलती नहीं, स्मृति उदित होती नहीं। देखिए, हमें समाज के साथ, संसार के साथ ऐसी कोई चीज नहीं करनी है, जिस हम नहीं कर सकते। वह कर्त्तव्य नहीं कहा जा सकता कि भाई, तुम वह करो, जो तुम नहीं कर सकते।

क्या किसी को वह ड्यूटी दी जा सकती है, जिसे वह न कर सके? क्या कोई अन्धों से देखने के लिए कहेगा? कभी नहीं कहेगा। क्या निर्धन से कोई धन देने की बात कहेगा? कभी नहीं कहेगा। क्यों? संसार इतना अनुदार नहीं है, इतना बेईमान नहीं है कि वह हमसे यह कहे कि तुम वह करो, जो तुम नहीं कर सकते। अब आप सोचिए कि जब हमें वही करना है, जिसे हम कर सकते। हैं, तो फिर हमारे जीवन में अकर्त्तव्य नहीं रहना चाहिए; कर्त्तव्यपरायणता आ जानी

चाहिए। जब हमारे जीवन में कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है, तो हम प्रत्येक कार्य के पूर्ण होने पर, प्रत्येक कार्य के अन्त में अपने आप योगवित् हो जाते हैं। अर्थात् हमें कर्त्तव्य का अन्त होते ही स्वतः अपने आप योग की प्राप्ति होती है और संयोग की दासता मिट जाती है।

संयोग माने, एक-दूसरे से मिलना। इसी से कर्त्तव्य का सम्बन्ध होगा। यह भाषा समझ में न आती हो, तो पूछ लेना। इससे क्या फायदा होगा कि हम बार-बार कहते रहें और आपकी समझ में न आए। भाई, बोलना इसलिए है कि आपकी समझ में आ जाए। तो मैं यह कह रहा था कि संयोग काल में कर्त्तव्य का प्रश्न उत्पन्न होता है, योग काल में कर्त्तव्य का प्रश्न नहीं रहता। संयोग उसके साथ मिलता है, जिसके साथ हम सदैव नहीं रह सकते। योग हमें उसके साथ जोड़ता है, जिसके साथ हम सदैव रह सकते हैं और जो सदैव हमारे साथ रह सकता है। जो हमेशा नहीं रह सकता, उसके साथ संयोग होता है। तो संसार में एक-दूसरे के साथ संयोग है, योग नहीं है। संयोग में बदलता ही है। योग, वियोग में नहीं बदलता। मिले हुए अलग हो जाते हैं, ऐसा विधान है, ऐसा कानून है।

इस विधान के अनुसार जब हम ऐसी वस्तु या व्यक्ति के साथ मिले हुए मालूम हों कि जिससे अलग होना है, तो हमें उस संयोग काल में मिली हुई वस्तु का ठीक-ठीक इस्तैमाल करना चाहिए, सदुपयोग करना चाहिए और मिले हुए व्यक्तियों की यथाशक्ति सेवा करनी चाहिए। वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा- इसी का नाम है कर्त्तव्य विज्ञान, इसी का नाम है धर्म विज्ञान। वस्तुओं का सदुपयोग कब हो सकेगा? जब वस्तु में हमारी ममता न हो। व्यक्तियों की सेवा कब बन सकेगी? जब हम जिन व्यक्तियों की सेवा करनी है, उनको अपना न मानें, अपितु भगवन् को अपना मानकर उनके नाते व्यक्तियों की सेवा करें। अथवा सारे संसार को अपना मानकर जगत् के नाते सेवा करें। ऐसा विधान है।

सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपने सुख के लिए इतने बड़े संसार में कोई अपना नहीं है। क्यों नहीं है? अपने को जो चाहिए, वह संसार के द्वारा मिल नहीं सकता। आपको क्या चाहिए? आपको अविनाशी जीवन चाहिए, स्वाधीन

जीवन चाहिए, रसरूप जीवन चाहिए और चिन्मय जीवन चाहिए। तो चिन्मय जीवन, रसरूप जीवन, स्वाधीन जीवन, अविनाशी जीवन कभी किसी को संसार की सहायता से नहीं मिला है, न मिलेगा और न मिल सकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि हमें जो चाहिए, वह संसार से नहीं मिल सकता। तो फिर संसार पर अपना अधिकार क्यों मानें, उसको अपने लिए अपराधी क्यों मानें, उसको बुरा क्यों समझें? क्योंकि हमें जो चाहिए, वह संसार हमें दे नहीं सकता।

अब प्रश्न पैदा होता है कि हमें जो चाहिए, वह फिर कहाँ मिलेगा? अनुभव सिद्ध होता है कि हमें जो चाहिए, वह हममें और हम उसमें हमेशा ही मौजूद हैं। यह बड़े महत्त्व की बात है कि हमें जो चाहिए, वह हममें मौजूद हैं और सदा ही मौजूद है अथवा हमें जो चाहिए, हम उसी में हैं, उसके बाहर नहीं हैं। लेकिन हम अपनी भूल से अपने लिए उसकी जरूरत अनुभव करने लगते हैं, जो कभी था, कभी नहीं रहेगा। ऐसी बहुत-सी चीजें आपको मिली होंगी, जो पहले थीं और अब नहीं है और ऐसी बहुत-सी चीजें आप महसूस करते होंगे कि जो आगे मिलेंगीं।

जो पहले थी, अब नहीं है और जो अब हैं, आगे नहीं रहेंगी; तो ऐसा मान ही लेना चाहिए कि वह हैं नहीं और जो कभी अलग होगी, वह अभी भी अलग है। यानी हमसे शरीर कभी अलग होगा, तो ऐसा मान ही लेना चाहिए कि अभी भी शरीर हमसे अलग है। अगर अभी अलग नहीं है, तो हमसे कभी भी अलग नहीं होगा। ऐसा नियम है। आप सोचते हैं कि कोई कभी हमेशा के लिए मिलेगा, ऐसा अगर आप मानते हैं, तो वह अभी भी हममें मौजूद है। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसार हमसे अलग है और परमात्मा हममें मौजूद है। परमात्मा हमसे अलग नहीं है और संसार हमसे मिला नहीं है। तो जो मिला नहीं हे, उसे हम अपनी भूल से मिला मान लेते हैं और जो मिला हुआ है, उसे हम अलग मानते हैं। मिले हुए को अलग मानना और जो अलग है, उसको मिला हुआ मानना, इसी का नाम भूल है, प्रमाद है, अज्ञान है।

यह अज्ञान है कि जो मिला हुआ नहीं है, उसको मिला हुआ मान लिया और जो मिला हुआ है, उसको अलग मान लिया। मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि शरीर जो हमको मिला हुआ मालूम होता है, वह

सचमुच अलग है और परमात्मा अलग मालूम होता है, जो सचमुच मिला हुआ है। अब इसका अनुभव कैसे हो? इसका अनुभव करने के लिए पहली बात यह होगी कि हम पर जो परिवार का, समाज का, संसार का अधिकार है, उसको हम देते जाएँ और यह मान ही लें कि हमारा संसार पर कोई अधीकार नहीं है। क्योंकि अधिकार तो उसे कहते हैं, जिसे पाकर हम सदा के लिए अभय हो जाएँ, निश्चिन्त हो जाएँ, निर्मम हो जाएँ, स्वाधीन हो जाएँ, बार-बार न माँगना पड़े, सदा के लिए माँगना बन्द हो जाए। ऐसी कोई वस्तु संसार हमें दे नहीं सकता, क्योंकि उसके पास है ही नहीं। हमसे संसार केवल इतनी आशा रखता है कि जो हमें संसार की सहायता से मिला है, उसके द्वारा हम किसी प्रकार की हानि न पहुँचाते हुए संसार की सेवा करें। संसार से मिली हुई वस्तु संसार के समर्पित कर दें।

संसार से क्या मिला है? वस्तु मिली है, योग्यता मिली है, किसी-न-किसी प्रकार की सामर्थ्य मिली है। तो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा जिसकी हमारा जी चाहे, उसकी सेवा करेंगें। हम नहीं कहते हैं कि आप हमारी सेवा करें। चाहे जिसकी सेवा करें। लेकिन मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा किसी को हानि न पहुँचाएँ, यह बहुत जरूरी बात हे। जो व्यक्ति कभी किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता, वह प्रकृति के विधान से अजातशत्रु हो जाता है। उसको सब अपना मानने को राजी हो जाते हैं। किसको? जो कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाता। जो कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाता, उसके द्वारा स्वतः संसार की आवश्यक सेवा होने लगती है। ऐसा विधान है।

जीवन का सत्य क्या निकला? हम किसी को हानि न पहुँचाएँ, तो मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा संसार की सेवा हो जाएगी। जो चीज अपने आप होती है, उसका अभिमान नहीं होता, उसके फल में आसक्ति नहीं होती। जो अपने आप होता है, उसका अभिमान क्यों होगा? जो अपने द्वारा किया हुआ नहीं है, वह तो अपने आप प्राकृतिक ढंग से हो जाता है। सच्ची सेवा जो होती है, वह अपने आप स्वभाव से हो जाती है। ऐसे ही जब हम संसार पर अपना कोई अधिकार नहीं मानते, जो है भी नहीं तो उसके त्याग का अभिमान भी नहीं बनता। संसार हम तक पहुँच ही नहीं सकता। जब संसार हम तक पहुँच ही

नहीं सकता, तब संसार पर हमारा अधिकार ही क्या होगा?

जो साधक यह मान लेता है कि संसार पर मेरा कोई अधिकार है ही नहीं, वह क्षोभ से, क्रोध से, राग से, द्वेष से बिल्कुल मुक्त हो जाता है। उसमें क्षोभ नहीं रहता, क्रोध नहीं रहता, राग नहीं रहता, द्वेष नहीं रहता। जिसमें यह चारों दोष नहीं रहते, वह निर्दोष होने के कारण योग से, बोध से और प्रेम से भरपूर हो जाता है। यानी उसे योग, बाध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। किसे? जिसने संसार के अधिकार पूरे किए और यह जान लिया कि संसार पर मेरा कोई अधिकार नहीं है।

जब योग प्राप्त हो जाता है, तब जीवन में किसी प्रकार की अशान्ति नहीं रहती, ऐसा नियम है। यह योग का बाहरी फल है। भीतरी फल क्या है? उसमें असमर्थता नहीं रहती। तीसरा फल क्या है? हम योग से अपने स्वरूप में स्थित होते हैं। यह तीन फल योग के हैं-अपने स्वरूप में स्थित होना, असमर्थता का नाश होना और अशान्ति का नाश होना। जहाँ असमर्थता और अशान्ति का नाश हो जाता है, वहाँ स्वभाव से ही उदारता, शान्ति और स्वाधीनता आ जाती है। यह नियम है। तो यह उदारता, शान्ति और स्वाधीनता जो है, यह मानव का अपना स्वरूप ही है, और कोई चीज नहीं है।

जब मानव शान्ति, स्वाधीनता और उदारता के अभिमान को छोड़ देता है, अपनी कोई विशेषता अनुभव नहीं करता, तब उसमें परमात्मा के साथ आत्मीयता आ जाती है। यानी उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि परमात्मा मेरा अपना है, संसार में मेरा कुछ नहीं है और मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिए। यह उसका जीवन हो जाता है। वह मुँह से बकता नहीं है कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए या परमात्मा मेरा अपना है। इसका वह पाठ नहीं करता, चिन्तन नहीं करता। यह उसका अपना जीवन हो जाता है।

आप ही सोचिए, जितने भी लोग यहाँ इस भूमि पर बैठे हैं, सब जानते हैं कि भूमि हमारी अपनी नहीं है। यह विद्यालय की भूमि है। विद्यालय की भूमि है, मेरी भूमि नहीं है, इसका आप चिन्तन थोड़े ही करते हैं। इसको आप बार-बार मन-वाणी से दोहराते थोड़े ही हैं। आप जानते हैं कि यह भूमि अपनी नहीं है, विद्यालय की भूमि है। इसे जानने का यह प्रभाव होता है कि

इस भूमि में आपकी ममता न होने से इसका लोभरूपी विकार पैदा नहीं होगा, अभिमान रूपी विकार भी पैदा नहीं होगा।

इसी प्रकार शरीर भी मेरा अपना नहीं है, तो इससे मोह नहीं उत्पन्न होगा। ऐसे ही योग्यता मेरी अपनी नहीं है, तो अभिमान उत्पन्न नहीं होगा। ऐसे ही कोई वस्तु मेरी अपनी नहीं है, तो कोई लोभ नहीं उत्पन्न होगा। तो इस बात से कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, हम सबको निर्विकारता यानी निर्लोभता, निर्मोहता, निष्कामता की प्राप्ति हो जाती है। क्षोभ नहीं होगा, तो क्रोध नहीं होगा। क्योंकि अशान्ति हो, तो क्षोभ हो, क्रोध हो। जब कोई कामना हो, तो अशान्ति हो। निर्ममता, निष्कामता, असंगता कहो, चाहे निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता कहो।

जहाँ स्वाधीनता आ जाती है, वहाँ अपने आप उदारता और प्रेम भी आ जाता है। जो स्वाधीन है, वही उदार है और वही प्रेमी है। परमात्मा क्योंकि परम स्वतन्त्र है, इसलिए वह परम उदार और परम प्रेम से भरपूर भी है। अगर परमात्मा पराधीन होता, तो न तो वह उदार होता और न प्रेमी होता। जो अपने को पराधीन अनुभव करते हैं, वे उदार भी नहीं हो पाते और प्रेमी भी नहीं हो पाते। इसलिए हम सबको सबसे पहले अपने ज्ञान के प्रकाश में इस सत्य को स्वीकार करना है, अनुभव करना है कि संसार में मेरा करके कुछ है नहीं, संसार से मुझे कुछ चाहिए नहीं।

जब संसार से कुछ नहीं चाहिए और संसार में मेरा कुछ नहीं है तथा संसार पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, तब फिर हमारे और संसार के बीच का जो काल्पनिक सम्बन्ध है, वह नाश हो जाता है। जब हमारे और संसार के बीच का सम्बन्ध टूट जाता है, तो हमारे और परमात्मा के बीच में एकता हो जाती है। संसार से जो अंसग होता है, वही परमात्मा से अभिन्न होता है। ऐसा विधान ही है। क्योंकि हम बिन आधार के नहीं रह सकते। आधार के बिना अंहकार का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। जब संसार का आधार टूट जाता है, जब संसार से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता निर्मम होकर, असंग होकर, निष्काम होकर, तब परमात्मा से हमारा नित्य सम्बन्ध और आत्मीय सम्बन्ध तीनों प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है।

नित्य सम्बन्ध योगियों का, जातीय सम्बन्ध ज्ञानियों का और

आत्मीय सम्बन्ध प्रेमियों का होता है। यानी योगी परमात्मा से नित्य सम्बन्ध अनुभव करते हैं, विवेकीजन परमात्मा से जातीय सम्बन्ध अनुभव करते हैं और प्रेमीजन परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध अनुभव करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका जगत् से सम्बन्ध नहीं रहता, उन्हीं का परमात्मा से सम्बन्ध हो जाता है। नित्य सम्बन्ध से शान्ति, जातीय सम्बन्ध से मुक्ति और आत्मीय सम्बन्ध से भक्ति हम सबको मिल जाती है। तो दो बातें सामने आईं कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, किन्तु फिर भी जो संसार ने मुझको अधिकार दिया है, उसके द्वारा संसार की सेवा करनी है। देखिए, संसार का दिया हुआ अधिकार है कि मैं बोलूँ और आप सुनें। तो बोलकर सुनने वालों के अधिकार की रक्षा कर दें। इसी तरह संसार की ओर से जो मिला है, उस सामग्री के द्वारा संसार के अधिकारों की रक्षा कर दें।

संसार पर अपना अधिकार है नहीं। अपना अधिकार छोड़ने का अभिमान मिथ्या है-यह सही भाषा नहीं है, क्योंकि अधिकार है ही नहीं, तो अधिकार छोड़ेंगे क्या? संसार पर अधिकार है नहीं, और संसार का जो हम पर अधिकार था, वह संसार की सेवा में समर्पित कर दिया। तो संसार से सम्बन्ध रहा नहीं। जब हमारा संसार से सम्बन्ध नहीं रहा, तो स्वतः परमात्मा से सम्बन्ध हो जाता है। परमात्मा से सम्बन्ध से योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग में शक्ति और शान्ति है, बोध में मुक्ति है और प्रेम में भक्ति है।

इस दृष्टि से हम सबको शक्ति, मुक्ति और भक्ति मिल सकती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। जब तब हम शक्ति, मुक्ति और भक्ति को प्राप्त नहीं करते, तब तक किसी प्रकार भी चैन से नहीं रह सकते। इस दृष्टि से संसार की सेवा करके संसार से सम्बन्ध तोड़ कर भगवान् से जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करके हम सब सेवा से, त्याग से, उदारता से, स्वाधीनता से, योग से, बोध से, प्रेम से भरपूर होकर कश्तकश्त्य हो सकते हैं। इसी सद्भावना के साथ ! ॥ॐ॥

36(अ) प्रभुविश्वासी, प्रभुप्रेमी, शरणागत!

प्रभु ने ज्ञान केवल इसलिए दिया है कि मानव स्वाधीन होकर, अजर-अमर होकर सदा-सदा उनको लाड़ लड़ाता रहे, रस देता रहे। उन्हीं

का दिया हुआ यह प्रेम है, उस से उनकी नित्य पूजा की जाए, सतत पूजा की जाए और उन्हें रस दिया जाए। वे कैसे हैं? इसे तो शायद वे भी नहीं जानते। किन्तु उनके सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह कम है। क्यों भाई? आप स्वयं सोचिए, सब कुछ देकर, सब कुछ लेकर जो अपने आप को न्यौछावर कर सकता है, अपने में सदा के लिए स्थान दे सकता है, उसकी महिमा का, उसकी सामर्थ्य का, उसके सौन्दर्य का क्या कोई वारापार हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। पर दुःख की बात तो यह है कि फिर भी क्या वे इतने अपने मालूम होते हैं, जितनी कि उनकी दी हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता अपनी मालूम होती है ?

सच बात तो यह है कि जो उन्हें नहीं मानते हैं, उन्हें भी वे अपने समान बना लेते हैं और इतना छिपकर बनाते हैं कि उन्हें पता भी नहीं लग पाता कि उन्होंने हमें वह बना दिया, जो वे स्वयं थे। वे क्या थे, वे कहाँ थे, वे क्या नहीं थे, वे कब नहीं थे, वे कहाँ नहीं थे? वे सदैव थे, सदैव हैं और सभी के हैं। सभी के होते हुए भी उनकी एक महिमा है और वह यह महिमा है कि वे सभी से अतीत भी हैं, सभी के नित्य साथी भी हैं, सभी के दोस्त भी हैं, सभी के प्रिय भी हैं, सभी के मालिक भी हैं और सभी के दास भी। आप कहेंगे कि मालिक दास कैसे हो सकता है? भाई देखो, उनके दास को जो रस मिलता है, उस रस का भी वे ही पान करते हें और स्वयं प्रिया होकर अपने आपको भी रस देते हैं।

प्रिया भी वे, प्रीतम भी वे, स्वामी भी वे, शरणागत भी वे और शरण्य भी वे। हम अपने में देखें कि ऐसे जो हम सबके अपने हैं, उनकी महिमा के अतिरिक्त कोई और चीज तो नहीं रह गई है, अथवा कहीं कोई चीज दिखाई तो नहीं देती, उनकी सत्ता से भिन्न अन्य कोई सत्ता तो नहीं मालूम होती? इस बात को हम अपने में देखें। हम देखें कि हम क्या बला हैं? हमारा निर्माण उन्हीं ने किया है और अपने में से किया है, यह बात वे तुम्हारी वाणी से सुनना चाहते हैं तुम्हारी वाणी से मतलब है कि यह वाणी उनकी ही दी हुई, पर इस ढंग से दी है कि पाने वाले को यही मालूम होता है कि यह वाणी अपनी ही है। इससे अधिक आत्मीय भाव, अपनेपन का भाव और क्या हो सकता है? उनकी दी हुई है और मलूम होती है कि अपनी है।

जब हम अपने को उन्हें इस भाव से देते हैं कि तेरा तुझको देता हूँ, यद्यपि यह तेरा है, लेकिन इस समय मेरा हे। अब मैं तेरा दिया हुआ तुझको देता हूँ। तब वे स्वयं बड़े अधीर होने लगते हैं, आकुल-व्याकुल होने लगते हैं कि मैंने मानव को सब कुछ पहले ही दे दिया, अब मेरे पास क्या रह गया है कि जिससे मैं इसका बदला चुका सकूँ। मानव ने मेरा दिया हुआ अब मुझे दे दिया हे। तब उनसे नहीं रहा जाता और वे कहने लगते हैं-मैं तेरा हूँ, मैं तेरा हूँ। जब प्रेमीजनों को उनकी यह आवाज सुनाई देती है, तो प्रेमीजन कहने लगते हैं-तुम्हीं हो, तुम्हीं हो, हर समय तूम्ही हो, तुम्हीं मेरे जीवन हो, प्राणधन हो, प्राणेश्वर हो, प्राणवल्लभ हो, प्राण प्रिय हो, तुम्हीं हो, तुम्हीं हो। जब वे यह सुनते हैं, तब वे स्वयं कहने लगते हैं-नहीं-नहीं, मैं तेरा हूँ, मैं तेरा हूँ। यहाँ तक कहने लगते हैं कि तूने जो कुछ किया है, वह कोई नहीं कर सकता।

क्या दिया है तूने? तूने अपने को मुझ पर न्यौछावर किया है, अपने आपको मेरे लिए खो दिया है। अब तो मैं तेरा ऋणी हूँ। तब प्रेमीजन कहने लगते हैं कि मेरा तो कभी कुछ था नहीं, तुम्हारा ही था और तुम्हीं थे, तुम्हीं हो, जो आकर्षण है वह तुम्हारा ही है, सब कुछ तुम्हीं से हुआ है, सब कुछ तुम्हीं में है। ऐसा जो प्रीति और प्रियतम का नित्य विहार है, यही मानव का निज-जीवन है। आप सच मानिए। उन्होंने क्या नहीं किया? उन्होंने सभी के लिए सब कुछ किया है। वे स्वयं प्रेमियों से आशा रखते हैं कि कोई मुझे अपना कहता और अपना सर्वस्व मुझ पर उड़ेल देता।

महानुभाव! क्या कहा जाए? सच बात तो यह है कि कहने और जानने की कोई बात ही नहीं है। क्या जानें, क्या कहें? वे सदैव अपने ही हैं, सब कुछ उन्हीं का है-यह मान लेना ही मानव का परम पुरुषार्थ है, अचूक और अन्तिम उपाय है। यही एक उपाय है। यह उन्होंने स्वयं दिया है, आप सच मानिए। उनके पूजन के लिए उनकी आत्मीयता से भिन्न और कुछ नहीं है। उनकी आत्मीयता से ही उनका पूजन होता है और वे प्रसन्न होते हैं, आनन्दघन होते हुए भी आनन्दित होते हैं और स्वयं सततरूप से देखते रहते हैं। किसको? जो उनका अपना है उसको। वे उसे देखते रहते हैं, अपनाते रहते हैं, अपना प्रेम उड़ेलते रहते हैं, अपना सर्वस्य

न्यौछावर करते रहते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है।

हम सब तैयारी के साथ नहीं, सहजभाव से स्वीकार करें कि वे सदैव अपने हैं, अपने में हैं। यह स्वीकार करना कि कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है-यही साधक का जीवन है। जो कुछ सुनने में आया, देखने में आया, समझ में आया, सोचने में आया-बुद्धि इसे बता कर मौन हो जाती है। तब वे अपना निज-रस प्रदान करते हैं। उनके निज-रस में क्या है, वह कितना मधुर है, कितना सुन्दर है, कितना प्रिय है! इसका वर्णन किसी भाषा और भाव से सम्भव नहीं है। उनका निज स्वभाव ही प्रेमतत्त्व है अथवा यों कहो कि उनका निज-स्वभाव तत्त्व-प्रेम है, उनका निज-स्वरूप तत्त्व-ज्ञान है और सामर्थ्य उनकी बाह्य महिमा है, अन्तर महिमा नहीं।

जो साधक असमर्थता से पीड़ित होते हैं, अशान्ति से पीड़ित होते हैं, पराधीनता से पीड़ित होते हैं, उन्हें वे सामर्थ्य प्रदान करते हैं, स्वाधीनता प्रदान करते हैं, अमरत्व प्रदान करते है। फिर वे उन्हीं में स्वयं छिपकर रहते हैं। क्यों छिपकर रहते हैं? कोई स्वाधीन होकर, अमर होकर, शान्त होकर एक बार तो कहे कि हे प्यारे! यह सब कुछ तुम्हारा दिया हुआ है, सब में तुम्हीं-तुम हो, और कोई है नहीं; अब तुम प्यारे लग जाओ! यह माँग उसकी होती है जो शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है। आप कहेंगे कि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त में भी कहीं माँग होती है? बात तो ठीक है। पर वह काम-रहित है, कि माँग-रहित है? विचार करो।

अरे भाई! मुक्त किसे कहते हैं? जो काम-रहित है। क्या अनन्त रस की माँग मुक्त में नहीं है? यदि वह मुक्त में न होती, तो उसे मुक्ति खारी नहीं लगती। मुक्त को मुक्ति भी खारी लगती है। कब? जब अखण्ड रस की भूख को अनन्त रस की भूख में बदला हुआ पाता है। उनका रस अपार है, अखण्ड है, अनन्त है। अनन्त रस की अभिव्यक्ति उनकी प्रिवता में है, उनके बोध में नहीं। उनके बोध में अखण्ड रस है, उनकी प्रियता में अनन्त रस है। वे अपनी ही महिमा से, अपनी ही करुणा से, अपनी ही उदारता से प्रेरित होकर अपनी प्रियता प्रदान करें-यह भूख साधक की अन्तिम भूख है।

वे कैसे हैं, क्या करते हैं, कहाँ हैं-इस पचड़े में न पड़ें। केवल थोड़ी-थोड़ी देर के बाद अगर कोई हूक उठे, अगर कोई पीड़ा उठे, तो यह उठे कि तुम प्यारे लगो, तुम प्यारे लगो! तुमने

सब कुछ दिया है, सभी को दिया है, सदा देते हो; किन्तु प्यारे लगो! उनका प्यारा लगना उनके लिए रसरूप है और अपने लिए भी रसरूप है। वह रस ऐसा नहीं है कि जिसकि पूर्ति हो। बन्धन की निवृत्ति होती है, मुक्ति की पूर्ति होती है अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु उनकी प्रियता से अभिव्यक्त जो उनका रस है, उसकी कभी पूर्ति नहीं होती। इसीलिए प्रेमीजन सदैव यही सोचते रहते हैं, उनकी यही पीड़ा रहती है कि हे प्यारे! तुम प्यार देते हो, तुम सब कुछ देते हो, यह ठीक है; पर मुझे तो प्यारे लगो, प्यारे लगो!

आप जानते हैं, जब कोई प्यारा लगता है, तो प्यारे को तो रस मिलता है, अपने को भी रस मिलता है और इतना रस का प्रवाह बढ़ता है कि प्यारा लगना भी ऐसा ही लगता है कि मानो, प्यार है ही नहीं। प्रेमियों को प्रेम का भास नहीं होता। उन्हें तो प्रेम की भूख रहती है। प्रेमी क्या चाहता है? वे जहाँ रहें, आनन्द में रहें। उनको भले ही मेरी याद न आए। ऊँचे प्रेमियों की यह दशा होती है कि वे सोचते हैं कि कहीं मेरी याद में उनको पीड़ा हो गई, तो मुझसे सही नहीं जाएगी। उनकी याद में मै पीड़ित रहूँ, मैं दुखित रहूँ, मैं तड़पता रहूँ, तरसता रहूँ। यदि मेरी याद में उहें पीड़ा हुई, तो यह सुन कर मेरा हृदय फट जाएगा।

उनकी प्रियता से ही उनकी पूजा करनी है, उनकी महिमा से ही उनकी स्तुति करनी है और उनका होकर ही उनकी उपासना करनी है। उनकी प्रियता ही मेरा जीवन हो जाए। आज उनका जन्मोत्सव है। वे प्रसन्न हैं, वे करुणित हैं, वे बड़े उदार हैं। उनके प्रेमियों ने उन्हें इतना अपनापन दिया है कि वे प्यार को बाँट रहे हैं, बरसा रहे हैं। हम यही कहें कि हे प्यारे! तुम्हारा प्यार, तुम्हारी आत्मीयता ही मेरी जीवन है, मेरा और कोई जीवन नहीं है, तुम्हीं मेरे अपने हो। यह तुम्हीं ने मुझे अपनी ओर से दी है।

आप जानते हैं, मेरे इस कठोर जीवन का मौलिक प्रश्न क्या था? यह नहीं था कि मैं उनको देखता रहूँ, उनसे मिलता रहूँ। बड़ा छोटा-सा प्रश्न था कि मुझे वह सुख दो, जिसमें दुःख न हो; वह जीवन दो, जिसमें मृत्यु न हो; वह पूर्णता दो, जिसमें अभाव न हो। वे सब कुछ देते हैं। किन्तु मैं सच कहता हूँ कि उनकी प्रियता में जो रस है, वह रस पूर्णता में नहीं है, उस सुख में नहीं है, जो दुःख से रहित है; उस जीवन में नहीं हैं, जो मृत्यु से रहित है। उनकी प्रियता कितनी रसरूप है! इस सम्बन्ध

में कोई कुछ कह नहीं सका, कह नहीं पाता। जितना महसूस करता है, उतना भी नहीं कह पाता। वह केवल संकेतमात्र है।

उनकी प्रियता उनसे माँगो, उनकी आत्मीयता उनसे माँगो, उनकी महिमा उनसे माँगो। और कुछ माँगने योग्य है ही नहीं। क्यों नहीं है? आप ही सोचिए कि उन्होंने अविनाशी जीवन की उपलब्धि के लिए ज्ञान का प्रकाश दिया है और विश्व-जीवन में आदर पाने के लिए उदारता का रस तथा करुणा रस उन्होंने दिया है। अब और क्या चाहिए। जहाँ आप रहते हैं, वहाँ आदर ही तो चाहते हैं, सम्मान ही तो चाहते हैं। हम क्या बताएँ? उनकी दी हुई योग्यता का जब मनुष्य प्रकाशन करता है, तो उसमें अपना नाम लिखता है और यह चाहता है कि लोग यह समझते रहें कि इसका लेखक अमुक है। क्या सचमुच कोई लेखक, लेखक है; कोई वक्ता, वक्ता है; कोई दाता, दाता है? वे ही लेखक हैं, वे ही वक्ता हैं, वे ही दाता हैं। किन्तु अपने को कितना छिपाते हैं ! क्या कहीं मालूम होता है कि वे बोल रहे हैं?

लोग सोचते हैं कि शरणानन्द बोल रहा है, बड़ा अच्छा बोलता है, बड़ा ठीक बोलता है, युक्तियुक्त बोलता है। लेकिन सच बात तो यह है कि भला वे वक्ता न हों और कोई वक्ता हो जाए? वे लेखक न हों, और कोई लेखक हो जाए? वे कलाकार न हों, और कोई कलाकार हो जाए, वे दार्शनिक न हों, और कोई दार्शनिक हो जाए? नहीं हो सकता, नहीं हो सकता? सभी के सब कुछ वे ही हैं।

आज हम सब उनका उत्सव मना रहे हैं, उत्साहित हो रहे हैं और उनकी करुणा, उनकी उदारता, उनकी आत्मीयता का पान कर रहे हैं। वे धन्य हैं ! धन्य हैं !! उनके लिए क्या कहा जाए ! वे अपनी प्रियता की भूख बढ़ाते रहें ! मै उनके प्रेम की भूख से आकुल रहूँ, व्याकुल रहूँ, पीड़ित रहूँ- यही पुनः-पुनः माँग होती रहे, उनकी प्रियता उत्तरोत्तर बढती रहे ! उनके दिए हुए बल के द्वारा उनकी पूजा होती रहे, उनकी दी हुई आत्मीयता से उनकी स्मृति होती रहे और उत्तरोत्तर उनकी प्रियता बढ़ती रहे !

अनन्त की प्रियता अनन्त है, नित्य की प्रियता नित्य है, चिन्मय की प्रियता चिन्मय है। वह प्रियता जड़ नहीं है, क्रिया नहीं है, अभ्यास नहीं है। यह उनका विश्वास है। उनका विश्वास ही उनकी प्राप्ति का अन्तिक अचूक उपाय है। और कोई उपाय है ही नहीं।

उनके विश्वास से ही उनको पाया है, और किसी प्रकार नहीं। महाराज! विचारकों ने अपने को पाया है, अमरत्व को पाया है, जीवन-मुक्ति को पाया है। पर उनके विश्वासियों ने उनको पाया, उनकी प्रियता को पाया, उनकी आत्मीयता को पाया। प्रभु-विश्वास ही गुरुतत्त्व है, और कोई गुरुतत्त्व नहीं है। प्रभु-विश्वास ही प्रेमियों का गुरुतत्त्व है। उनका विश्वास उनका ही दिया हुआ है, यह अपना उपार्जित नहीं है।

उपार्जन के लिए तो उन्होंने सामर्थ्य दी है और ज्ञान का प्रकाश दिया है। उनकी दी हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से मानव सेवक कहलाया है, उदार कहलाया है, और न जानें, संसार ने उसको क्या-क्या कहा है। किन्तु उनके विश्वास ने उनकी आत्मीयता प्रदान की है, प्रियता प्रदान की है। उनके विश्वास के बल पर अन्य सभी विश्वासों को मिटा दो, त्याग दो। उनके सम्बन्ध के लिए अन्य सभी सम्बन्धों को अपने भीतर से निकाल दो। अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई विश्वास नहीं है। उनका विश्वास ही विश्वास है, उनका सम्बन्ध ही सम्बन्ध है। उनकी प्रियता ही जीवन है। और कोई जीवन नहीं है।

आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम उनके विश्वास को अपनाएँ और उनसे कहें के तुम स्वयं अपना विश्वास हमें दे दो, तुम अपनी महिमा में अविचल आस्था कर दो, तुम अपनी उदारता में अविचल आस्था कर दो। सब कुछ है तो तुम्हारा ही। मैं भी तुम्हारा ही हूँ। तुमने मेरा निर्माण अपने में से ही किया है, और किसी में से नहीं किया। अपने में से जिसका निर्माण किया है, उसे अपनी आत्मीयता दे दो, दे दो प्यारे ! दे दो ! और कुछ नहीं चाहिए। आप ही सोचिए, और है ही क्या?

जिसे आप देख रहे थे, जिस पर आप सोच रहे थे, जिस पर आप मनन और निदिध्यासन कर रहे थे, वह तो सचमुच कुछ नहीं था, कुछ नहीं है। वे ही सब कुछ हैं। जब वे ही सब कुछ हैं, तो उनका विश्वास ही उनको मोहित करता है, उनकी आत्मीयता ही उनको द्रवित करती है, आनन्दित करती है। उनकी प्रियता उनको आनन्द-विभोर कर देती है। अगर माँगना है, तो यही माँगना है, पाना है, तो यही पाना है। कुछ कहना है, तो यही कहना है, कुछ सुनना है, तो यही सुनना है। और कुछ नहीं कहना है, कुछ नहीं सुनना है, कुछ नहीं माँगना है, कुछ नहीं पाना है।

तुम मेरे हो, तुम मेरे हो-यही कहना है, यही सुनना है, यही पाना है। और कुछ पाने, कहने और सुनने के लिए है ही नहीं। क्या आज इस महोत्सव के अवसर पर हम उस आत्मीय प्रभु को अपनाएँगे? उन्हीं से अपने जीवन को गुंजारित करेंगे, महसूस करेंगे? करेंगे, अवश्य करेंगे। वे ही कृपा करके अपने प्रेमियों की इस माँग को पूरा करने के लिए स्वयं किसी की गोद में लाला बनकर बैठते हैं, किसी के साथ सखा बनकर खेलते हैं, किसी के साथ प्रियतम होकर नित्य प्यार का पान करते हैं। उन्होंने अपनी ही कृपा से, अपनी ही महिमा से प्रिरित होकर अपने को प्रकाशित किया है। भला बताओ, वे अपने आपको प्रकाशित न करते, तो कौन उनकी चर्चा कर पाता, कौन उनके अस्तित्व को स्वीकार कर पाता?

वे तो सदा-सदा ही अपनी महिमा में आप स्थित हैं। अनन्त विशेषण उनके पीछे-पीछे दौड़ते हैं, फिर भी वे सदा निर्विशेष हैं। किन्तु प्रेमियों के प्रेम का पान करने के लिए वे सविशेष हैं, सगुण हैं, साकार हैं। वे मिलते हैं, बिछुड़ते हैं और वे स्वयं आकुल-व्याकुल होते हैं और अपने प्रेमियों को आकुल-व्याकुल करते हैं। उनकी लीला का कोई पारावार नहीं है। महानुभाव ! हम सबके जो प्राणधन हैं, प्राणेश्वर हैं, निज हैं, आज उनके जन्मोत्सव पर सब कुछ कर डालो। और कुछ करना, जानना, या पाना शेष न रह जाए। सोचो भाई, क्या करना है?

मैं सच कहता हूँ कि अगर सम्भव हो सके, तो उनका दिया जो आश्रम है, उनकी दी हुई जो वस्तु है आज उन पर लुटा दो। इस उत्साह में लुटा दो कि आज हमारे प्यारे ने प्रेमियों को रस देने के लिए अपने को प्रकाशित किया है, अपनी महिमा अपने आप बताई है। आप सच मानिए, अगर वे स्वयं न कहते, तो गीताकार की गीता अधूरी रह जाती। उन्होंने कहा कि भैया ! तू सब पचड़े को छोड़ दे। देख, तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, तू मेरा अत्यन्त अन्तरंग है, अपना है। अब मैं तुझे अपनी वह बात जो अब तक नहीं बताई है, तुझे बताता हूँ कि मेरी शरण में आजा, तू मेरी शरण में आजा।

शरणागति प्रभु की अन्तिम गुह्यतम करुणा है, उदारता है, महिमा है। हम सब शरणागत हैं, वे हमारे शरण्य हैं। वे सब कुछ करते हैं और मौज करते हैं हम। हम उनको 'तुम' कह कर पुकारतें हैं और वे हमको 'अपना' कहते हैं। आप सोचिए, उन्होंने

शरणागतों के मोह का नाश किया है, उन्हींने शरणागतों को अपनी स्मृति दी है और शरणागतों का सब कुछ किया है। वे ही सब कुछ करते हैं। हम शरणागत हैं और उनकी ही दी हुई यह शरणागति है।

मैं आपको क्या बताऊँ ! मुझसे गुरुदेव ने कहा कि भैया, तू भजन किया कर। मैंने कहा कि भजन क्या होता है? उन्होंने कहा कि राम-राम कहा कर। मैंने कहा कि मेरा तो राम-नाम में विश्वास ही नहीं है। वे गुरुदेव के रूप में प्रकट होकर प्रसन्न हुए, करुणित हुए। आप जानते हैं, कोई कहे कि हमें अनके नाम पर विश्वास नहीं है, तो कितना दुःख हो? लेकिन उन्होंने उदारता का भेष धारण किया और कहा कि भैया ! कोई बात नहीं है। अगर तुमको राम-नाम में विश्वास नहीं है, तो कोई बात नहीं है। क्या तुमको यह भी विश्वास नहीं है कि वे हैं? मैंने कहा कि उनके होने में तो विश्वास है। तो उन्होंने कहा कि यार ! फिर क्या है, अब क्या रह गया? जब तुम यह मानते हो कि परमात्मा है, ईश्वर है, भगवान् है; तब फिर क्या रह गया यार? तुम उनके शरणागत हो जाओ। वे स्वयं शरणागत का भेष बना कर आए और मुझे अपनी शरणागति प्रदान कर गए।

आप जानते हैं, शरणागत को कुछ करना नहीं पड़ता। उसे तो याद आती है, वह याद करता नहीं है। उसे विरह होता है। वह विरही भी अपने बल से नहीं बनता, वे करुणासागर ही अपना विरह देते हैं, अपना मिलन देते हैं। उनका मिलन भी नित्य है, उनका विरह भी नित्य विरह और नित्य मिलन शरणागत को मिलता है। नित्य विरह न मिले, तो प्रेम की वृद्धि न हो और नित्य मिलन न हो, तो प्रेम सजीव न हो। वे अपने दिये हुए प्रेम को सजीव भी कर देते हैं और उत्तरोत्तर बढ़ाते भी रहते हैं। यह उनकी महिमा है।

आप जानते हैं, यह महिमा कब अनुभव में आती है, कब भासित होती है? जब मानव अधीर होकर, अपने बल से निराश होकर केवल यह सोचता है कि काई अपना होता और मुझे अपना कर मेरे ताप को हर लेता, मेरी व्यथा को हर लेता, अभाव को हर लेता, इस नीरसता को हर लेता, इस भय को हर लेता, मुझे अभय कर देता, मुझे सरस कर देता, मुझे अपना लेता ! यह आवश्यकता मात्र जब जगती है, तब वे देखते हैं कि अब तो इसने अपनी वास्तविक आवश्यकता को

सोचा है, समझा है, अपनी आवश्यकता अनुभव की है, तब उनकी अनुपम लीला ऐसी विचित्र होती है कि देखते ही बनता है।

हम आपको क्या बताँए, वे देखते हैं कि इस मनुष्य का कौन सा संकल्प ऐसा है जिसकी अपूर्ति से यह पीड़ित है? उस संकल्प को अनायास ही वे पूरा कर देते हैं। जब वे यह देखते हैं कि संकल्पपूर्ति के सुख में यह मेरे महत्त्व को भूलने लगा है, तब वे करुणित होकर संकल्प-अपूर्ति की परिस्थिति बना कर निःसंकल्प होने की प्रेरणा देते हैं, सामर्थ्य देते हैं। अन्त में निःसंकल्प भी कर देते हैं। जब वे यह देखते हैं कि निःसंकल्पता की शान्ति के आनन्द में विभोर हो गया और मुझे भूलने लगा है, यह अपने आप ही अपनी महिमा गाने लगा है, अपने आप में ही अपने को पाने लगा है। तब वे बड़ी भारी करुणा करके मुक्ति के आनन्द को भी, निःसंकल्पता के आनन्द को भी फीका-फीका कर देते हैं।

मैं सच कहता हूँ कि वे ऐसी लीला करने लगते हैं कि मनुष्य सोचने लगता है कि अरे, अभी तो कुछ मिला ही नहीं। फिर जब उनका शरणागत ही अधीर होता है, तब वे इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव करा देते हैं कि भैया, तेरे किए कुछ हुआ तो नहीं। यार ! तू वैसे ही सोच बैठा कि मै योग्य लेखक हो गया, मैं वक्ता हो गया, मुझे गुरुपद मिल गया, मुझे तत्त्व-ज्ञान हो गया। तू अनेक छोटी-छोटी बातों में मेरे यार, मुझे क्यों भूल गया? अरे भैया ! मैंने तो तेरा निर्माण इसलिए किया था कि तू मुझे सदैव अपना मानता रहेगा और मैं तुझे अपना समझता रहूँगा।

थोड़ी सी शान्ति के रस में, थोड़े से निजानन्द को पाकर क्या मुझे भूल गया? अरे भैया ! तू मुझे भूल सकता है, पर मैं तुझे नहीं भूल सकता। मैं सच कहता हूँ कि यदि उन्हें हमारी याद न आई होती, तो हमें कभी उनकी याद नहीं आती। उन्हें हमारी याद आती है, क्योंकि वे हमें अपना मानते हैं और जानते हैं। तभी हम उनसे यह कह पाते हैं कि मैं तेरा हूँ और तू मेरा है। आप सच मानिए, मानव का निर्माण इसी उद्देश्य के लिए था, मानव-जीवन इसीलिए मिला।

उन्होंने मानव पर कभी शासन नहीं किया। भला बताओ, क्या इन्द्र शासन के लिए कम है? सुख-भोग के लिए अन्य प्राणी क्या कम हैं? मानव का निर्माण उन्होंने न तो शासन करने के लिए किया और न भोग कराने के

लिए किया। उन्होंने कहा कि तू स्वाधीन होकर, अमर होकर, अजर होकर, अविनाशी होकर एक बार कह दे कि हे प्यारे ! तुम मेरे हो । इसी उद्देश्य के लिए उस अनन्त ने मानव का निर्माण किया है।

आप कितने भाग्यशील हैं कि आपको मानव-जीवन मिला है! आप मानव होने के नाते उन्हें अपना कह सकते हैं, उन्हें अपना मान सकते हैं, उनके होकर रह सकते हैं, उनके प्रेम की भूख जगा सकते हैं और बढ़ा सकते हैं, उनकी महिमा गा सकते हैं, गवा सकते हैं, उनका चिन्तन कर सकते हैं, करा सकते हैं। इसलिए महानुभाव ! मानव और अनन्त का सदा से ही नित्य सम्बन्ध है, जातीय सम्बन्ध है और आत्मीय एकता है। हम इस महामंत्र को कभी न भूलें। किस महामंत्र को? मैं सदैव तेरा हूँ, तेरी जाति का हूँ, मेरा-तेरा नित्य सम्बन्ध है, तू ही मेरा अपना है। इस महामंत्र को हम कभी न भूलें। वे हमें कभी नहीं भूलते। वे बार-बार मानव को यही समझाते रहते हैं कि मैं तुझे प्यारा रहूँ, तू मेरा होकर रह। मेरी नजर में तू ही तू और तेरी नजर में मैं ही मैं बना रहूँ।

आप सच मानिए, यह मानव-जीवन भोग-योनि नहीं है। यह जीवन प्रेम-योनि है। इस जीवन में प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। तो क्या आज हम उनके प्रेम की आवश्यकता अनुभव नहीं कर सकते, उनकी आत्मीयता को नहीं अपना सकते? अवश्य अपना सकते हैं और उनके प्रेम की आवश्यकता अनुभव कर सकते हैं। यह सामर्थ्य उनकी ही दी हुई है, हमारी उपार्जित नहीं है। सच पूछिए तो दार्शनिकों को दर्शन उन्हींने दिया है, कलाकारों को कला उन्हींने दी है, लेखकों को लिखने की शक्ति उन्हींने दी है। बुद्धिमानों में बुद्धि का चमत्कार उन्हीं का दिया हुआ है, बलवानों में बल उन्होंने ही दिया है, सत्तावालों में सत्ता उन्हीं की दी हुई है।

प्रेमियों में प्रेम वे ही हैं, ज्ञानियों में ज्ञान वे ही हैं, योगियों में योग वे ही हैं। सब कुछ वे ही हैं, और कुछ है नहीं। कोई और है नहीं, हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं। वे ही वे हैं, वे ही वे हैं। तब उनका प्यारा कह उठता है कि तुम ही तुम हो, सब कुछ तू है, सब कुछ तेरा है, न मैं हूँ, न मेरा है; केवल तू है और तेरा है। यह प्रेमियों का सहज स्वभाव है। यह स्वभाव भी प्रेमियों को उन्हीं का दिया हुआ है। यह मानव के पुरुषार्थ से सिद्ध नहीं हुआ।

पुरुषार्थियों में पुरुषार्थ करने की जो सामर्थ्य है, वह भी उन्हीं की दी हुई है।

वे स्वयं सामर्थ्यरूप हैं, वे ही विवेकरूप हैं और वे ही सत्तारूप हैं। सब कुछ उन्हीं का है और सब कुछ वे ही हैं। अतः हम सबको उनकी आत्मीयता चाहिए। हमारे और उनके बीच में आत्मीय सम्बन्ध है, जातीय सम्बन्ध तो है ही, नित्य सम्बन्ध तो है ही। हम सदैव उनको अपना मानते रहें और अपना जानते रहें। इससे भी अधिक ऐसा लगे कि वे ही अपने हैं, वे ही अपने हैं और कोई अपना नहीं है। तू मेरा है और मैं तेरा हूँ-यही सम्बन्ध अविनाशी है, अमर है। जब मैं शरीर बनता हूँ, तब प्यारे ! तुम विश्वरूप धारण करते हो, जब मैं अहं बनता हूँ, तब तुम परमतत्त्व बन जाते हो और जब मैं शरणागत हो जाता हूँ, तब तुम सर्वस्व हो जाते हो।

तुम्हारी सदा ही जय हो ! जय हो !! तुम्हारी शरणागति सभी को सम्भव हो, इसी सद्भावना के साथ ।

36(ब) भगवान्‌में जो ऐश्वर्य,सौन्दर्य,माधुर्य है वो मानवमें भी है।

हम प्रभु-विश्वासी लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् हैं और हमारे अपने हैं। हम उस अजन्मा का जन्म मनाते हैं। आप कहेंगे कि अजन्मा का जन्म कैसे मनाया जाता है? किसी को अपना बनाना हो, तो क्या उपाय करना पड़ेगा? किसी को वात्सल्य-रस लेना हो, किसी को सख्य-रस लेना हो, किसी को मुधर-रस लेना हो, तो वह क्या करेगा? वह सबसे पहले यह सोचेगा कि मेरे प्रेमास्पद में कुछ बातें मेरी जैसी होनी चाहिए। जब वह मानता है कि मेरा जन्म हुआ है, तो वह कहता है कि अजन्मा का जन्म मनाऊँगा? क्यों मनाऊँगा? अजन्मा का जन्म तो हो ही नहीं सकता और अजन्मा का जन्म मेरा जैसा तो हो नहीं सकता। अजन्मा की तो अभिव्यक्ति होती है। कब होती है? जब विवेकवती बुद्धि उसमें सम हो जाए, जो सब में है और जिसमें सब है।

देखिए, परमात्मा उसे नहीं कहा जा सकता, जो सभी में न हो और जिसमें सब न हो। संकेत में परमात्मा की यह बड़ी सुन्दर परिभाषा है। वैसे तो सत्य की परिभाषा हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसके लिए कोई उपमा सम्भव ही नहीं है। अनुपम के लिए उपमा कहाँ से आएगी और अद्वितीय के लिए उदाहरण कहाँ से

आएगा? उस जैसा कोई और हो, तब न उदाहरण हो? तो वह जो अद्वितीय परमात्मा है, वह सदैव है, सभी का है और सभी में है। यह तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि जो सदैव नहीं है, वह परमात्मा नहीं हो सकता; जो सभी का नहीं है, वह परमात्मा नहीं हो सकता और जो सभी में नहीं है, वह भी परमात्मा नहीं हो सकता। जो अद्वितीय नहीं है, वह भी परमात्मा नहीं हो सकता।

ऐसा जो परमात्मा है, वह सभी में होने से अपने में भी है, सदैव होने से अभी भी है, सभी को होने से अपना भी है। अब आप विचार कीजिए कि जो अपना हो, जो अपने में हो और अभी भी हो, उसकी प्राप्ति किसी श्रम-साध्य उपाय से नहीं होती। कैसे होती है? जब उसमें आस्था की जाए और हम श्रम-रहित हो जाएँ। आस्था का अर्थ होता है कि हम उसे स्वीकार करें। श्रम-रहित क्यों हो जाएँ? भाई, जब हमने उसको स्वीकार कर लिया, जो सभी में है, जो सदैव है, जो सर्वत्र है; तो फिर श्रम की अपेक्षा क्या रह गई?

जब मानव श्रम-रहित होता है, तब उसकी बुद्धि उसमें स्थित हो जाती है, जिसमें सब है। ऐसा नियम ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी देख लीजिए कि जब हम यह मान लेते हैं कि जो सभी में है, तो यह सभी का अनुभवसिद्ध सत्य है कि बुद्धि के सम होने पर दुःखों की निवृत्ति तो होती ही है, रस की अभिव्यक्ति भी होती है। इसी प्रकार यदि मान लिया जाए कि जो सब में वास करता है, जिसमें सब वास करते हैं, वह है वासुदेव। विवेकवती बुद्धि की समता में आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ। कहाँ हुआ? कारागार में हुआ। उस समय जो पहरेदार थे, वे सब सो गए और ताले लगे थे, वे सब टूट गए। ऐसा हमने कथाकारों से सुना है। पहरेदार सब सो गए का क्या मतलब है? इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब अविषय हो गए।

अब बिना इन्द्रियों के, बिना बुद्धि के कौन बताए के कारागार में कैद जो वसुदेव थे, वे कहाँ गए? देवकी तो वहीं रहीं, वे तो कारागार से बाहर नहीं निकलीं। वसुदेव जी चले उस अपने आनन्दघन श्रीकृष्ण को गोद में लेकर। जब वे चले, तो ताले सब खुले हुए थे, पहरेदार सब सोये हुए थे। कोई वहाँ था ही नहीं, जो यह पूछता कि कहाँ लिए जा रहे हो। उन्होंने श्रीकृष्ण का गोकुल में जाकर स्नेह निर्मित

यशोदा जी की गोद में लिटा दिया। उसके बदले में क्या ले आए वे? इस कथानक को आप जानते ही हैं कि यशोदाजी के लड़की हुई थी। जहाँ स्नेह होता है, जहाँ आनन्द होता है, वहाँ शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। तो उन्होंने शक्ति को उठा लिया और आनन्दघन श्रीकृष्ण को सुला दिया।

अब वहाँ विचार करने की बात है कि वसुदेव-देवकी से आनन्दघन श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव तो हो सकता है, किन्तु पोषण नहीं हो सकता। सन्त लोग कहते हैं कि समाधि में बड़ा आनन्द आ रहा था, कि उत्थान हो गया। योग से परमतत्त्व की अभिव्यक्ति तो हो सकती है, परन्तु परमतत्त्व को लाड़ नहीं लड़ाया जा सकता। यह योग में सामर्थ्य नहीं है। यह किसमें सामर्थ्य है? यह प्रेम में सामर्थ्य है। तो प्रेममयी श्रीयशोदाजी की गोद में श्रीकृष्ण का पोषण हुआ।

हमारे यहाँ की जो प्राचीन लेखनशैली है, उसमें इस बात का बड़ा ध्यान रखा गया है कि कहीं मनुष्य उस अनन्त को छोड़कर किसी अन्य को लाड़ लड़ाने न लग जाए, भूल न जाए कहीं। उसकी बार-बार याद दिलाते रहते हैं। हमारी पुराण-गाथाएँ क्या याद दिलाती हैं? आनन्दघन श्रीकृष्ण को लेकर वसुदेव चले। यमुना के उस पार हैं नन्द-यशोदा और यमुना के इस पार है वसुदेव-देवकी और बीच में हैं यमुनाजी। यह यमुनाजी जो हैं, वह प्रेम से निर्मित जल है। प्रेम को स्थूल बना दिया जाए तो उसका नाम यमुना हो जाता है। जैसे ब्रह्मा के द्रवीभूत जल को श्रीगंगाजी मानते हैं हम हिन्दू लोग, वैसे ही यमुनाजी को मानते हैं, प्रेम से निर्मित जल।

जब वसुदेवजी नन्हें-से बालक को लेकर चले, तो यमुनाजी ने कहा कि अरे ! यह तो मेरा प्राण-वल्लभ जा रहा है। मैं अगर वसुदेवजी को डुबा दूँगी, तो बड़ा कलंक हो जाएगा। तो वे थोड़ी-थोड़ी घटती गईं। पर प्रेम-निर्मित श्रीयमुनाजी अपने प्रेमास्पद को स्पर्श करना चाहती हैं, तो थोड़ा-थोड़ा बढ़ती भी है। कि किसी तरह श्रीकृष्ण के अंग का स्पर्श हो जाए। इससे क्या सिद्ध हुअ? कहीं पाठक यह बात न भूल जाएँ कि वह जो प्रकट हुआ था, वह अनन्त नहीं था, अखण्ड नहीं था, सभी का अपना नहीं था। यह न भूल जाएँ, इसीलिए बीच में याद दिला दी। लेकिन उस अनन्त को कौन स्पर्श कर सकता है? सबसे पहले वही स्पर्श कर सकता है कि जिसमें वात्सल्य-स्नेह हो। जिसमें वात्सल्य-

स्नेह हो, वही ब्रह्म को स्पर्श कर सकता है।

महाराजा राम के जन्म में यह बताया जाता है कि चक्रवर्ती महाराजा भी उस सुख से वंचित थे, जो सुख श्रीकौशल्याजी को मिला। पहले नन्द को सुख नहीं मिला। पहले स्नेह निर्मित श्रीयशोदाजी को उस अनन्त को अपनी गोद में देखने का, खिलाने का, वात्सल्य रस देने का अवसर मिला, उसके बाद नन्द को मिला और उसके बाद ब्रजवासियों को मिला। यह है क्या? यह प्रेम की श्रेणियाँ हैं। भक्ति-रस में दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव और मधुर भाव की बात कही जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र में दास्य भाव की चर्चा तो है ही नहीं।

श्रीकृष्ण अपना मित्र तो बनाना जानते हैं, इससे छोटा बनाना नहीं जानते। क्यों? जिसमें जितना अधिक ऐश्वर्य होता है, उसमें उतना ही अधिक माधुर्य होता है और उसमें उतना ही अधिक सौन्दर्य होता है। तो श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य की कोई सीमा नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण यह सहन नहीं कर सकते कि कोई ऐसा भी है, जिसे मैं अपना दास कहूँ। या तो उन्हें अपना सखा दिखाई देता है, या अपनी मैया दिखाई देती हैं, या अपना बाप दिखाई देता है, या अपनी प्रिया दिखाई देती है। तीन ही रसों की चर्चा भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र में आती है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि आज उसका जन्म-दिन है। भाई, कभी द्वापर में हुआ, अब क्यों मानते हो? भगवान् का प्रादुर्भाव सदैव हो सकता है। परन्तु कब? जब वसुदेव-देवकी हों तब, नन्द-यशोदा हों तब, ब्रजवासी हों तब, ब्रज-गोपी हों तब, उसी स्नेह से निर्मित ब्रज-भूमि हो तब, उसी स्नेह से निर्मित श्रीयमुनाजी हों तब, गऊ और ग्वालबाल हों तब। क्योंकि स्नेह-निर्मित भूमि में ही श्रीकृष्ण का चरित्र दिखाई देता है, उनकी प्रादुर्भाव होता है। स्नेह के बिना श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव नहीं होता।

भाई, हम उस अजन्मा का जन्म क्यों मनाते हैं? आप देखिए, कि जब मनुष्य किसी के साथ प्रेम करता है, तो वह पहले अपना सुख बाँट देता है। अथवा यों कहो कि अपने स्तर पर लाकर उसे रख लेता है। हम जन्म-मृत्यु के जाल में फँसे हुए मानव उस अजन्मा का भी आज जन्म मनाते हैं। आप जानते हैं कि बुद्धि को सम करने के लिए व्रत अपेक्षित होता है, उपवास अपेक्षित होता है। उपवास का असली

अर्थ क्या है? इन्द्रियाँ विषय से रहित हो जाएँ, मन विषय से रहित हो जाए। भोजन क्या है? इन्द्रियों का विषय इन्द्रियों का भोजन है, मन का विषय मन का भोजन है, बुद्धि का विषय बुद्धि का भोजन है। बोले, आज तो उपवास है, आज भोजन नहीं करेंगे। क्यों? इन्द्रियाँ हमारी अविषय हो जाएँगी, मन अविषय हो जाएगा, बुद्धि अविषय हो जाएगी।

तब क्या होगा? जब इन्द्रियाँ अविषय हो जाएँगी, तब मन निर्विकल्प होगा और बुद्धि सम हो जाएगी और फिर आनन्दघन श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हो जाएगा। इसलिए उपवास करते हैं। क्या आपने सोचा कि श्रीकृष्ण का जन्म कब होता है? रात्रि में होता है, अँधेरे में होता है। अरे बाबा ! अज्ञान के अन्धकार में ही ज्ञान का प्रकाश होता है, ज्ञान के प्रकाश में प्रकाश नहीं होता। तो इधर श्रीवसुदेव उस शक्ति को लेकर कारागार में पहुँच गए। उधर अहंभाव रूपी कंस ने पता लगाया, तो मालूम हुआ कि लड़की हुई है। उसने कहा कि लड़की को मार डाला जाए। उसने उस लड़की को पत्थर पर पटका। पर 'अहं' शक्ति का नाश थोड़े ही कर पाता है। अहं, शक्ति का नाश नहीं कर सकता। तो उस शक्ति ने कहा कि अरे ! तू मुझे क्या मारता है? तेरा मारने वाला तो ब्रज में पैदा हो गया है। यानी तेरे अहंरूपी अणु को मारने वाले महान् ऐश्वर्यवान का प्रादुर्भाव हो गया है।

ऐश्वर्य की पहचान क्या है? जिसको बाह्य तैयारी न करनी पड़े, तो समझ लो कि उसके बराबर कोई ऐश्वर्यवान नहीं है। श्रीकृष्ण के चरित्र में आप देखेंगे कि बाह्य तैयारी की गन्ध भी नहीं है, चाहे वे दुष्टों का संहार करते हों और चाहे भक्तों के भक्ति-रस का आस्वादन करते हों। श्रीकृष्ण किसी तैयारी के साथ कोई लीला नहीं करते। वे कभी वन में, कभी कुंज में और कभी बिल्कुल साधारण-से-साधारण परिस्थिति में लीला करते हैं। अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य का प्रादुर्भाव श्रीकृष्ण के चरित्र में दिखाई देता है।

इधर गोकुल में बहुत धूमधाम के साथ नन्दोत्सव होने लगा। उधर कंस भयभीत होकर अपनी सेना को बुला कर कहने लगा कि भाई देखो, ब्रज में जितने भी बच्चे हैं, उन सबको समाप्त कर दो। उसका राक्षसी स्वभाव तो था ही। इधर खूब नन्दोत्सव हो रहा है, न दिन का पता और न रात का पता। जैसा कि वर्णन है कि सारी सृष्टि लालायित हो रही है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म, पालनकर्ता विष्णु और संहारकर्ता शिवशंकर उस अपने अलौकिक, अद्वितीय, दिव्य स्वरूप का दर्शन करने आ रहे हैं। सारे ब्रजवासी बड़ी धूमधाम से उत्सव मना रहे हैं।

यह बिलकुल आध्यात्मिक बात है कि तप के बिना जो उत्सव मनाया जाता है, वह अधूरा उत्सव होता है। उत्सव के लिए पहले तप होना चाहिए, फिर उत्साह होना चाहिए। जब उत्साह होता है, तब उत्सव होता है। आप देखेंगे कि जब उत्साह की वृद्धि होती है, तब रस की अभिव्यक्ति होती है। तो सारे गोकुल-वासी ब्रजवासी खूब तन्मय और विभोर हो रहे हैं, आनन्द में डूब रहें हैं। आप जानते हैं, चाहे हम कुछ भी हों, किसी भी स्थिति में हों, जब किसी से हम सुख लेने लगते हैं, तब थकान आती है।

जब ब्रजवासी थके, यशोदा-नन्दबाबा थके, तो यशोदाजी ने अपने प्राण-प्यारे, प्राण-जीवन, प्राणाधार लाला को बड़े सुन्दर पालने में सुला दिया। उधर कंस की अनुयायी कहो, आज्ञाकारिणी कहो, पूतना ने बड़ा सुन्दर धाय का भेष बनाया। आप जानते ही हैं कि सन्तलोग, साधु लोग और प्रेमी जन जो होते हैं, वे भीतर-बाहर एक से होते हैं। वे बड़े भोले होते हैं। जिसमें जितनी चतुराई-चालाकी होती है, उतना ही वह प्रेम के राज्य से दूर रहता है और जिसमें जितना भोलापन होता है, उपना ही वह प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश पाता है।

भोलीभाली श्रीयाशोदाजी गृह-कार्य में लगी हुई थीं। वे अपने प्रिय लाला की सुख-सामग्री की तैयारी में लगी थीं, उसका ही संयोजन कर रही थीं। उधर ऊपर से बड़ा सुन्दर वेश बना कर, धाय का भेष बना कर पूतना पधारी और कहने लगी कि हाय ! हाय !! यशोदा, तू ऐसी निष्ठुर हो गई है कि श्याम सलोने मधुर लाला को पालने में झुला कर गृह-कार्य में लगी है? अरी भटु, अगर तू कहे तो मैं तेरे लाला को खिलाऊँ? प्रेमियों में कोई भेद-भाव होता नहीं। तो यशोदाजी ने कहा कि जैसा मेरा लाला वैसा तेरा लाला, खिलाओ।

तो पूतना ने धाया माँ बनकर श्रीकृष्ण को गोद में उठा लिया। श्रीकृष्ण ने मन में कहा कि अच्छा, तू मुझ अविराशी को मारना चाहती है? मुझ अविनाशी को तू क्या मार सकती है? लेकिन क्या करूँ, तूने माँ का भेष बनाया है। देखो, उनकी कृपालुता का कोई पारावार नहीं है। पूतना का

कपटी वेश है, दम्भ है, कठोर हृदय है। किन्तु प्रभु कितने उदार हैं, कितने महान् हैं कि हाय ! हाय !! इसने मुझे लाला कह दिया। महाराज ! उसने विष से भरा जो स्तन था, उसका पान कराया। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि अरी मैया, तूने मुझे लाला कह दिया, तो अब तुझे छोड़ तो सकता नहीं। क्या तू मुझ अविनाशी को मारना चाहती है? तो श्रीकृष्ण ने दूध क्या पिया, पूतना के प्राणों को भी पी लिया।

जब प्राणों पर आकर पड़ती है, तब कपट खुल जाता है। तो कपट का भेष छोड़कर वह पिशाचिनी रूप में श्रीकृष्ण को लेकर उड़ी। पर उस अनन्त को कैसे ले जाए? जब श्रीश्यामसुन्दर का स्पर्श हो गया, तो पूतना नीचे धड़ाम से गिर पड़ी। उधर प्रेमीजनों का मन जो थोड़ी देर के लिए हट गया था, उन्होंने देखा कि लाला वहाँ नहीं है, तो कहने लगे कि हाय ! हाय !! लाला को कौन ले गया? फिर उन्होंने देखा कि लाला मुस्कराता हुआ उस उस मश्तक पूतना की छाती पर लेटा हुआ है। श्रीकृष्ण ने पूतना से कहा कि तूने झूठे ही मुझे लाला कहा, पर फिर भी मैया यशोदा की भाँति तुझे गोलोक भेजता हूँ। तू मुझे मारना चाहती थी, इसलिए मैं तेरे प्राण पिये लेता हूँ। न्याय, महान् करुणा और कृपालुता भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र में स्पष्ट है। कोई भी बलपूर्वक भगवान् को मारना चाहे या प्राप्त करना चाहे, सो नहीं कर सकता। लेकिन यदि कोई भगवान् से आत्मीय सम्बन्ध जोड़ लेता है, तो उसे भगवान् अवश्य अपना लेते हैं।

भगवान् के चरित्र में बड़ी विलक्षणता होती है। एक ओर दिखाई देता है कि वे दुष्टों का संहार कर रहे हैं और दूसरी ओर दिखाई देता है कि भक्तों की भक्ति का पोषण कर रहे हैं। सारे ब्रजवासियों का मन श्रीकृष्ण में लगा हुआ है। इस प्रकार ब्रज में भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों को देखा जाए, तो उनमें सिवाय प्रेम के और कुछ देखने को नहीं मिलता। सिवाय प्रभु की कृपालुता के और किसी तत्त्व का दर्शन होता ही नहीं।

इसलिए मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि भगवान् का जो चरित्र है, वह बहुत बड़ा दर्शन है, बहुत बड़ा विज्ञान है और बहुत बड़ा ललित साहित्य है। कोई रस ऐसा नहीं है, जो भगवत्-चरित्र में न हो। उसमें सभी रसों का प्रादुर्भाव है। आपने सुना ही होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण के तीन प्रकार के चरित्र हैं-कुछ ब्रज के चरित्र,

कुछ वन के चरित्र और कुछ निकुंज के चरित्र। यह जो जन्मोत्सव है, यह ब्रज का चरित्र है। आप जानते हैं, जहाँ जन्म होता है, वहाँ छठी भी होती है। वहाँ क्या नहीं होता? वहाँ सभी उत्सव होते हैं। इस प्रकार ब्रजवासियों के यहाँ श्रीकृष्ण के नित-नव उत्सव होते रहते हैं और श्रीकृष्ण अपने प्रेम का दान और पान करते रहते हैं। वे अपने माधुर्य, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का बोध भी कराते रहते हैं।

ऐश्वर्य का अर्थ क्या है? जिस पर कोई विजयी न हो सके। माधुर्य का अर्थ क्या है? जो सभी को अपना सके। सौन्दर्य का अर्थ क्या है? जो सभी को खींच सके, सर्व-प्रिय हो जाएँ। सबके मन जिसमें विलीन हो जाएँ, उसको कहते हैं सौन्दर्य। जो सभी को अपना ले, पतित-से-पतित को भी, असमर्थ-से-असमर्थ को भी, कैसा ही क्यों न हो, सभी को अपना ले, उसी को कहते हैं माधुर्य। जिस पर कोई विजयी न हो सके, उसको कहते हैं ऐश्वर्य।

उसी अनन्त ने मानव का निर्माण अपने में से ही किया है। आप कहेंगे कि जब अनन्त ने मानव को अपने में सह ही बनाया है, तो मानव में भी ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य होना चाहिए। निस्संदेह मानव में भी ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य है। क्या ऐश्वर्य है मानव में? मुझे कुछ नहीं चाहिए। आप सोचिए, जिसे कुछ नहीं चाहिए, इसका अर्थ क्या हुआ? न भोग चाहिए, न योग चाहिए और न मोक्ष चाहिए। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उस पर कौन विजयी हो सकता है? उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता। तो निष्कामता का ऐश्वर्य मानव का अपना ऐश्वर्य है। ऐसे ही निर्विकारता का सौन्दर्य मानव का अपना सौन्दर्य है। आप ही बताओ कि निर्लोभता, निर्मोहता, निरभिमानता की ओर किसका चित्त आकर्षित नहीं होता? निरभिमानी किसको प्यारा नहीं लगता? निर्मोही, निष्कामी किसको प्यारा नहीं लगता?

निर्ममता से प्राप्त जो निर्विकारता है, यह मानव का सौन्दर्य है, निष्कामता से अपने आप में सन्तुष्ट होना मानव का ऐश्वर्य है। आत्मीयता यानी अपनेपन से प्राप्त जो अगाध प्रियता है, यह मानव का माधुर्य है। जैसे उस अनन्त में यह ऐश्वर्य है कि उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता, उस अनन्त में यह माधुर्य है कि वह सभी को अपना सकता है और उस अनन्त में यह सौन्दर्य है कि वह सभी के चित्त को अपनी ओर खींच सकता है; वैसे ही मानव में भी निष्कामता का

ऐश्वर्य है, निर्विकारता का सौन्दर्य है और आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता, अखण्ड स्मृति का माधुर्य है। इन बातों को ठीक-ठीक समझाने के लिए भगवान् के चरित्र का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्धिवादी लोग कहेंगे कि उस निर्विशेष ब्रह्म को और उसके चरित्र को समझाने के लिए पुराण गाथाएँ लिखी गईं।

देखिए, यह मानव-सेवा-संघ कोई साम्प्रदायिक संघ नहीं है और न किसी का आग्रह है, किन्तु सत्य का विवेचन है। सत्य क्या है? तो हर भाई को, हर बहन को ऐश्वर्य चाहिए, माधुर्य चाहिए, सौन्दर्य चाहिए। ऐसा कोई भाई नहीं है, ऐसी कोई बहन नहीं है कि जो यह चाहे कि मैं पराजित हो जाऊँ या जो यह चाहे कि मेरी ओर आकर्षण न रहे। और यह भी कोई नहीं चाहता कि मैं सर्व प्रिय न हो जाऊँ। ऐसा कोई नहीं है। मतलब क्या? उसी अनन्त ऐश्वर्य की, उसी अनन्त माधुर्य की और उसी अनन्त सौन्दर्य की माँग मानव मात्र की अपनी माँग है। इसी माँग के आधार पर मानव प्रभु का अपना है, प्रभु का निज है। प्रभु को वह कितना प्यारा है और उसे प्रभु कितने प्यारे हैं, इसका कोई पारावार नहीं है।

महानुभाव ! क्या हम आज निर्ममता का सौन्दर्य, निष्कामता का ऐश्वर्य और आत्मीयता का माधुर्य प्राप्त कर छिपे हुए को प्रकट करने के लिए राजी हैं? यदि राजी हैं, तो मैया यशोदा की भाँति कहना पड़ेगा कि श्रीकृष्ण मेरा अपना लाला है। आप जानते हैं, वात्सल्य-रस में कितना माधुर्य होता है, कितना स्नेह होता है ! माँ बच्चे को सतत सुख देना चाहती है, उससे कभी भी कुछ भी लेना नहीं चाहती। चही तो वात्सल्य रस है। मैया यशोदा जी श्रीकृष्ण को सुख देना चाहती हैं, कभी कुछ लेना नहीं चहतीं। सुनते हैं कि जब लाला कुछ बड़ा हो गया, चलने-फिरने लगा, तो सभी ब्रजवासियों के मन में यह भाव आया के कितना अच्छा होता कि श्रीकृष्ण हमारे घर में आते, दूध-दही-माखन खाते, लुटाते, फैलाते। भगवान् कहते ही उसे हैं, जो सभी का हो।

जैसे नन्दरानी यशोदा जी का वात्सल्य-स्नेह रस की मूर्ति माना जाता है, वैसे ही माधुर्य रस की मूर्ति श्रीराधारानी हैं और सख्य रस के मूर्ति स्वरूप श्रीदामा आदि हैं। आप जानते हैं कि प्रेमियों के जीवन में एक बड़ी विलक्षणता होती है और वह यह होती है कि उनको अपने प्रेमास्पद की

निरन्तर प्रतीक्षा रहती है, अखण्ड प्रतीक्षा रहती है और अगाध प्रियता भी रहती है। अखण्ड प्रतीक्षा करने वाली ब्रज गोपियों के घर में श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ घुस जाते हैं और उनका दुध-दही-मक्खन खाते, लुटाते, मोर-बन्दरों को खिलाते और फैलाते हैं। पर किनके घर में? उनके घर में जो रात और दिन उनकी प्रतीक्षा करती रहती थीं। किसलिए? श्रीकृष्ण हमारे लाला बन कर हमारा माखन खाएँ, हमारा दही खाएँ।

जब लाला की स्मृति सबल होती, तो वे क्या करतीं, कैसे यशोदा जी के घर जातीं? किसी के घर जाते हैं, तो किसी बहाने से जाते हैं, किसी काम से जाते हैं। तो वात्सल्य भाव की गोपियाँ यशोदा को उलाहना देने आती हैं। अब देखिए, भगवान् के प्रेमियों के चरित्र में ऊपर से उलाहना देने आई हैं और भीतर इसी बहाने से गोपाल को देखने आई हैं। वे बिगड़ कर कहती हैं कि हे नन्दरानी ! अब हम तुम्हारे गाँव में नहीं रहेंगीं। क्यों भटु, क्या बात हो गई है, क्यों इस गाँव में नहीं रहोगी? तो बोलीं, बात क्या है जी, तुम्हारा ढोटा बड़ा ढीठ है। अब देखो, ऊपर से कहती हैं कि तुम्हारा ढोटा बड़ा ढीठ है और भीतर से सोचती हैं कि हमारा ढोटा बड़ा विचित्र है। प्रेम की दशा अटपटी होती है। भीतर से कुछ दशा होती है और ऊपर से कुछ कहती हैं। तो बोलीं कि हम तुम्हारे गाँव में नहीं रहेंगीं। तुम्हारा ढोटा बड़ा नटखट है। अरे यशोदा जी, वह माखन खाय तो खाय, इसमें कोई बात नहीं है। जैसा तुम्हारा लाला वैसा हमारा लाला।

अब देखिए, दो तरह का चिन्तन होता है। विरोध मान कर भी चिन्तन होता हे और अनुकूल मान कर भी चिन्तन होता है। एक हमारे मित्र हैं, वे विरोध मान कर चिन्तन करते हैं। वे बुराई भी करते जाते हैं और चिपटते भी जाते हैं। ऐसे ही गोपियाँ उधर उलाहना भी देती जा रही हैं और इधर श्रीकृष्ण की ओर आकर्षित भी होती जा रही हैं। वे कहती हैं, तुम्हारा लाला हमारा दूध-दही-माखन खाता है, सो कोई बात नहीं। पर वह तो फैला देता है और मोर-बन्दरों को लुटाता है। तो भोलीभाली यशोदा कहती हैं कि अरी भटू ! तुम दूध-दही-माखन को ऊँचे छींके पर रख दिया करो, मेरा नन्हा-सा लाला है। तो वे बोलीं, हे नन्दरानी ! तेरा लाला बड़ा ढीठ है। नन्हा-सा तो है, पर बड़ा ढीठ है। क्या ढीठ है? बोलीं, जब हम छींके पर रख देती हैं,

तो सखाओं के कन्धे चढ़ कर लकुट से तोड़ देता है।

यशोदा जी बोलीं कि तुम अंधेरे में राम-कुठरिया में छिपा कर रख दिया करो। तो वे बोलीं कि जब हम छिपा कर रखती हैं, तो तेरे लाला के मुख पर इतना प्रकाश है के अँधेरा नहीं रहता। अब तो यशोदा जी बड़े संकट में पड़ गईं। फिर वे बोलीं कि अरी भटू ! तुम गाँव छोड़ कर मत जाओ। अगर लाला ने एक मटकी तोड़ी है, तो एक-एक की नौ-नौ मटकी ले जाओ। गोपियाँ बोलीं, सो तो यह सब गैयाँ लाला की, यह सब माखन लाला का, यह सब दूध-दही इसी लाला का है। नन्दरानी ! कोई चिन्ता मत कर। अब देखिए, कितनी निर्ममता है ! यह भक्तों का चरित्र है। इधर यशोदा जी कहती हैं कि एक-एक मटकी की जगह नौ-नौ मटकी ले लो, पर गाँव छोड़ कर मत जाओ। उधर गोपियाँ कहती हैं कि नन्दरानी ! अधीर न हों। हम गाँव छोड़ कर नहीं जाएँगीं। जैसौ तुम्हारौ लाला, वैसो हमारो लाला।

इस प्रकार ब्रज में श्रीकृष्ण और उनके प्रेमियों के अनेक चरित्र हैं। जितना कहा जाए, कम है। मैंने श्रीकृष्ण के चरित्र के सम्बन्ध में जो कुछ सुना है, उसका जो तात्पर्य है वह आपकी सेवा में निवेदन करना चाहता हूँ कि श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव में सख्य-भाव, मधुर-भाव परकीया भाव पाए जाते हैं। सच पूछिए तो दो ही बातें हैं, एक ओर तो उनकी कुपालुता और महानता दूसरी ओर प्रेमियों की आत्मीयता का चित्रण। आत्मीयता ही प्रेम की प्रतीक है।

क्या हम-आप अजन्मा का जन्मोत्सव मनाते हुए इस बात को स्वीकार करेंगे कि वह अनन्त हम सबकी अपनी ही जाति का है? तभी तो उसको अपना लाला बना सकोगे, तभी उसके सखा बना सकोगे। हमारी और उसकी जातीय एकता है, यह पहली बात है। अद्वैतवादियों को भी यह सत्य मानना पड़ता है। वे जीव-ब्रह्म की जातीय एकता मान कर ही अद्वैत सिद्ध करते हैं। उसके बाद दूसरा नम्बर आता है नित्य सम्बन्ध का। यह योगियों की चीज है। योगियों ने उस अनन्त से नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया है और प्रेमियों ने उस अनन्त से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया है, अपनेपन का सम्बन्ध स्वीकार किया है। आत्मीय सम्बन्ध में जातीय सम्बन्ध भी है और नित्य सम्बन्ध भी। जितने भी प्रेमीजन हुए हैं, उन्होंने उस प्रभु को अपना कह

कर स्वीकार किया है। इस प्रकार अनन्त के प्रादुर्भाव के अनेक चरित्र हैं, अनेक उदाहरण हैं।

एक दिन भक्तिमती देवकी जी ने कहा कि शारीरिक और बौद्धिक विकास के पश्चात् जब मैंने अपनी ओर देखा, तो मुझे एक अभाव दिखाई दिया, एक बड़ा अधूरापन जीवन में दिखाई दिया। हमने पूछा, क्या अधूरापन दिखाई दिया? तो कहने लगीं कि मुझे सच्चरित्रता के आधार पर सम्मान मिल गया, योग्यता के आधार पर रोटी मिल गयी, पर मेरे हृदय की यह प्यास कि कोई मेरा अपना होता, वह नहीं पूरी हुई। वे कभी-कभी बिगड़ कर झुँझलाती हुई कहतीं कि किसने मेरा निर्माण कर दिया, किसने मुझे बना दिया? मैंने अपने को अपने आप तो बनाया नहीं। मुझे बनाया, तो राजकुमार सिद्धार्थ जैसा वैराग्य मुझे क्यों नहीं दे दिया, कबीर जैसा विचार क्यों नहीं दे दिया और मीरा जैसी सरल श्रद्धा और भक्ति क्यों नहीं दे दी?

वे बड़ी ईमानदारी से कहतीं थीं। उनका विद्रोही, विरोधी भाव को लेकर चिन्तन था। तो वे कहतीं कि होंगे कोई भगवान्, कहीं बैठे होंगे एक कठोर जज का भेष बनाए। कौन कहता है कि वे कृपालु हैं, जिसने मुझे ऐसा बना दिया? 1954 की पहली जनवरी को जब वे मेरे पास आईं, तो मैंने उनसे कहा कि देखो, तुम जानो या न जानो, मानो या न मानो। पर देवकी जी, कोई एक है ऐसा, जो सभी का अपना है। वह तुम्हारा भी है। पर उनके मस्तिष्क में इतना विद्रोह था कि वे मुँह से भी नहीं कह पाती थीं कि वे भगवान् मेरे हैं, मन से मानने की बात तो दूर। लेकिन उनके हृदय में एक माँग थी।

मानव-सेवा-संघ में एक बड़ी सुन्दर बात बताई जाती है कि भाई, जिसको तुम प्राप्त करना चाहते हो, उसकी आवश्यकता अनुभव करो। उसको बलपूर्वक पकड़ने की कोशिश मत करो, केवल आवश्यकता। अनुभव करो। देवकी जी कहने लगीं कि मेरे हृदय में माँग थी। पर इतनी सख्त और कटु हृदय की थीं, इतना मस्तिष्क विद्रोही था कि वाणी से भी कह नहीं पाती थीं और माँग को मिटा भी नहीं पाती थीं। अन्त में उन्होंने कहा कि क्या बताऊँ, वे कितने हम सब के अपने हैं कि उन्होंने मेरे करने की बात भी की और अपने करने की बात भी की। मैंने पाया है कि वे परम प्रेमी हैं और जो भाव उनके साथ स्वीकार का

लिया जाता है, उसको वे निभाते हैं। प्रभु विश्वास के सम्बन्ध में, प्रभु-महिमा के सम्बन्ध में, उनके चरित्र के सम्बन्ध में जितना कहा जाए, कम है।

इसलिए महानुभाव ! आज बड़ा शुभ दिन है। आज हम सबको इस बात पर बहुत दृढ़ता के साथ विचार करना चाहिए कि वह परमात्मा, जिसको वेदों में सुना है, सन्तों से सुना है, भक्तों से सुना है, वह मेरी ही जाति का है। मैं उसकी ही जाति का हूँ। उसका मेरा नित्य सम्बन्ध है। वह मेरा अपना है। मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए। यदि यह महामंत्र हम सब अपना सकें, तो निःसन्देह जो रस किसी भी भक्त को, जो रस किसी भी मुक्त को, जो रस किसी भी शान्त को कभी-भी मिला है, वह रस प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को मिल सकता है। इसी सद्भावना के साथ।

37(अ) भूखसे(दुःखसे) और भोजनसे(सुखसे) से अपना मूल्य बढ़ाओ

सच बात तो यह है कि बताने के लिए कोई बात ही नहीं है। कारण, कि प्रत्येक साधक में साधन विद्यमान है। पर अपने बनाए हुए असाधन ने उस विद्यमान साधन को ढक दिया है। जिस समय साधन की लालसा जाग्रत होती है, उसी समय अपना बनाया हुआ असाधन हट जाता है। उसके हटते ही साधक और साधन में अभिन्नता हो जाती है। परन्तु हमसे एक बड़ी भूल यह होती है कि हम अपने सम्बन्ध में अथवा दूसरों के सम्बन्ध में भूतकाल के आधार पर निर्णय देकर अपने को अथवा दूसरों को बुरा समझने लगते हैं। यदि सर्वांश में अपने को ही बुरा समझा होता, तो और कोई बुरा नहीं दिखाई देता। पर आज हमारी दशा यह है कि अपने साथ-साथ दूसरों को भी बुरा समझते रहते हैं। आंशिक बुराई के आधार पर यह मान बैठते हैं कि दूसरे लोग अच्छे नहीं हैं। इसका बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है।

जब आप स्वयं ही अपने को और दूसरों को अच्छा नहीं मानते, तो भला सोचो तो सही, आप अच्छे कैसे हो सकते हैं? आप कहेंगे कि अच्छा काम करेंगे, तब हम अच्छे होंगे। अगर हम आपसे पूछें कि क्या बुरे कर्त्ता से अच्छा कर्म बनेगा? तो आपके पास कोई उत्तर नहीं है कि बनेगा। जरा ध्यान दो, कि पहले कर्म अच्छा होगा, कि पहले कर्त्ता अच्छा होगा? आपको मानना ही होगा कि पहले कर्त्ता अच्छा

होगा। और इसके लिए आपको वर्तमान में ही अपने को निर्दोष स्वीकार करना पड़ेगा। अगर आप अपने को निर्दोष स्वीकार करने को राजी नहीं हैं, तो फिर जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो, यह सम्भव ही नहीं है।

आप कहेंगे कि क्या हम अपने में दोषों को देखते हुए भी निर्दोष मानकर अपने को धोखा दें? यदि हम आप से पूछें कि आप ईमानदारी से बताइए कि आपके जीवन में आपके किए हुए दोषों का प्रभाव है अथवा आप दोषी हैं? तो आप कहेंगे कि किये हुए दोष का प्रभाव ही दोष है। अगर प्रभाव ही दोष है, तो यह दोष कभी मिट ही नहीं सकता। प्रभाव दोष नहीं होता, प्रभाव तो दोष के द्वारा उत्पन्न हुआ है। तो दोष द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न हुआ है। यदि वह दोष न रहे, तो वह प्रभाव भी नहीं रहता।

आज एक मौलिक प्रश्न सामने आता है कि क्या आप अपने को और दूसरों को भला मानने को राजी हैं? यदि राजी हैं, तो आप भी भले हो सकते हैं और दूसरे भी भले हो सकते हैं। आप कहें कि न तो हम अपने को भला मानने को राजी हैं और न दूसरों को भला मानने को राजी हैं। तब तो सच मानिए, न आप भले हो सकते हैं और न आपके द्वारा दूसरे भले हो सकते हैं। इसलिए यदि आप सचमुच साधननिष्ठ होना चाहते हैं और साध्य के अगाध अनन्त प्रेम को प्राप्त करना चाहते हैं, तो यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि मानव मात्र का वर्तमान सर्वथा निर्दोष है। वर्तमान क्यों निर्दोष है? तो हमारे और आपके जीवन में यह मौलिक प्रश्न है कि क्या दोषों की स्वतन्त्र सत्ता है? यदि दोष की स्वतन्त्र सत्ता है, तो उसका नाम दोष ही नहीं। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है, उसमें कोई दोष नहीं होता। यदि आप यह कहते हैं कि दोष की उत्पत्ति होती है। तो ऐसी कोई उत्पत्ति बताइए कि जिसका विनाश अपने आप न हो। कोई नहीं बता सकते।

कोई उत्पत्ति ऐसी होती है नहीं कि जिसका विनाश न हो। तो भाई, यदि दोष की उत्पत्ति हुई है, तो उसका विनाश उसी काल से आरम्भ होता है, जिस काल में दोष उत्पन्न होता है। इसलिए भूतकाल के दोष के आधार पर हम और आप दोषी नहीं हो सकते। हाँ, एक बात अवश्य है कि दोष-जनित सुख का जो प्रलोभन है, उस प्रलोभन की भूमि में पुनः दोष की उत्पत्ति होती है।

अतः आज आपको इस बात का निर्णय करना है कि अब हम दोष-जनित सुख का भोग नहीं करेंगे। इतनी सी बात है। अगर आप इस बात के लिए राजी हैं, तो निःसन्देह आप परम निर्दोष हैं। अगर आप यह सोचते हैं कि दोष-जनित सुख का प्रलोभन तो हम त्याग ही नहीं सकते, उसे तो हम सुरक्षित रखेंगे ही। तब भी आप सर्वांश में दोषी नहीं हो सकते, सभी के लिए दोषी नहीं हो सकते सर्वदा के लिए दोषी नहीं हो सकते। तो भाई, अब इन दो बातों में से आपको एक बात का निर्णय करना है कि क्या आप वह जीवन पसन्द करेंगे, जिसमें दोषों की उत्पत्ति होती रहे अथवा वह जीवन पसन्द करेंगे, जहाँ निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो? इन दोनों में से किसी एक प्रकार के जीवन को स्वीकार करना ही पड़ेगा। आप विचार करें।

आज हमारी दशा क्या है? या तो अपने को बुरा समझते हैं या दूसरों को बुरा समझते हैं। जब कोई और बुरा समझने को नहीं मिलता, तो आज का साधक कहता है कि मन बहुत खराब है, बुद्धि ठीक नहीं रही, शरीर ठीक नहीं है, साथी अच्छे नहीं है, परिस्थिति अनुकूल नहीं है, गुरु महाराज ने आशीर्वाद नहीं दिया, प्रभु ने कृपा नहीं की आदि-आदि। वाह रे निर्णय ! सबके ! कर्त्तव्य का यथेष्ट ज्ञान, सबकी भूल का यथेष्ट ज्ञान; पर हमसे कभी भूल हुई और भूल कर सकते हैं, इस पर कोई चर्चा ही नहीं ? जरा ध्यान तो दीजिए। हमें दूसरा कब बुरा मालूम होता है? जब वह हमारे मन की बात पूरी नहीं करता। कृपा सिन्धु ! आप जरा यह तो बताइए कि आपके मन में जो बात उत्पन्न होती है, क्या वह ऐसी होती है, जो बुरी नहीं है ?

अगर आप यह कहते हैं कि हमारे मन में गलत बात उत्पन्न ही नहीं होती। तब तो संसार में कोई ऐसा हो ही नहीं सकता, जो तुम्हारे मन की बात पूरी न करें। अगर आप यह कहते हैं कि हमारे मन में बुरी बात उत्पन्न होती है, तो मैं कहता हूँ कि आपका सबसे बड़ा मित्र वही है, जिसने आपके मन की बात पूरी नहीं की। क्योंकि बुरी बात में सहयोग देना, यह तो आपके लिए हितकर नहीं है। अगर इस तरह से आप सोचें, तो भी आपको यह मानना ही पड़ेगा कि भाई, मन की बात पूरी न होने के आधार पर हम दूसरों को बुरा समझने लगते हैं।

आज का महाजन कहता है कि मजदूर अच्छा नहीं है, मजदूर कहता है कि महाजन अच्छा नहीं है,

राष्ट्र कहता है कि प्रजा अच्छी नहीं है, प्रजा कहती है कि राष्ट्र अच्छा नहीं है। ऐसे ही दो बन्धुओं के बीच में है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि भाई, आप क्यों गलत होते हैं? आप जो ठीक बने रहिए। आप कहें कि जब तक दुसरा ठीक नहीं होगा, हम ठीक हो ही नहीं सकते। तो आप सच मानिए, आप कभी ठीक हो ही नहीं सकते। क्यों? आपने पहले ही पराधीनता स्वीकार कर ली और आपने इस बात को मान लिया कि जब दूसरे लोग ठीक होंगे, तब हम ठीक होंगे। यह मालूम है, क्या है? यह प्रतिक्रिया है।

यह निर्णय नहीं है, यह वास्तविकता नहीं है कि दूसरे ने हमको हानि पहुँचा दी। जो व्यक्ति, जो समाज, जो देश, जो वर्ग अपने दुःख का कारण दूसरों को ही मानता रहेगा, आप सच मानिए, वह कभी विकास नहीं कर सकता। उसका कभी विकास नहीं हो सकता। क्यों? अगर आपने दूसरे को दुःख का कारण मान लिया, तो आप दुःख मिटाने में स्वाधीन नहीं रहेंगे। जिस कार्य में आप स्वाधीन नहीं हैं, उस कार्य में सिद्धि हो ही कैसे सकती है?

इसलिए भाई, बड़ी ठण्डी तबियत से धीरज से साथ आपको यह सोचना ही पड़ेगा कि क्या सचमुच हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा है? यदि हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा है, तो बताओ कि वह कौन है? जब आप अपने अस्तित्व को स्वीकार करेंगे, तब आपके सामने जगत् आयेगा अथवा यदि आप प्रभु में श्रद्धा रखते हैं, तो प्रभु आपके सामने आएँगे। आप इन्हीं दो बातों को मानेंने। अपने से भिन्न या तो जगत् को मानेंगे, अथवा प्रभु को मानेंगे। जगत् को मानेंगे इन्द्रियज्ञान के आधार पर और प्रभु को मानेंगे श्रद्धा के आधार पर। किन्तु विचार करो कि जगत् किसे कहते हैं? जो पर-प्रकाश्य हो, जो अपने को अपने-आप प्रकाशित न करे, जिसमें सतत परिवर्तन हो और जिसमें अदर्शन हो। जरा ध्यान दीजिए। आप पर-प्रकाश्य नहीं हैं, आप स्वयं अपने को आप प्रकाशित कर रहे हैं। तो जो पर-प्रकाश्य नहीं है; स्वयंप्रकाश है, भला उसे दुःख देने में पर-प्रकाश्य जगत् क्या समर्थ होगा? जो जगत् क्षणमात्र भी एक स्थिति में नहीं रह सकता, क्या वह जगत् उसको दुःख देने में समर्थ होगा, जिसमें कभी परिवर्तन हुआ ही नहीं, जो स्वयंप्रकाश है?

यह निर्णय कि जगत् ने हमें दुःख दिया, क्या ईमानदारी है? ईमानदारी नहीं है। तो फिर क्या है? जगत् की दासता ने जगत् के द्वारा दुःख देने की बात बताई। अब जरा सोचो कि जगत् की दासता स्वीकार किसने की? तो आपको विवश होकर मानना ही पड़ेगा कि मैंने की। फिर दुःख का कारण कौन हुआ? आप कहेंगे कि मैं हुआ। क्यों हुआ? क्योंकि मैंने जगत् की दासता स्वीकार की। अच्छा भाई, जब आपको दुःख का कारण मालूम होगया कि जगत् की दासता स्वीकार करने से मैं दुखी हुआ, तो जगत् की दासता का त्याग कर दो, दुःख मिट जाएगा। अगर आप कहें कि नहीं, दुःख तो मिट ही नहीं सकता। अगर दुःख नहीं मिट सकता, तो दुःख के कारण का ज्ञान आपको कैसे हो गया? कैसे आपने निर्णय ले लिया कि अमुक हमको दुःख देता है? यह निर्णय तो ज्ञानपूर्वक होगा भाई।

अगर अमुक वर्ग, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थिति, अमुक अवस्था हमको दुःख देती है, तो इस बात का सही ज्ञान हुए बिना निर्णय दे नहीं सकते। इससे तब तो आपके ज्ञान का ही विरोध है। अगर हमारे जीवन में से वस्तुओं की दासता निकल जाए, तो हमारे लिए वस्तुओं का होना, न होना दुःखद नहीं है। अगर हमारे जीवन में से व्यक्तियों की दासता निकल जाए, तो व्यक्तियों का होना, न होना हमारे लिए दुःखद नहीं है। किन्तु हम न तो वस्तुओं की दासता का त्याग करेंगे, न व्यक्तियों की दासता का त्याग करेंगे और न हम परिस्थितियों की दासता का त्याग करेंगे। फिर दिन-रात हम सोचते रहेंगे कि हम दुःखी हैं और हमारे दुःख कारण दूसरे लोग हैं। यह साधक का सोचना नहीं है, यह विचारशील का सोचना नहीं है। यह तो उसका सोचना है कि जो एकमात्र सुख-भोग में ही निरन्तर रत रहना चाहता है, जो सुख की दासता से ऊपर नहीं उठना चाहता। उसका ऐसा सोचना ठीक है।

आप स्वयं विचार कीजिए कि पर-प्रकाश्य वस्तुएँ स्वयंप्रकाश को दुःख नहीं दे सकतीं। किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार कर लें। आप कहें कि हम यह मानने को राजी ही नहीं हैं कि वस्तुओं से भिन्न भी हमारा जीवन है। मेरा जो सोचने का ढंग है, वह अपने को सामने रख कर है। कल्पना करो कि हम यह मान लें कि वस्तुओं से भिन्न हमारा जीवन नहीं है, यह ज्ञान वस्तु को है, कि आपको

है? आपको जो इस बात का ज्ञान हुआ कि वस्तुओं से भिन्न हमारा जीवन नहीं है, क्या यह ज्ञान वस्तु को है? यदि यह ज्ञान वस्तु को होता, तो एटम बम यह कह देता कि मैं निर्दोष जापानियों के ऊपर नहीं गिरूँगा, कमजोर जापानियों के ऊपर नहीं गिरूँगा, गिरने से इन्कार कर देता। लेकिन उस बेचारे ने कुछ नहीं कहा।

आप जानते हैं कि अगर वस्तु में इस बात का ज्ञान होता, तो जिस विज्ञानवेत्ता ने एटम बम निकाला था, उसकी बुद्धि यह कहती कि अरे भाई देख, जो एटम बम मेरे द्वारा बनाया है, तू इसे पैसों के बदले में बेच कर मेरा दुरुपयोग क्यों करता है? उसकी बुद्धि भी उसे रोक सकती थी। लेकिन न तो उसको उसकी बुद्धि ने रोका और न एटम बम ने रोका। क्यों नहीं रोका? भाई, वस्तु जो होती है, उसमें शक्ति तो होती है, लेकिन वस्तु में ज्ञान नहीं होता। साधारण लोग शक्ति के उपयोग को ज्ञान मान लेते हैं या शक्ति के कार्य को ज्ञान मान लेते हैं। जो शक्ति के कार्य को ज्ञान मान लेते हैं, वही लोग वस्तुओं के दास बन जाते हैं।

आज क्या कारण हे जो कि आदमी सोचता है कि मैं तो बहुत बड़ा आदमी हो गया, क्योंकि मैं मिल-ओनर हूँ और मेरे पास बहुत-सी सम्पत्ति है, बहुत-सा सामान है। अच्छा भाई, सामान होने से, सम्पत्ति होने से तुम बड़े आदमी हो गए। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि तुम्हारी सम्पत्ति बड़ी आदमी हो गई, कि तुम बड़े आदमी हो गए? तुम तो लोभी हो गए। सम्पत्ति के होने से अगर तुम्हें बड़प्पन मालूम होता है, तो सम्पत्ति का बड़ापन हुआ, जो व्यक्ति के जीवन में लोभ को जन्म देता है। व्यक्तियों से बड़ापन मालूम होना जीवन में मोह को जन्म देता है, परिस्थितियों से बड़ापन मालूम होना जीवन में परिच्छिन्नता को जन्म देता है। अब आप सोचें, क्या लोभी को बड़ा आदमी कह सकते हो? जो लोभ में, मोह में, परिच्छिन्नता में, काम में आबद्ध है, क्या उसे बड़ा आदमी कह सकते हो? आप यदि विचार करें, तो आपको इन्कार करना पड़ेगा।

तो फिर आपका बड़ापन, आपकी महानता, आपकी विशेषता किसी वस्तु पर निर्भर नहीं है। हाँ, एक बात जरूर है कि अगर आप सचमुच बड़े आदमी हैं, तो आपके द्वारा वस्तुओं का सदुपयोग होगा और आपके द्वारा व्यक्तियों की सेवा होगी। यह तो हो सकता है। यदि आपके जीवन से व्यक्तियों की सेवा होती है,

यदि आपके जीवन से वस्तुओं का उत्पादन और सदुपयोग होता है, तो आप बड़े आदमी हुए। यदि आप अपने शरीर, प्राण, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि का सदुपयोग करते हैं, तो आप बड़े आदमी हैं। लेकिन शरीर बड़ा आदमी हो जाए, मन-बुद्धि आदि बड़ा आदमी हो जाए, तो यह बात सही सिद्ध नहीं होती।

इसलिए भाई, जड़-जगत्, पर-प्रकाश्य जगत्, परिवर्तनशील जगत् आपको दुःख नहीं दे सकता। अब आप कहेंगे कि अच्छा, यह बात हम मान लेते हैं कि जगत् ने हमें दुःख नहीं दिया। तो यह बात हम क्यों न मान लें कि प्रभु ने हमें दुःख दिया? उन्होंने ऐसा विधान क्यों नहीं बनाया कि किसी की मृत्यु नहीं होती, कोई बूढ़ा नहीं होता? मैं आपसे पूछता हूँ कि आज अगर तुम्हारी बात मान कर विधान में से मृत्यु का विधान निकाल दिया जाए, तो जिस जगह आप बैठे हैं, क्या वहाँ आपको बैठने के लिए जगह मिल जाती? जितने प्राणी हमसे पहले हुए हैं या सृष्टि में आज तक हुए हैं, अगर वे सब प्राणी आजाएँ, तो क्या दशा होगी?

एक समय की हम आपको घटना सुनाएँ। हम नैपाल की यात्रा करने जा रहे थे। रेल के डिब्बे में बहुत भीड़ थी। मालगाड़ी का सा डिब्बा हो गया था। महाराज! हम भीतर घुस तो गए। पर जो भीड़ का रेला लगा, तो महाराज! या दशा हुई कि इससे तो मर जाना अच्छा है, पर यात्रा करना अच्छा नहीं है। तो निर्बल के बल राम वाली बात याद आ गई। हम तो एक कोने में आगए, इससे बच गए। नहीं तो हम यही सोच रहे थे कि कौनसा क्षण होगा कि जब रेल से छुटकारा मिलेगा। जरा सी भीड़ में यह दशा हो गई। यदि सभी मरे हुए प्राणी इकट्ठे हो जाएँ, तो क्या दशा होगी? जरा सोचो तो सही।

यह जो विधान है, वह हमसे-आपसे अधिक ईमानदार है, हमसे-आपसे अधिक हितकर है और उपयोगी है। लेकिन हमारी दशा यह हो गई कि अपने मन की बात पूरी न होने से, अपनी कामना की अपूर्ति के दुःख से क्षोभित हो गए, क्रोधित हो गए और उस दुःख का कारण दूसरों को मानने लगे। मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि भाई, जगत् तो हमको दुःख दे नहीं सकता। लेकिन प्रभु ने ऐसा विधान क्यों बनाया कि जिससे जीवन में दुःख है? तो मैं आपसे पूछूँ कि अगर आपके जीवन में से दुःख का भाग निकाल दिया, तो क्या आप सुख का

भोग कर सकते हैं? आप किसी ऐसे आदमी से पूछिये कि जिसके पास भोजन बहुत हो और भूख न लगती हो। वह कितना दुःखी होता है, वैद्य और डाक्टरों के पास जाता है? बिना खाए रहा नहीं जाता और भूख लगती नहीं। वह क्यों दुखी है? क्योंकि उसके जीवन में से भूख का दुःख निकल गया।

जरा ध्यान दीजिए। जब जीवन में से दुःख का भाग निकल जाता है, तब मेरे भाई ! जीवन में सुख के भोग का कोई स्थान ही नहीं रहता। यह जो आप सोचते हैं कि जीवन में से दुःख का भाग निकल जाए। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि दुःख का अंश बिल्कुल निकाल देने के बाद क्या आपका कोई जीवन है? दुःख के बिना सुख-भोग हो ही नहीं सकता। जब सुख भोगते हैं, तो दुःख भोगना ही पड़ेगा। अब आप चाहते क्या हैं कि प्रभु ऐसा विधान बनाते कि जिसमें सुख तो भोगते रहें और दुःख न भोगना पड़े।

मैं आप से एक बात कहना चाहता हूँ कि ऐसा भी जीवन है कि जिसमें आपको दुःख नहीं भोगना पड़ेगा। लेकिन उस जीवन के लिए इस समय जो आप सुख भोगते हैं, उस सुख के प्रलोभन का त्याग करना होगा। मैं यह नहीं कहता हूँ कि प्राप्त सुख का त्याग कर दें, परन्तु उस सुख के प्रलोभन का त्याग कर दें। इसी प्रकार दुःख के भय का त्याग कर दें। यदि आप सुख के प्रलोभन का त्याग कर सकते हैं और दुःख के भय का त्याग कर सकते हैं, तो इसी जीवन में आपको ऐसा जीवन मिल सकता है कि जिसमें दुःख की गन्ध भी नहीं है। किन्तु वह जीवन कब मिलेगा? जब आप अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानेंगे और जब आप अपने सुख का हेतु किसी दूसरे को नहीं मानेंगे।

जो दूसरों को सुख का हेतु मानता है, उसमें नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है और जो दूसरों को दुःख का हेतु मानता है, उसमें द्वेष की अग्नि जलती रहती है। जहाँ राग की पराधीनता हो और जहाँ द्वेष की अग्नि जल रही हो, वहाँ भला, जीवन कैसे मिल सकता है? अगर आप कहें कि अपने सुख का कारण किसी और को क्यों न मानें? तो इसलिए तुम मानो कि कोई और आपके सुख का कारण है नहीं। आप कहेंगे कि यह बात हमारी समझ में नहीं आती, क्योंकि भूख लगती है और कोई प्यारपूर्वक भोजन देता है, तो हमें बड़ा सुख मालूम होता है। तो सुख मालूम होने में यह बातें

सामने आईं-भोजन देने वाला, भोजन सामग्री, भूख का लगना और भोगने की शक्ति; सुख के यह कारण दिखाई दिये।

हम आपसे पूछते हैं कि भोजन करने की शक्ति का ह्रास होता है कि नहीं, भोग्य वस्तु का विनाश होता है कि नहीं और जो भोजन देता है उसमें भोजन देने का अभिमान होता है कि नहीं? आप कहेंगे कि यह सब तो होता है। तो इन सबके बदलें में जो सुख मिलता है, क्या वह इतना अधिक है कि उसके लिए यह सारी पराधीनता सहन की जाए? अगर आपका उस सुख का महत्त्व इतना अधिक मालूम होता है, तब तो आप सुख की वासना से मुक्त नहीं हो सकते। अगर आपको यह मालूम होता है कि भाई, क्षणिक सुख के लिए बहुत-सी पराधीनता सहनी पड़ती है, तब आप सुख की वासना से मुक्त हो सकते हैं।

तब क्या करें? अपना मूल्य बढ़ा लें। अपना मूल्य बढ़ाने का अर्थ क्या है? यदि भोजन नहीं मिला है, तो भोजन का चिन्तन न करें। आप कहेंगे कि भूख लगने पर भोजन का चिन्तन होता है। भाई, ऐसी बात नहीं है। जिस दिन आप उपवास करना चाहते हैं, उस दिन आपको भोजन का चिन्तन नहीं होता। लेकिन क्या उस दिन भूख नहीं लगती? भूख तो लगती, लेकिन भोजन का चिन्तन नहीं होता। क्योंकि आपका यह निर्णय हो जाता है कि हमें आज भोजन नहीं करना है। तो जब आपका यह निर्णय हो जायगा कि भोजन से हमारा मूल्य अधिक है, तो भोजन का मूल्य हमसे कम हो जाएगा। क्यों? भोजन करने में भोग्य वस्तु का विनाश होता है, भोगने की शक्ति का ह्रास होता है। इसलिए भूख से भी हमारा मूल्य अधिक है और भोजन से भी हमारा मूल्य अधिक है। और भोजन देने वाले से भी हमारा मूल्य अधिक है।

एक दिन की बात आपको सुनाएँ। मैं गंगा के किनारे अकेला रहता था। एक सन्त से बात होने लगी। मैंने कहा कि आपको सायंकाल क्या भूख नहीं लगती? बोले कि लगती है। तब मैंने पूछा कि क्या खाते हो? बोले कि भूख को खाता हूँ। अब आप लोगों को आश्चर्य होगा कि कहीं भूख भी खाई जाती है? हाँ, एक ऐसी स्टेज आ जाती है जीवन की कि जिसमें भूख खाई जाती है। भूख से यदि हम अपना मूल्य बढ़ा लें, तो हम भोजन से भी अपना मूल्य बढ़ा सकते हैं। भूख लगने पर आप इतने अधीर हो जाते हैं,

व्याकुल हो जाते हैं कि हाय-हाय रे ! भोजन नहीं मिलेगा, तो जीवन ही नहीं रहेगा। भाई, जीवन तो भोजन के मिलते हुए भी नहीं रहेगा।

आप सच मानिए कि अगर हम भूखे मर जाएँगे, तो खाते-खाते भी मर जाएँगे, अमर नहीं हो सकते। भोजन आज तक तो किसी को अमर कर नहीं सका, कभी कर सकेगा नहीं । तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भूख से अपना मूल्य बढ़ाओ और भोजन से भी अपना मूल्य बढ़ाओ। तात्पर्य क्या निकला? दुःख से भी अपना मूल्य बढ़ाओ और सुख से भी अपना मूल्य बढ़ाओ। जब आप सुख और दुःख दोनों से अपना मूल्य बढ़ा लेंगे, तब क्या होगा? फिर आप अपने सुख का और अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानेंगे। जब आप किसी और को अपने सुख-दुःख का कारण नहीं मानेंगे, तब न तो नवीन राग की उत्पत्ति होगी और न द्वेष की अग्नि जलेगी।

जब जीवन में राग की उत्पत्ति नहीं होती, तब मालूम है क्या होता है? तब सहज योग की प्राप्ति होती है। राग-रहित होते ही सहज योग की प्राप्ति होती है। यह मत समझिए कि जो ईश्वर को मानता है, उसी को सहज योग प्राप्त होता है, अथवा जो आत्मा को मानता है, उसी को प्राप्त होता है, अथवा जो जगत् को मानता है, उसी को प्राप्त होता है। चाहे आप जगत् को मानें, चाहे आप आत्मा को मानें और चाहे आप ईश्वर को मानें। यह तो आदमी की अपनी मर्जी की बात है। जगत् के मानने से, आत्मा या परमात्मा के मानने से वास्तविकता में कोई अन्तर पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है।

वास्तविकता क्या है? जब आप राग-रहित होंगे, तब आपको योग की प्राप्ति होगी। कोई-कोई साधक कहते हैं कि जब हम शान्त होना चाहते हैं या जब हम शान्त बैठते हैं, तब हमारे चित्त में ऐसे-ऐसे स्फुरण होते हैं कि जो हमें अच्छे नहीं लगते। बात ठीक है, ऐसे स्फुरण हो सकते हैं। क्यों होते हैं? ऐसे जो स्फुरण होते हैं, जो आपको अच्छे नहीं लगतें, इसका कारण है कि आप पहले से ही सोच लेते हैं कि हम यह चाहते हैं कि अब चित्त में कोई स्फुरण न हो। जब कोई भी चाह पैदा हो जाती है, तब स्फुरण-रहित दशा हो ही नहीं सकती। यह एक बड़ी पहेली है। जो आदमी यह सोचता है कि मैं निर्विकल्प समाधि का सुख लेना चाहता हूँ, उसकी जब तक

यह चाह बनी रहेगी, तब तक उसे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात है कि चाहने पर निर्विकल्प समाधि नहीं होगी। भाई देखो, न चाहने से वह अपने आप प्राप्त होती है। कब प्राप्त होती है? जब आप अपनी वर्तमान की निर्दोषता में अविचल श्रद्धा रखते हैं। अविचल श्रद्धा कैसी? भाई, जब आप यह सोच लेते हैं कि भूतकाल हमारा-आपका चाहे जैसा रहा हो, परन्तु वर्तमान हम सबका परम निर्दोष है। क्यों निर्दोष है? हमने आज यह माल लिया है कि हम अपने सुख का, अपने दुःख का कारण किसी दूसरे को नहीं मानेंगे। जब हम अपने सुख-दुःख का कारण किसी दूसरे को नहीं मानेंगे, तब वस्तु और व्यक्ति से जो हमारा सम्बन्ध है, वह टूट जाएगा और उनके प्रति जो आस्था है, वह मिट जाएगी।

आप कहेंगे कि बाबा जी ! आपने तो ऐसी बात बता दी कि जिस प्राण-प्यारी के बिना हम रह नहीं सकते, आप कहते हैं कि उससे सम्बन्ध तोड़ दो। जिस प्राण-प्यारे पति के बिना हम रह नहीं सकते, उनसे सम्बन्ध तोड़ दो। अजी, हम नहीं कहते हैं। तुम ही रोज तोड़ते हो और बार-बार जोड़ते हो। कैसे? हम आपसे पूछते हैं कि जिसे आप प्राण-प्यारी कहते हो, गहरी नींद में उसे क्यों भूल जाते हो? भैया, बताओ तो सही कि गहरी नींद में तुम्हारी प्राण-प्यारी कहाँ रहती है? गहरी नींद में तुम्हारा मित्र कहाँ रहता है? गहरी नींद में तुम्हारा पद कहाँ रहता है? ईमानदारी और बेईमानी से जोड़ा हुआ धन गहरी नींद में कहाँ रहता है? बताओ।

यदि हम तुमसे पूछें कि भैया, गहरी नींद में तुमको क्या दुःख था? तो आप कहेंगे कि कोई दुःख नहीं था। पर एक ही दुःख था कि उसमें जड़ता थी। हम कहते हैं कि भैया, एक ऐसी नींद भी है कि जिसमें गहरी नींद के समान दुःख भी नहीं है, किन्तु जड़ता भी नहीं है। ऐसी नींद तो आपको पसन्द आएगी ही। वह नींद किसको मिलती है? वह नींद उसको मिलती है, जो अपने दुःख-सुख का कारण किसी दूसरे को नहीं मानता। लेकिन वह इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि मेरे द्वारा किसी को दुःख न पहुँचे। इस बात का वह बड़ा ध्यान रखता है। आप कहेंगे कि जब कोई दूसरा किसी के सुख-दुःख का कारण है नहीं, तो मैं भला किसी के सुख-दुःख का कारण कैसे हो सकता हूँ? भाई, यह बात तो ठीक है कि तुम किसी के सुख-दुःख

का कारण नहीं हो सकते, लेकिन तुम होने की कोशिश करते हो। दूसरे को दुःख देने की कोशिश करते हो। आप दूसरे को बुरा समझने लगते हैं, इससे बढकर आप किसी को क्या दुःख देंगे? आप कहें कि आज से हम किसी को दुःख देने का प्रयास नहीं करेंगे। तो आपको यह मानना पड़ेगा कि कोई भी बुरा नहीं है। जब आप यह मान लेंगे कि कोई बुरा है ही नहीं, तो हम आपको चेलेन्ज देते हैं कि आप अपने मन में बुरा संकल्प उठा तो लीजिए। नहीं उठा सकते।

इसलिए मैंने आपसे निवेदन किया कि अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने पर भी, अपने सुख का कारण किसी और को न मानने पर भी यह बात भी माननी पड़ेगी कि हम किसी को बुरा समझकर दुःख देने का प्रयास नहीं करेंगे। आप भी इस पर विचार कीजिए। मानव-सेवा-संघ की नीति में अपना विचार किसी पर लादने का नियम नहीं है। आप ही सोचिए कि जिस समय आपको कोई बुरा समझता है, उस समय आपको कितना दुःखा होता है? दूसरी बात क्या होती है कि उसी समय आपके मन में ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि जो आपको बुरा समझता है, उसके दोष देखने में आपकी प्रवृत्ति स्वतः हो जाती है। सोचते हैं कि हमको यह बुरा कहता है, यह भी तो बुरा है। यह बात उसी समय पैदा हो जाती है।

अगर आपको कोई बुरा नहीं समझता, तो आपके मन मैं कितना धीरज होता है और यह विचार पैदा होता है कि देखो, कितने भले आदमी हैं ! हम जैसे साधारण व्यक्ति को भला आदमी मानते हैं। उसका प्रभाव क्या होता है? जब हमें कोई भला समझता है, तो हम अपने दोष देखकर व्यथित होते हैं कि हाय ! हाय !! हमको इतना आदर प्यार ! हम अपने बचपन की घटना सुनाएँ। हम बचपन में एक स्थान पर सन्त-महात्माओं के दर्शन करने गए। तो वहाँ के लोगों ने हमारे साथ इतना अच्छा व्यवहार किया कि क्या बताएँ ! आदर भी मिला, प्यार भी मिला और वस्तु भी मिली। तो हमारे मन में यह संकल्प उठा कि महात्माओं के दर्शन-मात्र से इतना सुख मिलता है, तो महात्मा होने में कितना सुख मिलता होगा ! मैं सच कहता हूँ कि किसी ने हमें उपदेश नहीं दिया। लेकिन उन सन्त-प्रमियों के व्यवहार का असर हमारे जीवन पर इतना पड़ा कि भाई, महात्माओं कि दर्शन के लिए हम आए थे, उसमें इतना सुख मिला कि सुन्दर

भोजन भी मिला, आदर भी मिला, प्यार भी मिला और सम्मान भी मिला, सब कुछ मिला। तो न जानें महात्मा होने में क्या मिलता होगा !

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि जब आप किसी को बुरा समझने लगते हैं, तब दूसरों में क्या प्रतिक्रिया होती है और जब आप किसी को भला समझते हैं, तब क्या प्रतिक्रिया होती है? जब हमें कोई भला समझता है, तब हमारे जीवन में क्या प्रतिक्रिया होती है और जब हमें कोई बुरा समझता है, तब हमारे जीवन में क्या प्रतिक्रिया होती है। इस सम्बन्ध में विचार करने पर मुझे ऐसा मालूम होता है कि भाई, सबसे बड़ी सेवा अपनी और दूसरों की इसी में है कि हम किसी को बुरा न समझें। दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी वही हो सकता है, जो किसी को बुरा नहीं समझता। दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी वह भी हो सकता है, जो किसी से सुख की आशा नहीं करता और अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता।

जो अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानेगा, वह निःसन्देह इसी जीवन में महापुरुष हो जाएगा। जो अपने सुख का कारण किसी और को नहीं मानेगा, वह इसी जीवन में महापुरुष हो जाएगा। जो दूसरों को बुरा नहीं समझेगा, वह महापुरुष हो जाएगा। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। मैं आपसे पूछता हूँ कि इन बातों के मानने में आपको क्या आपत्ति है, क्या कठिनाई है? मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इन बातों के मानने में न कोई कठिनाई है और न कोई हानि है। हम सब महापुरुष हो सकते हैं। क्योंकि महानता से प्राणी मात्र की स्वरूप की एकता है, जातीय एकता है। स्वरूप की एकता का क्या मतलब ? मानव मात्र की महानता से दूरी नहीं है, भेद नहीं है। जातीय एकता से क्या मतलब ? महानता से नित्य सम्बन्ध है।

अब यह दार्शनिक चर्चा है कि भाई, किसी ने जातीय एकता मानी, किसी ने स्वरूप की एकता मानी। पर इस चक्कर में आपको पड़ने की जरूरत नहीं है। लेकिन जरूरत इस बात की है कि आप दूसरे के साथ सबसे बड़ी भलाई यही कर सकते हैं कि आप किसी को बुरा न समझें। जिस समय आप किसी को बुरा नहीं समझेंगे, तो सुखियों को देखकर ईष्या नहीं होगी, क्रोध नहीं आएगा और दुखियों को देखकर अभिमान नहीं आएगा। जब दुखियों को देखकर

अभिमान नहीं आएगा, तब उनके प्रति करुणा जगेगी। जब सुखियों को देखकर क्षोभ नहीं होगा, क्रोध नहीं होगा, तो उनके प्रति प्रसन्नता जगेगी।

आज हमारी दशा क्या है? आज हमारी दशा यह है कि जब कोई अपने से अधिक सुखी दिखाई देता है और उससे ममता नहीं है, तो सुखी पर क्रोध आता है और बुद्धिमान बनकर यह सोचते हैं कि इसने दूसरों पर अत्याचार करके सुख का सम्पादन किया है। हम आपसे पूछें कि कृपा सिन्धु ! आप क्या चाहते हैं? बोले, कि हम भी सुख का सम्पादन करना चाहते हें। तो जिस सुख के सम्पादन को आप यह मानते हैं कि अनेक दुखियों के दुःख से सुख का सम्पादन हुआ है, तो क्या आपके जीवन से अनेक दुखियों को दुःख नहीं मिलेगा? अवश्य मिलेगा भाई । अन्तर केवल इतना है कि अब तक वे अत्याचार करते रहे, अब हम करेंगे। भाई, ऐसे सुधार को मैं तो नहीं मानता।

एक सज्जन मेरे पास इलाहाबाद में आए। वे कम्युनिस्ट विचार के थे। वे कहने लगे कि मैं ईश्वर और धर्म-कर्म में तो विश्वास नहीं करता हूँ। लेकिन आप मुझे मानव मालूम होते हैं। मैं आप पर विश्वास करता हूँ। उन्होंने मुझे पिता जी सम्बोधन करके कहा कि कोई सुन्दर बात बताओ। मैंने कहा कि मैं एक बात बताना चाहता हूँ कि तुम किसी सुखी को देखकर क्षोभित मत होना। इतनी बात मान लो। मैं नहीं कहता कि तुम ईश्वर को मान लो या किसी धर्म को मानो। लेकिन किसी सुखी को देखकर क्षोभित मत होना। क्योंकि जब तुम सुखी को देखकर क्षोभित नहीं होगे, तब तुम्हारे जीवन में प्रतिहिंसा नहीं आएगी। जब प्रतिहिंसा नहीं आएगी, तो तुम्हारा चित्त शान्त होगा। जब चित्त शान्त होगा, तो विचार का उदय होगा और अविचार की निवृत्ति होगी।जब अविचार की निवृत्ति होगी, तब वास्तविकता का अनुभव होगा।

देखो भाई, साधन का अर्थ यह नहीं है कि आज ईश्वरवादी इस बात की कोशिश करे कि दूसरे लोग ईश्वर को मान लें। साधन का अर्थ यह नहीं है कि आज अध्यात्मवादी यह कोशिश करे कि दूसरे लोग अध्यात्मवाद को मान लें। साधन का अर्थ यह भी नहीं है कि आज भौतिकवादी यह कोशिश करे कि लोग आत्मा और परमात्मा को न मानें। यह साधन का अर्थ नहीं है। साधन का अर्थ क्या है? आप जो मानते हैं आपको जो

अच्छा लगता है, उसको आप मानें और उस मान्यता के आधार पर अपने को इतना सुन्दर बना लें कि आपको अपने सुख-दुःख का कारण दूसरा न मालूम हो।

आप कहेंगे कि अगर कोई सुख-दुःख का कारण मालूम पड़े, तो उसमें हानि ही क्या है? भाई देखो, जब तक आपको अपने सुख-दुःख का कारण दूसरा मालूम पड़ेगा, तब तक आप राग-द्वेष-रहित नहीं हो सकते। जब तक आप राग-द्वेष-रहित नहीं हो सकते, तब तक न तो भौतिकवाद की दृष्टि से चिर शान्ति मिल सकती है और आपका जीवन विधान हो सकता है। देखिए, भौतिक-दर्शन ने हमें क्या दिया? हमें बड़ी सुन्दर चीज भौतिक-दर्शन के विश्वास ने दी कि हर भाई-हर बहन चिरशान्ति पा सकते हैं और उनका जीवन समाज के लिए विधान बन सकता है। आप कहेंगे, कैसे? भौतिक-दर्शन का तात्पर्य यह है कि समस्त सृष्टि एक है। यह भौतिक-दर्शन है। जहाँ समस्त सृष्टि एक है, वहाँ क्या कोई गैर होगा? आपको मानना पड़ेगा, नहीं। क्या वहाँ कोई और होगा? मानना पड़ेगा, नहीं।

जब जीवन में गैरियत नहीं रहती, तब क्या होता है? प्रीति का उदय। जब कोई और नहीं रहता, तब क्या होता है? निर्भयता का उदय। कोई और हो, तो वह हमको भय देता है। आज आप तो भौतिक-दर्शन से भी बहुत दूर हैं। अगर भौतिक-दर्शन से दूर न होते, तो अमेरिका को रूस से भय क्यों लगता और रूस को अमेरिका से भय क्यों लगता, पाकिस्तान को हिन्दुस्तान से भय क्यों लगता और हिन्दुस्तान को पाकिस्तान से भय क्यों लगता? आप सोचिए कि जब सारी सृष्टि एक है, तो कोई और है नहीं। भाई, जब कोई और है नहीं, तो भय कैसा? जब कोई गैर नहीं, तो प्रीति क्यों नहीं? आज अमेरिका और रूस के बीच में मित्रता क्यों नहीं है, और पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच में मित्रता क्यों नहीं है? क्यों नहीं आज एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के साथ, एक वर्ग दूसरे वर्ग के साथ मित्रता और प्रेम करते?

इसलिए प्रेम नहीं करते, क्योंकि वे भौतिक-दर्शन में भी आस्था नहीं करते। भौतिक-दर्शन की साधना का अर्थ क्या है? आज से हम समस्त विश्व को एक मानेंगे और समस्त विश्व को एक मान कर हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे। यह है भौतिक-दर्शन की

साधना। आप विचार कीजिए। हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे, हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे-यह है भौतिक-दर्शन की साधना।

आप कहेंगे कि जो हमारे साथ बुराई करते हैं, क्या हम उनका भी बुरा न चाहें? तो मैं आपसे ही पूछता हूँ, कि आपके ही दाँत से आपकी जीभ कट जाती है, तब आप क्यों नहीं जीभ को हुक्म देते कि वह पत्थर लाकर दाँत को तोड़ दे? आप कहेंगे कि ऐसा कैसे कर सकते हैं? यह दोनों तो अपने हैं। इसी प्रकार औरों को अपना क्यों नहीं मानते? बोले, हमारे और इनके रंग में भेद है, कर्म में भेद है, बोलचाल में भेद है। हम कहें कि किसी के बाल हों, काले और दाँत हों सफेद, दोनों में रंग-भेद है। तो सिर को काटकर अलग कर दो, हटा दो। कोई कहे कि हमारे और इनके कर्म में भेद है, तो हम कहें कि हाथ, पैर का और आँख का कर्म क्या एक है? निकाल फेंको इन सबको।

सोचो भाई। जहाँ आत्मीयता होती है, जहाँ एकता का भाव होता है, वहाँ कर्म का भेद, रंग का भेद, भाषा और मान्यता का भेद मालूम नहीं होता। तो भौतिक-दर्शन ने हमें यह नहीं बताया कि कोई बुरा है। अपितु यह बताया है कि हम सब एक हैं। भौतिक-दर्शन ने एकता का पाठ पढ़ाया है, भिन्नता का नहीं। जब हम और आप एक हैं, तो क्या हम आपके प्यार के अधिकारी नहीं हैं क्या आप हमारे प्यार के अधिकारी नहीं हैं? क्या हम आपको बुरा समझेंगे? अगर हम आपको बुरा समझेंगे, तो आप भी हमको बुरा समझेंगे।

भौतिक-दर्शन की साधना क्या है? निर्भयता और प्रीति। जहाँ निर्भयता होती है, वहाँ प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग होने लगता है। जहाँ प्रीति होती है, वहाँ भेद मिटने लगता है। तो प्रीति और निर्भयता का सम्पादन करना भौतिक-दर्शन की बात है। हाँ, यह दूसरी बात है कि निर्भयता का अर्थ हम यह लगा लें कि भाई, हम किसी को भय नहीं देंगे। जो किसी को भय नहीं देता, वही निर्भय रह सकता है। जो किसी को भी भय देता है, वह भयभीत रहता है। आज की लड़ाइयाँ छिप कर होती हैं, अपने को बचा कर होती हैं। क्यों? क्योंकि लड़ने वाले भयभीत हैं। भयभीत होने से वे बल का सदुपयोग नहीं कर सकते।

हमसे एक मिलिटरी वाले की बात हुई। हमने कहा कि भाई, एक बात बताओ। जितना खर्च लड़ाई के सामान में होता है, क्या उतना खर्च होना जरूरी है? बोले, नहीं स्वामी जी ! अब हमारी मिलिटरी में यह कानून बन गया है कि योग्य सैनिक वह माना जाता है, जो कम सामान खर्च करे और लड़ सके। आप जानते ही हैं कि अन्त में मनुष्य सत्य की ओर ही चलता है। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, भौतिक दर्शन के आधार पर भी आप किसी को बुरा नहीं समझ सकते, आप किसी को गैर नहीं समझ सकते, आप किसी का बुरा नहीं चाह सकते, आप किसी के साथ बुराई नहीं कर सकते।

जब हमें किसी के साथ बुराई करनी ही नहीं है, जब हम किसी का बुरा चाहेंगे ही नहीं, तो वर्ग-विभाजन कैसा, देश-विभाजन कैसा, पार्टी-फीलिंग कैसी? नहीं होगी। जब यह सब नहीं होगा, तब प्रत्येक व्यक्ति का जीवन इतना सुन्दर हो जाएगा कि उस जीवन का लोग अनुसरण करेंगे। इसी का नाम है, सुधार और सुधारक। सुधारक उसे नहीं कहते, जो समाज में विद्रोह पैदा कर दे। सुधारक उसे कहते हैं, जो समाज में एकता को जन्म दे। एकता का जन्म बिना प्रीति के नहीं होता और प्रीति बिना अपना माने नहीं होती। तो समस्त विश्व को जो अपना मान लेता है, वह है भौतिकवादी। उस भौतिकवादी के जीवन में प्रीति कि गंगा लहराती है और वह सुख-दुःख की दासता से मुक्त होता है।

आप कहेंगे कि सारे विश्व को अपना मानने पर एक क्षण भी सुखी-दुखी हुए बिना नहीं रह सकते। तो भाई, आप सुख-दुःख का भोग करते हैं अपनी एक नई दुनियाँ बना कर। यदि आप अपनी एक नई दुनियाँ न बनाएँ, तो न आप सुख का भोग कर सकते हैं और न दुःख का भोग कर सकते हैं। क्योंकि संसार में इतना सुख है कि आप उसके भार से दब जाएँगे और इतना दुःख है कि आपका पता ही नहीं चलेगा। इसलिए भाई, जब हम सारे विश्व को अपना मान लेते हैं, तब सुख-दुःख का भोग नहीं कर सकते। आज हम भौतिक-दर्शन से भी बहुत नीचे गिर गए हैं। जब भौतिक-दर्शन से ही बहुत नीचे गिर गए हैं, तब अध्यात्म-दर्शन और आस्तिक-दर्शन का आरम्भ ही कैसे होगा?

मेरा निवेदन यह था कि समस्त विश्व के साथ एकता स्वीकार करना मानवमात्र का पहला साधन है।

जब हम समस्त विश्व को अपना मान लेते हैं या अपने से अभिन्न मान लेते हैं, तब क्या होता है कि सुख और दुःख के भोग की सामर्थ्य ही नहीं रहती। न हम सारे विश्व का सुख-भोग सकते हैं और न सारे विश्व का दुःख भोग सकते हैं। जहाँ सुख-दुःख के भोग की सामर्थ्य नहीं रहती, वहाँ सुख का सदुपयोग होने लगता है और दुःख का भी सदुपयोग होने लगता है। सुख का सदुपयोग किसमें होता है? उदारता में। और दुःख का सदुपयोग किसमें होता है? विरक्ति में।

वह जो उदारता और विरक्ति है, वह हमें भौतिक-दर्शन से अध्यात्म-दर्शन में प्रवेश कराती है। उदारता और विरक्ति कैसे प्रवेश करा देती है? उदारता जो है उसमें सुख-भोग की रुचि का नाश हो जाता है और विरक्ति जो है उससे दुःख के भय का नाश हो जाता है। जहाँ सुख-भोग की रुचि का नाश हुआ और जहाँ दुःख के भय का नाश हुआ, वहाँ अपने आप सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति होती है। सुख-दुःख के सदुपयोग का नाम ही भौतिकवाद है और सुख-दुःख से अतीत के जीवन का नाम ही अध्यात्मवाद है। जहाँ सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति होती है, वहीं परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। तो जो परम प्रेम की अभिव्यक्ति है, वह है आस्तिक-दर्शन।

कहने का तात्पर्य यह था कि यह मानव-जीवन इतना सुन्दर जीवन है कि भौतिक-दर्शन की दृष्टि से भी, अध्यात्म-दर्शन की दृष्टि से भी और आस्तिक-दर्शन की दृष्टि से भी आप इतने सुन्दर हो सकते हैं कि आपकी आवश्यकता सभी को हो और आपकी अपनी कोई आवश्यकता न हो। जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं रहती, वही मुक्त है और जिसकी सभी को आवश्यकता रहती है, वही भक्त है। तो आप भक्त भी हो सकते हैं और मुक्त भी हो सकते हैं और इस जीवन में अभी हो सकते हैं। यही जीवन का सत्य है।

इसलिए आप इसी क्षण से तीन बातें स्वीकार कर लीजिए-(1) हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे। (2) हमारे दुःख का कारण कोई और नहीं है। (3) हमारे सुख का कारण कोई और नहीं है। जब आप किसी को बुरा नहीं समझेंगे, तब सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति होगी। जब आप अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानेंगे, तो प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। जब आप अपने सुख का कारण किसी

और को नहीं मानेंगे, तो स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होगी। सर्वात्मभाव,प्रेम और स्वाधीनता-यह है अपना मानव-जीवन। जहाँ स्वाधीनता है, वहीं मुक्ति है। जहाँ सर्वात्मभाव है, वहीं एकता है और जहाँ प्रेम है, वहीं अगाध अनन्त रस है। इसी जीवन में हम सबको मानवता प्राप्त हो सकती है। इसी में जीवन की पूर्णता है।

37(ब) अकेला होना पसंद करें।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्रेमी होने के लिए भी स्वाधीन होना जरूरी है, उदार होने के लिए भी स्वीधान होना जरूरी है और दुःख-निवृत्ति के लिए भी स्वाधीन होना जरूरी है। तो स्वाधीन होना एक ऐसी कौमन बात है कि जो सबके लिए जरूरी है। अब प्रश्न यह होगा कि हम कैसे स्वाधीन हो सकते हैं? पराधीनता लेकर तो पैदा ही हुए हैं और उसी को लेकर जी भी रहे हैं, यह बात ठीक है। पर स्वाधीन हो सकते हैं। स्वाधीन होने का सबसे अच्छा उपाय क्या है? तो मुझे ऐसा लगता है कि जो मौजूद में आस्था रखता हो, और मिले हुए का सदुपयोग करता हो और देखे हुए की कामना न रखता हो, वह स्वाधीन हो जाता है।

स्वाधीनता किसी परिस्थिति में नहीं है कि यदि हमको अमुक परिस्थिति मिल जाएगी, तो हम स्वाधीन हो जाएँगे। यदि किसी वस्तु के द्वारा स्वाधीनता मिलेगा, तो उस वस्तु की अधीनता हो जाएगी। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा स्वाधीनता मिलेगी, तो उस व्यक्ति की अधीनता हो जाएगी। खोज करने पर मालूम होगा कि ऐसी कोई वस्तु या परिस्थिति नहीं है, जिससे स्वाधीनता मिल जाए। आप लोगों में से कोई यह मानते हों कि अमुक परिस्थिति या वस्तु विशेष से स्वाधीनता मिल सकती है, तो बताएँ। मुझे अपनी राय बदलने में कोई ऐतराज नहीं होगी, तुरन्त बदल दूँगा।

मेरा अपना अनुभव यह है कि स्वाधीनता न तो किसी और के द्वारा और न किसी वस्तु या परिस्थिति द्वारा मिलती है। यह स्वाधीनता तो अपने ही द्वारा प्राप्त करनी होती है। स्वाधीनता में न कोई सहायक है और न कोई बाधक है। यह जो हम लोग कहते हैं कि दूसरे लोगों ने हमारी स्वाधीनता छीन ली या दूसरे लोग हमको स्वाधीनता दे सकते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। स्वाधीनता एक ऐसी चीज है जो कि अपने ही द्वारा प्राप्त की

जा सकती है, किसी और के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती।

स्वाधीनता के लिए सबसे पहली बात क्या है कि हम थोड़ी देर के लिए - 2, 8 या 10 मिनट, इससे ज्यादा नहीं-बिना कोई काम करे अकेले रहने का स्वभाव बनाएँ। यह कोशिश करें कि दस मिनट तक हम कोई काम नहीं करेंगे, अकेले रहेंगे, बिना सामान और बिना साथी के रहेंगे, शरीर को लेकर नहीं। हमें जो अपने बहुत से साथी मालूम होते हैं, बहुत सा सामान भी मालूम होता है, उनके बिना रहेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम साथियों को नाराज कर दें या सामान को बरबाद कर दें, ऐसा मेरा मतलब नहीं है। लेकिन थोड़ी देर के लिए ऐसा अनुभव करें कि मान लो, हमारे पास हमारा शरीर भी नहीं रहेगा, तब हम होंगे कि नहीं? ऐसा प्रश्न अपने सामने रखें।

सन् 1956 की बात है। बम्बई में हार्ट के दौरे हो चुके थे। डाक्टरों के मत के अनुसार मैं लेटा तो नहीं ज्यादा। मैं बम्बई से पटना आ रहा था। रास्ते में वृन्दावन के लिए जर्नी ब्रेक की। तो मैंने ट्रेन में स्वप्न देखा कि मैं बोलना चाहता हूँ, पर बोल नहीं पाता। हाथ उठाकर इशारा करना चाहता हूँ, वह भी नहीं कर पाता। पैर से दूसरे आदमी को जगाना चाहूँ, पर वह भी नहीं कर पाता। यानी मैं जो चाहता हूँ, उसे कर नहीं पाता। ऐसा स्वप्न देखा। स्वप्न में जब प्राणी दुखी हो जाता है, तो नींद खुल जाती है। तो मेरी आँख खुल गई। मैंने सोचा कि अरे, वह तो स्वप्न था।

फिर मैं सोचने लगा कि वह तो स्वप्न था। परन्तु क्या एक दिन ऐसा नहीं आएगा कि जब हम बोलना चाहेंगे और नहीं बोल पाएँगे, सुनना चाहेंगे और नहीं सुन पाएँगे, देखना चाहेंगे और देख नहीं पाएँगे? एक दिन ऐसा आएगा तो भाई। मैंने सोचा कि मुझे स्वप्न में इस दशा में तकलीफ क्यों हुई? मुझे कोई तकलीफ तो थी नहीं, कहीं दर्द या पीड़ा भी नहीं थी। बस, यही था कि जो मैं करना चाहता हूँ, वह नहीं कर पाता। मैंने सोचा कि एक दिन तो ऐसा आएगा ही।

यदि हमें और आपको यह मालूम हो जाए, यह अनुभव हो जाए कि कुछ न करने में भी जीवन है, कुछ न करने पर भी हम हैं और हमारा जीवन है, तो अभी-अभी स्वाधीन हो जाएँ। स्वाधीन हमें कौन नहीं होने देता? हम जो यह सोचते हैं कि हमारे पास अमुक वस्तु नहीं रहेगी, तो मानों

हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा, या अमुक साथी नहीं रहेगा, तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा। ऐसा जो हम सोचते हैं, इसी से हम पराधीन हैं? लेकिन कौन साथी है, जो हमेशा साथी रहेगा, कौन सा सामान है, जो आपके पास सदैव रहेगा? क्या आप हमेशा करते रह सकेंगे? हमेशा के लिए कोई साथी नहीं मिलेगा, हमेशा के लिए कोई वस्तु नहीं मिलेगी और हमेशा करते भी नहीं रहेंगे। श्रम-रहित होना ही पड़ेगा, साथी-रहित होना ही पड़ेगा और सामान-रहित होना ही पड़ेगा।

आप साथियों के रहते हुए, सामान के रहते हुए, करने की शक्ति रहते हुए थोड़ी-थोड़ी देर के लिए विश्राम करना पसन्द करें। आलस्य या अकर्मण्यता के साथ नहीं। विश्राम कब मिलता है? जब जरूरी काम पूरा कर डालते हैं और बिना जरूरी काम छोड़े देते हैं, जब विश्राम मिलता है। अगर हम थोड़ी-थोड़ी देर के लिए विश्राम करने का स्वभाव बना लें, अकेले होने का स्वभाव बना लें, तो हमें अपने में ही-कहीं बाहर नहीं-प्रीतम की प्राप्ति हो जाएगी। यह बात अभी अनुभव करने की है और अपने द्वारा अनुभव करने की है।

आप सोचिए कि जब हम नहीं बोलते हैं, तो बोलने की शक्ति कहाँ चली जाती है? जब हम नहीं देखते हैं, तो देखने की शक्ति कहाँ चली जाती है? जब हम नहीं सुनते हैं, तो सुनने की शक्ति कहाँ चली जाती है? जैसे हम देखने की दशा में अपने को अनुभव करते हैं, क्या वैसे ही हम न देखने की दशा में अनुभव नहीं करते? जैसे हम सुनने की दशा में अनुभव करते हैं, वैसे ही क्या न सुनने की दशा में अनुभव नहीं करते? हम दोनों अवस्थाओं से परिचित हैं, क्रियाशीलता से भी और न करने की स्थिति से भी। करने और न करने, दोनों ही दशाओं में हम जरूर होते हैं।

करने में क्या है और न करने में क्या है, देखने में क्या है और न देखने में क्या है, सुनने में क्या है और न सुनने में क्या है-इसका आप अनुभव कर चुके हैं। क्या अनुभव कर चुके हैं? देखते-देखते देखने की शक्ति का ह्रास होता है और आप कुछ काल के लिए स्वयं न देखने की स्थिति में होते हैं। बोलते-बोलते बोलने की शक्ति का ह्रास होता है और कुछ देर के लिए आप स्वयं न बोलने की स्थिति में होते हैं। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में आप स्वयं कुछ काल के लिए निवृत्ति में होते हैं।

इस बात में किसी भाई, किसी बहन को ऐतराज हो, विरोध हो, तो प्रश्न कर सकते हैं। नहीं बोलने पर मैं समझूँगा कि आपको विरोध नहीं है।

अब सोचने की बात इतनी रह गई कि यदि आज हमें और आपको अपने उस जीवन का अनुभव हो जाए कि जो न करने की स्थिति में है, तो हम पराधीन नहीं रहेंगे। तो न करने की स्थिति में जीवन है, इसका अनुभव करना हर उस भाई, उस बहन के लिए आवश्यक है, जिसे स्वाधीनता चाहिए। अगर आपका यह अनुभव है कि करने में ही जीवन है, तो स्वाधीनता का प्रश्न ही नहीं है। बिना 'पर' का आश्रय लिए हम परिश्रम करते हैं क्या? क्या राय है, बोलो भाई ? अगर आप यह मानते हैं कि नहीं कर सकते, तो स्वाधीन होने कि लिए परिश्रम से रहित होना ही पड़ेगा। परिश्रम से रहित होने के लिए आवश्यक कार्य पूरा करना पड़ेगा कि नहीं? अनावश्यक कार्य छोड़ना पड़ेगा कि नहीं? अब यह कितना जरूरी हो गया कि अनावश्यक कार्य का त्याग कर दें और आवश्यक कार्य को पूरा कर दें। तब हमें विश्राम मिलेगा। उस विश्राम में भक्त का भगवान् मौजूद है, जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान मौजूद है और योगी का योग मौजूद है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह की बात नहीं है। यदि भक्त का भगवान् विश्राम में नहीं है, यदि योगी का परम तत्त्व विश्राम में नहीं है, यदि जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान विश्राम में नहीं है, तो फिर भाई, वह सभी के लिए सम्भव नहीं है।

जब कार्य करने की क्षमता दो व्यक्तियों की भी समान नहीं है, तो कार्य करने में जो भगवान् मिलेगा, वह किसी एक ही आदमी को मिलेगा, दो को भी नहीं मिलेगा। लेकिन भगवान् तो हर भक्त को मिलना चाहिए, योग हर योगी को मिलना चाहिए। जो चीज सभी को मिल सकती है, वह विश्राम में है, श्रम में नहीं। अब जो कुछ भी करना है वह विश्राम की तैयारी के लिए करना है। लेकिन हमसे गलती क्या होती है कि संसार से विरक्त होकर, विमुख होकर जब आत्मा और परमात्मा की ओर चलना चाहते हैं, तब भी उसी श्रम का सहारा लेते हैं। यह बड़ी भारी भूल होती है।

देखिये, संसार की ओर चलने के लिए आपको श्रम अपेक्षित है। लेकिन आत्मा और परमात्मा की ओर अग्रसर होने कि लिए न श्रम अपेक्षित है, न पराश्रय अपेक्षित है। दोनों ही की अपेक्षा नहीं है। अगर आपको यह

मालूम हो जाए कि पराश्रय और परिक्षम के बिना जीवन है, तो उस जीवन में हम सबका अधिकार हो सकता है। क्यों? हम सब श्रम-काल में एक नहीं हैं, विश्राम-काल में एक हैं। हमने किसी का आश्रय लिया और आपने किसी और का आश्रय लिया, क्या हम और आप एक हो जाएँगे? पर हम भी सब आश्रय छोड़ दें और आप भी छोड़ दें, तो क्या हम और आप अलग रह जाएँगे? क्या राय है? हम भी कुछ न करें और आप भी कुछ न करें, तो हम और आप बराबर होंगे कि आगे-पीछे होंगे? हम भी कुछ करें और आप भी कुछ करें, तो क्या हम और आप बराबर हो पाएँगे? हम भी 'पर' का आश्रय लें और आप भी 'पर' का आश्रय लें, तो क्या हम और आप समान हो पाएँगे?

देखो भाई, इस बात का यह अर्थ मत लगा लेना कि मैं आलस्य और अकर्मण्यता का समर्थन कर रहा हूँ। ऐसा मैं नहीं कर रहूँ। मैं तो आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरे जीवन में जो बड़ी भारी बेचैनी है, वह इस बात को लेकर रही है कि वह जीवन जो सभी के लिए उपयोगी हो, वह सबको मिलना चाहिए कि नहीं? सबसे अच्छा जीवन सबको मिलना चाहिए, कि किसी एक को मिलना चाहिए? सबको मिलना चाहिए। तो सबको जो जीवन मिल सकता है, वह स्वाधीनता और विश्राम में है, वह पराधीनता और परिश्रम में नहीं है। यह एक दार्शनिक बात मैंने आपसे निवेदन की। अब आप देखें कि जब हम स्वाधीन हो जाते हैं, तब उदार होने में कठिनाई होती है क्या, समता पाने में कठिनाई होती है क्या, प्रियता जगाने में कठिनाई होती है क्या? अब आप देखिये कि स्वाधीन होते ही उदारता, समता और प्रियता हर भाई, हर बहन को मिल सकती है।

उदारता का अर्थ क्या है, समता का अर्थ क्या है और प्रियता का अर्थ क्या है? इस पर थोड़ा विचार कीजिए। उदारता का अर्थ है कि जिसका जीवन करूणा और प्रसन्नता से भर जाए, करूणा से भी और प्रसन्नता से भी जीवन भरा रहे। आप कहेंगे, कैसे? किसी के पिता से पूछा जाए कि जब तुम्हारा लड़का बहुत योग्य सिद्ध हो जाता है, तो तुम्हें प्रसन्नता होती है कि नहीं? जिसे हम अपना मानते हैं उसे सुखी देखते हैं, तो प्रसन्नता होती है कि नहीं? प्रसन्नता होती है। ऐसे ही जिसे हम अपना मानते हैं उसे जब दुखी देखते हैं, तो करूणा आती है कि नहीं? तो यह

करूणा और प्रसन्नता स्वाभाविक गुण है कि किसी परिश्रम से प्राप्त की जाती है? स्वाभाविक है। लेकिन कब? जब सुखी को अपना मानें तब, जब दुखी को अपना मानें तब। हम आपसे पूछें कि संसार में जो आप देख रहे हैं, सुखी और दुखी से भिन्न भी कुछ देख रहे हैं क्या? क्या राय है?

देखो भाई, ज्ञान-ध्यान की बात मत करो, जीवन की अनुभूति को लेकर चलो। आप जब संसार की ओर देखते हैं, तो या तो किसी को सुखी अनुभव करते हैं या किसी को दुखी अनुभव करते हैं। चाहे किसी भी दृष्टि से देखें, या तो कोई दुखी है या कोई सुखी है। यही तो कहेंगे? अच्छा, जब सुखी पर दृष्टि जाती है, तो प्रसन्नता क्यों नहीं होती और दुखी पर नजर पड़ती है तो करूणा क्यों नहीं होती? तब आप कहेंगे कि साहब, क्या बताएँ ! उनको हम अपना नहीं मानते, इसलिए दुखी को देखकर करूणा नहीं होती और सुखी को देखकर प्रसन्नता नहीं होती। भाई, अपना क्यों नहीं मानते? तो आप कहेंगे कि उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। भाई, सम्बन्ध तो है। अच्छा बताओ, एक ही आकाश से तुम लोगों को अवकाश मिलता है कि अलग-अलग आकाश से? एक ही वायु से श्वाँस लेते हैं कि अलग-अलग वायु से? एक ही भूमि पर आश्रय पाते हैं कि अलग-अलग भूमि पर? एक पर। फिर आप कैसे कहते हैं कि हमारा सबसे सम्बन्ध नहीं है?

यह बात अलग है कि आप किसी भी नाते से मानें, लेकिन आप यह नहीं कह सकते कि किसी-न-किसी नाते से सभी अपने नहीं है। जब सभी अपने हैं, तो सुखी को देखकर प्रसन्नता क्यों नहीं उदित होती और दुखी को देखकर करूणा क्यों नहीं उदित होती है? या तो हम किसी को सुखी अनुभव करते हैं या किसी को दुखी अनुभव करते हैं। तो हमारे जीवन में करूणा और प्रसन्नता आनी चाहिए। कोई कहे कि हम क्यों किसी को देखें? यदि हम किसी को नहीं देखते, तो देखे हुए का प्रभाव हम पर नहीं होना चाहिए। क्या राय है?

अगर कोई कहे कि हम इस बात को नहीं मानते कि सभी अपने हैं। हम तो इस बात को मानते हैं कि कोई अपना नहीं है तो भाई, जब कोई अपना नहीं है, तो देखे हुए का प्रभाव हम पर क्यों होता है? तब समता आ जानी चाहिए कि नहीं? जीवन में या तो करूणा और प्रसन्नता आनी चाहिए या समता आनी चाहिए। कहें कि साहब,

न तो हम यह मानने को राजी हैं कि सभी अपने हैं और न हम यह मानने को राजी हैं कि कोई अपना नहीं है। तो भाई, क्या मानने को राजी हो? बोले, किसी को अपना मानेंगे, किसी को अपना नहीं मानेंगे। अच्छा इस मान्यता को लेकर आप राग-द्वेष से रहित हो सकते हैं क्या? क्या राय है? नहीं हो सकते।

जब राग-द्वेष से रहित नहीं हो सकते, तब क्या आपको शान्ति मिल सकती है, स्वाधीनता मिल सकती है, प्रेम मिल सकता है? मानना पड़ेगा कि नहीं मिल सकता। कोई कहे कि साहब, ठीक है, यह तो आपने दुनियाँ की बात कही। पर न हम यह मानने को राजी हैं कि सभी अपने हैं और न हम यह मानने को राजी हैं कि कोई अपना नहीं है। हम तो इस बात को मानने को राजी हैं कि परमात्मा अपना है। यह भी तो एक दर्शन है। अगर आप परमात्मा को अपना मानते हैं, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि अपना अपने को प्यारा लगता है कि नहीं, अपने की अपने में स्मृति होती है कि नहीं? होती है। तब तो जीवन में स्मृति होनी चाहिए।

आप देखेंगे कि नीरसता का अत्यन्त अभाव या तो करूणा से होता है, या प्रसन्नता से होता है, या समता से होता है, या प्रियता से होता है। आप किसी अन्य प्रकार से जीवन में से नीरसता को मिटा सकते हैं क्या? अगर कोई मिटा सकते हों, तो बताएँ। करूणा में रस नहीं है क्या? प्रसन्नता में रस नहीं है क्या? समता में रस नहीं है क्या? प्रियता में रस नहीं है क्या? मेरा नम्र निवेदन केवल इतना था कि आपकी अपनी मर्जी है कि आप किस दृष्टिकोण को मानते हैं। आप किसी भी दृष्टिकोण को मानें, पर जीवन में से नीरसता मिटनी चाहिए कि नहीं? और जीवन में रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिए कि नहीं? अगर आप यह मानते हैं कि जीवन में से नीरसता मिटनी चाहिए और जीवन में रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, तो या तो उदारता को अपनाना पड़ेगा या समता को प्राप्त करना पड़ेगा, या प्रियता को जगाना पड़ेगा। बिना उदारता, समता और प्रियता के जीवन में रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

आप देखेंगे कि जितने संसार में महापुरुष हुए, वे सब करूणा से हुए। आप देख लीजिए। राजकुमार सिद्धार्थ को देख लीजिए, जैन आचार्यों को देख लीजिए, ईसा को देख लीजिए, मुहम्मद को देख लीजिए। चाहे वे

सिद्धान्त रूप से ईश्वरवादी हों, चाहे अनीश्वरवादी हों, चाहे भौतिकवादी हों, चाहे अध्यात्मवादी हों। लेकिन करूणा सबके जीवन में थी कि नहीं? उदारता सबके जीवन में थी कि नहीं? समता सबके जीवन में थी कि नहीं? प्रियता सबके जीवन में थी कि नहीं? आप दुनियाँ के किसी भी बड़े आदमी की बात बनाएँ कि जिसमें उदारता, समता, प्रियता न हो और दुनियाँ का बड़ा आदमी कहलाया हो। क्या राय है आपकी? क्या कोई मिलेगा? देखिए, मैं जो आपके सामने यह बात रख रहा हूँ, वह इसलिए नहीं रख रहा हूँ कि आप मेरे कहने से मान लें। अगर आपको न जँचे, तो न मानें।

अब प्रश्न यह रह गया कि दुनियाँ के बड़े आदमियों में आप अपना नाम नहीं लिखाना चाहते क्या? अगर लिखाना चाहते हैं, तो उदार होने में, समता पाने में, प्रियता जगाने में आप बिल्कुल पराधीन नहीं हैं। इस दृष्टि से मैंने आपसे यह निवेदन किया कि आप मानव होने के नाते इतने सुन्दर हैं, इतने अच्छे हैं कि आपका जीवन उदारता से, समता से, प्रियता से परिपूर्ण हो सकता है और अभी हो सकता है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। यह कोई कालान्तर की बात नहीं है। यह कोई कर्म का फल नहीं है कि आज कर्म करेंगे और कल फल बनेगा।

यह उदारता, समता और प्रियता किसका फल है? यह सत्संग का फल है। अगर आप सत् का संग करेंगे, तो अभी उदार हो सकते हैं, अभी समता पा सकते और अभी प्रियता पा सकते हैं। आप कहेंगे, कैसे? विचार कीजिए कि किसी-न-किसी नाते हम सभी को अपना मान लें, तो उदारता जीवन में आ जायेगी कि नहीं? यदि अध्यात्म दृष्टि से हम सभी से असंग हो जाएँ, तो जीवन में समता आ जाएगी कि नहीं? यदि हम आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु को अपना मान लें, तो प्रियता जीवन में आ जायेगी कि नहीं? अब आप देखिये कि एक भौतिकवादी दृष्टिकोण हो गया, एक अध्यात्मवादी दृष्टिकोण हो गया और एक आस्तिकवादी दृष्टिकोण हो गया। इन तीनों में से कोई-न-कोई दृष्टिकोण तो आपको अपनाना ही पड़ेगा।

अगर आप कहें कि नहीं साहब, हम न तो भौतिकवादी दृष्टिकोण को मानेंगे, न हम अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को मानेंगे और न हम ईश्वरवादी दृष्टिकोण को मानेंगे। तो कुछ न मानने पर क्या दशा होगी?

यह भी बड़ी सुन्दर बात है। अगर आप कुछ नहीं मानेंगे, तो बिना माने किसी का प्रभाव आप पर होता है क्या? क्या राय है? जैसे, कोई कहे कि हम जगत् को भी नहीं मानेंगे, हम अपने को भी नहीं मानेंगे, हम परमात्मा को भी नहीं मानेंगे। बहुत खुशी की बात है। जब आप जगत् को भी नहीं मानेंगे, तो जगत् का प्रभाव आप पर रह जायेगा क्या? क्या राय है? तो सबके प्रभाव से रहित होने पर अपने आप निर्विकल्प स्थिति नहीं आ जाएगी क्या? अचिन्तता नहीं आ जाएगी क्या? स्वाधीनता नहीं आ जाएगी क्या? तो सत्य क्या निकला? अगर किसी को न मानें, तो काम बन जाए; जगत् को मानें, तो काम बन जाए; अपने को मानें, तो काम बन जाए और परमात्मा को मानें, तो काम बन जाए।

अब आप बताइये कि आप किस दृष्टि से कहते हैं कि वह जीवन नहीं मिल सकता, जो संसार के बड़े-बड़े लोगों को मिला है? केवल एक ही बात हो सकती है कि आप कोई बात मानने, न मानने को राजी न हों। तब क्या उपाय है? तब तो मनुष्य संज्ञा ही नहीं बनती। मनुष्य संज्ञा तो तभी आरम्भ होती है कि जब आप कुछ मान सकते हैं और कुछ नहीं मान सकते। या तो न मानने वाली बात मानें या मानने वाली बात मानें। आप कहें कि हम मानेंगे भी नहीं, हम नहीं मानेंगे भी नहीं। तब तो भाई, कोई बात ही नहीं हुई।

मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि जो अपने को असमर्थ अनुभव करता है, उसको भी वह जीवन मिल सकता है। जो अपने को सामर्थ्यवान अनुभव करता है, उसे भी वह जीवन मिल सकता है। बोले, असमर्थ को कैसे मिलता है? असमर्थ में कुछ न करने की स्थिति आएगी, क्योंकि सामर्थ्य के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। आप हो गए असमर्थ, तो आपकी न करने की स्थिति आ जाएगी। यदि आप सामर्थ्यवान् है, तो सामर्थ्य के सदुपयोग के बाद सामर्थ्य से तादात्म्य टूटने पर भी न करने की स्थिति आ जाएगी। कैसा मंगलमय विधान है ! कैसा अनुपम विधान है कि असमर्थ को भी जीवन मिल जाए और समर्थ को भी जीवन मिल जाए। लेकिन जो सामर्थ्य का दुरुपयोग करे और ऊपर से कहे कि असमर्थ और भीतर से करे सामर्थ्य का दुरुपयोग, तो उसको कहते हैं, असत् का संग। मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि जो सत्

है, उसको आप स्वीकार करें। आपका सर्वतोमुखी विकास हो जाएगा।

हम क्या बताएँ आपको ! हम अपने जीवन को सामने रख कर नहीं सोचते। सचमुच हमने नहीं सोचा कि परमात्मा क्या है? नहीं तो परमात्मा के मिलने में देर होती? न परमात्मा के मिलने में देर, न मुक्ति पाने में देर, न शान्ति पाने में देर। जितनी देर लगती है, वह सुख-सुविधा के भोगने में लगती है दोस्त ! लगती है कि नहीं? यानी हम किसमें पराधीन हैं? जैसा कि हमारे पंडित जी ने कह कर गाया था, कि हम जो चाहते हैं, सो होता नहीं, जो होता है, जो भाता नहीं और जो भाता है, सो रहता नहीं-इसमें हम ही पराधीन हैं क्या? कौन पराधीन नहीं है? हम कहते हैं कि ब्रह्म के बाप ने जो चाहा, सो नहीं हुआ। ब्रह्म की लुगाई ने चाहा, सो नहीं हुआ। सीताजी चाहती थीं कि हिरण का चर्म मिल जाए। मिल गया क्या? महाराज दशरथ चाहते थे कि राम वन को न जाएँ। उनकी बात पूरी हो गई क्या?

अजी, आज के महामानव गाँधी जी चाहते थे कि हिन्दुस्तान का विभाजन न हो। क्या उनकी बात पूरी हो गई? नहीं हुई। सिद्धान्त क्या निकला? जो चाहते हैं, सो होता नहीं; जो होता है, सो भाता नहीं और जो भाता है सो रहता नहीं। हमने कहा कि भले आदमी, चाह छोड़ क्यों नहीं देते? अचाह होने में जीवन है। अचाह होने के लिए आँख बन्द करोगे, कि कान बन्द करोगे, कि श्वाँस रोकोगे, कि आसन लगाओगे, कि मुद्रा साधोगे। यह तो तुम्हारी मौज की बात है। मान लो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। इसमें कोई रुपया खर्च होगा क्या? लेकिन जब तुम अचाह हो जाओगे, तब प्रभु के लिए प्रेमी, जगत् के लिए उदार और अपने लिए दुःख निवृत्ति। यह तीनों चीजें आपको मिल जाएँगी। कितनी महिमा है अचाह होने की?

सचमुच जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह सारे जगत् के लिए उदार हो सकता है। सचमुच जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह प्रभु के लिए प्रेमी हो सकता है। उसके सर्व दुखों की निवृत्ति हो सकती है। उसे शान्ति मिल सकती है, उसे स्वाधीनता मिल सकती है। कौन रोकने वाला है? लेकिन एक बात तो बताओ भैया ! जो कुछ भी चाहता है, वह किसी को प्यार कर पायेगा क्या? जो कुछ भी चाहेगा, उसकी दुःख-निवृत्ति हो पायेगा क्या? उसको शान्ति मिलेगी क्या? कभी नहीं। तो भैया, आज मानो, कल मानो, अभी

मानो, कभी मानो, आपको अचाह होना ही पड़ेगा।

आप देखिये कि अचाह होने से कर्त्तव्य में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि कर्त्तव्य का सम्बन्ध होता है प्राप्त परिस्थिति से। आप जिस परिस्थिति में हैं, उसी के अनुसार जो करना चाहिए और जिसे कर सकते हैं, उसे कर दो। इसका नाम है, कर्त्तव्य-विज्ञान। इसका नाम है, धर्म-विज्ञान। जिस परिस्थिति में आप हैं, उस परिस्थिति के अनुसार जो करना चाहिए, उसे कर दो। अर्थात् आपके कर्म में आपके ज्ञान का विरोध न हो, आपके कर्म में आपकी सामर्थ्य का विरोध न हो। तो सामर्थ्य और ज्ञान के अनुसार जो कर सकते हो, उसके करने में कहाँ पराधीनता मालूम होती है? बताओ। क्या राय है? सामर्थ्य-विरोधी बात करना पसन्द करें, तब पराधीनता का अनुभव होता है।

अगर हम ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार जो कार्य कर सकते हैं और जो करना चाहिए, उसको कर दें, तो बताओ कि कर्त्तव्य-पालन में कहाँ पराधीनता है? है क्या? अच्छा, कर्त्तव्य का अन्त होने पर कर्त्ता स्वयं अपने उस अधिष्ठान में विलीन हो जाता है, जो सदैव है, जो अविनाशी है, जो चिन्मय है, जो नित्य है, जो रसरूप है और जिसकी महिमा का काई पारावार नहीं है।

इसलिए महानुभाव ! आप किसी भी सिद्धान्त के मानने वाले क्यों न हों, अचाह होना तो जरूरी है। कर्त्तव्य-पालन भी जरूरी है। अचाह होकर कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकते क्या? जरूर कर सकते हैं। अचाह होकर कर्त्तव्य का पालन भी कर सकते हैं, मुक्त भी हो सकते हैं और प्रेमी भी हो सकते हैं। भैया, कुछ कामनाएँ अचाह होने पर भी पूरी हो जाती हैं और सभी कामनाएँ आज तक मानव-जाति के इतिहास में कभी किसी की पूरी हुई है क्या? आप लोग जो यहाँ बैठे हैं, क्या ईमानदारी से कह सकते हैं कि हमारी सभी कामनाएँ पूरी हो गईं? और क्या यह भी कह सकते हैं कि हमारी कोई भी कामना पूरी नहीं हुई?

कामना का पूरा होना कामना करने से सम्बन्ध नहीं रखता। यह किसी विधान से सम्बन्ध रखता है। अतः कुछ कामनाएँ अवश्य पूरी हो जाएँगी और कुछ कामनाएँ पूरी नहीं होंगी। तो कामना-अपूर्ति से भी कामना-निवृत्ति की प्रेरणा मिलती है और कामना-पूर्ति से भी कामना-

निवृत्ति की प्रेरणा मिलती है। अतः जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसके जीवन में दुःख, अशान्ति और पराधीनता नहीं रहती। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह सबको अपना कह सकता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह प्रेम कर सकता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसका देहाभिमान गलता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे योग मिल सकता है। तो योग की प्राप्ति में, बोध की प्राप्ति में, प्रेम की प्राप्ति में कुछ न चाहना ही मूल मंत्र है।

38(अ) बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है।

मानव-सेवा-संघ का निर्माण क्यों हुआ? इस सम्बन्ध में यदि गम्भीरता से विचार किया जाए, तो मानव-सेवा संघ कोई नया मजहब नहीं है, न कोई इज्म है। तो क्या है? यह मानव-जीवन के महत्त्व को बताने वाला एक संघ है, एक विचार है। आप विचार करके देखें, धन के महत्त्व ने बेईमानी पैदा कर दी। उसके लिए वह भी करते हैं जो करना चाहिए और वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिए। तन के महत्त्व ने अनेक प्रकार के भय में आबद्ध कर दिया। पद के महत्त्व ने मिथ्या अभिमान को जन्म दिया। आत्मा और परमात्मा के महत्त्व ने हमें वाचक- ज्ञानी बना दिया। उसका विरोध नहीं है, बुरा मत मानियेगा। आत्मा-परमात्मा की चर्चा करने लगे और वाचक-ज्ञानी हो गए। यह भी हो गया कि परमात्मा के नाम पर जो चाहो सो करो।

लेकिन आप जरा गम्भीरता से सोचिए। आप मानव होने के नाते अपने जीवन का क्या मूल्यांकन करते हैं? इस पर विचार कीजिए। आज जो परिचय दिया जाता है, वह धन के अधीन दिया जाता है, पद के अधीन दिया जाता है, योग्यता के अधीन दिया जाता है। लेकिन मानव होने के नाते आपका क्या महत्त्व है? इस बात को हम भूल गए हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य पराश्रय और परिश्रम में आबद्ध हो गया है। पराश्रय और परिश्रम में आबद्ध मानव कभी-भी न तो शान्ति पाता है, और न मुक्ति पाता है और न भक्ति पाता है। ऐसा मेरा विश्वास है और अनुभव है। अगर इसके विपरीत किसी का अनुभव हो, तो मुझे बताएँ।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि केवल मानव होने के नाते-सामर्थ्य भी अल्प हो, धन भी कम हो, योग्यता भी कम

हो, परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल हों, सारी बातें विपरीत हों–अगर हमें मानव-जीवन का यह महत्त्व मालूम हो जाये कि मानव अपने ज्ञान से ही मुक्ति पाता है, अपने विश्वास से ही भक्ति पाता है। बल अल्प हो या विशेष हो, बल का दुरुपयोग न करने से मानव शान्ति पाता है। अब आप सोचिये कि अपने ही ज्ञान से जब हम मुक्त हो सकते हैं, तो मुक्ति से वंचित क्यों? अपनी ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास से भक्ति पा सकते हैं, तो भक्ति से वंचित क्यों? मिले हुए बल के दुरुपयोग न करने से शान्ति पा सकते हैं, तो जीवन में अशान्ति क्यों? इसलिए कि आज हमने-आपने मानव-जीवन के महत्त्व को भुला दिया।

देखिए, मानव-जीवन का महत्त्व न भुलाया होता, तो क्या आज हम अपने ज्ञान का अनादर करते? क्या आज हम बल का दुरुपयोग करते? क्या आज हम अपने विश्वास में विकल्प करते? क्या राय है? नहीं करते। इसलिए महानुभाव! मैं कोई नई बात बताने नहीं बैठा हूँ। यह मान कर नहीं बोलता हूँ कि मैं जानता हूँ और आप नहीं जानते। मैं समझाने के लिए नहीं बोलता हूँ। इस मानव-जाति की व्यथा से व्यथित होकर जो प्रभु प्रेरित निकलता है वह बोलता हूँ। कभी-कभी तो जैसे आप सुनते हैं, मैं भी सुनता हूँ। मैं आपसे केवल यह निवेदन कर रहा था कि अगर आपको इस वाणी पर विश्वास हो सके, तो आप यह मान लीजिए कि मानव-सेवा-संघ माने, भगवान् का काम। यह शरणानन्द का काम नहीं है। यह भगवान् का काम है। भगवान् का काम करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं।

भगवान् का नाम लेने से, ध्यान करने से, करने वाले को ही ज्यादा प्रसन्नता होती है। भगवान् को होती है कि नहीं, यह तो भगवान् जानें। क्यों भाई, जो सब प्रकार से पूर्ण है, उसको अपनी बड़ाई सुनने से प्रसन्नता होगी क्या? क्या राय है? लेकिन बड़े से बड़े आदमी को भी प्रसन्नता होती है, यदि उसका कोई काम करें। आप कहें कि प्रभु का काम कैसे? तो प्रभु विश्वासियों ने सबसे पहले यह स्वीकार किया कि मेरे पास जो कुछ है वह मेरा नहीं है, अपितु भगवान् का है। मेरा तन भगवान् का, मन भगवान् का, धन भगवान् का, प्राण भगवान् के। जिसे मैं अपना करके मानता हूँ या मानता रहा हूँ, वह वास्तव मे मेरा है नहीं।

आप सोचिये, जिसका अपना कुछ न हो, उसको कोई भयभीत कर सकता है क्या? कोई नहीं। आप भयभीत है कि नहीं? इससे क्या पता चला? मानव-जीवन का जो महत्त्व था, मानव होने से जो आपको मानना-जानना चाहिए था, जो करना चाहिए था, उसको आपने छोड़ दिया। मानव ही में यह सामर्थ्य है कि ज्ञानपूर्वक कह सके कि व्यक्तिगत मेरा कुछ नहीं है। यह और किसी में सामर्थ्य नहीं है। मानव ही श्रद्धा विश्वासपूर्वक यह स्वीकार कर सकता है कि मेरी भगवान् से जातीय एकता है, मेरा भगवान् से नित्य सम्बन्ध है, मेरा भगवान् से आत्मीय सम्बन्ध है। यह सामर्थ्य मानव को छोड़ कर और किसी में है ही नहीं।

लेकिन आज हमने इस मानव-जीवन के महत्त्व को तो भुला दिया। हमने अपने को तन का महत्त्व मानकर मोह में आबद्ध कर लिया, धन का महत्त्व मानकर लोभ में आबद्ध कर लिया, परिस्थितियों का महत्त्व मानकर दीनता और अभिमान में आबद्ध कर लिया, अवस्थाओं का महत्त्व मानकर परिच्छिन्नता में आबद्ध कर लिया। यह हमने अपनी ही भूल से किया। यह हमसे कब हुई? जब हम इस बात को भूल ही गये कि मानव होने से भी हमारा कोई महत्त्व है। स्वस्थ शरीर को देखकर आप अपना महत्त्व आँकते हैं, धन को इकट्ठा करके आप अपना महत्त्व आँकते हैं, पद को प्राप्त करके आप अपना महत्त्व आँकते हैं, योग्यता सम्पादन करके आप अपना महत्त्व आँकते हैं। लेकिन धन अधिक हो या कम हो, इससे मानव-जीवन के महत्त्व में कोई अन्तर थोड़े ही आता है। अरे भाई, आप सोचिये। आप बहुत बड़े सम्पतिशाली हो गये, लेकिन क्या आपको सही चौकीदार नहीं चाहिए? क्या आपको सही रसोइया नहीं चाहिए? क्या आपको सही कमरा साफ करने वाला नहीं चाहिए? क्या राय है? चाहिए।

इससे क्या सिद्ध हुआ? अधिक सामर्थ्य होने से आप स्वाधीन हो गये हों, सो बात नहीं। अभय हो गये हों, सो नहीं हो गये। समता में स्थित हो गये हो, सो नहीं हुए। हो गये क्या? क्यों नहीं हो गये? अधिक सम्पति होने से ही मानव, मानव हो सकता है और अल्प सम्पति से मानव, मानव नहीं हो सकता। अधिक योग्यता से मानव, मानव हो सकता है और अल्प योग्यता से मानव, मानव नहीं हो सकता। ऐसी

बात नहीं है। मानव-जीवन के महत्त्व को भूल जाने से आप कितनी ही बड़ी पदवी पर क्यों न हो, पर आप पराधीन ही हैं, पराश्रित ही हैं। यदि यह व्यथा आपको सताती हो, तो फिर आप अपने इस मानव-जीवन के महत्त्व पर विचार कीजिए।

आपका गौरव तो इस बात में है कि प्रभु ने मानव का निर्माण अपने में से किया है और अपने लिए किया है। सृष्टि का निर्माण भले ही मानव के लिए किया हो, पर मानव का निर्माण प्रभु ने अपने में से किया है और अपने लिए किया है। क्यों? मानव को छोड़ कर और कोई भी आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर बिना देखे भगवान् को अपना नहीं कह सकता और मानव को छोड़ कर और कोई भी अपने ज्ञान के द्वारा मिले हुए शरीर से और देखे हुए संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। यह मानव में ही सामर्थ्य है। जरा और गम्भीरता से सोचिये कि मानव ही बल का सदुपयोग कर सकता है और बल के अभिमान से रहित हो सकता है। मानव ही बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है और भलाई के फल और अभिमान से मुक्त हो सकता है। यह सारी विशेषताएँ केवल मानव में ही हैं।

मानव का अर्थ क्या है? जो कुछ कर भी सकता है, जो कुछ जानता भी है और जो कुछ मानता भी है। अर्थात् जिसमें करने की सामर्थ्य भी हो–अल्प हो या विशेष, कोई बात नहीं। जिसमें जानने की सामर्थ्य भी हो और जिसमें मानने की भी सामर्थ्य हो। यह तीनों प्रकार की सामर्थ्य जिसमें होती है, उसका नाम मानव है। अथवा यों कहो कि इन तीनों तत्त्वों से हम मानव हैं–हम कुछ कर सकते हैं, हम कुछ मानते हैं और हम कुछ जानते भी हैं। तो वह क्या है, जिसके द्वारा हम कर सकते हैं? उसका नाम बल है। देखो भाई, बिना बल के कोई कुछ कर सकता है क्या? क्या राय है? नहीं कर सकता। इसका मतलब हुआ कि मानव को बल मिला है।

बिना ज्ञान के क्या कोई जान सकता है? नहीं जान सकता। इसका मतलब हुआ कि मानव को ज्ञान मिला है। बिना आस्था, श्रद्धा, विश्वास के क्या कोई मान सकता है? नहीं। इससे मालूम हुआ कि विश्वास भी मिला है। तो बल, ज्ञान और विश्वास जिसमें हैं, उसका नाम हुआ मानव।

आप देखिए! मानव के पास जो बल है, वह संसार के काम आता है; जो मानव के पास ज्ञान है, वह

उसके अपने काम आता है। मानव में जो विश्वास है, वह भगवान् के काम आता है। अब इस जीवन का महत्त्व इस दृष्टि से देखिए कि इतना बड़ा संसार इस नन्हें से मानव की जरूरत अनुभव करता है। मानव को जो ज्ञान मिला है, उससे मानव निर्मम होकर निर्विकार, निष्काम होकर शान्ति और असंग होकर मुक्ति पाता है। और मानव में जो विश्वास है, उसके द्वारा मानव प्रभु से जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर प्रभु को प्रेम प्रदान कर सकता है।

अब आप सोचिये कि मानव का जीवन कितना सुन्दर हुआ। संसार भी उसकी आवश्यकता अनुभव करे, भगवान् भी उसकी आवश्यकता अनुभव करे और वह अपने ही ज्ञान से निर्विकार, शान्त और मुक्त हो जाए। यह मानव की महिमा है। आज हमसे भूल क्या हुई? हमसे भूल यह हुई कि हमने योग्यता और ज्ञान के भेद पर विचार ही नहीं किया। योग्यता और चीज है, ज्ञान और चीज है। ज्ञान तो एक अविनाशी तत्त्व है। उसी ज्ञान से आप बल के दुरुपयोग को अपने प्रति नापसन्द करते हैं, उसी ज्ञान से आप यह जानते हैं कि संयोग वियोग में बदल रहा है। यह ज्ञान से ही तो जानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ? मुझे बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। मुझे निर्मम, निष्काम और असंग हो जाना चाहिए। मुझे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध, जातीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेना चाहिए।

अगर यह कार्यक्रम आप पूरा कर डालते हैं, तो फिर आप देखिये कि आपके जीवन का कितना महत्त्व है। बल का सदुपयोग करने वाला सभी को चाहिए कि नहीं? ज्ञानपूर्वक जिसने निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता प्राप्त की है, वह सभी को पसन्द आता है कि नहीं? आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक जिसने प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करके अपने हृदय को प्रेम से भर लिया है, वह सभी को चाहिए कि नहीं?

अब आप सोचिये कि अगर आपको इस मानव-जीवन के महत्त्व पर भरोसा होता, तो आज आप तन को बनाये रखने के लिए मोह में आबद्ध न हो जाते। आज आप धन के संग्रह करने के लिए ईमानदारी न छोड़ बैठते। आज आप अपने ज्ञान का अनादर करके पराधीनता में आबद्ध न हो जाते। आज आप अपनी श्रद्धा में विकल्प करके वस्तु, व्यक्ति के विश्वास

में आकर अनेक दोषों में आबद्ध न हो जाते।

इसलिए महानुभाव! मैं कोई अपनी बात नहीं करना चाहता। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि आप मानव होने के नाते मानव-जीवन के महत्त्व को अपना कर मानव-जाति के सामने अपने जीवन का चित्र इस प्रकार का रखना पसन्द तो कर लेते कि चाहे कोई मेरे साथ कुछ भी करे, पर मैं बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा, मैं अपने ज्ञान का अनादर नहीं करूँगा, मैं अपनी श्रद्धा में विकल्प नहीं करूँगा। मानव-सेवा-संघ ने इन्हीं तीन बातों को सत्संग बताया है। व्याख्यान देने को सत्संग नहीं बताया, पोथी पढ़ने को सत्संग नहीं बताया, गीत गाने को सत्संग नहीं बताया। यह बताया है कि यह तो सत्वर्चा है, सत् चिन्तन है, सत्कार्य है। पर यह सत्संग नहीं है। सत्संग के बिना कोई भी न तो शान्ति पाता है, न मुक्ति पाता है, न उदार हो पाता है, न स्वाधीन हो पाता है और न प्रेमी हो पाता है।

इसलिए महानुभाव! इस मानव-जीवन का जो परम पुरुषार्थ है, वह एकमात्र सत्संग है। सत्संग का मतलब क्या? जो आपके जानते हुए सत्य है–मेरा बताया हुआ नहीं–उसको अपना लेना।

अब आप सोचिये कि कोई भी व्यक्ति सबल से क्या आशा रखता है, रक्षा की या विनाश की? रक्षा की। तो क्या हमारा बल किसी की रक्षा में लगता है? यह हम नहीं कहते कि किसकी रक्षा में। बल किसी की रक्षा में लगना चाहिए। हमारा ज्ञान क्या हमारे काम आता है? तो ज्ञान हमारे काम आना चाहिए। क्या हमारा विश्वास विकल्परहित होकर एकमात्र प्रभु को स्वीकार करता है? अब आप सोचिये और विचार कीजिये। मुँह से कहे राम-राम और विश्वास करे धन में। यह क्या है? ईमानदारी है क्या?

मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि जब मानव बल का दुरुपयोग न करके विश्व-शान्ति में, सुन्दर समाज के निर्माण में भाग ले सकता है, तब वह संसार के लिए उपयोगी हुआ कि अनुपयोगी? विचार कीजिए। तब वह संसार के लिए उपयोगी हो गया कि नहीं?

जब मानव अपने ही ज्ञान के द्वारा निर्मम होकर निर्विकार हो सकता है, निष्काम होकर शान्त हो सकता है और असंग होकर मुक्त हो सकता है; तो बताइये कि उसको पोथी

के ज्ञान की जरूरत पड़ेगी क्या? पोथी में इससे अधिक ज्ञान है क्या? जो ज्ञान मानव में है, वही ज्ञान वेदों में है। योग्यता को जाने दीजिये। विज्ञान में भेद है, सामर्थ्य में भेद है। तो मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि आप अपने ही ज्ञान से मुक्ति के अधिकारी होते, आप अपने ही विश्वास से भक्ति के अधिकारी होते और बल का दुरुपयोग न करके सुन्दर समाज के निर्माण में भाग लेते।

लेकिन भूल क्या हुई? एक चौकीदार आज मानवपन को भूल कर कहता है कि मैं तो बड़ा अभागा हूँ, मैं तो बड़ा दीन हूँ, क्योंकि साहब बहादुर सो रहे हैं और मैं पहरा दे रहा हूँ। अरे! वह यह नहीं सोचता कि मेरे ही कारण साहब अभय है, वरन् वह सो नहीं सकता। अरे! मैं खाना पकाता हूँ, साहब खाना खाते हैं, सेठ खाना खाते हैं। वह सोचता है कि मैं दीन हूँ। यह नहीं सोचता कि मैं सेठ और साहूकार के काम आता हूँ, मेरे बिना सेठ-साहूकार जिन्दा नहीं रह सकते। मतलब क्या? अपने कर्त्तव्य महत्त्व हम भूल गये और अधिकार हमको पसन्द आता है।

देखिये, कर्त्तव्य का मतलब क्या है? कर्त्तव्य का मतलब है, दूसरों के अधिकारों की रक्षा। पत्नी होकर पति के अधिकार, पति होकर पत्नी के अधिकार, पुत्र होकर पिता के अधिकार, पिता होकर पुत्र के अधिकार, भाई होकर भाई के अधिकार, व्यक्ति होकर समाज के अधिकार और जीव होकर ईश्वर के अधिकार की रक्षा करना। जो मानव दूसरों के अधिकार की रक्षा के लिए बनाया गया था, वह आज अधिकार-लालसा में आबद्ध होकर किस दुर्दशा में है महाराज?

एक सज्जन का पत्र अमेरिका से आया। उन्होंने बड़े अच्छे ढ़ग से लिखा कि बाहर कड़ी बहुत सर्दी है। मैं एयरकंडीशंड कमरे में मलमल का कुरता पहने बैठा हूँ। बाहरी उपचारों की कमी नहीं है। लेकिन यहाँ का इंसान मशीन के समान दिन-रात काम में लगा है, परेशान है। तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि यदि आपका हृदय व्यक्तिगत पीड़ा से पीड़ित है, यदि आपका हृदय मानव जाति की पीड़ा से पीड़ित होता है, तो आप सोचिये कि कौन-सा ऐसा उपाय हो सकता है, जिससे विश्व शान्ति का प्रश्न, जीवन मुक्ति का प्रश्न और भक्ति का प्रश्न हल हो जाए?

जैसे मकान के लिए सभी आवश्यक कमरों की जरूरत होती है, उसी प्रकार समाज के लिए सभी मानव-श्रेणियों की जरूरत होती है। कोई ईमानदार आदमी यह नहीं कह सकता कि शरीर को केवल मस्तिष्क ही चाहिए। पैर भी चाहिए, हाथ भी चाहिए, इन्द्रियाँ भी चाहिए, प्राण भी चाहिए। उसी प्रकार अगर आप विश्व-शान्ति के प्रश्न को सचमुच हल करना चाहते हैं, तो आपको क्या करना होगा? अधिकार-लालसा को छोड़ना होगा और कर्त्तव्यपरायणता को अपनाना होगा।

पर यह बल कब आएगा? अधिकार-लालसा को छोड़ने का बल कब आएगा? कर्त्तव्य पालन का बल कब आयेगा? तब आएगा, जब हम पहले अपने ही ज्ञान के द्वारा अपने को निर्विकार, शान्त और स्वाधीन बनालें। यह बल बाहर से नहीं आएगा, एटम बम से नहीं आएगा। हाइड्रोजन बम के बनाने से यह बल नहीं आएगा। अधिक मिलिटरी बढ़ाने से यह बल नहीं आएगा। आया हो, तो बताओ।

मैंने एक दुःखभरी घटना सुनी। मैंने सोचा था कि हिन्दुस्तान के ऑफीसर बेईमान हैं, पर सम्पन्न देशों के ईमानदार होंगे। महाराज, एक ने ऐसी भीतरी बात बताई। उसने कहा कि महाराज! अमेरिका में कुछ निश्चित समय के लिए नोट छापे गए। कोई जरूरत पड़ गई होगी। लेकिन अमेरिका के बैंक के डाइरेक्टर ने रिश्वत ली और व्यापारी वर्ग ने समय निकालने के बाद जो नोट खरीद रखे थे या इकट्ठा कर रखे थे, उन पर दस्तखत कर दिए कि यह नोट उसी समय के हैं। मैं एकदम चौंक गया। मैं तो अपने देश की ही इस भूल पर बहुत दुखी था। ऐसे सम्पन्न देश में भी ऐसा होता है।

महाराज! आप जो बाहरी आडम्बर बढ़ा-बढ़ा कर यह सोचते हैं कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में शान्ति होगी, पारिवारिक जीवन में शान्ति होगी, सामाजिक जीवन में शान्ति होगी, राजनैतिक जीवन में शान्ति होगी। नहीं हो सकती , नहीं हो सकती।

मानव-सेवा-संघ की प्रेरणा है, आवाज है कि हे मानव! तुम अपने महत्त्व का अनुभव करो। तुम बड़े सुन्दर हो। यह तुम्हारी उपार्जित सुन्दरता नहीं है। तुम्हारा निर्माण जिसने किया है, वह सब प्रकार से पूर्ण है। उसके तुम आत्मज हो। उसी से तुम्हारी अभिव्यक्ति हुई है। इसलिए

तुम निर्णय कर लो कि मुझे जो बल मिला है वह दूसरों के लिए है। उसके बदले में मुझे कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं चाहिए। क्यों? इसमें कोई बड़े भारी अहसान की बात नहीं है। बल के द्वारा कोई भी कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकता, अमर नहीं हो सकता। बोलो, हो सकता है क्या? मेरी माँग अमर होने की है कि नहीं? स्वाधीन होने की है कि नहीं? मेरी यह माँग मिले हुए बल से पूरी नहीं हो सकती। अगर यह बात आपको जँच जाए, तो फिर क्या आप घबराओगे कि चौकीदार बना दिया, मैनेजर क्यों नहीं बनाया? फिर तो नहीं घबराओगे कि मुझे बर्तन क्यों माँजने पड़ते हैं, हुकूमत करने को क्यों नहीं मिलती?

लेकिन जब तुम इस बात को भूलते हो और यह सोचते हो कि बल मेरे लिए है, तब मिथ्या अभिमान में आबद्ध होकर सही बात भी करते हो और गलत काम भी करते हो और काम के अधीन हो जाते हो। कामी हो जाते हो, कामी।

इसलिए महानुभाव! आप मानव हैं। आपके पास जो बल है, वह दूसरों के लिए है। मानव-सेवा-संघ यह नहीं कहता कि बल हमें दे दो। बल चाहे जिसे दे दें, दूसरों के काम में लगा दें। दूसरों के मतलब? जो अलग हो। जो कभी भी अलग हो सकता है, वह अभी भी अलग है। जो अपने से अलग है, वही है दूसरा। उसकी सेवा में बल लगा दो। उसमें आपका स्थूल शरीर भी है, परिवार भी है, समाज भी है, देश भी है, राष्ट्र भी है।

पर एक बात का ध्यान रखो कि चाहे जिसकी सेवा में बल लगा दें, इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। कल्पना करो कि कोई सेवा न बनें, तब भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। इससे आपकी हानि होगी तो होगी, समाज की हानि नहीं होगी। समाज की हानि होती है बल के दुरुपयोग से। व्यक्ति का विकास होता है बल के सदुपयोग से।

यह बड़े रहस्य की बात है, एक दार्शनिक बात है। गम्भीरता से यदि आप विचार करेंगे, तो पता लग जाएगा कि यह बात आपकी है। मैं जो कर रहा हूँ, यह मेरी बात नहीं है। मैं इस आधार को लेकर नहीं कह रहा हूँ कि यह हमारे गुरु की बात है, इसलिए आप मान लीजिए या हमारे मजहब की बात है, इसलिए आप मान लीजिए या हमारे वेदों की बात है, इसलिए आप मान लीजिए। मैं आपसे यह नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि

यह आपकी अपनी बात है। हाँ, वेदों ने इसका समर्थन किया है, गुरुजनों ने इसका समर्थन किया है। यह बात अलग है। यह वेद-विरोधी बात नहीं है, गुरुजन-विरोधी बात नहीं है। लेकिन है यह बात आपकी, आपकी, आपकी। कौनसी बात? बल अपने लिए नहीं है, यह मनुष्यमात्र की अपनी बात है।

ज्ञान अपने लिए है और विश्वास प्रभु के लिए है। प्रभु से भिन्न और कोई विश्वासपात्र नहीं है। आपके ज्ञान से ही आप मुक्त हो सकते हैं। बाहर का ज्ञान आपको मुक्त नहीं कर पायेगा। पोथी तो आपने बहुत पढ़ी हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु का पाठ बहुत किया। नैनं छिन्दन्ति का पाठ तो बहुत किया, पर मरने का भय नहीं गया और अपनी लुगाई को भी अपने बराबर समझ नहीं पाये। आत्मवत् सर्वभूतेषु की बात कहना अलग है। इसलिए बाहर का जो ज्ञान है, वह आपके ज्ञान का समर्थक है, कोई नया ज्ञान नहीं है।

हम आपको क्या बताएँ? जहाँ देखो वहाँ योग के नाम पर शारीरिक जिमनास्टिक होती है, लोग उसमें गौरव समझते हैं। आज ज्ञान के नाम पर पोथी पढ़ी जाती है, लोग उसमें गौरव समझते हैं। आज विश्वास के नाम पर आप क्या-क्या करते हो? इस बात को सोचिए। इस बात को अपने हृदय में रखिए कि विश्वास प्रभु के लिए है। प्रभु माने, जिसको देखा नहीं, सुना है। सुने हुए के लिए विश्वास और ज्ञान देखे हुए के लिए है और बल संसार के लिए है। बल संसार के लिए है, आपके लिए नहीं। ज्ञान आपके लिए है। ज्ञानपूर्वक आप जीवन-मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं, चिरशान्ति पा सकते हैं, निर्विकारता अभी प्राप्त कर सकते हैं।

विश्वास प्रभु के लिए है। इस विश्वास के आधार पर आप भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अगर यह बात आपको अपनी करके जँच जाए, पसन्द आजाए, तो अपना लीजिए। अल्प बल वाला अपना अभिनय करे ठीक-ठीक। विशेष बल वाला अपना अभिनय करे ठीक-ठीक। लेकिन एक बात तो बताओ भैया, अभिनय कैसा ही हो, अभिनयकर्त्ता के लिए कोई छोटा-बड़ा होता है क्या? अभिनय विधिवत् करना चाहिए, ठीक-ठीक करना चाहिए। यही अभिनय की महत्ता होती है।

अभिनय में यह महत्ता नहीं होती कि मैं तो ब्राह्मण का लड़का हूँ, मुझे आपने भंगी का अभिनय क्यों दे दिया? इस सम्बन्ध में एक बड़ा

ऐतिहासिक प्रमाण है। एक बार बंगाल में नील दर्पण नामक ड्रामा खेला गया। उस समय अँग्रेज जाति के लोग बिहार में नील की कोठियों के मालिक और जमीदार थे। वे काश्तकारों के साथ जो जुल्म करते थे, उस जुल्म को दिखाने के लिए नील दर्पण नामक ड्रामा कलकत्ता में खेला गया। उसमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी दर्शक थे। उसमें जो अभिनयकर्त्ता अँग्रेज बन कर जुल्म दिखा रहा था, उसको देखकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे शान्त महापुरुष के मन में क्षोभ हो गया। वे कुर्सी पर बैठे थे। उन्होंने जूता उतार कर फेंक कर उस अभिनयकर्त्ता पर मारा। उसने जूता सिर पर लिया और कहा कि "हुजूर, जूता इनाम! मेरा काम पूरा हुआ।" उसने कहा कि मुझे तो बताना था कि अँग्रेज क्या जुल्म कर रहे हैं?

इसी तरह से अगर हम और आप अपने दैनिक जीवन में जो भी अभिनय मिला है, जैसे मुझे भिक्षा माँगने का मिला है, आपको दाता का मिला है। जो भी अभिनय मिला है, अगर हम अभिनय को ठीक विधिवत् इस लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए करें कि भाई, हमारा अभिनय परिवार, समाज, संसार के लिए उपयोगी हो जाए। यानी जो भी आप कार्य करते हैं, उसका उपयोग तो इतना ही है कि वह परिवार के लिए, समाज के लिए, संसार के लिए उपयोगी हो जाए। किसी के लिए भी अनुपयोगी न हो। अगर इस प्रकार की भावना आजाए, तो आप भी मुक्त, चौकीदार भी मुक्त, साहूकार भी मुक्त, क्लर्क भी मुक्त, ऑफीसर भी मुक्त, अंधा भी मुक्त और आँखों वाला भी मुक्त, भिखारी भी मुक्त और दाता भी मुक्त। अगर हम संसार में मुक्त हो कर रहें, अगर हम शान्त होकर रहें, अगर हम अमर हो कर रहें, तो फिर हमारे लिए संसार से कुछ चाहिए, यह प्रश्न समाप्त हो जाता है।

फिर कहीं भक्त होकर रहो, तो क्या ही अच्छी बात है! आप मुक्त हो जाएँ, भक्त हो जाएँ, शान्त हो जाएँ। तब फिर हमारे जीवन में वह विकार जिसके मिटाने के लिए लोगों ने राष्ट्र की कल्पना की, लेकिन विकार मिटा नहीं। प्रणालियाँ बदलीं, पर बुराई मिटी नहीं। मजहब का निर्माण हुआ, पर बुराई मिटी नहीं। क्यों नहीं मिटीं? हमने अपने जीवन के महत्त्व को तो भुला ही दिया।

मैं कोई नई बात बताने नहीं बैठा हूँ। मैं केवल आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आप मानव होने

के नाते अपने महत्त्व को आँक लेते, उस पर थोड़ा विचार कर लेते और मानव होना पसन्द करते। तो मेरे जानते, बाहरी जितने भेद हैं, वे आपको अशान्त नहीं कर सकते और उन भेदों के बीच में आप एक गहरी एकता का अनुभव करते। उस विषमता के बीच में एक गहरी समता का अनुभव करो। इस हलचल के बीच में आप एक अद्‌भुत अलौकिक अद्वितीय जीवन का अनुभव करते। कब? जब आप मानव होने के नाते अपने जीवन का मूल्यांकन करते।

आज हमसे बड़ी भारी भूल यह हो जाती है कि आज हम मानव होने के नाते अपने जीवन का मूल्यांकन ही नहीं करते। परिस्थिति के ऊपर मूल्यांकन करते हैं। भैया! सभी परिस्थितियाँ अभाव रूप है। कोई अभावरहित परिस्थिति है नहीं, हुई नहीं, हो सकती नहीं, आगे कभी होगी नहीं। सभी परिस्थितियाँ अभावरूप हैं। अभाव के रहते हुए, कमी के रहते हुए आप शान्ति नहीं पा सकते, स्वाधीनता नहीं पा सकते, परम प्रेम को नहीं पा सकते। शान्ति के बिना योग नहीं मिलता, स्वाधीनता के बिना बोध नहीं होता और प्रेम बिना नित-नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती।

मानव की माँग है योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति। दशा क्या है? भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध। जहाँ भोग रहता है, वहाँ मोह और आसक्ति रहती ही है। ऐसे ही जहाँ योग होता है, वहाँ बोध और प्रेम रहता है। तो भोग में आबद्ध न हो कर, योग प्राप्त कर लेते। योग किसके साथ होता है? जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, उसके साथ योग होता है। योग किसके साथ नहीं होता? जो कभी है कभी नहीं है, जो कहीं है और कहीं नहीं है और जो किसी के पास है किसी के पास नहीं है, उसके साथ योग नहीं हो सकता।

जो सदैव है, वह अभी भी तो है। वह चला कहाँ गया है? जो सर्वत्र है, वह अपने में भी तो है। जो सभी का है, वह अपना भी तो है। आप विचार कीजिए। अपने में अपना जीवन-धन है, इसको कहते हैं विश्वास।

ज्ञान क्या है? मेरा करके किसी भी काल में कुछ नहीं है। गौर कीजिए। मेरा करके इस संसार में कुछ नहीं है। जब मेरा करके कुछ है ही नहीं, तो संसार से मुझे मिलेगा क्या? क्या राय है? कुछ नहीं मिलेगा। संसार में मेरा कुछ नहीं है, संसार से मुझे कुछ नहीं मिलेगा। यह तो ज्ञान से सिद्ध है।

जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, अद्वितीय है, समर्थ है; वह सदैव होने से अभी भी है, सर्वत्र होने से अपने में भी है, सभी का होने से अपना भी है। तो अपने में अपना प्रीतम है, यह हुआ आस्तिकवाद। मेरा करके कुछ नहीं है, यह हुआ अध्यात्मवाद। बल संसार के लिए है, यह हुआ भौतिकवाद। तीन ही दृष्टिकोण होते हैं।

कोई कहेगा कि संसार है, कोई कहेगा कि मैं हूँ, कोई कहेगा कि परमात्मा है। दर्शन का आरम्भ भी 'यह' से होता है और 'परमात्मा' में समाप्त होता है। तीनों ही दृष्टियों से आप इतने सुन्दर हैं कि भौतिकवाद की दृष्टि से संसार को आपकी माँग रहती है, अध्यात्मवाद की दृष्टि से आपका अपना करके कुछ नहीं है। और आस्तिकवाद की दृष्टि से प्रेम का दान मानव कर सकता है और प्रेम का पान भगवान् कर सकता है। न कोई और प्रेम का दान कर सकता है, न कोई प्रेम का पान कर सकता है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज इस बात की आवश्यकता है कि हर भाई, हर बहिन अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में सोने से पहले , जगने के बाद विचार करे कि मेरे पास जो कार्य करने की क्षमता है, उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य नहीं करूँगा, जो किसी के लिए भी अहितकर हो। यह है, धर्म-विज्ञान। उसके बाद सोचे कि क्या सचमुच मेरा करके कुछ यहाँ है? अनुभव बताएगा कि कुछ नहीं है। यह है, अध्यात्मवाद। इस अनुभव से मुक्त हो जाओ। सभी का सर्वत्र जो आनन्दघन प्रभु है, वह मेरा भी है, मैं उसका हूँ। इस नाते से प्रभु से जातीय सम्बन्ध स्वीकार करो। देखिए, ईश्वरवादी किसे कहते हैं? जो अपने को ईश्वर की जाति का माने, जो ईश्वर से नित्य सम्बन्ध माने और जो ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध माने, उसका नाम ईश्वरवादी है।

विश्वास के द्वारा हम सब प्रभु से जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध, आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करें और बल के द्वारा विश्व के काम आजाएँ। शरीर का विश्व से विभाजन नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य संसार का कार्य है । इस व्यापक भाव से संसार के काम आ जाएँ। और ज्ञान के द्वारा हम निर्विकार, शान्त और स्वाधीन हो जाएँ। तब आप देखिए कि इस जीवन से मानव-जाति का बहुत हित होगा और वह समय आ जाएगा कि हर आदमी कहेगा कि मैं मानव हूँ, मुझे वह जीवन प्राप्त है, जो कभी भी किसी भी

महामानव को प्राप्त हुआ है। यही मानव-जीवन का मूल उद्देश्य है।

38(ब) सुखियोंमें उदारता और दुःखियोंमें त्याग नहीं रहता ।

ज्ञानपूर्वक असंग होकर निर्ममता, निर्विकारता, शान्ति, मुक्ति पा सकते हैं और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत होकर भक्ति पा सकते हैं। जो चीज इस जीवन में मिल सकती है, उसको प्राप्त करने पर फिर आगे के जीवन का प्रश्न ही नहीं रहता। यदि इस मानव योनि का ठीक-ठीक लाभ नहीं उठाया, तो भोग योनि मिलेगी। भोग योनि की तो संख्या बहुत है, इसलिए इंसानी जिन्दगी में यह आजादी है हर भाई को, हर बहन को कि वह सत्संगी होकर मुक्ति, शान्ति, भक्ति, सेवा, त्याग और प्रेम का आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसमें वह पराधीन नहीं है, असमर्थ नहीं है। क्यों नहीं है? इसी जीवन के लिए तो यह मानव-जीवन मिला है। जिसने यह मानव-जीवन दिया है, उसका यह संकल्प है कि हर भाई, हर बहन सत्संगी होकर साधननिष्ठ हो जाए अर्थात् शान्ति, मुक्ति, भक्ति पा जाए। यह मानव के बनाने वाले का संकल्प है।

अब आप कहेंगे कि मानव का बनाने वाला कौन है? जो सृष्टि का मालिक है, जो सृष्टि का बनाने वाला है, वही मानव का बनाने वाला है। अब आप कहेंगे कि मानव किस कर्म से बनता है? कौन से कर्म का फल है, जिसने इस सृष्टि का मालिक हमें मानव-जीवन देता है? इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है कि मानव-जीवन किसी कर्म का फल नहीं है, क्योंकि मानव होने के बाद कर्म करने की स्वाधीनता मिलती है। सबसे पहले जो मानव का जन्म होता है, वह तो भगवत्-कृपा से ही होता है। वह किसी कर्म का फल नहीं है। हाँ, जब मानव मानवता को भूल जाता है, तब वह स्वयं भोग योनि में सुख-दुःख का भोग करता है। फिर प्रभु कृपा से मानव-जीवन मिलता है।

इस दृष्टि से इस इंसानी जिन्दगी की बहुत बड़ी महिमा है, क्योंकि इसके बनाने वाले ने अपनी कृपा से ही इसे बनाया है। मानव होने की पहचान क्या है? देखो, जिसे अपने साथ होने वाली बुराई का ज्ञान हो जाए,

समझ लो कि वह मानव है। अब आप सोचिये कि क्या आप लोगों को बुराई का ज्ञान नहीं है? अगर कोई आपके साथ बुराई करता है, आपको बुरा समझता है, आपका बुरा चाहता है, तो क्या यह बात आपको अच्छी मालूम होती है? अच्छी नहीं मालूम होती।

इससे यह सिद्ध होता है कि आपको इंसानी जिन्दगी मिल गई। क्यों? क्योंकि, आप बुराई को जानते हो। जो बुराई को जानता है, उसे इस बात की आजादी है, स्वाधीनता है कि वह बुराई न करे। इस जीवन का सबसे पहला काम क्या है? हम जिस बुराई को बुराई जानते हैं, उसको न करें। यानी जानी हुई बुराई को न करें। अगर कर चुके हैं, तो उसको दोहराएँ नहीं। बार-बार न करें, उसे छोड़ दें। तो बुराई के छोड़ने मात्र से ही हम सब भले हो जाते हैं।

यहाँ एक बात बड़े रहस्य की है। लोग यह सोचते हैं कि जब हम भलाई करेंगे, तब भले होंगे। पर बात ऐसी नहीं है। बात ऐसी मालूम होती है कि बुराई नहीं करेंगे, तब भले होंगे। इससे क्या सिद्ध हुआ? इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि हम भले होने में स्वाधीन हैं। बिना कुछ भलाई करे हुए, बुराई छोड़ करके हम भले हो सकते हैं। यह बड़ी सुन्दर बात है। बहुत ही ऊँचा और पवित्र विधान है कि बुराई छोड़ने से हम भले हो जाते हैं। जैसे, कोई झूठ नहीं बोलेगा, तो अपने आप सभी सत्यवादी हो जाएँगे। ऐसा विधान है।

हमारे-आपके ऊपर सबसे पहली जिम्मेदारी क्या है? हम भले हो जाएँ। आज लोग बिना भले हुए बल पूर्वक भलाई करते हैं। जैसे, झूठ भी बोलते रहते हैं और सच भी बोलते हैं। यानी बुराई के साथ-साथ भलाई करते हैं। बेईमानी भी करते हैं और दान भी देते हैं। किसी को हानि भी पहुँचाते हैं, और किसी को लाभ पहुँचाते हैं। यह जो दशा है, यह सही दशा नहीं है। हमें सेन्ट-पर-सेन्ट बुराई-रहित होना है। भलाई आप करें अथवा न करें। इससे कोई बहुत बड़ी हानि समाज की नहीं होती। लेकिन बुराई करने से संसार की हानि होती है और जिससे संसार की हानि होती है, उससे अपनी भी हानि होती है। हम लोग इस बात को भूल जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि हमने जिसको नुकसान पहुँचाया है उसी का नुकसान होगा, हमारा नहीं होगा। पर यह बात नहीं है। उसका नुकसान कम होगा और हमारा अधिक होगा। क्यों? हमारी सामर्थ्य

कम है, इसलिए हम दूसरों को कम नुकसान पहुँचा सकते हैं। लेकिन प्रकृति में सामर्थ्य अधिक है। वह नुकसान पहुँचाने वाले को ज्यादा नुकसान पहुँचाती है।

इसलिए अगर आपको अपनी हानि से बचना है, तो बुराई करना छोड़ना होगा। और कोई उपाय नहीं है, जो आपको अपनी हानि से बचा सके। आपकी बुराई न करने वाली जो बात है, उसी से आप अपनी हानि से अपने को बचा सकते हैं। अगर यह बात आपकी समझ में आ जाए, ठीक मालूम हो, तो जो हो गया सो हो गया। आगे आपकी कोई हानि न हो, इस बात में आप पराधीन नहीं हैं। इस बात में आप स्वाधीन हैं कि आप बुराई छोड़कर अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं, अच्छा बना सकते हैं।

यानी बुराई न करने से आपका जो भविष्य है, आगे आने वाला जो जीवन है, वह बहुत अच्छा हो सकता है। और कोई उपाय नहीं है कि जिससे हम अपने आगामी जीवन को अच्छा बना सकें। एक ही उपाय है कि वर्तमान जीवन में, अभी हाल में अपने जानते, कोई भी बुराई न करें। तो भविष्य में हमारी कोई हानि नहीं होगी। कहीं भलाई बन गई, तो लाभ होगा। भलाई के अभिमान और फल को छोड़ दिया, तो आप मुक्त होंगे और भक्त होंगे। अब यह तीन बातें आपके सामने हैं–आप जब बुराई नहीं करेंगे, इतने मात्र से आप भले हो जायेंगे। फिर आपके द्वारा अपने आप यथाशक्ति भलाई होगी। जितनी चाहें उतनी नहीं कर सकते, लेकिन कुछ न कुछ जरूर करेंगे। की हुई भलाई का अगर आप अभिमान छोड़ देंगे और उसका फल नहीं माँगेंगे, तो आप मुक्त हो जाएँगे। आप जानते हैं, दूसरा जन्म कब होता है? बुराई-भलाई का फल भोगने के लिए होता है।

इंसान होने के बाद अगर आप मुक्त नहीं हुए, अगर आप भक्त नहीं हुए, तो दूसरा जन्म जो होगा वह बुराई-भलाई का फल भोगने के लिए होगा। जब आपने बुराई करना छोड़ दिया और भलाई का अभिमान छोड़ दिया, तो फिर आपका जन्म ही नहीं होगा। तो क्या होगा? आप मुक्त आप मुक्त होंगे, तो क्या होगा? आप अविनाशी, अमर, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाएँगे। यह एक विधान की बात है, कानून की बात है। विधान का अनादर करना अपने द्वारा अपना विनाश करना है। हाँ, तो मैंने

आपके जीवन का विधान सामने रख दिया कि भाई, बुराई छोड़ कर भले हो जाओ, भलाई का अभिमान और फल छोड़कर मुक्त हो जाओ और मुक्त होकर भक्त हो जाओ।

भलाई होने से सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है और विश्व-शान्ति का प्रश्न हल हो जाता है। जैसा कि मैंने निवेदन किया कि जब तक हर भाई, हर बहन के जीवन में यह क्रान्ति नहीं आएगी कि हम इंसान हैं और इंसान होने के नाते हम जानी हुई बुराई नहीं कर सकते, हम की हुई बुराई नहीं दोहरा सकते, तब तक विश्व-शान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकता। जब यह क्रान्ति अपने जीवन में अपने द्वारा ले आएँगे, तब समाज में जितने संघर्ष हैं, सब मिट जाएँगे। संघर्ष का मूल किसी न किसी प्रकार की बुराई है। जब आप बुराई करेंगे नहीं, तो संघर्ष होगा नहीं। जब संघर्ष नहीं होगा, तो सबको लाभ ही लाभ होगा, हानि किसी की नहीं होगी।

देखिये, संघर्ष से कभी किसी का लाभ नहीं हुआ। अगर किसी ने किसी को हानि पहुँचा दी, तो जिसने हानि पहुँचाई है, उसकी भी हानि ही होती है। सन् 1914 में एक विश्व-व्यापी युद्ध हुआ। उन दिनों अँगेजों का इतना बड़ा राज्य था कि यह कहावत थी कि उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। वह संसार के इतिहास में पहले नम्बर की पावर थी। हालाँकि उस लड़ाई में अँगेज सरकार विजयी हुई, पर वह पहले नम्बर की पावर नहीं रह गई। हिटलर ने बहुत बड़ा युद्ध किया। अन्त में वह बरबाद ही हुआ। त्रेता में अत्याचारी रावण की हार हुई, राम विजयी हुए। द्वापर में महाभारत हुआ, अनीति करने वाले कौरवों की हार हुई और मिटे। इससे क्या सिद्ध हुआ? लड़ाई से कभी किसी का लाभ नहीं हुआ।

लड़ाई क्यों होती है? इस पर गौर किया जाए, तो साफ मालूम होता है कि जब समाज में सुखियों की संख्या कम हो जाती है और दुखियों की संख्या बढ़ जाती है, सुखियों में उदारता नहीं रहती और दुखियों में त्याग नहीं रहता, तब लड़ाई होती है। सैन्ट-पर-सैन्ट न कोई सुखी होता, और न कोई दुखी होता है। किसी-न-किसी अंश में हम सभी सुखी और दुखी होते हैं। यानी सर्वांश में कोई सुखी या दुखी नहीं होता, आंशिक सुख और आंशिक दुःख होता है। हाँ, ऐसा भी होता है कि किसी के जीवन में दुःख का हिस्सा अधिक हो, सुख का कम हो

और किसी के जीवन में सुख का हिस्सा अधिक हो, दुःख का कम हो। सर्वांश में कोई सुखी हो और सर्वांश में कोई दुखी हो, ऐसा देखने में नहीं आता।

जीवन में दो बातें रहेंगी कि जिस अंश में हम सुखी हैं, उस अंश में हम दूसरों की सेवा करेंगे और जिस अंश में हम दुखी हैं, उस अंश में त्याग को अपनाएँगे। ऐसा करने से सुखी और दुखी के बीच एकता हो जाती है। जब सुखी और दुखी के बीच एकता हो जाती है, तो फिर संघर्ष कैसे होगा? दूसरी बात यह है कि जैसे सुखी को उदार होना चाहिए, ऐसे ही दुःखी में त्याग भी आना चाहिए। क्योंकि अगर त्याग नहीं आएगा, तो आपको जितना मिलेगा, कम मालूम होगा और जब कम मालूम होगा, तो आपके मन का क्षोभ नहीं मिटेगा, क्रोध नहीं मिटेगा। जब मन का क्षोभ और क्रोध नहीं मिटेगा, तो पहले मन में द्वन्द्व होगा और फिर बाहरी लड़ाई होगी। यह जो लड़ाईयाँ होती है, एक दम बाहर से नहीं होती। पहले लड़ाई मन में होती है। एक दूसरे को बुरा समझते रहते हैं, गैर समझते रहते हैं, एक दूसरे को हानि पहुँचाने की सोचते रहते हैं। जब हमारे मन की यह दशा होती है, तब आगे चल कर एक दम बहुत बड़ी बाहरी लड़ाई शुरू हो जाती है।

बहुत दिनों की बात है, एक सज्जन आकर कहने लगे कि कल हमारे अमुक पड़ौसी के साथ हमारे लड़कों का झगड़ा हो गया। हमने तो पड़ौसी को कोई नुकसान पहुँचाया नहीं था। हमने कहा कि यह नहीं हो सकता कि तुम्हारा कोई कसूर न हो और लड़ाई हो जाए। तुम एक बात बताओ, तुम्हारे मन में उस पड़ौसी के प्रति कोई खिलाफ आवाज उठती थी क्या, कोई बुरा ख्याल आता था क्या? तो कहने लगे कि स्वामी जी ,जब वह अकड़ कर चलता था, जवानी के जोश में मालूम पड़ता था, तो ऐसा मन में आता था कि देखो, कितना ऐंठ कर निकलता है? इसे नीचा दिखाना चाहिए। मैंने कहा कि तुम्हारे उस ख्याल ने ही उसके मन में बुरा ख्याल मजबूत किया और लड़ाई हो गई। आज एक देश दूसरे देश को, एक वर्ग दूसरे वर्ग को, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी-न-किसी रूप में बुरा समझता रहता है, गैर मानता रहता है। उस मानी हुई गैरियत का यह नतीजा होता है कि आपस में झगड़ा हो जाता है। आपने यह विचित्र बात भी देखी होगी कि जब दोनों अच्छी तरह पिट

जाते हैं, तब समझौता करने की सोचते हैं। ऊपर से समझौता करते हैं और भीतर से यह सोचते रहते हैं कि जब कभी मौका मिलेगा, तब खूब नुकसान पहुँचाएँगे।

मानव-सेवा-संघ ने यह बात बताई कि अगर आप गम्भीरता से देखेंगे, तो सबसे बड़ा द्वन्द्व मन और बुद्धि के बीच में होता है। मानलो, मन कहता है कि आम खाएँगे और बुद्धि कहती है कि आम नुकसान करेगा, तो मन और बुद्धि के बीच झगड़ा हो गया। ऐसे ही घर में स्त्री कहती है कि आफिस से आकर वे कहाँ चले जाते हैं, घर में बहुत देर से आते हैं। उसके मन पति में की बुराई दिखाई देती है। पति सोचता है कि जब मैं घर आता हूँ , तो आते ही वह कोई न कोई फरमाइश करती रहती है। कभी हँस कर नहीं मिलती, बैठती और यह नहीं पूछती कि मैं थक कर आया हूँ। पर वह कोई न कोई अपनी जरूरत बताती रहती है। और कुछ नहीं, तो बच्चों का ही झगड़ा सुनाती रहती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि जीवन में, परिवार में, समाज में यह जो संघर्ष होता है, वह एकदम नहीं हो जाता। हमारे-आपके मन में ही वह लड़ाई पैदा होती है। अगर हमारा-आपका मन इस बात को मानले कि भाई, किसी न किसी नाते हम सब एक हैं। जैसे, सोचिये कि जब एक ही सूर्य हम सबको प्रकाश देता है, तो सूर्य के नाते हम सब एक हो गए। एक ही हवा सबको साँस लेने देती है, तो हवा के नाते एक हो गए। एक ही जल सबकी प्यास बुझाता है, तो जल के नाते एक हो गए। एक ही भूमि पर हम सब रहते हैं, तो भूमि के नाते एक हो गए। देश के नाते एक हो गए, वर्ग के नाते एक हो गए, गाँव के नाते एक हो गए, कुटुम्ब के नाते एक हो गए। यह आप नहीं कह सकते कि कोई ऐसा है जिससे हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। यानी सभी हमारे अपने नहीं हैं, ऐसा आप नहीं कह सकते।

यह बात अलग है कि कोई माँ-बाप के नाते सहोदर भाई-बहन हैं, तो कोई चचेरे भाई-बहन हैं, तो कोई गाँव के नाते से भाई-बहन हैं, कोई देश के नाते से, कोई जाति के नाते से, कोई संसार के नाते से। पर सच बात तो यह है कि अगर आप खुदा परस्त हैं, हक परस्त हैं, तो परमात्मा के नाते हम सब एक हैं। आत्मा के नाते हम सब एक हैं, सत्य के नाते हम सब एक हैं।

यह जो इंसानी जिन्दगी की खूबी है कि इंसान सभी को एक मान

सकता है। उसके लिए सब एक हैं। जब इस सत्य को मनुष्य भूल जाता है या नहीं अपनाता है और फिर किसी को अपना, और किसी को पराया मान लेता है, तो बस, यहीं से भेद उत्पन्न होता है और भेद से ही संघर्ष उत्पन्न होता है। इसलिए मानव-सेवा-संघ ने यह बात बताई कि भाई देखो, परमात्मा के नाते, आत्मा के नाते, जगत् के नाते हम सब एक हैं।

'मैं' हूँ, "यह" है और "परमात्मा" है। तो मैं कहो, चाहे आत्मा कहो। 'यह' कहो, चाहे जगत् कहो। परमात्मा कहो, चाहे, 'है' कहो। तो 'यह' के नाते भी हम एक, 'मैं' के नाते भी हम एक, और 'है' के नाते भी हम एक। वास्तव में अनेक भेद होने पर भी हम सब एक ही हैं। इस मूल सत्य को अगर हम स्वीकार कर लें कि हम सब एक हैं, तो अपने के साथ किसी के मन में बुराई करने की बात नहीं आती। क्या राय है? देखिए, मैं सोच ही नहीं सकता कि वह कैसा भगवत्-भक्त है, कैसा हक़ परस्त है, कैसा खुदा परस्त है, जो किसी को गैर मानता हो और किसी से कुछ आशा रखता हो? देखिए, खुदा परस्त कहो, हक़ परस्त कहो, भगवत्-भक्त कहो, कौन होता है? जो सभी को अपना मानते हुए सभी की सेवा में भाग लेता है। क्यों? सभी को अपना मानने के बाद जो सभी का मालिक है, वही अपना होता है। सभी अपने होते हैं सेवा करने के लिए और अपने लिए अपना वही होता है, जो सभी में है, सभी का है। वही अपना भी है। तात्पर्य क्या निकला? अपने लिए परमात्मा है। और कोई चीज अपने लिए नहीं है। अपने पास जो बल है, अपने पास जो योग्यता है, अपने पास जो वस्तु है, वह संसार की सेवा के लिए है।

यह सत्य अगर हम स्वीकार कर लें, तो मिले हुए बल के द्वारा हानि किसी को नहीं पहुँचाएँगे। देखिए, किसी को हानि न पहुँचाना भी एक सेवा है। सेवा छोटी हो या बड़ी हो, समान फल देती है। जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता और जो सभी को लाभ पहुँचाता है, उन दोनों को आन्तरिक फल समान मिलता है। क्यों? इसमें बड़ा भारी विज्ञान है, साइंस है। जो कभी किसी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता, उसकी पर्सनलिटी लिमिटेड नहीं रहती, विभु हो जाती है व्यापक हो जाती है। अथवा यों कहो कि उसका सम्बन्ध असीम, अनन्त, अविनाशी से हो जाता है। जो सबको भलाई

पहुँचाता है, उसका सम्बन्ध भी असीम अनन्त से हो जाता है। तो बुराई छोड़ देने से और भलाई का अभिमान और फल छोड़ देने से दोनों को वही असीम, अनन्त, अविनाशी जीवन मिल जाता है।

अब आप सोचिये, किसी के पास बल बिल्कुल न हो, ऐसा भी कोई नहीं। जिसके पास बल नहीं है, उसके द्वारा क्या कोई बुराई हो सकती है? नहीं हो सकती। जिसके द्वारा बुराई नहीं हो सकती, वह क्या बुरा रह सकता है? कदापि नहीं। जो बुरा नहीं रह सकता, वह भला हो जाता है। एक बात और भी है कि बुराई-रहित होना जितनी बड़ी सेवा है, भलाई करना उतनी बड़ी सेवा नहीं है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भलाई करना तो जो बल आपके पास है, उसके संग्रह का प्रायश्चित्त है। और बुराई न करना असली पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से बुराई न करना बहुत बड़ी चीज है। भलाई करना तो ऐसा समझिये कि जैसे हमारे पास अंजीर रखे हुए हैं। वे खराब हों, इसलिए बाँट दो। अंजीर रखने का प्रायश्चित्त हुआ, बाँटना। वह कोई बड़ी भारी बात नहीं है। खुद खा नहीं सकते, तो बाँटेंगे। और करें क्या?

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि सबसे बड़ा आदमी जिसको सुपर मैंन कहें, अति मानव कहें, वह कौन है? जिसके जीवन में किसी प्रकार की बुराई नहीं है, वह सबसे बड़ा आदमी है। किसके जीवन में बुराई नहीं होती? जो सचमुच कभी किसी से कुछ नहीं चाहता। किसी को दो भागों में बाँट लो–'यह' और 'वह'। 'यह' माने संसार और 'वह' माने परमात्मा। जो संसार और परमात्मा से कुछ नहीं चाहता, उसके जीवन में बुराई पैदा नहीं होती।

बुराई कब पैदा होती है? जब हम संसार से कुछ चाहते हैं। आप कहेंगे कि महाराज! हमने तो महात्माओं को भी भिक्षा माँगते देखा है, रोटी खाते देखा है। उन्हें भी रोटी चाहिए। तो सोचने की बात यह है कि अगर वह महात्मा शरीर को संसार का न मानकर अपना मानता है, तब तो वह महात्मा ही नहीं है। अथवा सब कुछ परमात्मा का न मान कर अपना मानता है, वह भी महात्मा नहीं होता। वन में जाने से, कपड़े रँगने से कोई महात्मा नहीं हो जाता। महात्मा होने के लिए यह दो बातें बहुत जरूरी है कि बड़ी ईमानदारी के साथ, सच्चाई के साथ अपने द्वारा अनुभव करे और यह

जान ले कि सचमुच इस संसार में मेरा करके कुछ नहीं है। आप जानते हैं कि शरीर और संसार को आप अलग नहीं कर सकते। कोई कर सकता हो, तो बताओ। शरीर और संसार का विभाजन नहीं हो सकता। जिसने यह अनुभव कर लिया कि संसार में मेरा करके कुछ नहीं है, उसमें किसी प्रकार की कामना पैदा नहीं होती।

देखिए, आँख बन्द करके, कान बन्द करके, बहुत घोर तप करके कामना का नाश नहीं होता, कामना का नाश होता है, जब हम यह मान लें और अच्छी तरह जान लें कि भाई, मेरा करके इस संसार में कुछ नहीं है। तब कामना का नाश होता है। अगर हम और आप विचार करें, तो हमारे-आपके पास जो ज्ञान है, उससे यह बात सिद्ध हो जाती है। अगर मैं इस बोलने वाली वाणी को अपनी मान लेता हूँ, तो क्या जब तक चाहूँ, बोल सकता हूँ? नहीं बोल सकता। तो फिर यह वाणी मेरी कैसे हो गई? जिस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं हो सकता, वह चीज मेरी हो सकती है क्या? नहीं हो सकती। फिर भी मालूम यही पड़ता है कि वाणी मेरी है, मैं बोल रहा हूँ। यह तो देने वाले की शान है कि अपनी मालूम होती है। जैसे, अभी लड़कियाँ गा रही थी, "देने वाले ने दिया किस शान से, मेरा है यह लेने वाला कह उठा अभिमान से।" यह तो देने वाले की महानता है।

भाई, सारी दुनियाँ एक इकाई है। जैसे, उल्हासनगर एक है, फिर उसमें एक नम्बर, दो नम्बर, तीन नम्बर, चार नम्बर हैं। तो क्या वे उल्हासनगर के बाहर हैं? जैसे, सारा हिन्दुस्तान एक है। फिर कहेंगे कि सारा संसार एक है। तो सचमुच वास्तव में सारी सृष्टि एक ही है। यह जो हमें बाहरी भेद लगता है, यह हम लोगों ने अपने दिमाग से पैदा किया है काम चलाने के लिए, व्यवहार चलाने के लिए। देखो भाई, सन् 1947 से पहले पाकिस्तान जैसी कोई चीज थी क्या? नहीं थी। हिन्दुस्तान के टुकड़े हो गए। अच्छा, यह जो प्रान्तवाद है, वह इंसान की बेवकूफी है या वास्वत में प्रान्तवाद कुछ है? इंसान की बेवकूफी है। किसलिए? मैं प्रान्त को अलग कर लूँगा, तो मुझे मिनिस्ट्री मिल जाएगी।

अपने सुख-भोग के लिए इस एक दुनियाँ में हम अनेक प्रकार की भिन्नताएँ पैदा कर लेते हैं, बँटवारा कर लेते हैं। वास्तव में सत्य क्या है? संसार एक है, परमात्मा एक है और संसार को जानने वाला और परमात्मा

को मानने वाला इंसान भी एक है। अब सोचो, तुम कितने बड़े हुए? अगर तुम इंसान हो, तो तुम कितने बड़े हुए? सारे संसार को तुम जानते हो और परमात्मा को तुम ही मानते हो। अच्छा, यह तो बताओ, संसार तुमको जानता है क्या? नहीं जानता। अच्छा, क्या परमात्मा ने यह ऐलान किया है कि तुम अलग हो? नहीं किया। तो इंसान सच पूछो तो एक ही है। यह जरा ऊँची फिलोसोफी हो गई, असली वेदान्त आ गया।

'मैं'एक है,'यह' एक है और'वह'एक है। क्या राय है? 'मैं' एक है, 'यह' एक है और 'वह' एक है। अब यह जो एक को तीन प्रकार से सोचा, तो 'वह' जो एक है, वह स्वतन्त्र है और 'मैं' और 'यह' जो हैं, स्वतन्त्र नहीं है। वह जो परमात्मा है, वह तो स्वतन्त्र है, उदार है, प्रेम का भण्डार है। तो 'वह' को जो कहा, उसको परमात्मा कह दिया। 'मैं' को आत्मा कह दिया और 'यह' को जगत् कह दिया। तीन नाम रखे। लेकिन उस परमात्मा के बिना 'मैं' का और जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। तो परमात्मा में ही 'मैं' और 'यह'। यानी 'मैं' परमात्मा में और 'मैं' में जगत् है। यह बड़ी ऊँची फिलोसोफी। यह संसार जो है वह 'मैं' के भीतर है। और 'मैं' जो है, वह परमात्मा के भीतर है।

परमात्मा एक है। जैसे तुम कहते हो 'मैं' हूँ। तो 'मैं' एक है और 'मैं' दुनियाँ को जानता है और परमात्मा को मानता है। तो 'मैं' 'दुनियाँ' और परमात्मा , यह तीनों अलग-अलग करके देखे हैं क्या तुमने? यानी कि जब तुम दुनियाँ को देखते हो, तो अपने से अपने को दुनियाँ से अलग करके देखते हो क्या? नहीं देखते। तो तुम अपने में ही दुनियाँ को देखते हो। ऐसे ही परमात्मा में ही तुम अपने को देखते हो। दुनियाँ में भी तुम अपने को देखते हो और परमात्मा में भी तुम अपने को देखते हो। तो दुनियाँ बदलती हुई दीखती है, मिटती हुई दीखती है। और परमात्मा अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, मिटने वाला नहीं है, बदलने वाला नहीं है। जो मिटने वाला नहीं होता, वास्तव में उसी की सत्ता होती है।

इसका मतलब क्या हुआ? परमात्मा में ही 'मैं' और 'यह' भासित होता है, प्रतीत होता है। जैसे, सीप में चाँदी प्रतीत होती है, जैसे, रस्सी में साँप प्रतीत होता है। लेकिन साँप की रस्सी से कोई अलग सत्ता नहीं होती, सीप से चाँदी की अलग कोई सत्ता नहीं होती।

ऐसे ही परमात्मा में ही 'मैं' और 'यह' का भास होता है। अगर 'मैं' बुराई-रहित हो जाय, अचाह हो जाय, तो शान्ति और स्वाधीनता पाता है। जब 'मैं' शान्ति और स्वाधीनता पाता है, तो परमात्मा से किसी प्रकार की दूरी नहीं रहती, भेद नहीं रहता, भिन्नता नहीं रहती। तो 'मैं' की सच्ची एकता परमात्मा के साथ होती है। 'मैं' की समीपता परमात्मा के साथ होती है। 'मैं' की परमात्मा के साथ अभिन्नता होती है। और किसी के साथ एकता, समीपता और अभिन्नता नहीं होती।

इसी परमात्मा की समीपता को योग कहते हैं। इसी परमात्मा की एकता को बोध कहते हैं और उसी परमात्मा के प्रेम को अभिन्नता कहते हैं। तो हमारी-आपकी सबकी जो जातीय एकता है, जो नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है, वह परमात्मा के साथ है। और जो काल्पनिक सम्बन्ध है, जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह जगत् के साथ है।

जिसके साथ हमारा काल्पनिक सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी चाहिए सब प्रकार की बुराई से रहित हो कर। और जिसके साथ हमारी वास्तविक एकता है, उससे हमें प्रेम करना चाहिए सब प्रकार की कामनाओं और ममताओं को तोड़ कर।

बुराई-रहित हो कर संसार की सेवा करें और ममता, कामना को तोड़ कर परमात्मा से प्रेम करें। संसार की सेवा और परमात्मा से प्रेम, यह क्या है? यह हमारा-आपका स्वरूप है, यह हमारा-आपका अस्तित्व है। हम संसार के सेवक और परमात्मा के प्रेमी होकर रहें।

अब देखिये, सेवक जो होता है, उसमें सेवा की सत्ता होती है और प्रेमी जो होता है, उसमें प्रेम की सत्ता होती है। तो प्रेमी और प्रेम, सेवा और सेवक, यह एक ही चीज है, अलग-अलग नहीं हैं। जब प्रेमी संसार के रूप में प्रभु को देखता है, तो सेवा करता है। और जब प्रेमी प्रभु के रूप में प्रभु को देखता है, तो प्रेमी होता है। लेकिन प्रेमी होने के लिए, सेवक होने के लिए हमें इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब तक मानव इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, तब तक प्रभु का प्रेमी और संसार का सेवक हो ही नहीं सकता।

जो संसार का सेवक नहीं है, उसको संसार-पसन्द करता है

क्या? बोलो। नहीं। और जो प्रभु का प्रेमी नहीं है, उसे प्रभु पसन्द करते हैं क्या? नहीं। तो प्रभु तब पसन्द करेंगे, जब हम प्रेमी हो जाएँ। संसार पसन्द करेगा तब, जब हम सेवक हो जाएँ। सेवक हम कब होंगे? जब यह अनुभव करे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। प्रेमी हम कब होंगे? जब हम यह स्वीकार करें कि प्रभु अपने हैं।

इससे क्या सिद्ध हुआ? अगर मनुष्य ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। और गुरु वाक्य के द्वारा सद्‌गुरु वाक्य के द्वारा आस्था-श्रद्धा-विश्वास पूर्वक यह स्वीकार करें कि प्रभु अपने हैं। तब वह संसार के लिए सेवक और परमात्मा के लिए प्रेमी हो सकता है। आज मैंने जीवन की यह सारी फिलोसोफी आपके सामने रख दी। 'यह', 'वह', 'मैं' एक ही हैं, अलग-अलग नहीं हैं। यानी 'वह' ही 'यह' है, 'वह' ही 'मैं' है। संसार उसी का स्वरूप है।

39(अ) जप, तप, दान, भजन में अपने सुख देखना राक्षसी स्वभाव है।

परम भागवत श्रद्धेय श्री किशोरी जी, भगवत-परायण स्वधर्म-निष्ठ सती माँ एवं उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

आज आपके इस बार के समारोह का आखिरी दिवस है। प्रातःकाल की बैठक भी आखिरी बैठक थी। हम लोग जीवन सम्बन्धी चर्चा करते रहें, सुनते रहे समझते रहे। अब प्रश्न यह है कि सचमुच हमारी क्या माँग है और उसके लिए हमें क्या करना है? इन दो बातों पर ही इस सारे समारोह का सार निर्भर है। ऐसी चीज जो सभी को मिल सके और सभी को पसन्द आए, जिसमें कभी किसी को अरुचि न हो, देने से घटे नहीं, पाने से तृप्ति हो नहीं, ऐसी चीज एकमात्र प्रेमतत्त्व है। प्रेमतत्त्व से कभी किसी को अरुचि नहीं होती। प्रेम देने से कभी घटता नहीं। यही नहीं, प्रेम क्षति, पूर्ति और निवृत्ति से रहित है। आप कहेंगे, कैसे? तो निवृत्ति काम की होती है, पूर्ति जिज्ञासा की होती है और प्राप्ति प्रेम की होती है।

काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति –यह मानवमात्र का अपना लक्ष्य है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि काम की

निवृत्ति कैसे होती है? तो कहना पड़ता है कि एकमात्र सत्संग से होती है। सत्संग का अर्थ क्या है? जो असत् है उसे अस्वीकार करना और जो सत् है उसको स्वीकार करना। असत् क्या है, इस सम्बन्ध में मानव-सेवा-संघ का दृष्टिकोण क्या है? तो वह यह नहीं कि आप संसार को असत् मानिये। ऐसा नहीं है। यह भी नहीं है कि संसार को सत् मानिये। तो क्या है? हमारा और संसार का जो सम्बन्ध है, वह असत् है। यह जो असत् है यह प्राकृतिक नहीं है, यह ईश्वरीय नहीं है। यह हमारी अपनी भूल से उत्पन्न हुआ है। हमने मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपना मान लिया है और अपने लिए मान लिया है। अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सर्व समर्थ प्रभु को स्वीकार नहीं किया है। यह भी असत् है। यह जानते हुए कि दूसरे लोग हमारी सहायता करें, सहयोग करें; हमने दूसरों की सहायता और सहयोग नहीं किया। यह भी असत् है।

संसार कैसा है? इस सम्बन्ध में एक निर्णय नहीं है, अनेक मत हैं। परमात्मा कैसा है? इसका विवेचन अनेक प्रकार से है। तो उस चर्चा में हम नहीं जाते। हमें केवल यह निवेदन करना है कि संसार से सम्बन्ध जोड़ना और परमात्मा से सम्बन्ध न जोड़ना और दूसरों की सेवा-सहायता न करना, यह जरूर असत् है। इसी असत् को हमें अपने जीवन में से निकाल देना है। संसार जैसा है वैसा ही रहेगा, परमात्मा जैसा है वैसा ही रहेगा और मिला हुआ बल सदैव किसी के पास न रहा, न रहेगा। उससे अपना कोई मतलब नहीं। अपना प्रयोजन केवल इतनी बात से है कि क्या आज हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे, संसार से सम्बन्ध नहीं रखेंगे, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लेंगे? हाँ, एक विचारणीय बात यह है कि संसार से सम्बन्ध न रखना और बात और सेवा न करना बिलकुल गलत बात है। सम्बन्ध तोड़ दो, लेकिन सेवा मत छोड़ दो। आखिर बल का करोगे क्या? अगर तुम सेवा नहीं करोगे, तो शरीर का उपयोग क्या होगा? योग्यता का उपयोग क्या होगा? वस्तु का उपयोग क्या होगा मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग यह है कि किसी न किसी की सेवा करें। किसकी सेवा करें? जो निकटवर्ती हैं, जिनके साथ रहना पड़ता है, जो हमारे साथ रहते हैं, हम जिनके साथ रहते हैं, उनकी सेवा करना है।

मुझे बचपन की एक भूल मालूम है। वह भूल यह है कि मैं घर वालों की तो बात न सुनूँ और गाँव वालों के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करूँ। क्यों? यह जो घर वाले होते हैं, वे आसानी से मान नहीं दिया करते। वे तो अपना अधिकार मानते हैं। इनके मन में यह कभी नहीं आती कि हमारे सम्बन्धियों ने हमारे साथ उदारता की है। वे तो यह सोचते हैं कि वह तो उन्हें करना ही चाहिए था। न करने पर बिगड़ते हैं। यह नियम है। तो मैं मान पाने के लिए, अपनी प्रशंसा सुनने के लिए दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करता और घर वालों के साथ कटु व्यवहार करता। यह जब मुझे पता चला कि घर के लोग तो मुझे नापसन्द करते हैं, बाहर के क्यों पसन्द करते हैं? तब मुझे बहुत सोचने पर यह पता चला कि सचमुच घर वालों की मैंने सेवा नहीं की, आदर नहीं दिया, उतना प्यार नहीं दिया, उनकी ममता नहीं छोड़ी, उन पर से अपना अधिकार नहीं हटाया। बाहर वालों का काम किया केवल मान पाने के लिए। बहुत दिनों तक यह कमजोरी मेरे जीवन में रही। यहाँ तक कि राजनीतिक क्षेत्र में भी जब मैंने भाग लिया, तो यही सोच कर लिया–

शहीदों की मजारों पर जुड़ेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरने वालों का यही नामों निशाँ होगा।

तो महानुभाव! यह बहुत गम्भीर बात है, बहुत विचारणीय बात है कि जो निकटवर्ती प्रिय जनों की निष्कामभाव से, अपना अधिकार छोड़ कर सेवा नहीं करता, वह सचमुच सेवा नहीं कर सकता। यह पारिवारिक जीवन क्या है? यह सेवा की ट्रेनिंग है। यह बन्धन नहीं है, यह बुरा नहीं है। लेकिन हम बन्धन कब बना लेते हैं? जब स्वयं तो सेवा करते नहीं और दूसरों पर अधिकार मान लेते हैं। आजकल एक रवैया पड़ गया है। बड़े-बड़े पद बने हैं महाराज! बड़े गीत गाये लोगों ने। माता-पिता, बन्धु, दारा, यह सब हैं सुख के भोगी। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि किसी स्त्री ने अपने पति को सुख दिया, तो क्या उसके बदले में पति से स्त्री को कुछ सुख नहीं मिला? क्या राय है? यह सुख का आदान-प्रदान है या केवल सुख का भोग ही है? सुख का आदान-प्रदान है। लेकिन नहीं, थोड़ा सा वैराग्य आया, तो सबसे पहले कहा कि घर वाले बड़े नालायक। आज के साधकों की यह दशा है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि घर वाले लायक हैं या नालायक, यह तो वे जाने जो हैं। लेकिन अपना काम क्या है? अपना काम तो यह था कि जिनके साथ हम रहते हैं, पहले उनकी सेवा करें और भीतर से उनसे सम्बन्ध तोड़ दें। यह बड़ा कठिन पड़ता है लोगों को। सम्बन्ध तोड़ कर सेवा करना बड़ा कठिन पड़ता है, समाज में सम्मान बिना लिए सेवा करना बड़ा कठिन पड़ता है, पद को स्वीकार किये बिना सेवा करना बड़ा कठिन पड़ता है। किसको कठिन पड़ता है? जो सचमुच स्वाधीन नहीं होना चाहते, जो प्रेमी नहीं होना चाहते और जो दुःख की निवृत्ति नहीं करना चाहते, उनको कठिन पड़ता है।

नहीं तो महानुभाव! हम जिनके साथ रहते हैं, उनके साथ जो हम कर सकते हैं, उसके करने से भगवान् नाराज हो जाएगा और न करने से खुश हो जाएगा, तो भगवान् हमको ऐसा साथी क्यों देता? ऐसी परिस्थिति क्यों देता? तो मेरा निवेदन यह है कि जो कुछ मिला है, वह सब ईश्वरवादी की दृष्टि से प्रभु का दिया हुआ है। जब प्रभु का दिया हुआ है, तो परिवार की सेवा भी प्रभु की सेवा है, देश-सेवा भी प्रभु की सेवा है। यह नहीं कि एकान्त में बैठ कर चिन्तन

करते रहें, यह तो भगवत् सेवा है और कमरे में झाड़ू लगाना भगवत् सेवा नहीं है। ऐसा मैं नहीं मानता। जो मानते हैं, ठीक है। क्योंकि व्याख्यान में तो वक्ता का ही परिचय होता है।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि अगर आप प्रेमियों के जीवन को देखेंगे, तो ऐसा एक भी प्रेमी नहीं मिलेगा, जिसने प्रियजनों की सेवा न की हो। सभी ने की है। हाँ, उनसे सुख की आशा नहीं की, उनसे सम्बन्ध नहीं रखा। यह तो ठीक बात है। लेकिन प्रियजनों की सेवा सभी ने की। क्यों? इसमें एक बड़ा दार्शनिक तथ्य है। वह दार्शनिक तथ्य यह है कि सम्बन्धियों की सेवा अगर आप नहीं करेंगे, तो पूर्वकृत-कर्म का जो राग है वह निवृत्त नहीं होगा। प्रियजनों की सेवा करने से उनका राग निवृत्त हो जाता है।

एक बार परम भागवत् देवकीजी ने हमसे कहा कि गर्मी की छुट्टियों में मैं प्रति वर्ष बाबू जी के पास जाया करती थी। अब कभी-कभी बाबू जी का ख्याल आता है। यद्यपि मैं सत्संग के लिए आज्ञा ले कर आई हूँ,

फिर भी मुझे ख्याल आता है। मैंने कहा कि ख्याल आता है, तो एक प्रीति भरा पत्र ही उन्हें लिख दिया करो, कुछ वस्तु ही भेज दिया करो। तो छुटकारा पाने का उपाय क्या है? जिनसे सम्बन्ध जोड़ा था, उनकी सेवा कर दो।

एक महानुभाव हमारे पास आये। वे कहने लगे कि मेरे मन में बार-बार लड़के का ख्याल आता है। मैंने कहा कि क्या लड़का तुम्हारे साथ नहीं है? तो उन्होंने बड़े दुखी हो कर कहा कि उसकी माँ का देहान्त हो गया। बच्चा ननसाल में रहता है। उसकी नानी पालन-पोषण करती है। मैंने कहा कि जिस दिन ख्याल आया करे, पचास रु० का मनीआर्डर कर दिया करो। मैंने यह नहीं कहा कि लड़के की ममता छोड़ दो। मैं जानता था कि वे ममता छोड़ सकते ही नहीं। ऊपर से भले ही दिमाग में भर लें। जिससे सुख लिया है, उसकी ममता छूटना आसान है क्या? आसान नहीं है। जितना सुख लिया है, उसका कई गुना देकर विचारपूर्वक क्षमा माँग लोगे, तब सम्बन्ध छूटता है। मजाक नहीं है। पर छूट जरूर जाता है। इसमें दो मत नहीं है। तो वे बोले महाराज! यह तो बड़ा कठिन है। हमने कहा कि तुम्हारी तो चलती क्या है, तुम्हारे बाप भी ख्याल नहीं मिटा सकते। अरे, अपना मानोगे और सेवा नहीं करोगे, तो क्या ख्याल मिट जाएगा?

गुरु का ख्याल किसको ज्यादा आता है? जो गुरु की बात नहीं मानता। और किसको ज्यादा आता है? जो गुरु स्वयं चेला में आसक्त होता है। माफ कीजियेगा। मैं किसी व्यक्ति से नहीं कहता हूँ। कोई गुरु महराज नाराज न हो जाएँ। यह जो चेलों को अपने-अपने गुरुओं का ख्याल आता है, यह उन्हीं चेलों को आता है, जो गुरु की बात नहीं मानते और उन्हीं गुरुओं को आता है, जो स्वयं चेलों में आसक्त हैं। अगर गुरु आसक्त न हो तो चेलों में आसक्ति आ जाए, यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध होता है अनासक्ति के लिए। यह नहीं कि दस प्रकार की आसक्तियाँ तो थी ही, ग्यारहवीं प्रकार की और नई पैदा कर ली।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि संसार का ख्याल कब छूटता है? जब संसार की दी हुई वस्तु संसार को दे देते हैं। अथवा संसार का ख्याल किसका छूटता है? जो जीवन में मृत्यु का अनुभव कर लेता है। सोऽहं शिवोऽहं का चिन्तन तो बहुत करते हैं, उससे काम नहीं चलता। स्पष्टरूप से

जो देह की ममता को तोड़ देता है, देह के रहते हुए भी जिसको संसार का ख्याल नहीं आता अथवा किसको संसार का ख्याल नहीं आता? जो बिना देखे भगवान् पर अपने को न्यौछावर कर देता है।

तीन प्रकार के आदमियों का संसार का ख्याल छूट जाता है– जिसने आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु को अपना मान लिया, अपने को प्रभु का मान लिया, उसके जीवन में संसार का ख्याल नहीं रहता। जिसने विचार पूर्वक तीनों शरीरों से अपने को असंग कर लिया उसको संसार का ख्याल नहीं आता। अथवा जिसने अपनी पूरी शक्ति लगा कर प्रियजनों की सेवा कर दी, उसको भी संसार का ख्याल नहीं आता। एक का नाम-कर्म-योग है, एक का नाम ज्ञान-योग है और एक का नाम भक्ति-योग है।

यह तो उपसंहार हो गया छः दिनों की चर्चा का। अब आप देखिए, प्रेमी सत्युग में भी हुए हैं, त्रेता में भी हुए हैं, द्वापर में भी हुए हैं, और कलियुग में भी हुए हैं। हर युग में प्रेमी हुए हैं। यह जो प्रेमी कहा जाता है, यह भगवत् प्रेमी शब्द है। भगवान् के प्रेमी सब युग में हुए हैं। आप देखिए, सत्युग में श्रीप्रह्लाद जी भक्त हुए। कैसे होगये? अभी लाल कन्हैया गीत गा रहे थे। वे एक लाइन में भगवान् की महिमा गा रहे थे, दूसरी लाइन में अपनी निर्बलता बता रहे थे। आप जानते हैं कि जिसे अपनी निर्बलता का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है, जिसे भगवान् की महिमा ठीक पसन्द आ जाती है, उसका भगवान् से सम्बन्ध हो जाता है। बढ़िया डाक्टर हो और रोगी हो, तो सम्बन्ध जुड़ेगा कि नहीं? रोगी का डाक्टर से सम्बन्ध जोड़ना स्वाभाविक हो जाता है या अस्वाभाविक? स्वाभाविक हो जाता है। ऐसे ही पतित और पतितवान का सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है। ऐसे ही चाकर और ठाकुर का सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जो सचमुच अपनी निर्बलता से पीड़ित होता है और प्रभु की महिमा स्वीकार करता है, उसका नाम भक्त होता है। आप देखिये, प्रह्लाद जी के जीवन में क्या है? उन्होंने एक भक्त को देखा कि वह भगवान् के चिन्तन में डूबा हुआ है, भगवान् से व्यथित होकर प्रार्थना कर रहा है। उन्होंने पूछा, तू क्या कर रही है? तो वह बोली, कर क्या रही हूँ, मुझसे बड़ा अपराध हो गया है कि मेरी असावधानी से बिल्ली के बच्चे अवा में बन्द हो गये हैं, आग

लग गई है। मैं उस सर्व समर्थ प्रभु से प्रार्थना कर रही हूँ कि हे प्रभु, बच्चों की मृत्यु न हो। उससे पहले प्रह्लाद ने प्रभु का नाम कभी नहीं सुना था। उसने अपने बाप की ही महिमा सुनी थी, अपने बाप का ही बोलबाला सुना था, क्योंकि हिरण्यकश्यप ने अपने अहं की महिमा के लिए ही तप किया था।

जो अपने सुख के लिए तप करता है, जो अपने सुख के लिए जप करता है, उसकी गणना–माफ कीजियेगा– हिरण्यकश्यप की सूची में की जाती है। मैं किसी व्यक्ति से नहीं कह रहा हूँ। अपने सुख के लिए किया गया भजन, अपने सुख के लिए किया गया तप, अपने सुख के लिए किया हुआ दान, यह राक्षसी स्वभाव है। यह मानवी स्वभाव नहीं है।

प्रह्लाद नन्हा-सा भोलाभाला बालक था। भगवान् की लीला है कि ईश्वर के न मानने वालों के यहाँ ही ईश्वर-भक्त पैदा होता है। यह भगवान् की लीला, यह उनका विनोद है, यह उनकी कृपालुता है। बिजनौर में राम अवतार शर्मा की बात है। उन्होंने दो हजार पेज की एक किताब लिखी कि पुनर्जन्म नहीं होता। उन्हीं के घर में लड़का पैदा हो गया, जिसने पहले जन्म की बात बताई। यह भगवान् की लीला है। क्या कहा जाए?

तो प्रह्लाद ने कहा कि देखो माँ, तेरा जब अवा खुले, तो मुझे बुला लेना। मैं देखूँगा कि क्या भगवान् रक्षा करता है? उसने प्रह्लाद को बुला लिया। बच्चे जिन्दा निकले। प्रह्लाद के मन में यह विश्वास हो गया। माफ कीजिएगा, वह घर छोड़ कर नहीं भागा, बढ़िया गुरु के

पास नहीं गया। उसने सत्य का आदर किया। प्रह्लाद के मन में यह विश्वास हो गया कि कोई सर्व-समर्थ रक्षक है। यही प्रह्लाद की दीक्षा थी। क्या राय है किशोरी जी? और कोई दीक्षा ली क्या उसने? किसी महात्मा के पास गया क्या? शरणानन्द का चेला बना क्या? किसी महात्मा से आकर चिपका क्या? उसने सत्य स्वीकार कर लिया एक बार। अब मजबूर है प्रह्लाद उनकी स्मृति करने को। जप नहीं किया उसने। याद आती थी बार-बार। किसकी? जिसकी महिमा स्वीकार की थी उसकी। उसकी याद आती थी।

यह नियम है कि जिसकी याद आती है, उसी की चर्चा होने लगती है, उसी का चिन्तन होने लगता है। अब प्रह्लाद जी के जीवन में स्वभाव से भगवान् की चर्चा होने लगी, चिन्तन

होने लगा। यह खबर हिरण्यकश्यप को मिली। उसने कहा कि यह मेरे यहाँ कौन पैदा हो गया है, जो मेरी महिमा को छोड़कर किसी और की महिमा स्वीकार करता है? हिरण्यकश्यप और कोई नहीं है, अपना अहम् ही है। आजकल के लोग कहते हैं–मैं इतना योग्य आदमी हूँ, मैं इतना कमाता हूँ। अरे, कमाते हो तो क्या करते हो भाई, किस पर अहसान करते हो?

मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि जो दिन-रात अपने अहम् के ही महत्त्व को बढ़ाता रहता है, दुनियाँ उसका मुँह देखना पसन्द नहीं करती ईमानदारी से। माफ कीजिए। महाराज, मजबूरी में भले ही कह दें कि तुम बड़े अच्छे हो। तो हिरण्यकश्यप तो था अहं का पुजारी और प्रह्लाद उस बिना देखे हुए सर्व समर्थ प्रभु का पुजारी। अब विचार-भेद हो गया। प्रह्लाद को अनेक प्रकार से कष्ट देना आरम्भ कर दिया। लेकिन एक बात बताओ, प्रह्लाद ने भी कभी किसी को कष्ट दिया क्या? कभी उसने शिकायत की क्या? क्या प्रह्लाद ने कहा कि हम तो भक्त हो गये और हमारा बाप नालायक है?

आज जरा-सा भगवान् में विश्वास हुआ, तो सबसे पहले बाप नालायक, माँ नालायक, खसम नालायक। यह क्या तरीका है? अरे बाबा, जो भगवान् का हो जाता है, उसे कोई गैर दीखता है क्या? उसे कोई गैर मालूम होता है क्या? वह किसी को बुरा समझता है क्या? वह किसी की निन्दा करता है क्या? कभी नहीं करता।

लेकिन एक बड़ी वीरता की बात है, बड़ी बहादुरी की बात है कि वह प्रेमी सम्बन्ध किसी से भी नहीं रखता, बिल्कुल निर्लेप, जीते जी मरा हुआ। क्यों? वह सम्बन्ध सिवाय प्रभु के और किसी से नहीं रखता। वह महिमा सिवाय प्रभु की और किसी की नहीं मानता, लेकिन प्रभु के नाते सबके प्रति हितकामना रखता है।

तो महाराज, अनेक प्रकार के कष्ट देने के बाद भी प्रह्लाद भयभीत नहीं हुआ। उसकी आस्था नहीं बदली, उसका चिन्तन नहीं बदला, उसकी प्रियता नहीं बदली। अन्त में इतना क्रोध आ गया अहम् देवता हिरण्यकश्यप को कि वह स्वयं मारने के लिए चला। उसने प्रह्लाद से कहा,"बता तेरा राम कहाँ है?" नन्हा-सा बालक कहता है–" वह मुझ में है, तुम में है, खड्ग में है, खम्ब में है।" निश्चिन्त होकर निर्भय हो कर सहज

भाव से प्रह्लाद ने कह दिया कि खम्ब में है। तो नृसिंह भगवान् को खम्ब में से प्रकट होना पड़ा।

यह मत समझिए कि भगवान् दुष्टों के नहीं होते। वे सबके होते हैं। सबके न हों, तो वह भगवान् ही नहीं है। हिरण्यकश्यप को तप काल में वे यह वर दे चुके थे। हिरण्यकश्यप ने क्या-क्या माँगा था? दिन में न मरूँ, रात में न मरूँ, अस्त्र से न मरूँ, जमीन पर न मरूँ, आसामान में न मरूँ, मनुष्य से न मरूँ, पशु से न मरूँ। जितना सोच सकता था सब उसने माँगा। अब वह मरे फिर कैसे? तो भगवान् ने कहा कि यह तो सामर्थ्य मुझ में ही है कि आधा बन जाऊँ पशु और आधा बन जाऊँ मनुष्य। नृसिंह का स्वरूप ऐसा ही है न? आधे शेर की तरह हैं और आधे मनुष्य की तरह। अब भगवान् ने कहा कि भैया, मैं तो सब वर इसको दे चुका। तो चलो, देहरी पर बैठ कर घुटने के ऊपर रख कर नाखुन से पेट फाड़ दूँ। उसने यह वर नहीं माँगा था कि मैं नाखुन से न मरूँ। माँगा था क्या? कोई कामनायुक्त आदमी कितना ही चतुर हो, कहीं-न-कहीं धोखा खा ही जाता है। हिरण्यकश्यप भी धोखा खा गया।

सुनते हैं कि नृसिंह भगवान् का इतना तेजस्वी विशाल रूप था कि देवता काँपने लगे। कोई स्तुति करने को राजी न हो। लेकिन प्रह्लाद बिलकुल अभय था। देखिए प्रभु की महिमा! जितनी कही जाए, कम ही होती है। तो नृसिंह भगवान् ने क्षमा माँगी प्रह्लाद से और कहा–" प्रिय वत्य! हिरण्यकश्यप ने तुझे बड़ा दुःख दिया। मुझे देर हो गई।" अब देखिए, जो अनन्त हैं, जो अपार हैं, जो समर्थ हैं, वे आज प्रह्लाद से क्षमा माँग रहे हैं।

अन्त में बड़े दुलार से कहा कि, " भैया प्रह्लाद! तू कुछ माँग ले।" प्रह्लाद ने कहा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं चाहिए। फिर कहा कि कुछ माँग ले। फिर भी उसने कहा कि कुछ नहीं चाहिए। फिर भगवान् ने कहा कि कुछ माँग ले। अब प्रह्लाद बिगड़ गया। माफ कीजिए, मैं किसी जातीय पक्ष की बात नहीं कहता। तो प्रह्लाद कहने लगे कि मैं कोई बनिया हूँ क्या? फिर भी भगवान् ने कहा कि भैया प्रह्लाद! कुछ माँग ले। तो उसने कहा कि मैं यह चाहता हूँ कि मैं कुछ न चाहूँ।

यह एक बड़ा दार्शनिक तथ्य है। अपने द्वारा गुणों का सम्पादन करना और प्रभु की करुणा से गुणों को

प्राप्त करना, इनमें बड़ा फर्क होता है। यह बात प्रह्लाद नहीं जानता था कि मुझमें कामना है। तो उसने कहा कि आप देना ही चाहते हैं तो यह चाहता हूँ कि कुछ न चाहूँ। अब भगवान् ने कह दिया–" एवम्अस्तु" जब भगवान् ने एवअस्तु कहा, तब प्रह्लाद को ज्ञान हुआ। अब लगा भगवान् पर केस चलाने। महाराज, भक्तों ने बड़े-बड़े केस चलाये हैं। हाँ, तो प्रह्लाद ने कहा कि बताओ महाराज! भगवान् बोले, "हाँ भैया प्रह्लाद!" प्रह्लाद ने कहा कि आपका बैरी मेरा बाप था कि उसका अभिमान? भगवान् को कहना पड़ा कि उसका अभिमान था। प्रह्लाद ने कहा कि आपने बाप को मारा कि उसके अभिमान को? अब देखिए, बाप की सद्गति की कामना प्रह्लाद में निकल आई।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जितने भक्त हुए हैं, वे सब हुए हैं किसी भक्त की वाणी में विश्वास करने से। भक्त के शरीर से चिपकने से नहीं हुए। भक्तों ने दर्शन करने के लिए अपने आचार्य के चित्र को रखा, यह अलग बात। लेकिन एक बात तो बताओ, किस भक्त ने कहा है कि तुम मेरे शरीर की पूजा करना और भगवान् के विग्रह की मत करना? क्या किसी ने कहा है आज तक? किसी भक्त की वाणी है क्या? नहीं है। लेकिन भक्तों ने क्या किया? उनके मन में केवल वह बात रही कि इनके द्वारा हमें प्रभु का विश्वास प्राप्त हुआ, इसलिए आचार्य पूजन की बात कही गई है। लेकिन आचार्य ने क्या कहा? मुझ में विश्वास करो, यह कहा कि प्रभु में विश्वास करो, यह कहा? प्रभु-विश्वास। तो किसी भक्त के पास प्रभु-विश्वास से भिन्न कुछ और है क्या? नहीं है।

इसलिए महानुभाव! प्रभु में विश्वास करो। यदि विश्वास करना है, तो प्रभु में विश्वास करो। क्यों? विश्वास करने से सम्बन्ध जुड़ जाता है। हमारे जितने भी सम्बन्ध हैं, वे दो ही तरह से जुड़ते हैं, या तो अपनी जरूरत से जुड़ते हैं या विश्वास से जुड़ते हैं। तो प्रभु के साथ सम्बन्ध जुड़ता है प्रभु-विश्वास से। मैं यहाँ एक बड़ी सूक्ष्म बात निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रभु-विश्वास किसी और जरूरत से रखोगे, तो वह साध्य न रह कर साधन बन जाएगा। जब परमात्मा साध्य न रह कर साधन बन जाएगा, तो परमात्मा दूर हो जायेगा। इसलिए यहाँ सही परामर्श की जरूरत होती है, इस सलाह की जरूरत होती है कि प्रभु में विश्वास

करो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने के लिए, किसी और संकल्प के लिए मत करो।

एक बहन की बात है कि उनके पति मुन्सिफ थे। वे बीमार हुए। किसी ने कहा कि भगवान् की पूजा करो। भगवान् की पूजा शुरू हो गई, पति अच्छे हो गये। दोबारा फिर बीमार हुए और फिर पूजा कि। पति अच्छे नहीं हुए, मर गये। भगवान् को उठाकर उन्होंने फेंक दिया, क्योंकि अब वे बेकार साबित हो गये।

तो जो परमात्मा से कुछ भी चाहता है, वह परमात्मा को कभी पसन्द नहीं करता। परमात्मा को वही पसन्द करता है, जो परमात्मा से कुछ नहीं चाहता। प्रभु से जो सम्बन्ध जोड़ा जायेगा, वह प्रभु की मधुर स्मृति और प्रियता जगाने के लिए, न कि मुक्ति के लिए। मुक्ति तो भगवान् सबको दे देते हैं बड़ी सुगमता से। कैसे? आपको जो ज्ञान मिला है, उसी के आदर से मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति और किसी प्रकार नहीं मिलती। आपने ज्ञानपूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य तोड़ दिया, तो आप मुक्त हो गये। भोग जो है वह कर्म सापेक्ष है। आपको कर्म-सामग्री मिली है, उससे आपको भोग मिल जायेगा।

लेकिन प्रभु-प्रेम एकमात्र प्रभु-विश्वास से ही होता है। और किसी प्रकार से प्रभु-प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए प्रभु भक्तों ने हमेशा प्रभु विश्वास की बात कही है, प्रभु की आत्मीयता की बात कही है। वे कहते हैं ,अरे भाई, क्यों अधीर होते हो? क्यों बेचैन होते हो? तुम तो प्रभु की जाति के हो, तुम्हार तो प्रभु से नित्यसम्बन्ध है, प्रभु तो तुम्हारा अपना है।

भक्तों ने मीरा से कहा कि प्रभु तुम्हारे पति है। भक्तों ने ईसा से कहा कि प्रभु तुम्हारे बाप हैं। भक्तों ने मोहम्मद से कहा कि प्रभु तुम्हारे दोस्त हैं। मैया यशोदा से कहा कि प्रभु तेरा बेटा है। किसी-न-किसी प्रकार से प्रभु से आत्मीयता स्वीकार करने की बात समस्त भक्तो ने कही, समस्त आस्तिक दर्शनों ने कही। अनेकों प्रमाण इस बात के हैं कि जो प्रभु में विश्वास कर लेता है, जो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ लेता है, जो प्रभु को अपना मान लेता है, जो प्रभु का होकर रहने लगता है, उसे तीन चीजें मिल जाती हैं बिना माँगे। पहले मिलती है, निश्चिन्तता। सर्व समर्थ में मैंने विश्वास कर लिया, तो चिन्ता की कौनसी बात? फिर मिलती है, निर्भयता और फिर मिलती है, प्रियता। निश्चिन्तता में शक्ति का

प्रादुर्भाव होता है, निर्भयता से शक्ति का सदुपयोग होता है। प्रियता से रस की अभिव्यक्ति होती है। तो हर एक भक्त के जीवन में निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता रहती है।

त्रेता में देखिए। त्रेता में शबरी जी बड़ी भक्त हुई, बड़ी ऊँची कोटि की भक्त हुई। शबरी जी की साधना में क्या था? जरा बताओ तो सही। उनके गुरु थे मतंग ऋषि। उन्होंने यह कहा कि देख शबरी! तुझे राम मिलेंगे, तेरे आश्रम में राम आयेंगे। अब देखिए, इसे कहते हैं गुरु-भक्ति। शबरी जी निश्चिन्त हो गई कि मुझे राम मिलेंगे, मुझे राम मिलेंगे। बताओ, शबरी जी की साधना और क्या थी? वे ध्यान करती थी, जप करती थी? कहीं नहीं लिखा है। उनकी साधना यह थी कि जो उनका दैनिक कर्म था उसके अनुसार रास्ता साफ करना, ऋषियों के आश्रम में लकड़ियाँ डाल आना।

आजकल लोग कहते हैं कि ध्यान करो बैठकर। काम करोगे तो बाधा पड़ जायेगी भजन में। यह बिल्कुल गलत बात है। बताओ, शबरी जी ने कौन सा आसन साध कर, मुद्रा साध कर भजन किया था? उनके गुरु ने कौनसी मंत्र दीक्षा दी थी? केवल आस्था दी, श्रद्धा दी, विश्वास दिया कि शबरी! तुझे राम मिलेंगे। आप जानते हैं कि शबरी माँ है, मैया है। तो माँ के मन में भाव उठता है कि मैं राम को क्या खिलाऊँगी! माँ तो खिलाना ही जानती है।

एक दिन लाल कन्हैया की मैया कह रही थी कि यह कुछ खाता ही नहीं है। कितना मधुर भाव था उनके मन में! कितनी सुन्दर वाणी थी कि यह तो कुछ खाता ही नहीं है, इसका शरीर तो अच्छा रहता ही नहीं है! तो माँ के मन में क्या रहता है? कुछ खिलाऊँ-पिलाऊँ तो अच्छा रहे। माँ कमाई खाना चाहती हो, सो नहीं। वह बिल्कुल कमाई खाना नहीं चाहती।

तो महाराज, शबरी मैया सोचने लगी कि राम आयेंगे, तो मैं क्या खिलाऊँगी? यह तो वह सोच ही नहीं सकती थी कि बाजार से मिठाई मँगाऊँगी। वह तो फल खाती थी जंगल के। वह भील जाति की थी। तो जो फल खाये और मीठा लगे, वह अपना खाना भूल जाए और राम के लिए जमा करना शुरू कर दे कि मैं राम को खिलाऊँगी, राम को खिलाऊँगी।

सती माँ के दर्शन से तो हमें यह विश्वास हो गया कि शबरी का खाना जरूर छूट गया होगा। क्योंकि वह तो राम को खिलाने के लिए फल

इकट्ठा करती थी। राम का कोई समय निश्चित तो था नहीं। देखिए, भगवान् से मिलने का कोई समय निश्चित नहीं होता। इसीलिए अखण्ड प्रतीक्षा थी, दिन-रात प्रतीक्षा थी कि राम आयेंगे, राम जरूर आयेंगे। गुरु भगवान् ने कहा है, इसलिए जरूर आयेंगे। राम आयेंगे, उनके काँटे न लग जाये, इसलिए रास्ता बुहारना, राम के जो प्यारे ऋषि हैं उनके यहाँ लकड़ी डाल आना और मीठे-मीठे फल जमा करते रहना। इसके सिवाय बताओ, तीसरी चीज क्या थी उनके जीवन में?

उन्होंने यही स्वधर्म का पालन किया। यही सती माँ ने भी किया। मैं ठीक कहता हूँ कि यदि सती माँ के जीवन का कोई ठीक-ठीक अध्ययन करे, तो मालूम होगा कि जिस परिवार में वे रहीं, उस परिवार की सेवा की। सबको सम्मान दिया, सबको आदर दिया। किसी से कोई आशा नहीं रखी और भगवान् में विश्वास किया, भगवान् से सम्बन्ध जोड़ा। और तो कुछ किया नहीं। तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि शबरी ने भी यही किया और राम को आना ही पड़ा।

जब राम आए, तो शबरी जी तो सब सुध-बुध भूल गई। क्यों? जिसकी प्रतीक्षा होती है और जब वह आ जाता है, तो थोड़ी देर के लिए सुध-बुध बिसर जाती है। अब राम खुद माँगने लगे,"मैया! फल दे दे। मैया, भूख लगी है।" आप जानते हैं, भगवान् ने स्वयं गोस्वामी जी की वाणी में यह कहा है कि मैया कौशल्या ने मेरे लिए बड़े-बड़े सुन्दर भोजन बनाए। हमारी लता जी जानती हैं कि सुनैना जी ने बड़ी-बड़ी पहुनाई की। उन्होंने यहाँ तक पहुनाई की कि मिथिलावासी तो कहते हैं कि वह पहुनाई समाप्त ही नहीं हुई। दूल्हा-दुलहिन वहाँ अब भी निमन्त्रण खा रहे हैं। ऐसा वहाँ के

लोग मानते हैं। लेकिन रघुनाथ जी कहते हैं कि जो स्वाद शबरी जी के बेरों में मिला, वह कहीं नहीं मिला। क्या कारण था? शबरी जी का प्रेम था या शबरी जी की कोई योग्यता थी? आप विचार करें। शबरी जी का प्रेम था।

तो देखिए, त्रेता में जो भक्त हुए, वे भी प्रभु-विश्वास को लेकर ही हुए। और महाराज, द्वापर की तो क्या कहें। द्वापर में तो जितने भक्त हुए हैं, वे तीन प्रकार के भाव को लेकर भक्त हुए हैं–वात्सल्य भाव के हुए, सख्य भाव के हुए और मधुर भाव के हुए। दास्य भाव का भक्त श्रीकृष्ण के चरित्र

में नहीं है। किसी ने श्रीकृष्ण को सखा बनाया, किसी ने बेटा बनाया और किसी ने पति बनाया। लेकिन कैसे पति बनाया? खुल्लमखुल्ला नहीं बनाया। यहाँ बड़ा भारी एक रहस्य है। गोपियों का प्रेम क्यों विशेष माना गया है? क्योंकि वे यह मानती हैं कि वे हमारे प्राणनाथ हैं, हमारे प्राण वल्लभ हैं, हम पर उनका पूरा अधिकार ही है। पर खुल्लमखुल्ला उन्होंने पति का सुख नहीं भोगा। परकीया भाव था उनका।

रुक्मिणी जी का स्वकीया भाव है। किशोरी जी! नाराज मत हो जाना। रुक्मिणी जी का स्वकीया भाव है। खुल्लमखुल्ला कन्यादान लिया। वे दुलहिन बनकर आई, पटरानी बनकर रहीं। लेकिन गोपियों का तो खुल्लमखुल्ला विवाह नहीं हुआ। सिर्फ उन्होंने पति मान लिया।

यहाँ भ्रम होगा बुद्धिमानों को। मैं आपसे निवेदन कर दूँ कि प्रेम का जो आरम्भ होता है वह शान्त के बाद दास्य भाव से प्रारम्भ होता है और मधुर भाव पर समाप्त होता है। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह कि जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे संकोच मिटता जाता है और वैसे-ही-वैसे भाव बदलता जाता है। श्री हनुमान जी जाहिरा दास हैं। वैसे हनुमान जी का दूसरा नाम क्या है, मालूम है? चारुशीला। मधुर भाव भी हनुमान जी में है। लेकिन प्रारम्भ में जाहिरा दास्य भाव है। तो जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे संकोच भी मिटता जाता है। जैसे-जैसे संकोच मिटता जाता है, वैसे-ही-वैसे आत्मीयता भी दृढ़ होती जाती है। मधुर भाव में दास्य भाव भी है। स्त्री दासी के समान सेवा भी करती है, मित्र के समान परामर्श भी देती है, मैया के समान खिलाती है और स्त्री होकर परम प्रेम भी प्रदान करती है। इसलिए मधुर भाव में सभी भावों का समावेश है।

द्वापर के भक्तों की तो क्या कहा जाय? उन्होंने केवल एक बात सोची। गोपियों ने कहा कि किसी प्रकार हमार श्रीकृष्ण से सम्बन्ध हो जाए, चाहे हमारी बदनामी क्यों न हो जाए, पर सम्बन्ध हो जाए। हम श्रीकृष्ण की हो जाएँ। इसी भाव को लेकर उन्होंने अगहन के माह में जमुना स्नान किया और कात्यायनी देवी की पूजा की।

देखिए, प्रेमी लोग जो पूजा करते हैं–यहाँ एक बड़ा गहरा रहस्य है–वह यह है कि या तो वे स्वधर्म का पालन करते हैं या जिससे प्रेम करते हैं, उसकी पूजा नहीं करते। आप देखेंगे

कि प्रेमियों ने अधिकतर भगवान् शंकर से प्रार्थना की है कि हमें श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त हो जाए। उन्होंने कहीं देवी की पूजा की है, कहीं स्वधर्म का पालन किया है, परिवार और समाज की सेवा की है। तो साधन दूसरा और साध्य दूसरा। यह बड़े रहस्य की बात है। भैया, सन्त मत में किसी-किसी ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। यह तो किया है साधन और मिला है प्रेम। गोपियों ने कहा कि किसी प्रकार हमारा सम्बन्ध श्रीकृष्ण से हो जाए। यह है छिपी हुई बात।

श्रीकृष्ण का तो यह स्वभाव ही है कि जो उन्हें अपना मानता है, उसे वे अपना मान ही लेते हैं। वे कभी इन्कार करते ही नहीं। उन्होंने देखा कि यह ब्रज गोपियाँ तो मुझको अपना बनाने के लिए, मेरी होकर रहने के लिए तपस्या कर रही हैं गोपियाँ। अब देखूँ तो सही, कैसी तपस्या कर रही है? जब वे जमुना में नहा रही थी वस्त्र सब बाहर थे, तो श्रीकृष्ण वस्त्रों को लेकर पेड़ पर चढ़ गये बन्दर की तरह। अब गोपियाँ निहोरे करती हैं–"हे लाला! तुम हमको तंग मत करों हमें जाड़ा लग रहा है, हवा तेज चल रही है। हमारी लज्जा बचाओ, हमारे वस्त्र दे दो।" श्रीकृष्ण ने कहा, "आओ, ले लो।" क्यों कहते हैं ऐसा? वे इनको सिखा रहे हैं कि देखो, तुम मुझे अपना बनाना तो चाहती हो, पर मुझसे भेद रखती हो? मुझसे परदा रखती हो?

सब लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने बड़ी अश्लील लीला की। अजी जनाब! अध्यात्मदृष्टि से वासनारूपी चीर हर लिया, देह का अभिमान श्रीकृष्ण ने हर लिया, क्योंकि देह अभिमान के रहते हुए भगवत् प्राप्ति नहीं होती। भगवत् चिन्तन हो सकता है, भगवत् ध्यान हो सकता है। भगवत् प्राप्ति देह अभिमान के रहते हुए कभी होती नहीं। आध्यात्मिक अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण ने वासनारूपी चीर हर लिया।

अब वे गोपियों को धर्म उपदेश करने लगे कि तुम नंगी होकर यमुना में नहाती हो? जब गोपियों ने अपने अंगों को अपने हाथों से ढका, तो श्रीकृष्ण ने कहा कि ऊपर हाथ करो, तब वस्त्र देंगे। मतलब क्या? यह देह अभिमान गलाने की बात थी। गोपियों का देह-अभिमान गल गया और श्रीकृष्ण के साथ आत्मीयता सिद्ध हो गई। उनका श्रीकृष्ण-प्रेम से जीवन भर गया। लेकिन किसी गोपी ने घर का काम छोड़ा हो, वन में गई हो, संन्यास

लिया हो, किसी गुरु के पास गई हो– ऐसा तो सुनने में नहीं आता।

लेकिन उनकी दशा कैसी हो गई थी? कोई गोपी गैया दुह रही थी। किसी ने पूछा कि क्या कर रही हो? वह बोली, कन्हैया को दूध के झाग दूँगी।" कोई कहे कि कन्हैया को माखन दूँगी। किसी गोपी का ऐसा कोई काम होता ही नहीं, जिसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से न हो। उनके हर काम के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि ब्रज गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ इतनी गहरी आत्मीयता स्वीकार की कि श्रीकृष्ण–प्रेम ही उनका जीवन हो गया। श्रीकृष्ण तो बड़े नटखट हैं। उन्होंने देखा कि अब यह गोपियाँ बेमन की हो गई हैं। लेकिन इनको अभी तक मेरी समीपता का सुख पसन्द है। महाराज, भगवान् के महत्त्व को जानना, उनके रहस्य को जानना बड़ा कठिन है! तो आप देखिए, श्रीकृष्ण मैया यशोदा से, बाबा नन्द से कहते हैं कि " बाबा हमने आपका दूध-मक्खन खाया। बाबा, अपनी गैयाँ सम्भाल लो । हम तो मथुरा जाएँगे, मामा कंस ने बुलाया है।"

महाराज! यह सुनना था कि नन्द और यशोदा इतने अधीर हो गये, व्याकुल हो गये कि कहने लगे कि लाला-लाला! यह गैयाँ माखन, दही-दूध सब तेरे हैं, हमारा कुछ नहीं है। मैया यशोदा विलाप करती हैं और कहती हैं," है कोई इस ब्रज में जो कन्हैया को रोक सके? कन्हैया जा रहा है। क्या कोई ऐसा प्रेमी है, जो इसे रोक ले?" मैया यशोदा को अपने प्रेम का भास भी नहीं। जब यह चर्चा गोपियों ने सुनी, तो वे कहने लगी कि मैया यशोदा उन्हें नहीं जाने देगीं। फिर भी जब श्रीकृष्ण मथुरा को जाने लगे, तो सुनते हैं कि गोपियाँ रथ के पहिये से लिपट गई। श्रीकृष्ण में बड़ा आकर्षण है। वे बोले," उठो सखी, बात सुनो, हम परसों आएँगे, परसों।"

आज तक ब्रज में यह रिवाज है कि "परसों" शब्द का इस्तैमाल नहीं करते। एक जगह ब्रज यात्रा में एक वृक्ष के तने पर लिखा था–परसों की प्रिय आवन की जो कही, कब आवेगी बैरिन परसों! तो जब गोपियों ने देखा कि श्यामसुन्दर के मन में हमसे अलग रहने की है, तो उन्होंने हठ नहीं की, आग्रह नहीं किया। वे दौड़ी-दौड़ी मथुरा नहीं गई, पीछे-पीछे नहीं भागी। क्यों? प्रेम के साम्राज्य में प्रेमास्पद के मन की बात पूरी हो, यह भावना रहती है। प्रेमी यही चाहते रहते हैं कि

प्रेमास्पद को सुख मिले, प्रेमास्पद के मन की बात पूरी हो।

महाराज, गोपियाँ दिन-रात श्रीकृष्ण के विरह में घोर व्याकुल हैं। अगर उनको शीतल वायु का स्पर्श हो जाए, तो चौंक कर कहती है कि क्या तू प्यारे श्यामसुन्दर का स्पर्श करके आई है? कोई अगर मथुरा की ओर जाता हुआ दिखाई दे, तो उससे पूछती है कि क्या तुम मथुरा जा रहे हो? श्रीकृष्ण से हमारा यह सन्देश कहना। कोई मथुरा की ओर से आता दिखाई देता, तो पूछती कि हमारे श्यामसुन्दर कैसे हैं? न उन्हें दिन का पता है, न रात का पता है।

इधर महाराज, गायों की क्या दशा हो गई! तृण मुँह में लगा है, न उगल पाती है, न निगल पाती हैं। क्योंकि गायों ने भी श्रीकृष्ण को बछड़ा बना कर उनके स्पर्श का सुख लिया है। गोपियों ने भी श्रीकृष्ण की समीपता का रस लिया है। अब जिस-जिसने रस लिया है, वे सब बेमन के हो गये। जब गोपियों को हरा-भरा वन दिखाई दें, तो वे अधीर हो जाती, व्याकुल हो जातीं और कहतीं–हे मधुवन! तुम क्यों हरे-भरे हो, क्यों नहीं जल गए?–पुष्प व्यर्थ ही खिलते हैं, यमुना व्यर्थ ही बहती है।

मेरा कहने का तात्पर्य यह था कि जो ब्रज, रस का स्त्रोत दिखाई देता था, वह अब श्रीकृष्ण के बिना घोर अग्नि में जलता हुआ दिखाई देता है। उधर श्रीकृष्ण मथुराधीश हो गए? उनकी बड़ी जयजयकार हो रही है। पर वे अधीर हो कर एक दिन उद्धव से कहने लगे कि भैया उद्धव! मुझे ब्रज की बड़ी सुधि आती है। उद्धव जी ने पूछा, 'क्यों महाराज, यहाँ आपकी सेवा में क्या कठिनाई है? क्या कमी है? क्यों ब्रज की सुधि आती है?" वे बोले, "भैया, क्या बताऊँ? जब से मैंने ब्रज छोड़ा है, किसी ने मुझे कनुआँ कह कर नहीं बुलाया, किसी ने गुंजा की माला नहीं पहनाई, किसी ने दूध के झाग नहीं दिये, किसी ने माखन-चोर नहीं कहा, किसी ने चित्त-चोर नहीं कहा। भैया ऊधों! मुझे ब्रज की बड़ी सुधि आती है।"

उद्धव जी बोले," महाराज! आप अधीन न हों, व्याकुल न हो।" श्रीकृष्ण बोले," भैया उद्धव, तू तो ब्रह्मवित् पुरुष हैं, मेरा परम सखा है। मैंने सुना है कि ब्रजवासी मेरे वियोग में बड़े अधीर हैं, व्याकुल हैं। जा भैया, उन्हें नैंक समझा आओ।" उद्धव बोले," महाराज आप अधीर न हों, व्याकुल न हों। मैं जाऊँगा।" श्रीकृष्ण

बोले "अरे भैया! तू कैसे जावेगौ, कौन तेरी ओर देखेगौ?" तो श्रीकृष्ण ने अपना ही स्वरूप, अपना ही रथ और अपना एक पत्र उद्धव जी को दिया। उद्धव जी श्रीकृष्ण के स्वरूप में उनके रथ पर चढ़ कर ब्रज को गए।

सुनते तो यह हैं कि जैसे-जैसे ब्रज समीप आता जाता है, वैसे-ही-वैसे प्रेम के प्रभाव से उद्धव जी प्रेम से विभोर होते चले जाते हैं। अब देखिए, सबसे पहले दृष्टि उद्धव के रथ पर किसकी पड़ी? सखाओं ने रथ को देखा और आपस में कहने लगे कि भैया देखो, यह रथ तो वैसा ही है, जिसमें हमारा दादा गया था। मालूम होता है, हमारा दादा आ रहा है। अब तो उनके हर्ष का पारावार नहीं। यह नियम है कि जितना प्रेम बढ़ता है, हर्ष बढ़ता है , उतनी ही शारीरिक चेष्टाएँ रुकती हैं। रथ जैसे-जैसे समीप आता है, वैसे-ही-वैसे और तीव्र उत्साह बढ़ता चला जाता है।

समीप आने पर देखा कि यह तो उद्धव जी हैं। तो सखाओं ने कहा कि उद्धव जी, जुहार! आप अच्छे तो हैं? हमारा दादा अच्छा तो है? कभी उसे हमारी याद आती है कि नहीं? उद्धव बोले, आपके दादा बहुत अच्छे हैं। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है कि मैं उनकी बात कहूँ। आप अधीर न हों। सखा बोले," अरे भैया उद्धव! कहा बात करैगौ तू, हम का सुनेंगे? वे अब दिन कहाँ, जब हम लाला के साथ खेलते थे, खाते थे? भैया, हमें अब कछू अच्छौ नाय लगै। हमारौ दादा अच्छौ तो है? वह कब आवैगौ? भैया, हम अपनी दशा कहा बतावें? गौओं की ही दशा देख ले। ये न तृण उगल पाती हैं, न निगल पाती हैं, ज्यों-की-त्यों टकटकी लगाये देखती रहती हैं, स्तब्ध हो गई हैं। भैया! तू ही चल कर देख ले।"

मैया यशोदा की क्या दशा है, बाबा नन्द की क्या दशा है। जिस समय उद्धव जी भैया यशोदा जी और नन्द बाबा के पास पहुँचे, तो उन्होंने भी यही पूछा," उद्धव, हमारौ लाला अच्छौ तो है? भैया उद्धव, क्या बताएँ! लाला तो हमें भूल ही गयौ। लाला ने हमारी सुधि ही नाय लई। कब आबैगौ हमारौ लाला?" उद्धव जी बोले," बाबा! आप अधीर न हों। आपके लाला जरूर आयेंगे। आपके लाला ने आपके लिए जुहार कही है। आपके लाला ने कहा है कि बाबा इतनौ कठोर है गयौ है कि जबसे छोड़कर गयौ है , तब से आयौ ही नाय।" उल्टा उलाहना, उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे।

मैया यशोदा ने कहा ,"भैया उद्धव! देख यह लाला के लिए दूध के झाग रखे है। यह लाला के खिलौना रखे हैं, यह माखन रखा है, यह मिश्री रखी है। हमारौ लाला अच्छौ तो है? भैया उद्धव! लाला जहाँ रहे सुखी रहे, जुग-जुग जिऐ। भैया उद्धव, एक बार लाला आ जाता, मुझे अपनी धाय बना लेता। मैया न कहता, तो कोई बात नहीं। मुझसे बड़ा अपराध हुआ। हाय! हाय!! मैंने लाला के हाथ बाँधे, बड़े कष्ट दिए।" यानी अब यशोदा जी अपनी भूल से पीड़ित हैं, बार-बार लाला को आशीर्वाद देती हैं, और कहती हैं कि भैया उद्धव, मैं तो माँ हूँ, सब कुछ सह लूंगी। पर तू प्रेम की मूर्ति राधा को समझा दे। गोपियों की क्या दशा है ,स्वयं की देख ले। जब लाला था, तब गोपियों से मेरा घर भरा रहता था। पर जब से लाला गया है, तब से न कोई ग्वालबाल आता है, न कोई गोपी आती है। सब नीरस हो गये हैं।"

जब उद्धव जी गोपियों के पास आये और योग सिखाने लगे, तो गोपियों ने कहा, " उद्धव! क्या तुम बौरा गये हो, पागल हो गये हो, जो यहाँ दौड़े चले आये? तुम्हीं बताओ, कहाँ श्याम नहीं हैं? हमारे रोम-रोम में श्याम-ही-श्याम है। तुम हमें योग सिखाने आये हो? बताओ, हमारे पास हमारा मन है क्या? हम बेमन की हैं। हम किसका निरोध करें, हम किससे योग करें? अगर हमें अवधूतिन बनाना है, योगिनी बनाना है, तो गुरु वहाँ और चेली यहाँ! यह कैसे हो सकता है?

तो महाराज, उद्धव जी अपना सारा ज्ञान भूल गये। वे अपनी बुद्धिमानी का अभिमान लेकर आये थे। अब वे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए लौटते हैं और प्रभु से आराधना करते हैं कि मैं इस ब्रज की लता-पता बन जाऊँ, गोपी-पद पंकज की रज मेरे ऊपर धारण हो, मैं कृतार्थ हो जाऊँ! उधर जब वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे, तो उनसे बिगड़ते हुए कहने लगे कि तुम ब्रज को जल्दी जाओ, जल्दी जाओ। नहीं तो सारा ब्रज डूब जायेगा। श्रीकृष्ण के रोम-रोम में गोपियों का दर्शन हुआ, जैसा कि ब्रज में गोपियों के रोम-रोम में श्रीकृष्ण का दर्शन हो रहा था। तो यह प्रेम का अद्वैत है। जब श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारिकापुरी चले गये, तो वहाँ महाराजाधिराज हो गये। उनकी आठ पटरानियाँ और लगभग सोलह हजार एक सौ रानियाँ थीं। उनका वहाँ जयजयकार होता रहता है। एक दिन नारद जी को विनोद सूझा। उन्होंने विनोद में

पटरानी श्रीरुक्मिणी जी से कहा " हे रुक्मिणी जी! आप दिन-रात प्राणवल्लभ की सेवा करती हैं, प्रेम करती हैं। पर जब देखो तब, महाराज राधे-राधे ही रटते रहते हैं।" यहाँ स्त्री स्वभाव का चित्रण है। अधिकार मानने वाले प्रेमियों का और अधिकार न मानने वाले प्रेमियों का चित्रण है। यह मत सोचिये कि रुक्मिणीजी प्रेमी नहीं है। वे परम प्रेमी हैं, उनके प्रेम में कोई कमी नहीं है। पर प्रेम में भी श्रेणियाँ होती हैं।

रुक्मिणी जी अपना अधिकार मानती हैं। तो यह बात रुक्मिणी जी को पसन्द नहीं आई। किसी का पति किसी अन्य स्त्री की प्रशंसा करे, तो पत्नी को सहन नहीं होती। ऐसे ही अगर कोई स्त्री किसी पर-पुरुष को पसन्द करे या प्रेम करे, तो पुरुष को भी अपना बड़ा तिरस्कार मालूम होता है। ऐसे ही स्त्री को भी अपना बड़ा तिरस्कार मालूम होता है। क्योंकि दोनों ही एक-दूसरे पर अपना अधिकार मानते हैं। तो रुक्मिणी जी उदास हो गई। आप जानते हैं, जो श्यामसुन्दर प्रेम के ही पुजारी हैं, उनकी प्रिया उदास हो जाएँ, तो उन्हें चैन कहाँ?

तो रुक्मिणी जी की उदासी से श्रीकृष्ण के सिर में पीड़ा हो गई। वे कितने प्रेमी हैं और उनको प्रेमी कितने प्यारे लगते हैं! वे प्राणीमात्र के कितने अपने हैं! इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह नियम है कि प्रेम पहले माशूक (प्रेमपात्र) में पैदा होता है। यानी प्रेम पहले प्रभु में होता है, तब कोई उनका प्रेमी होता है। तो रुक्मिणी जी उदासी श्रीकृष्ण से सही नहीं गई। कितनी प्यारी हैं उन्हें रुक्मिणी जी! पर गोपियों का प्रेम अधिकार न मानने का था। उन्होंने खुल्लमखुल्ला कह दिया कि हम श्रीकृष्ण की रजा में ही राजी हैं और उन्हें कुछ नहीं चाहिए।

39(ब) मुझे कुछ नहीं चाहिये,प्रभु मेरा अपना है,सबकुछ प्रभु का है।

सत्य को स्वीकार करने से समाज में क्रान्ति आती है, आन्दोलन से नहीं। इसलिए मानव-सेवा-संघ में क्रान्ति का स्थान है, आन्दोलन का नहीं। अरे भाई, हम मानव हैं। हमें मानव होने के नाते किसी का बुरा नहीं चाहना चाहिए। कोई क्यों अपराध करता है? इस पर सोचो। कर्म से कर्त्ता बनता है कि कर्त्ता में से कर्म निकलता है? जरा गम्भीरता से सोचो। कर्त्ता में से

कर्म निकलता है। तो जब तक कर्त्ता ने अपने को बुरा नहीं बना लिया, तब तक वह बुराई कर सकेगा क्या? पहले वह अपने को बुरा बनाता है, तब बुराई करता है। वह बुरा न रहे, यह करुणा आपके हृदय में जगे और बुराई के बदले में भलाई करें, तब उसका सुधार होगा। बुराई के बदले में दण्ड देने से सुधार नहीं होगा। दण्ड देना राष्ट्रगत काम है, व्यक्तिगत नहीं है।

यह व्यक्तिगत बात है कि यदि आपके साथ बुराई की गई है, तो यह निर्णय लेना होगा कि मैं बदले में बुराई नहीं करूँगा, क्योंकि मैं मानव हूँ, मैं साधक हूँ। मैं बुराई नहीं करूँगा। तो इस मानवता के द्वारा समाज में क्रान्ति आती है। दण्ड के द्वारा समाज में क्रान्ति नहीं आती। स्थायी क्रान्ति मानवता के ही द्वारा आयेगी। यही मेरा कहना था। देखो, एक साधक-धर्म होता है और एक राष्ट्र-धर्म होता है। दण्ड राष्ट्र दे सकता है, व्यक्ति नहीं दे सकता। व्यक्ति किसी को फाँसी की सजा नहीं दे सकता। राष्ट्र कानून बनाता है कि तुमने मारा है, तुमको फाँसी की सजा दी जाती है। मजिस्ट्रेट कानून के अन्तर्गत सजा सुनायेगा।

अगर आप चाहें, तो एक अदण्डनीय समाज का निर्माण कर सकते हैं। पर कब? जब गलती करने वाले हम सब लोग अपने साथ न्याय करें। न्याय के तीन अंग होते हैं। पहला अंग होता है कि हम इस बात को स्वीकार करें कि हमने बुराई की। दूसरा अंग होता है कि उससे हमारे हृदय में वेदना होनी चाहिए कि अरे, राम! राम!! मानव होकर हमने बुराई की? तीसरा निर्णय होता है कि अब मैं कभी बुराई नहीं करूँगा। इस तरह निर्दोषता की स्थापना होगी, राजदण्ड से नहीं होगी?

देखिये, मानव-सेवा-संघ ने बड़ी सुन्दर बात बताई। उसने कहा कि देखो भाई, तुम पहले भले हो जाओ। कैसे? की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेकर भले हो जाओ। यहाँ भले होने के लिए भलाई करनी पड़ी कि बुराई छोड़नी पड़ी? बुराई छोड़नी पड़ी। तो बुराई छोड़ना जो है यह भलाई का मूल है। इस दृष्टि से मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में यह है कि भैया, अपनी भूल को देखो कि आपकी अपनी भूल क्या है? तो हमारी सबसे बड़ी भूल यह है कि जो संसार की वस्तु है, उसे अपनी मान लेते हैं और जो अपना है, उसे भूल जाते हैं। संसार की वस्तु क्या है? शरीर,

योग्यता, सामर्थ्य संसार की है। अपना क्या है? परमात्मा अपना है।

तो जो अपना है उसे भी हम भूल गये, जो संसार का है उसे अपना मानने लग गये। अब विचार करके देखो कि अगर यह बात हमारे-आपके जीवन में ठहर जाए कि शरीर संसार के लिए हैं, अपने लिए नहीं है, तो यह निर्णय करोगे कि अपने द्वारा किसी के साथ बुराई नहीं करूँगा, यथाशक्ति भलाई करूँगा। इसके लिए आपने इस सत्य को स्वीकार किया कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है; प्रभु मेरे हैं और मेरे लिए हैं।

जब आप इस बात को मानोंगे कि प्रभु मेरे हैं, और मेरे लिए हैं, तो प्रभु के प्रति प्रेम जगेगा कि नहीं? प्रेम जगेगा। जब आप इस बात को मानेंगे कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है, तो संसार की सेवा बनेगी कि नहीं? सेवा बनेगी। सेवा के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए और प्रेम के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए, तो त्याग आयेगा कि नहीं? तो आपका स्वरूप क्या हुआ? मानव का स्वरूप क्या हुआ? सेवा, त्याग और प्रेम। यही मानव का स्वरूप हो गया। तो सेवा के लिए क्या किया? इस सत्य को स्वीकार किया कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है। प्रेम के लिए क्या किया? इस सत्य को स्वीकार किया कि प्रभु मेरे हैं और मेरे लिए हैं। और त्याग के लिए क्या किया? इस सत्य को स्वीकार किया कि सेवा के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए और प्रेम के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए।

जब संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर रहे हैं, तो हमें क्या हक है कि उसके बदले में हमें कुछ चाहिए? और जब हम अपने ही को अपना प्रेम दे रहे हैं, तो प्रेम से भी बढ़िया क्या कोई और चीज है जो हमें चाहिए? तो देखो, अचाह होना भी जीवन का सत्य निकला, प्रेमी होना भी जीवन का सत्य निकला और उदार होना भी जीवन का सत्य निकला। उदार होना, अचाह होना, प्रेमी होना जीवन का सत्य है।

इस दृष्टि से विचार करके देखें कि हर भाई, हर बहन यदि भूल-रहित होनी की बात को पसन्द कर लें कि शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य संसार के लिए हैं, अपने लिए नहीं है; तो इस सत्य को मानने मात्र से निर्विकारता प्राप्त होती है और उदारता जाग्रत होती है। क्या निर्विकारता और उदारता प्राप्त होने पर लोभ सतायेगा, मोह सतायेगा,

अभिमान आयेगा, विषमता दीखेगी? कदापि नहीं। तो समता आ गई, निर्लोभता आ गई, निर्मोहता आ गई, निरभिमानता आ गई , निर्विकारता आ गई। करके देखो, जरूर आ जायेगी।

अच्छा, क्या अपना अपने को प्यारा नहीं लगता? प्यारा लगने का और कोई उपाय है क्या? अगर हम प्रभु को अपना मानकर प्यार नहीं दे सकते, तो किसी बल के द्वारा प्यार पैदा होता है क्या? किसी योग्यता से पैदा होता है क्या? किसी से नहीं। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि परमात्मा को अपना मानने के सिवाय और क्या भजन होगा? लेकिन हम लोग करते क्या हैं? जो शरीर संसार की सेवा के लिए मिला था, उसे अपने काम में लगा लिया कि मैं अपने शरीर में भगवान् का नाम लूँगा, तो उसका फल मुझे मिलेगा। मैं यह नहीं कहता हूँ कि नाम लेना कोई बुरी बात है या नाम नहीं लेना चाहिए।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में बताया जाता है कि यदि भगवान् की हर चीज अपने को प्यारी लगती है, तो भगवान् का नाम भी हमको प्यारा लगेगा। आप विचार करके देखो कि क्या नाम का प्यारा लगना लाभदायक है कि नाम का उच्चारण करना लाभदायक है? नाम का प्यारा लगना लाभदायक है। अच्छा, प्यारे का नाम होगा तब प्यारा लगेगा कि गैर का नाम प्यारा लगेगा? प्यारे का नाम प्यारा लगेगा। फिर प्यारे की सृष्टि, प्यारे की हर चीज प्यारी लगेगी। भगवान् को अपना मानेंगे, तब भजन होगा कि किसी क्रिया विशेष से भजन होगा? अपना मानेंगे, तब भजन होगा।

गुरुवाणी से, भक्तवाणी से और वेद वाणी से सुना है कि जो सदैव रहता है उसी को परमात्मा कहते हैं, जो सभी का होता है उसी को परमात्मा कहते हैं, जो सर्वत्र है, जो समर्थ है, जो अद्वितीय है, उसी को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा एक ही है। इस दृष्टि से सोचिये कि जो चीज सभी की होगी, उसे हम अपना मान सकते हैं कि नहीं? अच्छा, जो सदैव है, उसका कभी नाश होगा नहीं। परमात्मा सभी का होने से अपना भी है, सदैव होने से अभी है और सर्वत्र होने से अपने में भी है।

तो परमात्मा का भजन कब बनेगा? जब तुम यह मानोगे कि परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है, समर्थ है, अद्वितीय है। यह पाँच बातें मान लेने के बाद ही भजन होगा कि

पहले हो जाएगा? इनके बाद ही भजन होगा। तो परमात्मा अपना हुआ, अपने में हुआ, अभी है, समर्थ है और अद्वितीय है। अद्वितीय होने से हमको पहचान नहीं करनी पड़ेगी। वह दो तो हैं नहीं, एक ही है। समर्थ होने से हमारे अन्दर भय नहीं रहेगा। अपने में होने से अप्राप्त नहीं रहेगा और अपना होने से प्रिय लगेगा। बहुत बढ़िया बात है। अपना होने से तो हमको प्यारा ही प्यारा लगेगा , अपने में होने से अप्राप्त नहीं रहेगा अर्थात् प्राप्त रहेगा, अभी होने से भविष्य की आशा नहीं करनी पड़ेगी, समर्थ होने से हम अभय होंगे और एक ही होने से जान-पहचान की जरूरत ही नहीं पड़ेगी कि वह क्या है, कैसा है?

एक बार की बात है कि मथुरा में बहुत बड़ा यज्ञ हुआ। लाखों आदमियों की भीड़ बताते हैं। इत्तफाक की बात है कि हमको भी बुला लिया गया। वह यज्ञ पं॰ श्रीराम जी ने कराया था। वे पुराने आर्य समाजी हैं। आर्य समाज के लोग भी उसमें आये थे, सनातनी लोग भी आये थे। दोनों तरह के लोग आये थे। एक महात्मा वेदों के बड़े पण्डित थे। वे परमात्मा की महिमा और स्वरूप का वर्णन कर रहे थे कि परमात्मा ऐसे हैं, ऐसे हैं। उसके बाद हमको बोलना पड़ा। बीस मिनट का समय था। बड़ी मिटिंग थी। एक आदमी को 20 मिनट का समय दिया गया। हमने कहा कि परमात्मा ऐसे हैं, ऐसे हैं, यह तो हम तब सोचें कि जब हम उन्हें छोड़ सकें। जो छोड़ा नहीं जा सकता, वह कैसा है, इसका प्रश्न आता है क्या? परमात्मा का वर्णन अभीष्ट है या कि परमात्मा को अपना मानना अभीष्ट है? अपना मानना अभीष्ट है। जब वह एक ही है, सदैव है, तो मौजूद का चिन्तन करें, कि मौजूद को प्यार करें?

परमात्मा के मानने वाले सोचें कि तुम क्या करते हो? मानते तो यह हो कि परमात्मा मौजूद है। मौजूद को तो प्यार किया जाता है। मौजूद को क्या बुलाया जाता है वाणी से, मन से, बुद्धि से? बोलो पापा? मौजूद चीज को क्या बुलाओगे, क्या उसे ढूँढोगे? प्यार करोगे। तो परमात्मा प्यारा लगना चाहिए, परमात्मा को अपना मानना चाहिए, परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मौजूद है।

देखिए, परमात्मा हमको क्यों नहीं मिलता? परमात्मा के अस्तित्व को हम स्वीकार ही नहीं करते कि वह मौजूद है। इतना सुन लेते हैं कि

परमात्मा है। उसके अस्तित्व को कहाँ स्वीकार करते हैं, उनके महत्त्व को कहाँ स्वीकार करते हैं, उसमें अपनत्व को कहाँ स्वीकार करते हैं? अगर हमने प्रभु के अस्तित्व को, महत्त्व को, अपनत्व को स्वीकार किया होता, तो परमात्मा हमको प्यारा लगता, परमात्मा हमको अप्राप्त न लगता। यह तो हम करते नहीं।

अच्छा, अब शरीर, जो कि संसार की वस्तु है। संसार भले ही परमात्मा का हो। यह तो हो सकता है। लेकिन क्या शरीर संसार से बाहर जा सकता है? नहीं। तो शरीर के द्वारा हमें परमात्मा के जगत् की सेवा करनी चाहिए थी और अपने द्वारा हमें परमात्मा को अपना मानना चाहिए था। अगर हम अपने द्वारा परमात्मा को अपना मान लें और शरीर के द्वारा परमात्मा के जगत् की सेवा करें, तो आप जानते हैं, क्या परिणाम निकलेगा? अगर कोई आपके परिवार की सेवा करता है, तो आपको वह प्रिय लगता है कि अप्रिय लगता है? बहुत प्यारा लगता है। तो जब हम परमात्मा के जगत् की सेवा करेंगे, तो हम परमात्मा को प्यारे लगेंगे कि नहीं? प्यारे लगेंगे। परमात्मा को अपना मानेंगे, तो वे हमको प्यारे लगेंगे कि नहीं? लगेंगे।

तो हम परमात्मा को प्यारे लगें, परमात्मा हमें प्यारे लगें। हमारे और परमात्मा के बीच प्रेम का आदान-प्रदान हो, यह तो हमारा काम था। लेकिन वाह रे हम! शरीर को लेकर मौन होकर बैठ जायेंगे एकान्त में। यदि मौन से परमात्मा मिलेगा, तो पत्थर के टुकड़े को परमात्मा मिलेगा कि तुमको मिलेगा? तुम पत्थर के समान तो मौन हो नहीं सकते। बोले, हम तो खूब गर्मी-सर्दी और धूप सहेंगे। तो तुमको परमात्मा मिलेगा कि वृक्षों को मिलेगा?

हमसे सबसे बड़ी भूल हो गई कि हमें परमात्मा की प्राप्ति का उपाय मालूम तो है और कर भी सकते हैं, लेकिन करते नहीं हैं। यह मानेंगे ही नहीं कि सृष्टि एक इकाई है और इस इकाई का कोई एक मालिक है। यदि कोई कहे कि सृष्टि के मालिक तो हम हैं। तो क्या दुनियाँ का बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक यह कह सकता है कि हमने सूर्य बना लिया? मनुष्य ने सूर्य, वायु, आकाश, पृथ्वी, जल आदि का उपभोग किया या कि इनको बनाया? केवल भोग किया।

सृष्टि किसी व्यक्ति की बनाई हुई है क्या? नहीं। तो इस सत्य को हम मान लें कि सृष्टि का रचयिता कोई मनुष्य नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि "मैं" नहीं हो सकता। एक गेहूँ का दाना भी पैदा नहीं कर सकते। गेहूँ मिल जाये तो पूड़ी तो बना लोगे। मनुष्य ने सृष्टि का उपयोग किया है , कि उसको उत्पन्न किया है? उपयोग किया है। तो सृष्टि का उपयोग करना कहलाता है, भोग। और सृष्टि की सेवा में काम आना कहलाता है, योग।

योग की इस परिभाषा पर गौर कीजिए कि सृष्टि का अपने लिए उपयोग करना भोग, सृष्टि की सेवा में शरीर को लगा देना योग। परमात्मा को अपना मानना योग। परमात्मा से कुछ माँगना भोग। अगर यह बात समझ में आ जाए, जँच जाए, रुच जाए, तो अनुभव करके देखिए। परमात्मा को भाई, अपना मानना है, पर उससे कुछ चाहिए नहीं। सृष्टि के काम आना है, सृष्टि की दी हुई वस्तु के द्वारा, सृष्टि से मिली हुई वस्तु के द्वारा सृष्टि के लिए उपयोगी होना है, उसका भोग नहीं करना है। परमात्मा से भी कुछ माँगना नहीं है। अगर यह दो बातें हम और आप मान लेते हैं, तो जीवन में क्रान्ति आयेगी, कि नहीं? अवश्य आयेगी।

इसलिए मानव-सेवा-संघ कहता है कि भैया! तुम सत्संग करो। सत्संग तुम्हारा स्वधर्म है। सत्संग क्या है? संसार की वस्तु के द्वारा संसार के काम आना और परमात्मा को अपना मानना। न संसार के काम आने के बदले में कुछ चाहना और न अपने से कुछ चाहना अर्थात् अचाह होना। इन तीन बातों से सारे जीवन की समस्याएँ हल हो जाती हैं–(1) मुझे कुछ नहीं चाहिए।(2) प्रभु अपने हैं।(3) सब कुछ प्रभु का है। यही जीवन का सत्य है। इसके स्वीकार करने से उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्राप्त होगा। उदारता से जीवन जगत् के लिए, स्वाधीनता से अपने लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। यही मानव का सुन्दरतम चित्र है।

40(अ) कर्म का फल अविनाशी नहीं होता।

प्रश्न –महाराज जी! हमने सुना है कि प्रारब्ध कर्म का जो फल है, वह तो हमको भोगना ही पड़ेगा। वह इधर-उधर नहीं हो सकता। और यह भी हमको बतलाया गया है कि भगवान् के शरणागत होकर उसकी शरण में आ जाएँ और कोई आफत हो, तो निर्बल के बल राम होते हैं। भगवान्

उसको मुसीबत से निकाल देते हैं। इन दोनों को कैसे मिलाया जाए?

उत्तर–देखिये, मैंने यह समझा है कि प्रारब्ध माने, प्राकृतिक न्याय अर्थात् साधन-सामग्री। और पुरुषार्थ माने, उस सामग्री का सदुपयोग। यह दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। एक ही चीज के दो पहलू हैं। जैसे, जो बल आपको मिला है, जो योग्यता आपको मिली है, जो वस्तु आपको मिली है, जो साथी आपको मिले हैं, वे सब साधन-सामग्री के रूप में मिले हैं, जीवन के रूप में नहीं हैं। मानव को यह भ्रम तब होता है, जब प्रारब्ध से मिले हुए को जीवन मान लेता है। वह जीवन नहीं है, वह तो साधन-सामग्री है। उसका सदुपयोग करो, तो जीवन मिलेगा।

इससे यह निश्चित हुआ कि प्रारब्ध चाहे जैसा क्यों न हो, दुःखमय हो या सुखमय हो। अगर हम दुःखमय और सुखमय परिस्थिति का ठीक उपयोग कर लेते हैं, तो हमें जीवन मिल जायेगा। मैंने तो प्रारब्ध को और पुरुषार्थ को इस दृष्टि से समझा है। क्योंकि किसी भी कर्म का फल अविनाशी नहीं होता और किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा हम स्वाधीन नहीं होते। यह दोनों ही बातें बड़ी गम्भीर और विचारणीय हैं। कर्म का फल अविनाशी नहीं होता और वस्तु, योग्यता सामर्थ्य के द्वारा स्वाधीन नहीं होते। स्वाधीन हुए बिना न तो प्रभु की प्राप्ति होती है, न जीवन की प्राप्ति होती है।

इसलिए स्वाधीन होना हम सबके लिए अनिवार्य है। स्वाधीन किसी परिस्थिति के द्वारा होते नहीं, हो सकते नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी परिस्थिति प्रारब्धवश चाहे जैसी हो, उसके द्वारा स्वाधीनता हमें नहीं मिलेगी। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का अगर आप प्रभु विश्वासी हैं, तो प्रभु के नाते; भौतिकवादी हैं, तो जगत् के नाते और अध्यात्मवादी हैं, तो आत्मा के नाते सदुपयोग करना पड़ेगा। सदुपयोग कहो, चाहे सेवा कहो। क्रियात्मक सेवा वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा होती है और भावात्मक सेवा बुराई-रहित होने से होती है। तो बुराई-रहित होकर बड़ी व्यापक सेवा कर सकते हैं और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा हम क्रियात्मक सेवा कर सकते हैं।

जो कुछ हमें मिला है वह सेवा-सामग्री है। हम उस सेवा-सामग्री को भोग-सामग्री बना लेते हैं और फिर रोग में, शोक में बँध जाते हैं। कोई भी

पुरुषार्थ भोग की रुचि रखते हुए या भोग भोगते हुए हमें लक्ष्य तक पहुँचा नहीं सकता। फिर आदमी घबराकर कहता है कि भाई, प्रारब्ध ठीक है कि पुरुषार्थ ठीक है? कोई कहे कि बायाँ पैर ठीक है कि दायाँ पैर ठीक है? तो आप क्या कहेंगे? दोनों पैर ठीक है, दोनों पैरों से चला जाता है। प्रारब्ध ने परिस्थिति पैदा कर दी। पुरुषार्थ ने परिस्थिति का सदुपयोग कर दिया है और आपको अपने में परमात्मा मिल गया। आप स्वाधीन हो गये। आपके दुःखों की निवृत्ति हो गई। आपको चिरशान्ति और जीवनमुक्ति मिल गई। इस दृष्टि से यदि आप सोचेंगे, तो प्रारब्ध और पुरुषार्थ में कोई झगड़ा नहीं है।

अगर आप सुख-दुःख के भोग को ही जीवन मानेंगे, जो कि वास्तव में है नहीं, तब तो झगड़ा है ही। इसे कोई मिटा नहीं सकता, मिट सकता ही नहीं, मिटेगा ही नहीं। सुख के भोगी का दुःख कभी मिटेगा ही नहीं, आज तक मिटा नहीं, मिट सकता नहीं। इसलिए परिस्थिति को जीवन मानकर तो हमारा-आपका विकास नहीं हो सकता। परिस्थिति को साधन-सामग्री मानकर हम सबका विकास हो सकता है।

इस दृष्टि से आप प्रारब्ध के सदुपयोग में पुरुषार्थ का उपयोग करें और फिर सबसे बड़े पुरुषार्थ की खोज करें। अन्तिम पुरुषार्थ जीवन में क्या है? मेरे जानते, तो बुराई-रहित होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, निर्मम होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, अचाह होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, प्रेमी होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यह सभी मुझे पुरुषार्थ मालूम होते हैं।

अगर आप प्रेमी होना पसन्द करें, अचाह होना पसन्द करें, बुराई-रहित होना पसन्द करें, तो आपको बहुत बड़ा लाभ हो जाए। बुराई-रहित होने से आप संसार के काम आ जायेंगे, इतना बड़ा लाभ होगा। जिसके जीवन में कोई बुराई नहीं रहती, उसको संसार बहुत पसन्द करता है। संसार उसके पीछे-पीछे चलता है, उसको अपना पथ-प्रदर्शक मान लेता है, उसकी बड़ी पूजा भी करता है। इतना उदार है संसार।

लेकिन हम बुराई-रहित होते नहीं और फिर कहते हैं कि साहब, न तो परमात्मा की कृपा हमारे काम आती है, न सत्पुरुषों की सद्भावना हमारे काम आती है। इसलिए आप अपने को बुराई-रहित कीजिए। यह बहुत बड़ी बात है और

सबके लिए सुलभ है। बुराई न करने की बात सबके लिए सुलभ है, क्योंकि इसके लिए किसी और की सहायता नहीं लेनी पड़ेगी। यदि आप बुराई-रहित हो जायेंगे, तो अपने आप आपका चित्त शुद्ध और शान्त हो जायेगा। चित्त के शुद्ध और शान्त होने पर आपमें जिज्ञासा के लिए विचार का उदय होगा और भगवत्-प्राप्ति के लिए स्मृति की जागृति होगी तथा सेवा के लिए आवश्यक सामर्थ्य मिलेगी। ऐसा विधान है।

इसलिए प्रारब्ध को बुरा मत समझो, भला मत समझो। प्रारब्ध से कोई भाग्यशील या अभागा नहीं होता। जो बुराई-रहित हो जाता है, वही भाग्यशील होता है। मेरे जानते, बुराई-रहित होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। अचाह होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। भगवान को अपना मानना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यह बहुत बड़े पुरुषार्थ हैं, जो मैं बता रहा हूँ। पुरुषार्थ होता है 'स्व' के द्वारा। आप अपने द्वारा पुरुषार्थ कर सकते हैं। बुराई-रहित होने पर शरीर, वस्तु, योग्यता के द्वारा स्वतः भलाई होने लगती है। उसको सीखना नहीं पड़ता, उसके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जहाँ बुराई-रहित हुए, भलाई अपने आप होने लगती है। फिर उस होने वाली भलाई का अभिमान और फल छोड़ना होगा। तब आप अपने में अपने को सन्तुष्ट पायेंगे।

' अपने में' शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो जो वास्तव में अपना ही है, उसी में आप सन्तुष्ट पायेंगे और दूसरे अपने में ही सन्तुष्ट हो जायेंगे। जैसी आपकी निष्ठा हो, वैसा ही अपने को जान लीजिए, मान लीजिए। लेकिन आपको अपने में सन्तुष्ट होना ही पड़ेगा, स्वाधीन होना ही पड़ेगा। तभी आप सही अर्थ में प्रेमी हो सकेंगे। जब तक आप स्वाधीन नहीं होते, तब तक प्रेमी नहीं हो सकते और भाई, उदार भी नहीं हो सकते। उदार बिना हुए आप संसार के काम के नहीं और प्रेमी हुए बिना प्रभु के काम के नहीं। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है, वास्तविक है। प्रभु के काम का होना है, तो प्रेमी होना ही पड़ेगा और संसार के काम का होना है, तो उदार होना पड़ेगा।

यह उदारता और प्रेम मेरी भाषा में साधना है। साधना को मैं अविनाशी तत्त्व मानता हूँ। यह अविनाशी तत्त्व है, जो उदारता, , प्रेम और स्वाधीनता के रूप में है। यह सब साधना के रूप है। क्योंकि जो अपने

को अनुदार पाता है, वही उदार होता है। जो अपने को किसी आसक्ति में पाता है, वही प्रेमी होता है। जो अपने को पराधीन पाता है, वही स्वाधीन होता है। तो उदार हो जाना, स्वाधीन हो जाना, प्रेमी हो जाना अथवा उदार, स्वाधीन और प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करना–यह प्रार्थना है। मैं उदार हो जाऊँ, मैं स्वाधीन हो जाऊँ, मैं प्रेमी हो जाऊँ– ऐसी जरूरत महसूस करना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

यह कब सम्भव होगा? यदि आप इस बात को मान लें कि मैं उदार हो सकता हूँ, मैं स्वाधीन हो सकता हूँ, मैं प्रेमी हो सकता हूँ। यह आपको पहले मान लेना पड़ेगा। क्यों? अगर यह मान लेंगे कि मैं उदार हो ही नहीं सकता, तो उदारता की माँग कैसे जगेगी? मैं स्वाधीन हो ही नहीं सकता, तो स्वाधीन होने की माँग कैसे जगेगी? मैं प्रेमी नहीं हो सकता, तो प्रेमी होने की माँग कैसे जगेगी?

प्रेमी होने की माँग तभी जगेगी, जब आप इस बात को स्वीकार करें कि मैं मानव होने के नाते प्रेमी हो सकता हूँ, स्वाधीन हो सकता हूँ और उदार भी हो सकता हूँ। यह सीधी बात है। उदार होने के पीछे, प्रेमी होने के पीछे, स्वाधीन होने के पीछे एक बहुत बड़ा दर्शन है आपका। अब आप कहेंगे कि उदार होने के पीछे हमारा क्या दर्शन है? तो जनाब, यदि आपसे प्रश्न कर दें कि क्या आप शरीर को संसार की सीमा से बाहर ले जा सकते हो? किसी के पास कोई उपाय है क्या? क्या आप अपने शरीर को संसार से अलग कर सकते हैं? बोलो। नहीं कर सकते। यह खाली उत्तर देते हैं कि आप ऐसा मानते हैं?

अगर ऐसा मानते हैं, तो अपने शरीर की भाँति संसार को अपना क्यों नहीं मानते? और संसार की भाँति शरीर से अपने को अलग क्यों नहीं मानते? दो ही बातें हैं। अगर आप शरीर और संसार की एकता को स्वीकार करते हैं, तो जैसे शरीर की सेवा का, शरीर के हित का ध्यान रहता है, वैसे ही संसार के हित का ध्यान क्यों नहीं रहता? और जैसे संसार के दुःख से आप मुक्त रहते हैं, वैसे ही अपने शरीर के दुःख से मुक्त क्यों नहीं होते? होना चाहिए कि नहीं? हो सकते हैं कि नहीं? होना भी चाहिए और हो भी सकते हैं। अरे भाई, अगर आप यह मान लें कि सभी अपने हैं। कैसे? जैसे अपने शरीर की भाँति सभी अपने हैं। तो फिर आपको बुराई करने का

साहस कैसे होगा? अथवा यह मान लें कि जैसे संसार मुझसे अलग है, जितना दूर हैं, यह शरीर भी मुझसे उतना ही दूर है। जैसे संसार पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, वैसे ही अपने शरीर पर भी मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है।

अगर आप यह मान लें, वैसे तो शरीर और संसार आप से दूर ही हैं, आपसे चिपका हुआ नहीं है, आप उसमें बैठे हुए नहीं है। यह केवल भम्र है कि आप यह सोचते हैं कि शरीर के भीतर कहीं बैठा हूँ या संसार में हूँ। यह बहुत बड़ा भम्र है। ईमानदारी की बात तो यह है कि शरीर और संसार का आपसे कभी मिलन हुआ ही नहीं। कभी मिलन नहीं हुआ और हो सकता भी नहीं। फिर भी यदि आप यह मान लेते हैं कि मानो, मैं शरीर में कहीं बैठा हूँ यानी मानो शरीर मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है–ऐसा मान लेते हैं, तो यह भूल है। इस भूल को मिटाइये।

आप अपने ज्ञान के प्रकाश में स्वयं को देखिए कि क्या सचमुच आपका शरीर से मिलन हुआ है? अथवा जब तक आप किसी कार्य को नहीं करना चाहते, तब तक शरीर का आपने कोई उपयोग किया है? क्या राय है? किसी कार्य में ही शरीर का उपयोग होता है। कार्य तुम्हारा है नहीं, कार्य है जगत् का। यह बहुत सूक्ष्म बात है। इसमें बहुत वाद-विवाद, तर्क चल सकता है और गम्भीर विचार चल सकता है कि हमारा और शरीर का कभी मिलन नहीं हुआ। यानी जैसे शरीर बालू के ऊपर बैठा है, जैसे बालू की समीपता का अनुभव शरीर कर रहा है, वैसे हम कभी भी शरीर की समीपता का अनुभव नहीं कर सकते। बहुत दूर, बहुत दूर।

आप यह कहेंगे कि पागल बात कर रहा है। भला, हम शरीर से कैसे दूर हो सकते हैं? आपको ऐसा ही लगता होगा। लेकिन वास्तव में यह पागलपन नहीं है। पर हम शरीर में बैठे हैं, यह महा पागलपन है। शरीर नहीं रहेगा, तो मेरी क्षति हो जाएगी। यह मानना बड़ा भारी पागलपन है।

भाई, ज्ञान पूर्वक देखो, तो मालूम होगा कि आपका और आपके शरीर का मिलन ही नहीं है, है ही नहीं, हुआ ही नहीं , होगा ही नहीं। जैसे आपका और आपके शरीर का मिलन हुआ नहीं, ऐसे ही सच पूछिए, तो 'मैं' 'है' से कभी अलग है नहीं, हुआ नहीं, हो सकता नहीं। दोनों बातें विचित्र हैं। हम परमात्मा से कभी अलग हुए नहीं, हो सकते नहीं और शरीर से हमारा मिलन हुआ नहीं, हो सकता नहीं।

लेकिन दोनों ही बातें उलटे रूप से हम स्वीकार करते हैं।

परमात्मा है तो, पर न जाने कब मिलेगा? अरे भले आदमी, जब तुम कहते हो कि वह सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है। तो कब मिलेगा कि अब मिला है? कितने आश्चर्य की बात है! इससे बड़ा और कोई पागलपन हो सकता है क्या, यह सोचना कि न जाने परमात्मा कब मिलेगा? जबकि परमात्मा से आप कभी अलग हो सकते नहीं, हैं नहीं। हाँ, परमात्मा में रहते हुए भी, परमात्मा से अभिन्न रहते हुए भी हमने-आपने जो ममता के आधार पर, कामना और तादात्म्य के आधार पर शरीर के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है, यह हमारी भूल है, यह हमारा प्रमाद है।

अगर हम शरीर की ममता, कामना और तादात्म्य तोड़ दें अचाह होकर, निर्मम होकर और, एक और बहुत सूक्ष्म, बहुत गम्भीर और एक बार कह दूँ, कि बहुत गम्भीर, अप्रयत्न होकर। पहले निर्मम होकर, फिर अचाह होकर, और फिर अप्रयत्न होकर। इन तीनों में से एक भी उपाय छोड़ा नहीं जाएगा। ममता रखते हुए, चाह रखते हुए कहते हैं कि महाराज! मूक सत्संग नहीं होता, अप्रयत्न नहीं हो पाते। अरे भाई, ममता रखते हुए, चाह रखते हुए, क्या अप्रयत्न हो सकते हो? कदापि नहीं हो सकते। लेकिन निर्मम होकर, अचाह होकर अभी हो सकते हो। जब चाहो तब हो सकते हो।

तो मैं महानुभावों से यह निवेदन कर रहा था कि शरीर के द्वारा आप परमात्मा को पकड़ नहीं सकते। मैं यह कह दूँ कि मिल नहीं सकते, तो इसमें आपत्ति की बात नहीं है। आप तो मिल सकते हैं, लेकिन शरीर के द्वारा नहीं मिल सकते। आप अपने द्वारा मिल सकते हैं। हाँ, शरीर द्वारा परमात्मा की सृष्टि का कार्य कर सकते हैं। लेकिन आप अपना कार्य करते हैं, जबकि आपका कोई कार्य है नहीं। जो आपका कार्य है आपका निजी, आपका जो पर्सनल कार्य है वह है 'सत्संग'। उसे आप करते नहीं। आप शरीर से करने वाले कार्यों को अपना मान लेते हैं। यह बहुत बड़ी भूल है। यह बहुत बड़ी असावधानी है। अरे भाई, शरीर के द्वारा आप जो भगवान् का नाम लेते हैं, यह 'सत्संग' नहीं है।

एक लड़का मिला था, वह कहता था कि ध्यान करते हैं, तो ध्यान में मुझे भगवान् का दर्शन होता है, पर मैं इससे आगे क्या करूँ? अब आप सोचिये कि ध्यान भी हो गया, भगवान्

का दर्शन भी हो गया। आपको यदि आपका कोई सम्बन्धी मिल जाए, तो क्या आप उससे पूछेंगे कि मैं क्या करूँ? आप तुरन्त कहेंगे कि भाई, हमारा सम्बन्धी आया है। एकदम आपका हृदय उसके प्रेम से भरेगा। तो क्या यह आपका अनुभव नहीं है कि जब आपको कोई अपना मिलता है, तो वह प्यारा लगता है? उसकी सेवा में आप वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग नहीं करते हैं क्या? अवश्य करते हैं।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा अगर आप परमात्मा का काम करना चाहते हैं– परमात्मा का काम माने, संसार का काम–तो आप बहुत आराम से कर सकते हैं। फिर कार्य के अन्त में आपका परमात्मा में ही नित्य वास रह सकता है। परमात्मा का काम करने वाला परमात्मा में ही रह सकता है क्या, रहता ही है। वैसे तो सारी सृष्टि परमात्मा में रहती है। लेकिन महसूस नहीं करते कि परमात्मा में रहते हैं। मनुष्य ने अपना काम उत्पन्न कर लिया है। काम माने, करने में जो सुख है वह मुझे चाहिए। करने से जो सुख मिलता है वह मुझे चाहिए।

आप कहेंगे कि काम करेंगे, तो बहुत बड़ा लाभ हो जायेगा। तो करने के द्वारा जो अपने लाभ की बात सोचते हैं, उसको काम कहते हैं। भगवान् का जो काम करते हैं ,उसको पूजा कहते हैं और जो संसार का काम करते हैं , उसको कर्त्तव्य कहते हैं या सेवा कहते हैं। तो संसार का काम-सेवा, भगवान् का काम-पूजन और अपना काम-बन्धन। बहुत बडा बन्धन है अपना काम करना। आप कहेंगे कि रोटी खाना, दवाई खाना, कपड़े पहनना आदि हमारे ही तो काम हैं। ईमानदारी से बताओ कि शरीर से भिन्न अनुभव करके आपने किसी काल में रोटी खाई है क्या? खा पाओगे क्या? भूख लगी है क्या? बोलो। शरीर से अलग करके अपने को अनुभव किया ही नहीं, बोलें कैसे? बुद्धि के बल पर तो कह दोगे कि हाँ-हाँ ठीक है। क्योंकि ना कहने की हिम्मत है नहीं।

तो मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि आपने अपने लिए क्या करने का निर्णय किया है? क्या सोचा है? आप अपने लिए क्या करेंगे? फिर अपने से पूछिए कि आप संसार के लिए क्या करेंगे? फिर सोचिये तो परमात्मा के लिए क्या करेंगे? आप सोचिये तो सही कि आप अपने लिए

क्या करेंगे? फिर सोचिये कि परमात्मा के लिए क्या करेंगे? क्या कर रहे हैं अपने लिए, क्या करना चाहते हैं अपने लिए, क्या कर सकते हैं अपने लिए? इन बातों को सोचिए।

आप अपने लिए अपने द्वारा अचाह हो सकते हैं, निर्मम हो सकते हैं और प्रभु-विश्वासी हो सकते हैं, जरूर हो सकते हैं। लेकिन आप अपने द्वारा अपने लिए इन बातों को छोड़ कर और क्या कर सकते हैं, बताइये जरा? कोई बताए भाई, कोई बताए बहन! अचाह होने के अतिरिक्त, निर्मम होने के अतिरिक्त, प्रभु-विश्वासी होने के अतिरिक्त आप अपने द्वारा अपने साथ क्या कर सकते हैं? विचार करके देखिए। प्रभु विश्वासी आप हो सकते हैं, अचाह आप हो सकते हैं, निर्मम आप हो सकते हैं। अपने द्वारा हो सकते हैं, अपने लिए हो सकते हैं। दूसरों के लिए नहीं, अपने लिए हो सकते हैं। अपने द्वारा हो सकते हैं और अभी हो सकते हैं। उसका महान् फल है–निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता और प्रेम का उदय। यह अपने द्वारा हो सकता है। अपने द्वारा आप चार बातें जरूर कर सकते हैं–परमात्मा को अपना मान सकते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। आप अचाह हो सकते हैं, निर्मम हो सकते हैं, प्रभु में विश्वास कर सकते हैं और अपने द्वारा कर सकते हैं।

प्रश्न–स्वामी जी! हम अपने को जानें, तभी तो कर सकेंगे?

उत्तर–अपने को जानने का प्रश्न तो करने के बाद नहीं रहेगा। लेकिन आप अपने को महसूस करते हैं कि नहीं? भले ही आप न जानते हों कि मैं क्या हूँ। पर यह तो जानते हैं कि मैं हूँ और यह भी जानते हैं कि 'मैं' 'यह' नहीं हूँ।

प्रश्न–स्वामी जी! शरीर से अलग होने का अनुभव कहाँ हैं ?

उत्तर–सुनो, बात सुनो। अगर आप अपने द्वारा अच्छी तरह जानते हैं कि मैं जिसे 'यह' करके अनुभव कर रहा हूँ, 'मैं' करके उसे स्वीकार कर ही नहीं सकता। जिसको आप 'यह' करके स्वीकार कर रहे हैं, उसको 'मैं' करके स्वीकार कैसे करेंगे? नहीं कर सकते।

मैं आपसे बड़ी नम्रता से निवेदन करना चाहता हूँ। ठण्डी तबियत से सोचिये कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। आप जानते हैं कि बुराई का जीवन में कोई स्थान नहीं है। लेकिन जब दूसरे के साथ बुराई करते हैं, तब इस बात को उपयोग में नहीं

लाते कि भले ही मेरे साथ कोई बुराई कर रहा है, पर क्या मुझे अधिकार है बुराई करने का? जबकि मैं जानता हूँ कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। मिले हुए यानी प्रतीत होने वाले पर अपना अधिकार मानते हो, जबकि जानते हो कि उस पर अपना कोई अधिकार है नहीं। मैं जानता हूँ कि कोई अधिकार नहीं है। आप अच्छी तरह से जानते हैं कि मिला हुआ यानी प्रतीत होने वाला अपना नहीं है।

आप जानते हैं अच्छी तरह से कि जो शरीर आप देख रहे हैं, उस पर आपका अधिकार नहीं है, बिल्कुल अधिकार नहीं हैं। नहीं तो आप सोचिए। बड़े-बड़े वैज्ञानिक मौजूद हैं, चिकित्सक मौजूद हैं। भाई जी के शरीर की करुण कथा सुनिए, तो आपको पता चलेगा कि दिन-रात डाक्टर खड़े हुए हैं। शायद बहुत कम लोगों को इतनी सुविधाएँ मिलेगी। लेकिन क्या कर सके वे बेचारे? कुछ नहीं कर सके। कोई अधिकार नहीं रहा। उन्होंने मना किया कि कोई दवा मत दो भाई। यदि दवा देना ही चाहते हो, तो ऐसी दवा दो कि मैं बेहोश हो जाऊँ। इतनी असह्य वेदना थी। तो भैया मेरे, आप अच्छी तरह जानते हो कि शरीर पर अपना कोई अधिकार नहीं है।

अब आप देखिए, अर्थ क्या लगाते हैं? भूख लगी है। श्रीमती जी ने बढ़िया खाना पकाया, आदर पूर्वक बैठाया और आप खाने लगे। आप कहने लगे कि वाह! हम शरीर के द्वारा भोजन करते हैं। अब आपने यह रवैया अख्यार कर लिया कि हम शरीर के द्वारा भजन करते हैं। जरा सी कड़ी बात कह दूँ, बुरा न मानें कोई भाई। आप कहते हैं कि हम शरीर के द्वारा सेवा करते हैं। बुराई-रहित हुए नहीं और सेवा हो गई? स्मृति जगी नहीं और भजन हो गया? कैसा भजन करते हो बाबू? कैसी आप सेवा करते हैं?

हाँ, सेवा की चर्चा करते हैं शरीर के द्वारा। भजन की चर्चा करते हैं शरीर के द्वारा। अभ्यास करते हैं शरीर के द्वारा। विश्वास भी नहीं हो पाता शरीर के द्वारा। इन्द्रियों के आधार पर, बुद्धि के आधार पर जो आप विश्वास करते हैं, उसमें विकल्प हो जाता है। वह निर्विकल्प कभी नहीं होता। बहुत गम्भीरता से विचार करें।

इसलिए भैया, प्रभु-विश्वास आप अपने द्वारा कर सकते हैं। बुराई-रहित आप अपने द्वारा हो सकते हैं। शरीर पर और संसार पर आपका कोई

अधिकार नहीं है, इस सत्य को आप अपने द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। एक का नाम त्याग है, एक का नाम सेवा है और एक का नाम प्रेम है। सेवा-त्याग-प्रेम, यही मानवता है। इसी का नाम जीवन है। इसी का नाम पूर्णता है।

भैया, त्याग का अर्थ यही है कि आप इस बात को ठीक अनुभव करें ज्ञानपूर्वक कि संसार पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, और मेरा कुछ नहीं है।

प्रश्न–महाराज जी! क्षमा कीजिए। सेवा-त्याग-प्रेम के लिए क्या किसी करण की आवश्यकता नहीं है?

उत्तर–बिल्कुल नहीं है। सेवा क्रिया नहीं है कि आपने पैर दबा दिया। यह सेवा नहीं है।

प्रश्न–तो क्या महाराज, अब तक हम उल्टा ही मानते थे?

उत्तर–आप तो मानते ही नहीं है। हम कोई मना थोड़े ही करते हैं। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, विवाद नहीं करता हूँ। मैं यह नहीं कहता कि जो आप मानते हैं, उसे मत मानियेगा। आप जरूर मानिये कि शरीर के द्वारा हम सेवा करते हैं, भजन करते हैं, प्रेम करते हैं। इसमें मेरा कोई नुकसान नहीं है। लेकिन हमारे जानते, सेवा का तत्त्व है, वह तो बुराई-रहित होना है। त्याग का जो तत्त्व है, वह तो अचाह होना है, निर्मम होना है, तादात्म्य-रहित होना है। आस्था का जो तत्त्व है, वह तो भगवान् से भिन्न किसी और के अस्तित्व को अस्वीकार करना है और केवल भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार करना है। इसी से भगवत्-प्रेम का उदय होगा।

हाँ, उस प्रेम का उदय हो जाने पर उसका प्रभाव शरीर पर भी होता है, अन्तःकरण पर भी होता है। अरे, जहाँ प्रेमी बैठता है, उस भूमि पर भी होता है। वह तो बहुत ऊँची बात है। सारा जीवन प्रेम तत्त्व से निर्मित हो सकता है। इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

किन्तु मूल जो बात है कि भाई, हम जो जानते हैं, उसे स्वीकार क्यों नहीं करते? जो मानते हैं, उसमें दृढ़ता क्यों नहीं रखते? आप जानते हैं कि मेरे साथ कोई बुराई न करे, मुझे बुरा न समझे। हमारे पास रात ही एक पत्र आया है, जिसमें किसी ने किसी को बुरा समझा। कोई बात हो गई होगी। वह अब बुरा है कि नहीं, इसका पता ही नहीं। यदि वह बुरा है, तब भी हमें उसे बुरा समझने का अधिकार नहीं है। यही कारण है कि आज परस्पर में सही एकता नहीं दीखती।

परस्पर में जो एकता है, वास्तव में उसका जीवन में बोध ही नहीं होता। अरे, एक ही परिवार में देवरानी-जिठानी, दोनों ही ईश्वर को मानने वाली और दोनों में भिन्नता। चचा-भतीजे, दोनों साध्य को मानने वाले और दोनों में भिन्नता। ऐसी अनेक घटनाएँ हम आपको बता सकते हैं, आप देख सकते हैं।

देखिए, पहले हमारे जिन्ना साहब कहते थे–स्थूल रूप में कह दूँ आपके समझने के लिए–कि हमारा और हिन्दुओं का तमद्दुन नहीं मिलता, इसलिए एक जगह नहीं रह सकते। तमद्दुन माने, उनका अलग मजहब और रहन-सहन है, हमारा अलग मजहब और रहन-सहन है। एकसा नहीं है। इसलिए कैसे रह सकते हैं? हम एक देश में नहीं रह सकते, एक साथ नहीं रह सकते। अरे भले आदमी, तुम मुसलमान, मुसलमान एक साथ नहीं रह सकते। पूर्वी बंगाल में क्या हो रहा है? मुसलमान निर्दोष मुसलमान के ऊपर बम डाल रहे हैं, निहत्थों को मार रहे हैं। लाखों की संख्या में हत्या हो चुकी है। क्यों भाई, मुसलमान मुसलमान को क्यों मार रहा है? सही अर्थ में जब तक आप यह स्वीकार नहीं करेंगे कि कोई मेरे साथ बुराई न करें, इसमें मैं स्वाधीन नहीं हूँ। पर मैं इस में पराधीन भी नहीं हूँ कि मैं किसी के साथ बुराई न करूँ। बुराई-रहित होना सेवा का मूल तत्त्व है।

जो संसार पर अपना अधिकार मानता है, उसे भय अवश्य होगा। वह भय किसी तरह नहीं मिट सकता। अगर हम अपना अधिकार संसार पर से हटालें, तो हम अभय हैं। भय हमेशा उसी को होता है, जिसके पास कुछ है। जिसके पास सब कुछ है, उसको भय नहीं होता। सब कुछ तो परमात्मा का ही नाम है, उसी में सब कुछ है। जिसके पास परमात्मा है, उसको भी भय नहीं होता। जिसके पास संसार का कुछ है, वह अभय नहीं होता, भयभीत रहता है। भय मिटाने का उपाय यह है कि ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि मेरा कुछ नहीं है और दृढ़तापूर्वक निर्णय करो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि प्रभु अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। इससे भय मिट जाएगा। हाँ भाई, और कोई बात किसी के मन में उठती हो तो बतायें?

प्रश्न–स्वामी जी! मेरे को स्वप्न नहीं हो रहा है, तीन साल हो गये। क्या वजह है?

उत्तर–यह सब क्या देख रहे हो? यह जो देख रहे हो, वह सब स्वप्न ही है भैया। जाग्रत तो दूसरी चीज का ही नाम है।

प्रश्न–स्वामी जी! जिसके पास में कोई भी चीज है, लेकिन उसमें उसका ममत्व न हो, तो क्या वह निर्भय होगा?

उत्तर–नहीं, नहीं। अर्थ मत बदलो। सीधी बात कहो। जो यह अनुभव करता है कि संसार में मेरा कुछ है, वह कभी भी अभय नहीं होगा, उसे तो भय लगा ही रहेगा। जिसने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु मुझमें है, मेरा है, अभी है, उसको भय नहीं होगा। जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसको भी भय नहीं होगा। क्योंकि उसके पास कुछ नहीं है और उसको कुछ चाहिए भी नहीं। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे कहाँ से भय होगा?

प्रश्न–महाराज जी! यह सब समझते हुए, जानते हुए भी जीवन में यह बात क्यों नहीं आती?

उत्तर–आपने यह मान लिया कि मैं समझता हूँ, मैं जानता हूँ। यहीं धोखा खा गये। आप मान बैठे हैं कि मैं जानता हूँ, कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं यह हूँ, कि मैं वह हूँ। मैंने बहुत पढ़-लिख लिया। सारी प्रक्रिया रट ली। नहीं महाराज, कितनी ही भूख लगी हो कितने ही सुन्दर रसगुल्ले हों पटना के, अगर आपको यह मालूम हो जाए कि इनमें विष लगा है, तो आप कभी नहीं खाएँगे, क्योंकि आप जानते हैं कि रसगुल्ला खाया कि मरे।

मैं क्या बताऊँ? आधुनिक दार्शनिकों ने भी और प्राचीन दार्शनिकों ने भी इस सत्य को एक मत से स्वीकार किया है कि जब अविद्या नहीं रहती, तो दुःख नहीं रहता। यह प्राचीन दार्शनिकों की भाषा है। आधुनिक दार्शनिकों की भाषा है कि मनुष्य तभी तक बुराई करता है, जब तक सचमुच वह अपने द्वारा बुराई को बुराई करके नहीं जानता। यह तो है दार्शनिकों का मत। आपका प्रश्न बिल्कुल इसका उल्टा है कि मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ, पर यह बात जीवन में नहीं आती। यह तो इस स्कूल का तकिया कलाम है, जिसमें हम और आप बैठे हैं। वास्तव में यह प्रश्न गलत है। न आप जानते ही हैं, न आप समझते ही हैं। बुरा मत मानियेगा। जिसको आप जानना और समझना कहते हैं, वह तो सीखना है। आपने

सीखा है, सुना है। न आपने जाना है, न समझा है।

सीखे हुए में और जीवन में तो फर्क हो सकता है। पर जाने हुए में और जीवन में फर्क नहीं होता कभी। फिर भी आप ऐसा मानते हैं तो मैं क्या करूँ? मैंने तो इस प्रश्न का उत्तर इस पाठशाला में वर्षों से सैंकड़ों साधकों को दिया है कि स्वामी जी महाराज! क्या बताएँ, बात समझ में आती है, पर जीवन में नहीं है। जहाँ आप यह जानते हैं कि बुराई करना अच्छा नहीं है, वहाँ आपको बुराई-जनित सुख भी पसन्द है। जहाँ आप जानते हैं कि बेईमानी नहीं करनी चाहिए, वहाँ आप यह भी पसन्द करते हैं कि बेईमानी से ही अगर धन आ जाए, तो आराम पायेंगे। इसको जानना थोड़े ही कहते हैं।

जानने का अर्थ यह है कि जब आप ठीक-ठीक जान लें कि सचमुच इतने बड़े संसार में मेरा कुछ है ही नहीं और मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो आप में निर्विकारता आ जायेगी और शान्ति आ जायेगी। प्रभु अपने हैं, तो प्रियता आ जायेगी। ज्ञान के प्रकाश में यह स्पष्ट दिखाई देगा। पर आप ज्ञान के प्रकाश का आदर ही नहीं करते, इससे बुद्धि-दृष्टि का दुरुपयोग होता है। बुद्धि एक दृष्टि है, उसमें स्वतः ज्ञान नहीं है। ऐसे ही इन्द्रिय भी एक दृष्टि है, इन्द्रिय को स्वतः ज्ञान नहीं है। आपके पास दोनों दृष्टियाँ मौजूद हैं। आपको इन्द्रिय-दृष्टि भी प्राप्त है और बुद्धि-दृष्टि भी प्राप्त है। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव कब होगा? जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नहीं रहेगा। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग तो होगा। पर उसका प्रभाव नहीं रहेगा। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव क्यों नहीं होता? इसलिए नहीं होता कि आप इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को पसन्द करते हैं। आप मन पर लांछन लगाते हैं। मन बेचारे का कोई अपराध नहीं है।

परमात्मा का सम्बन्ध संसार के सम्बन्ध का नाश कर देता है। यह है विधान। पर आप परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करते ही नहीं। आप संसार से सम्बन्ध स्वीकार करते हो और परमात्मा की चर्चा करते हो। तो चर्चा में आने वाला परमात्मा बिना सम्बन्ध के कैसे प्यारा लगेगा? यह कठिनाई हो जाती है। जब चाहो तब, आपको मस्ती आ सकती है, आप निर्द्वन्द्व हो सकते हैं। आपको जन्मजात अधिकार है चिरशान्ति का, जीवन-मुक्ति का, परम प्रेम का। आपके इस अधिकार को कोई छीन नहीं सकता।

आप ही अपने अधिकार को छोड़ दें, तो हम क्या करें?

आज तक कोई भी यह सिद्ध नहीं कर सका कि संसार पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार है। है ही नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं। हमसे संसार का सम्बन्ध छोड़ा जाता नहीं और जो वास्तव में हमारा सम्बन्धी है, उसे हम पसन्द करते ही नहीं। हम स्वयं परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करें, परमात्मा के महत्त्व को स्वीकार करें। उसमें न शरीर की सहायता की जरूरत, न इन्द्रियों की सहायता की जरूरत, न मन-बुद्धि आदि की सहायता की जरूरत।

आप विचार करके देखो, बुद्धि तो एक भौतिक तत्त्व है, प्राकृतिक है। तो प्राकृतिक तत्त्व के द्वारा परमात्मा मिल जाता, तो हाथ-पैर से भी परमात्मा पकड़ लिया जाता। यदि हाथ-पैर से पकड़ लिया जाता, तो इन्द्रियों से पकड़ लिया जाता, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राकृतिक तत्त्व हैं। तो क्या मन-बुद्धि से परमात्मा पकड़ा जा सकता है? परमात्मा पकड़ा जाता है अपने द्वारा, जहाँ बुद्धि की पहुँच ही नहीं है। 'मैं' तक बुद्धि नहीं पहुँचती। 'यह' तक बुद्धि रहती है। 'मैं' का और परमात्मा का सम्बन्ध है। 'मैं' का और 'है' का सम्बन्ध है। 'यह' का और परमात्मा का सम्बन्ध इस रूप में नहीं है कि आप 'यह' के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लें। हाँ, 'यह' के द्वारा आप संसार की सेवा कर सकते हैं।

देखो, यहाँ के धर्म प्रिय महानुभावों ने जंगल में मंगल कर दिया। जैसे लोग कलकत्ता, बम्बई में रहते हैं, वैसे ही यहाँ लोग रह रहे हैं। यह तो आप इन्द्रियों के द्वारा कर सकते हैं। लेकिन इन्द्रियों की सहायता से परमात्मा को अपना मान सकते हैं, यह बिल्कुल गलत बात है। इस दृष्टि से महानुभाव विचार करें, तो आपको लाभ जरूर होगा। आप हिम्मत मत हारिए, निराश मत हो जाइये। अपने द्वारा करने वाली बात शरीर से मत कीजिए। बस, इतना ही निवेदन है।

प्रश्न–स्वामी जी, क्या परमात्मा के सम्बन्ध में हमने गलत सोचा है?

उत्तर– मेरी बात तो सुनी ही नहीं। मैं कहता हूँ कि सोचने-समझने से परमात्मा का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तुमसे परमात्मा का सम्बन्ध है। तुम जिस बुद्धि के द्वारा संसार में कामयाब हुए, सफल हुए, संसार की दी हुई उसी बुद्धि के द्वारा तुम परमात्मा को पाना चाहते हो। यह कैसे

हो सकता है? अरे बाबा! बुद्धि का सहारा छोड़ो, शरीर का सहारा छोड़ो, संसार का सहारा छोड़ो परमात्मा से मिलने के लिए। मैं धन की निन्दा नहीं करता, मैं तन की निन्दा नहीं करता, मैं बुद्धि की निन्दा नहीं करता। पर जिस तन से, धन से, बुद्धि से आप संसार में भले आदमी कहलायें, उसी तन-बुद्धि आदि से आप परमात्मा के प्रेमी हो जाएँ, यह सम्भव नहीं है। किसी काल में सम्भव नहीं है, किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट बात है। आप लोग तो पुराने सत्संगी हैं। आप सब जानते-बूझते हैं। आपकी हाँ में हाँ मिलाकर मैं अपना भी नुकसान करूँ और आपको भी नुकसान हो, इससे क्या फायदा होगा?

प्रश्न–स्वामी जी, इसके लिए ठीक-ठीक प्रक्रिया क्या है?

उत्तर–यही प्रक्रिया है कि आप अपने द्वारा परमात्मा को पाने का प्रयास करें। इतना विश्वास रखें कि मुझे परमात्मा से मिलने के लिए न शरीर की जरूरत है, न इन्द्रियों की, न मन की, न बुद्धि की। जो परमात्मा शरीर के द्वारा मिलेगा , मन के द्वारा मिलेगा, बुद्धि के द्वारा मिलेगा, वह यन्त्र के द्वारा भी मिलेगा। क्योंकि शरीर के द्वारा जो काम करते हो, वह यन्त्र के द्वारा भी होता है सरकार। परन्तु परमात्मा आपको अपने द्वारा मिलेगा। यह मुझे भी मिलेगा, आपको भी मिलेगा, जितने भाई-बहन बैठे हैं सबको मिलेगा। क्योंकि परमात्मा कहते ही उसको हैं, जो सबको मिले। उसका नाम परमात्मा नहीं है, जो किसी को मिले, किसी को न मिले। वह परमात्मा नहीं होगा।

तो आप अपने द्वारा परमात्मा को पसन्द कीजिए, अपने द्वारा परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कीजिए। आपको परमात्मा जरूर मिल जायेगा, भैया! जरूर मिल जायेगा। परमात्मा आपका अपना है। उसका स्वभाव नहीं बदला, वह नहीं बदला है, उसकी महिमा नहीं घटी है भैया।

40(ब) मीराके प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न नहीं कीजै।

मीराजी के चरित्र में देखिए। वे कहती हैं,–"कृपा रावरै कीजै, साजन, ज्यों जानें, त्यों सुधि लीजै।" यहाँ उनका संसार का त्याग है, साधन

के अभिमान का त्याग है, अपने अधिकार का त्याग है। आगे कहती हैं कि मेरा अधिकार ही नहीं है। आप जैसे चाहें, मेरी सुधि लें। मेरा कोई और नहीं है। तो साधन के अभिमान का भी त्याग। वे श्रीकृष्ण की नित्य प्रिया है। उन्होंने गोपियों की भाँति परकीया भाव की बात पसन्द की। परकीया भाव में विशेष त्याग है। परकीया अपने पति पर अपना कोई अधिकार नहीं मानती। स्वकीया अपने पति पर अपना अधिकार मानती है, जैसे, रुक्मिणी जी।

मालूम होता है कि मीराजी इस युग की गोपी हैं। तभी वे कहती हैं कि मेरा कोई अधिकार नहीं है। आप जैसे चाहें, मेरी सुधि लें। यह आत्मीय सम्बन्ध की विलक्षणता है। वे कहती हैं कि मेरा कोई और नहीं हैं। दिन में मुझे भूख नहीं लगती, रात में नींद नहीं आती। इसका अर्थ क्या है? मीराजी प्राण-धर्म से ऊपर उठ गई। भूख लगना प्राण-धर्म है। नींद आना कारण शरीर का धर्म है। वे कारण शरीर से भी ऊपर उठ गई।

अब देखिए। उसके बाद तुरन्त कहती हैं कि यह तन पल-पल छीज रहा है। क्या हो रहा है? क्या छीज रहा है? यह जो गुणमयी माया से रचा हुआ शरीर था, वह अब प्रेम तत्त्व में विलीन हो रहा है, प्रेम से निर्मित हो रहा है। यानी गुणमयी माया का प्रभाव नाश हो रहा है और भगवान् की जो योग माया है, उसका प्रवेश हो रहा है। तन पल-पल छीजै का अर्थ मुझे यही मालूम होता है कि मीराजी गुणातीत हो गई हैं, देहातीत हो गई हैं।

इसके बाद उन्होंने कहा कि "मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मिल बिछुड़न नहिं कीजै।" यानी आप मुझे मिल गये, अब वियोग न हो। यह उनका अन्तिम वाक्य है। सुनते हैं कि फिर किसी ने उनके भौतिक शरीर को नहीं देखा। उनके तानपूरा के तार में से, मन्दिर की दीवारों में से, श्रीविग्रह में से " मिल बिछुड़न नहिं कीजै, मिल बिछुड़न नहिं कीजै, मिल बिछुड़न नहिं कीजै"–यह ध्वनि बहुत देर तक होती रही। किसी इतिहासकार ने यह नहीं कहा कि मीरा जी का अन्त्येष्टि संस्कार हुआ था द्वारिकापुरी में। ऐसा किसी ने नहीं कहा। उनका भौतिक शरीर भी प्रेम तत्त्व में विलीन होकर अपने प्रेमास्पद से अभिन्न हो गया। इसमें त्याग का भी दर्शन है, अनुराग का भी दर्शन है, योग का भी दर्शन है, बोध का भी दर्शन है। सभी बातें आ गई। बोध भी है, योग भी है, अनुराग भी है और

त्याग भी है। यह भक्तिमती मीराजी का अन्तिम पद है। खोज करने वाले लोग इसको आखिरी पद बताते हैं।

इससे यह स्पष्ट ही है कि भक्त एक मात्र प्रभु को ही अपना स्वीकार करता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि मेरा कोई और नहीं है और यह भलीभाँति मानता है कि प्रभु मेरे हैं। एक बात जानने की और एक बात मानने की है। मेरा कुछ नहीं हैं, मुझे कुछ नहीं चाहिए–यह बात जानने की है, मानने की नहीं। प्रभु मेरे अपने हैं–यह मानने की है, जानने की नहीं। जानने से पराधीनता की, सर्व दुःखों की, अशान्ति की निवृत्ति होती है। मानने से अखण्ड स्मृति की, अगाध प्रियता की प्राप्ति होता है। यह साधकों का अनुभव है। यह जीवन का सत्य है।

प्रत्येक मनुष्य में दोनों प्रकार की शक्तियाँ हैं, जानने की भी है और मानने की भी है। एक जो स्थूल शक्ति है करने की, यह भगवत् नाते कर्म करने की है , वर्तमान कर्म करने की है। इसको भक्त लोग पूजा कहते हैं। कुछ लोग इसको कर्त्तव्य कहते हैं। कुछ लोग इसको धर्म कहते हैं। कर्त्तव्य का जो उत्तर पक्ष है, धर्म का जो उत्तर पक्ष है, वह योग है। कर्त्तव्य-पालन से मानव राग-रहित होता है, विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। कर्त्तव्य का दूसरा अंग है, अपने अधिकार का त्याग। उससे नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। तो विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है और नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। राग में जब बाधा पड़ती है, तभी क्रोध उत्पन्न होता है। इस तरह क्रोध भी उत्पन्न नहीं होता। राग और क्रोध से रहित होने से योग की प्राप्ति होती है।

राग और क्रोध से रहित होने से योग की प्राप्ति हुई। अधिकार छोड़ने से और अधिकार देने से मनुष्य फ्री हो जाता है, स्वतन्त्र हो जाता है, स्वाधीन हो जाता है। अधिकार देने से भी स्वाधीन हो जाता है, और अधिकार छोड़ने से भी स्वाधीन हो जाता है। फिर उसका संसार से सम्बन्ध रहता ही नहीं। क्योंकि जिसका देना था देदिया, लेना था सो छोड़ दिया। फिर सम्बन्ध क्यों रहेगा? नहीं रहना चाहिए। इसलिए वह जीवन-मुक्त हो जाता है। वैसे देखा जाए वैज्ञानिक दृष्टि से, तो कर्त्तव्य के अन्त में योग की प्राप्ति हो जाती है। योग माने, अपने में अपना जो प्रियतम है, उसके साथ मिलन, एकता, समीपता, अभिन्नता।

मिलन की तीन सीढ़ियाँ हैं– पहली सीढ़ी है समीपता, दूसरी है

एकता और तीसरी है अभिन्नता। इसलिए पहली सीढ़ी को योग कहते हैं। दूसरी को बोध और तीसरी को प्रेम कहते हैं। मानव-जीवन के विकास की चरम सीमा योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में है और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति में है। इसी का मूर्तिमान चित्र भक्तिमती मीराजी का जीवन है। उन्हें योग, बोध, प्रेम प्राप्त हो गया। यह अविनाशी तत्त्व हैं–योग, बोध, प्रेम। यह प्रभु की ही महिमा है। योग भी प्रभु की महिमा है, बोध भी प्रभु की ही महिमा है और प्रेम भी प्रभु की महिमा है, स्वभाव है। उसी से मीराजी अभिन्न हो गई। इन्हीं तीनों का नाम राधातत्त्व भी है, सीतातत्त्व भी है, गौरी तत्त्व भी है। अनन्त की प्रीति राधातत्त्व से, सीतातत्त्व, गौरीतत्त्व से अभिन्न होकर अनन्त परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाती है। ऐसा प्रेमियों का मत है।

बोध माने, ज्ञान। योग, बोध, प्रेम। यानी उस परमात्मा के साथ एकता-बोध, समीपता-योग, अभिन्नता-प्रेम। ज्ञान तो प्रकाश है। भक्ति एक रस है। योग एक सामर्थ्य है। यही तीनों सबको चाहिए। सामर्थ्य भी चाहिए, ज्ञान का प्रकाश भी चाहिए, प्रेम का रस भी चाहिए। यही मनुष्य की माँग है। ज्ञान के बिना कोई स्वाधीन हो ही नहीं सकता। स्वाधीन हुए बिना प्रेमी कैसे होगा, उदार कैसे होगा? पराधीन तो प्रेमी होते नहीं, उदार होते नहीं।

वैसे अगर देखा जाए, तो मनुष्य की जो माँग है, उसी तरह का भगवान् का वर्णन भी है। भगवान् को लोग कहते हैं कि वे परम उदार हैं, परम प्रेम से परिपूर्ण हैं, रस से परिपूर्ण हैं, अविनाशी हैं, स्वतन्त्र हैं। परमात्मा अविनाशी हैं, तो मनुष्य को अविनाशी जीवन चाहिए। परमात्मा स्वाधीन है, तो मनुष्य को स्वाधीनता चाहिए। परमात्मा परम उदार परम प्रेम से भरपूर हैं, तो प्रत्येक मनुष्य को उदारता और प्रेम भी चाहिए। तो जो परमात्मा की महिमा बताई जाती है, जो परमात्मा के विशेषण बताये जाते हैं, उन्हीं की माँग मनुष्य को होती है।

यह माँग संसार के द्वारा पूरी हो नहीं सकती, न किसी वस्तु से, न किसी योग्यता से, न किसी सामर्थ्य से। इसीलिए यह बात कही जाती है कि भाई, प्रभु को अपना मानो, प्रभु को पसन्द करो, प्रभु के होकर रहो। तभी यह माँग पूरी हो जायेगी। किसी भी सामर्थ्य के द्वारा, योग्यता के द्वारा, वस्तु के द्वारा मनुष्य स्वाधीन नहीं हो सकता, अविनाशी जीवन नहीं पा सकता, रसरूप जीवन नहीं पा

सकता। जगत् से परे, देह से अतीत अविनाशी जीवन है, स्वाधीन जीवन है, रसरूप जीवन है। विवेकजन उसको देहातीत जीवन कहते हैं, प्रेमीजन उसको भगवत् प्राप्ति का जीवन कहते हैं।

प्रेम के जगने से पहले विश्वास होता है। जिसको अपना माना था, उसमें जब प्रियता उदय हो गई, तब दूरी, भेद, भिन्नता रहती ही नहीं। मानना सदैव मानना ही रह जाए, ऐसा नहीं होता। जिसको माना था, वह प्राप्त हो जाता है। मानव के व्यक्तित्व का विकास तीन ही रूपों में हो सकता है– योग के रूप में, बोध के रूप में और प्रेम के रूप में।

योग कर्त्तव्यपरायणता से भी प्राप्त होता है, असंगता से भी प्राप्त होता है और आत्मीयता से भी प्राप्त होता है। विश्वासियों का योग होता है आत्मीयता से, विवेकियों का होता है असंगता से और भौतिकवादियों का होता है कर्त्तव्य-परायणता से। कर्त्तव्यपरायणता से भी मनुष्य रागरहित होकर फ्री या स्वाधीन हो जाता है। असंगता से भी और आत्मीयता से भी स्वाधीन हो जाता है।

आप व्यवहार में भी देखते हैं कि लड़की की शादी हो गई जिस लड़के के साथ, तो वह उसका पति है और लड़की उसकी पत्नी है। लड़के और लड़की के बीच पति-पत्नी का सम्बन्ध हो गया। इसमें पहले आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया कि अपने हैं। यही योग कहलाता है। ऐसे ही परमात्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया, तो प्रभु से योग हो गया। प्रभु अपने हैं, यही विश्वासियों का योग है। शरीर, संसार, कर्म, चिन्तन और स्थिति से असंगता ज्ञान के द्वारा योग है। कर्त्तव्यपरायणता के बाद जब संसार से सम्बन्ध नहीं रहा, तब भी योग है।

इन तीनों प्रकार से संसार के सम्बन्ध का नाश है। भगवान् को मानकर चलो तो, ज्ञान के प्रकाश को अपनाओ तो और कर्त्तव्य का पालन करो तो। तात्पर्य कहने का यह हुआ कि संसार के सम्बन्ध का जो त्याग है, इसी का नाम योग है। ऐसी कोई तीसरी चीज बीच में नहीं है, जो संसार के सम्बन्ध को तोड़ने पर परमात्मा और अपने बीच में दूरी या फासला पैदा कर सके। जहाँ संसार के सम्बन्ध का त्याग हुआ कि परमात्मा के साथ योग हो गया, चाहे प्रियता को लेकर, चाहे बोध को लेकर और चाहे समीपता को लेकर। योग तो तीनों का फल है।

योग माने, जहाँ, सब साधनों की एकता हो जाए। चाहे आप कर्त्तव्यनिष्ठा को लेकर चलें, चाहे आप असंगता को लेकर चलें, चाहे आप आत्मीयता को लेकर चलें और चाहे आप तीनों को मिलाकर चलें। कर्त्तव्यपरायणता असंगता के साथ भी है और आत्मीयता के साथ भी है। ऐसे ही असंगता आत्मीयता के साथ भी है यानी आत्मीयता में भी असंगता है। क्योंकि किसी की असंगता से ही किसी की आत्मीयता हुई। संग-रहित तो किसी ने अपने को देखा ही नहीं। यानी किसी ने अपेन को संग-रहित नहीं देखा। तो आत्मीयता भी असंग होकर ही प्राप्त होती है, स्वाधीनता भी असंग होकर प्राप्त होती है और विश्राम भी असंगता से ही प्राप्त होता है। चाहे असंगता कहो और चाहे संसार के सम्बन्ध का विच्छेद कहो, एक ही बात है। भाषा में भेद है। वास्तव में बात एक ही है।

कोई कहता है कि मैंने संसार से सम्बन्ध तोड़ दिया और कोई कहता है कि मैं संसार से असंग हो गया। कोई कहता है कि मैंने भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लिया। फर्क क्या हुआ? अरे, भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लिया, तब भी संसार से सम्बन्ध नहीं रहा और संसार से असंग हो गये, तब भी संसार से सम्बन्ध नहीं रहा। और भैया, जो देना था सो दे दिया और जो लेना था सो छोड़ दिया, तब भी संसार से सम्बन्ध नहीं रहा।

तो कर्त्तव्यपरायणता से भी संसार के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है, असंगता से भी संसार के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है और आत्मीयता से भी संसार के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है। संसार के सम्बन्ध का त्याग तो तीनों प्रकार से हुआ। अतः तीनों प्रकार से योग की प्राप्ति हुई।

जब योग की प्राप्ति हो जाती है, तो योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम स्वतः सिद्ध है। जिज्ञासु के लिए बोध मुख्य है और भक्त के लिए प्रेम मुख्य है। जो बीच का मध्यम श्रेणी का साधक है, उसके लिए योग मुख्य है। तीनों दृष्टियों से तीनों प्रकार के साधकों के लिए एक-न-एक मुख्य है। लेकिन एक मुख्य होते हुए भी शेष दोनों भी उसमें सम्मिलित हैं। जैसे, पहले बोध हो गया, तो पीछे प्रेम और योग होगा। योग पहले हो गया, तो पीछे बोध और प्रेम होगा। प्रेम पहले हो गया, तो पीछे बोध और योग भी होगा। क्योंकि जीवन एक है।

बोध माने, जो सत्य है, उसकी प्राप्ति। सत्य की प्राप्ति कहो, चाहे बोध कहो। अपने को शरीर मानना बोध नहीं; भूल है, प्रमाद है। इस प्रमाद की निवृत्ति का नाम बोध है। बोध माने, भूल-रहित होना। सत्-असत् का निर्णय होना विवेक है, बोध नहीं। शब्दों के जाल में मत खेलो यार। असलियत को पकड़ो। शब्दों के जाल में फँसा, सो फँसा। देखो, संसार का जो सम्बन्ध है, उसे तोड़ने मात्र से ही योग की भी प्राप्ति हो जाती है, बोध की भी प्राप्ति हो जाती है और प्रेम की भी प्राप्ति हो जाती है।

जहाँ संसार का सम्बन्ध टूट जाता है, वहाँ परमात्मा के साथ समीपता भी होती है, एकता भी होती है और अभिन्नता भी होती है। संसार से सम्बन्ध तोड़ना साधन है। इसी से आपको निर्विकारता प्राप्त होगी, जीवन-मुक्ति प्राप्त होगी, चिर शान्ति प्राप्त होगी और भगवत् प्रेम की प्राप्ति होगी। ऐसा सोचिये कि संसार की सहायता के बिना अगर आपको अपने जीवन का बोध हो जाए, तो आप अमर हो गये। संसार की सहायता से जब तक जीवन मालूम होता है, तब तक तो मृत्यु के ही क्षेत्र में रहते हैं। शरीर के रहने का नाम जीवन नहीं है। शरीर तो बदलता ही रहता है, उसके जन्म और मरण का क्रम चलता ही रहता है। इसको जीवन नहीं कहते।

शरीर से सम्बन्ध टूटने के बाद जीवन की प्राप्ति होती है। अगर आप यह अनुभव करें कि बिना शरीर के भी मेरा अस्तित्व है, तो आप मुक्त हो गये। यदि आपने परमात्मा का अस्तित्व मान लिया, तो आप भक्त हो गये। अपना अस्तित्व स्वीकार किया, तो मुक्त हो गये। मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो शान्त हो गये और मेरा कुछ नहीं है, तो निर्विकार हो गये।

प्रश्न–स्वामी जी! अपना मन स्थिर कैसे हो?

उत्तर–जब तक आपका अपना मन है, तब तक कभी भी स्थिर नहीं होगा। भगवान् को आप अपना मान लें, तो आपका मन भगवान् में विलीन हो सकता है। हम मन को अपना मान कर कभी स्थिर नहीं कर सके और न कोई कर सकता है, कहते ही रहते हैं। मन को बलपूर्वक लगाते रहते हैं और अपने आप हटता रहता है, बलपूर्वक हटाते रहते हैं और अपने आप लगता रहता है। यह द्वन्द्व रहता है।

संसार के सम्बन्ध का जो प्रभाव है, सच पूछो तो उसी का नाम

मन है। मन कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। यह संसार के सम्बन्ध का प्रभाव है। यानी संसार का जब आकर्षण होता है, तभी मालूम होता है कि हमारे पास मन है। जब चाहते हैं कि यह मिल जाए या वह हो जाए, तब मन का भास होता है। अगर संसार के सम्बन्ध का नाश हो जाए, तो मन का नाश हो जाता है।

ऐसे ही परमात्मा के सम्बन्ध के प्रभाव का नाम ही साधना है। साधना और कुछ नहीं। परमात्मा के सम्बन्ध का जो प्रभाव जीवन में आ जाता है, उसी को साधन कहते हैं।

प्रश्न–स्वामी जी! संसार के सम्बन्ध का सुख-भोग प्यारा लगता है। फिर सुख-भोग के आकर्षण का त्याग कैसे हो?

उत्तर–हाँ-हाँ बड़ा अच्छा है। भोग भी करो और योग भी चाहो। बढ़िया बात है। दोनों साथ-साथ चल जाएँ, तो चलाओ। पर भोग और संसार के सम्बन्ध को तोड़ना एक साथ होता नहीं कभी। इसलिए सुख-भोग के आकर्षण का त्याग करो। योग से भोग की रुचि का नाश होगा। बिना योग के भोग की रुचि का नाश नहीं होता और बिना भोग की रुचि के नाश के योग नहीं होता।

भोग का अर्थ क्या है? पराधीनता में ही जीवन है। सुख सुरक्षित बना रहें। बढ़िया भूख लगती रहे और रुचिकर भोजन मिलता रहे और खाने की शक्ति भी बनी रहे। यह हुआ भोग। ऐसा भी होता है कि भूख लगी है और रोग के कारण खा नहीं सकते। एक बेचारी महिला थी। उसको गले की टी॰बी॰ हो गई थी। उसे प्यास लगती थी, परन्तु पानी निगल नहीं पाती थी। डाक्टरों ने कहा कि गले में छेद करके पानी डाला जा सकता है। इसके लिए वह तैयार नहीं हुई।

मेरे कहने का मतलब यह है कि अभी तो हम लोग सहज और सावधान हैं और हम में इतनी सामर्थ्य है कि विश्वास पूर्वक प्रभु को अपना मान लें और ज्ञानपूर्वक संसार का सम्बन्ध तोड़दें। यह काम वर्तमान में करने का है, शीघ्रातिशीघ्र करने का है, देर करने का नहीं है। देर करने पर पता नहीं, क्या हो जाए। चेतना ही नाश हो जाये, दिमाग ही खराब हो जाए। क्या पता? इसलिए यह अनुभूति शीघ्रातिशीघ्र करनी चाहिए कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, प्रभु मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। चाहे यह मानकर चलो कि प्रभु

मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। और चाहे यह जानकर चलो कि मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए। चाहे चारों को मिलाकर चलो।

प्रश्न–स्वामी जी! भगवान् से सम्बन्ध और स्मृति कैसे हो?

उत्तर–इसकी कोई टेक्नीक नहीं है, प्रक्रिया नहीं है। मनुष्य को स्वाधीनता पूर्वक सोचना चाहिए कि हमारे जीवन में भगवान् का प्रश्न क्यों उत्पन्न हुआ? तो यह मानना ही पड़ेगा कि हमारी कोई ऐसी माँग जरूर है, जिसे हम अपने द्वारा पूरी नहीं कर सके अथवा संसार के द्वारा पूरी नहीं हो सकी। अगर यह बात ठीक है, तो वह कौन सी माँग है कि जिसको हम संसार के द्वारा पूरी नहीं कर सकते, अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकते? इस पर थोड़ा मनन कर लिया जाए, विचार कर लिया जाए। तब भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ना बहुत सुगम हो जायेगा। क्योंकि अपनी जरूरत होने पर जिससे हमारी जरूरत पूरी होती है, उससे सम्बन्ध जोड़ना कठिन होता ही नहीं, अस्वाभाविक होता ही नहीं, स्वाभाविक और सहज हो जाता है।

ऐसी कौन सी आवश्यकता अनुभव होती है, जिसके लिए आप भगवान् की आवश्यकता अनुभव करते हैं? बताओ जरा। मन में उठे वही बताना। सीखकर, सोचकर नहीं। क्योंकि भगवान् को सरलता बहुत प्यारी है। चतुराई मत करना। अगर तुम अपने को भगवान् का पुत्र मानते हो, तो पिता की तो विस्मृति कभी होती नहीं। अरे, मरे हुए की विस्मृति नहीं होती, जिन्दा की तो कौन कहे।

श्रोता–दुःखों की निवृत्ति के लिए और परमसुख पाने के लिए भगवान् की आवश्यकता अनुभव होती है।

स्वामी जी–दुःखों की निवृति तो भगवान् को बिना माने भी हो सकती है। आप निष्काम हो जाएँ, आपके दुःखों की निवृत्ति हो जायेगी। परम सुख पाने के लिए आप देखेंगे कि जब आपके दुःखों की निवृत्ति हो जायेगी, तब अपने आप आपको परम सुख प्राप्त हो जायेगा। यहाँ तक तो ईश्वरवाद की आवश्यकता नहीं है भाई मेरे। अभी तक तो आप अपने ही लिए सोच रहे हैं।

श्रोता–आश्रय बिना हम नहीं रह सकते।

स्वामी जी–बिना आश्रय के नहीं रह सकते, तो हरि-आश्रय की विस्मृति भी नहीं होती। आप तो कहते

हैं कि स्मृति कैसे हो? मैं कहता हूँ कि आप उन्हीं बातों को स्वयं स्वीकार नहीं करते, जिन्हें आप जानते हो। यही तो जीवन में कठिनाई है। आप विचार कीजिए, बहुत जरूरी बात है। देखिए, हमारे पास देवकी जी आई। हमने उनसे पूछा कि तुम क्या चाहती हो? तो उन्होंने बड़ी सरलता से, सच्चे ढंग से, ईमानदारी से कह दिया कि इतने बड़े संसार में मुझे कोई अपना करके मालूम नहीं होता। दूसरी बात उन्होंने कही कि मैंने सोचा था कि जब मैं पढ़-लिख जाऊँगी, स्वावलम्बी हो जाऊँगी, सदाचारी बनी रहूँगी, तो मेरी माँग पूरी हो जाएगी। पढ़-लिख भी लिया, सदाचारी भी बनी रही, समाज में सम्मान भी मिल गया, रोटी की सुविधा भी हो गई। पर मेरी माँग पूरी नहीं हुई। अब भी अभाव का अनुभव करती हूँ। मुझे कोई अपना चाहिए।

वे अनीश्वरवादी नहीं थीं। लेकिन ईश्वरवादी होते हुए ईश्वर से विद्रोह करती थीं कि तुमने मुझे क्यों बनाया? मैं कहाँ तुमसे कहने गई थी कि तुम मुझे बनाओ? जब मुझे बनाया, तो मैं जो चाहती हूँ वह होता क्यों नहीं? इस तरह ईश्वर से वे विद्रोह रखती थीं। वे मनोविज्ञान की पण्डिता हैं। वे कहने लगी कि मैं एक दिन अस्पताल गई, तो मैंने एक गरीब को भयंकर दुःख में पड़े देखा। वह बहुत संकट में था। मुझे वहाँ भी क्षोभ हुआ कि हे सृष्टि के रचने वाले! तू कैसा करुणामय है कि जो तेरी सृष्टि में इतना दुःख है? इस तरह उनके जीवन पर दुःख का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। पढ़-लिखकर भी तृप्ति नहीं हुई, रोटी कमाने पर भी तृप्ति नहीं हुई, समाज में स्थान पाकर भी तृप्ति नहीं हुई। उनको अपना कोई चाहिए।

तब मैंने उनसे कहा कि एक तो ऐसा है। तो बोली कि मुझे उस पर विश्वास नहीं होता। हमने कहा कि देखो, वे हमाने मित्र हैं। हम भी उनसे प्रार्थना करेंगे। तुम एक दफा यह कह दो कि तुम मुझे अपना विश्वास दे दो। मैं आपसे क्या कहूँ, प्रभु की महिमा! वही देवकी जी आज यों कहती हैं कि जब मैंने प्रभु को पसन्द कर लिया, तो उन्होंने अपनी करने वाली बात और मेरे करने वाली बात पूरी करदी।

मुझे तो आश्चर्य होता है कि आप भगवान् की बात निर्जीव हो कर करते हैं। इस पथ में निर्जीवता, नहीं चलती। मेरे लिए तो भगवान् ही हैं। यदि आप भगवान् को मानते हैं, तो वे अभी भी वैसे ही है, जैसे कभी थे। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो गया है, उनकी महिमा नहीं घटी है, वे बदले

नहीं हैं। पर आप उन्हें पसन्द करते हैं क्या, चाहते हैं क्या? मैं आपसे पूछता हूँ कि आप जिसको चाहते हैं वह जब तक नहीं मिलता है, जब तक आपको चैन क्यों है? आप चैन से रहते क्यों है? अगर आपको चैन है, तो साफ जाहिर है कि आप भगवान् को चाहते नहीं हैं। नहीं तो ,भगवान् के बिना मिले आपको चैन क्यों हैं?

भले ही हमें विधि न मालूम हो, तरीका न मालूम हो। हम नहीं जानते हैं कि वे कैसे, कहाँ हैं। लेकिन जो बात हम चाहते हैं वह पूरी नहीं होती, तो आदमी चैन से रहता है क्या? आप कैसे चैन से रहते हैं? आपका भगवान् एक कल्पना है। वह आपकी अपनी जरूरत में नहीं है। आप ही सोचिये कि किसी का लड़का खो जाए, तो उसकी माँ के हृदय की क्या दशा होती है, कैसी तड़फती है! क्या इतनी भी व्याकुलता आप में नहीं है? क्या आप किसी भी चीज के लिए व्याकुल नहीं होते? ऐसी बात नहीं है कि आपके जीवन में से व्याकुलता निकल गई हो। जिस बात को आप पसन्द करते हैं और पूरी नहीं होती, तो आप व्याकुल भी होते हैं, क्षोभित भी होते हैं। आप पूरी-पूरी कोशिश भी करते हैं।

तो मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि जो परमात्मा सदैव सभी का है, उस परमात्मा से आप दूर कैसे हो गये? उसको आप भूल कैसे गए? आप विचार कीजिए। आप यह जो सोचते हैं कि कोई तरीका बताएगा और उससे मुझे परमात्मा याद आ जाएगा। तो टैकनीक भी हमको मालूम है। हम चेला बनाना जानते हैं और बहुत से चेले बनाए हैं, तुमको भी बना सकते हैं। पर अब वह पेशा छोड़ दिया है, क्योंकि हमको लोग पकड़ लेते हैं और भगवान् को भूल जाते हैं।

आप लोग आँख खोल कर देख लें कि जिन लोगों ने ज्यादा भगवान् की बात सुनाई, उन सुनाने वालों को लोगों ने कसकर पकड़ लिया, भगवान् को नहीं पकड़ा। डूबने वाला बचाने वाले को भी डूबा देता है। आप भगवान् की बात ही क्यों करते हैं? भगवान् क्या कोई खेती है कि आज बोयेंगे, तो कल उपजेगा और परसों मिलेगा? क्या भगवान् कोई वृक्ष है जिसे आज लगाएँगे, तो बारह वर्ष में फल लगेगा? भगवान् ऐसी चीज नहीं है। भगवान् तो वर्तमान में भी ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह जैसा सत्युग में, वैसा ही त्रेतायुग में, वैसा ही द्वापर युग में

और वैसा ही आज भी है। वह वैसा ही तुम्हारे लिए, वैसा ही हमारे लिए और वैसा ही वह सबके लिए है।

अगर आप अपने जीवन के साथ भगवान् को मिलाकर देखेंगे और उसे अपने जीवन की आवश्यकता मानेंगे, तो भगवान् आपको जरूर मिल जायेगा। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। वह अभी भी मिलता है, पहले भी सभी को मिला है और सदैव मिलता है। भगवान् ने कभी किसी से मिलने से इन्कार नहीं किया और न कर सकता है। भला दुनियाँ का मालिक कैसे मिलने से इन्कार कर सकता है? फिर तो अन्याय हो जायेगा। तुम ही भगवान् को भूल गये हो। भगवान् थोड़े ही भूल गये हैं तुमको? भाई मेरे, भगवान् तो तुमको हर समय निरन्तर देख रहे हैं। तुम उनकी आँखों से ओझल नहीं हो, तुम उनकी सत्ता से बाहर नहीं हो। पर तुम तो उनकी ओर मुँह ही नहीं फेरते। तब कैसे काम चलेगा?

देखिए, अगर कोई सर्व सुलभ है, तो उसका नाम भगवान् है। जो सबको सुलभ है, सदा के लिए सुलभ है, वह भगवान् है। फिर आपको क्यों नहीं मिलेगा भाई? आप सोचिये, विचार करके देखिए। वस्तु के द्वारा जो चीज प्राप्त होती है, उसमें सब स्वाधीन नहीं है। योग्यता के द्वारा जो चीज प्राप्त होती है, वह भी सर्व सुलभ नहीं है। सामर्थ्य से जो चीज प्राप्त होती है, वह भी सर्व सुलभ नहीं है। क्योंकि वस्तु का भेद है, योग्यता का भेद है, सामर्थ्य का भेद है। सभी को समान रूप में प्राप्त नहीं है।

अगर परमात्मा वस्तुओं से प्राप्त होता, तो उसका नाम परमात्मा कभी नहीं होता। वह विश्वनाथ नहीं हो सकता, वह सर्व समर्थ नहीं हो सकता। वह अन्तर्यामी नहीं कहा जा सकता। उसे पतित पावन कोई नहीं कहता, यदि वह पतितों का न होता तो। भैया मेरे, अनन्त उसी को कहा गया है, जो सभी का है, मानने वालों का भी है और न मानने वालों का भी। वह सभी का है समानरूप से। मैं तो आपसे कहता हूँ कि बात करना दुर्लभ है, पर भगवान् मिलना सुलभ है। रोटी मिलना दुर्लभ है, पानी पीना दुर्लभ है, स्वांस लेना दुर्लभ है; लेकिन भगवान् का मिलना सुलभ है। मैं दलील और युक्ति के साथ यह कहता हूँ।

41(अ) उदारता का शेषजो रहेगा उसीका नाम जीवन है।

आप ही सोचिये कि यदि आपको कोई ईमानदार आदमी मिल जाए, तो आपकी सुविधा होगी कि नहीं? यदि आपको परिश्रमी आदमी मिल जाए, तो आपको सुविधा होगी कि नहीं? यानी अपने लिए सभी लोग अच्छे आदमियों की आवश्यकता अनुभव करते हैं। एक सज्जन चाहते थे कि हमारा नौकर हमसे तो झूठ न बोले, पर हमारे कार्य की सिद्धि के लिए झूठ बोले। ऐसे लोग सबका हित नहीं चाहते। यदि सभी अच्छे हो जाएँ, तो जीवन में सभी को सुविधा हो जाए। जैसे, यदि सभी स्त्रियाँ पतिव्रता हो जाएँ, तो सभी पतियों को सुविधा हो जाए। इसी प्रकार सभी पुरुष पत्नीव्रत हो जाएँ, तो सभी स्त्रियों को सुविधा हो जाए। जितने शिष्य है वे सब गुरु-भक्त हो जाएँ, तो सभी गुरुजनों को सुविधा हो जाए और सभी गुरुजन समर्थ और आशीर्वाद देने वाले हो जाएँ, तो सभी शिष्यों को सुविधा हो जाए।

यह जो हम लोग सोचा करते हैं कि हमको छोड़कर सारा संसार अच्छा हो जाए। इसका असली मतलब है कि हम दूसरों के कर्त्तव्य से, दूसरों की उदारता से, दूसरों की क्षमाशीलता से, दूसरों की त्याग भावना से सुख-सम्पादन करना चाहते हैं। यही सबसे बड़ा असाधन है। यह सोचने लगते हैं कि भाई, हमको सुख मिले, हमारा विकास हो! किन्तु हमारे ऊपर भी किसी दूसरे के सुख का, किसी दूसरे के हित का दायित्व है, इसे हम भूल जाते हैं।

आज भक्त को भगवान् क्यों नहीं मिलता? इसलिए कि भक्त भी अपनी सुविधा के लिए ही भगवान् की ओर जाना चाहता है। मानव-जीवन में सबसे बड़ा कलंक यही है कि मानव होकर अपने लिए किसी की आवश्यकता अनुभव करें। यह मानव-जीवन का सबसे बड़ा प्रमाद, कलंक, लांछन और दोष है।

निर्धन होना कोई दोष नहीं है। अगर हम निर्धनता का सदुपयोग करें, तब भी काम सिद्ध हो सकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि निर्बल होना भी कोई बड़ा भारी दोष नहीं है। क्योंकि बल का सदुपयोग नहीं किया, तो निर्बल हो गये। अब निर्बलता का सदुपयोग करेंगे, तो उद्धार हो जायेगा। यही सबसे बड़ा दोष है कि हम अपने लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

मानव-जीवन तो ऐसा जीवन है कि जिसमें अपने लिए किसी अन्य की अपेक्षा ही नहीं है। आप कहेंगे कि बिना अन्य की सहायता के हम जीवित ही कैसे रह सकते हैं? एक दृष्टि से यह बात ठीक भी मालूम होती है। लेकिन अगर मैं अपने साथियों से पूछूँ कि क्या आप लोगों की सहायता से मेरे सभी काम पूरे हो गए? तो यह मानना ही होगा की सभी काम पूरे हुए। हालाँकि यह सत्य मालूम होता है कि अन्धे को दूसरे की आँखों से सहायता मिलती है, निर्बल को दूसरे के बल से सहायता मिलती है, निर्धन को दूसरे के धन से सहायता मिलती है, अयोग्य को दूसरों की योग्यता से सहायता मिलती है। इतना तो मानना पड़ता है।

पर यह भी सोचो कि जब कोई धनी निर्धन की सहायता करता है, तब धनी को अपना कोई सुख मालूम होता है कि नहीं? उसे अपने बड़प्पन का भास होता है कि नहीं? तो क्या किसी धनी ने निर्धन की सहायता करते हुए अपना कोई सुख या विकास नहीं देखा? अब आप सोचिये कि बलवान में और निर्बल में कितना अन्तर रहा? अगर निर्बल न हो, तो बल के सदुपयोग के लिए आपको अवसर ही न मिले। जैसे, कल्पना करो कि संसार में कोई रोगी न रहे, तो सब डाक्टर भूखों मर सकते हैं। और मान लें कि कोई डाक्टर न रहे, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार बहुत से रोगी अच्छे हो सकते हैं। किन्तु कोई भी डाक्टर रोगी के बिना जिन्दा नहीं रह सकता।

बहुत से लोग कहते हैं भाई, अगर शिक्षक लोग शिक्षा का प्रचार-प्रसार न करें, तो सब लोग पशुवत् हो जाएँ। उदाहरण देते हैं कि यदि किसी बच्चे को जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए, तो वह जानवर जैसा हो जाता है। यह ठीक है। पर हम यह जो सोचते हैं कि जिनके पास बल अधिक है, सामर्थ्य अधिक है, योग्यता अधिक है, वे अपना विकास कर सकते हैं और जिनमें सामर्थ्य कम है, योग्यता कम है, वे विकास नहीं कर सकते। ऐसा मानना निरर्थक है। यह मानव-जीवन के लिए बहुत बड़ा कलंक है। सच बात तो यह है कि मैं तो मानव-जीवन के पक्ष में हूँ, इसलिए मैं ऐसा बोलता हूँ। आप भी सोचिये कि जैसी वस्तु-स्थिति आपकी है, उसी के सदुपयोग से जब आप वास्तविक जीवन पा सकते हैं, तो मानव-जीवन का महत्त्व हुआ कि सामर्थ्य, योग्यता आदि का?

कल्पना करो कि किसी के पास सामर्थ्य हो और कोई असमर्थ हो। तो असमर्थ प्राणी प्रभु के निर्भर होकर सिद्धि पा सकता है, पर एक सामर्थ्यवान् अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके सिद्धि नहीं पा सकता। तो सामर्थ्यवान् के लिए और असमर्थ के लिए जब साधन का प्रश्न आता है, तब दोनों समान हो जाते हैं। अन्तर कहाँ पड़ता है? जब भोग का प्रश्न आता है, तब सामर्थ्यवान में और असमर्थ में भेद मालूम होता है। जब वस्तु में ही जीवन मान लेते हैं, तब जिसके पास वस्तु है उसमें और जिसके पास वस्तु नहीं है उसमें अन्तर मालूम होता है। किन्तु वस्तुओं में जो जीवन है, वह अविनाशी जीवन नहीं है। यह सभी को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि कोई भी वस्तु अविनाशी नहीं है।

अतः वस्तुओं के आधार पर जो जीवन होगा, वह अविनाशी नहीं होगा। जब तक हम सबको अविनाशी जीवन नहीं मिलता, तब तक भाई, सन्तोष तो हो नहीं सकता। यह जो हम लोग सोचा करते हैं कि आज हमें एक विशेष परिस्थिति प्राप्त है, इसलिए हम कोई विशेष व्यक्ति हैं। यह मिथ्या अभिमान ही है। भाई, कोई नाराज मत होना। मैं कोई आक्षेप नहीं करता। केवल विचार करने के लिए निवेदन कर रहा हूँ कि भाई, विशेष सामर्थ्य होने से जो हम लोग अपने को विशेष व्यक्ति मान लेते हैं, और असमर्थ होने पर हम अपने को दीन-हीन मान लेते हैं, यह मानव-जीवन के महत्त्व को न मानने से होता है।

कुछ लोग तो यही घमण्ड करते हैं कि हमारे पास सम्पति सबसे अधिक है। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि हम में बेसमझी सबसे अधिक है। विचार करें, सम्पति के आधार पर जो तुम्हारा महत्त्व है, शायद उससे अधिक बेसमझी और कहीं नहीं मिल सकती। बहुत से लोग यह समझने लगते हैं कि हमने एक कुलीन ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, इसलिए हम बड़े अच्छे हैं। इसका अर्थ कोई भाई यह न लगालें कि मैं ब्राह्मण जाति का आदर नहीं करता हूँ। मैं आपसे पूछता हूँ कि कुलीन ब्राह्मण घर में जन्म लेने से आप बड़े अच्छे हैं, इसका मतलब क्या हुआ? देहाभिमान। तो देह के अभिमान के आधार पर जो अच्छाई है, वह क्या वास्तव में अच्छाई है?

कोई सोचे कि हाय! हाय!! हमने तो बड़ी ही पतित जाति में जन्म

लिया है, हम तो बड़े अभागे हैं। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि यदि वह देहाभिमान से रहित हो जाए, तो वह अभागा है या कि कुलीन कुल में जन्म लेने वाला देहाभिमानी? सिद्धि किसको मिलेगी? देहाभिमान से रहित को। तात्पर्य क्या निकला? परिस्थिति से मानव-जीवन का महत्त्व मत आँको। मानवता के नाते अपना महत्त्व आँको। मानवता क्या है? मानवता का असली अर्थ यह है कि साधन को वर्तमान जीवन की वस्तु मानना। साधन में तभी दृढ़ता आएगी, जबकि उसे वर्तमान जीवन की वस्तु मान लिया जाए। अगर हमें और आपको इस बात में आस्था हो जाए कि जो जीवन का लक्ष्य है, उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है, तो साधन में पूरी शक्ति लग सकती है और हम सबको सिद्धि मिल सकती है। निद्रा लेना बहुत ही आवश्यक है, उसके बिना किसी प्रकार रह नहीं सकते। यदि इतनी आस्था साधन के सम्बन्ध में हो जाए, तो सिद्धि मिल सकती है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जवानी खतम हो जायेगी, बुढ़ापा आ जाएगा और मरने के दिन समीप होंगे, तब अन्त मता सो गता–सिद्धान्त को अपना कर भगवान् को प्राप्त कर लिया जाएगा। जवानी तो भोग के लिए है। बुढ़ापे में सत्य की खोज कर ली जाएगी। जब तक शरीर स्वस्थ है ,तब तक तो भाई, भोगों का सम्पादन करो। जब शरीर काम नहीं देगा, तब अपने आप संयम को अपना लिया जाएगा। इससे तो भाई, काम चलने वाला नहीं है।

सत्य की खोज में जिसके पास जो है उसे वह देना ही पड़ेगा। जवान को जवानी, बूढ़े को बुढ़ापा, सामर्थ्यवान् को सामर्थ्य, असमर्थ को असमर्थता देनी पड़गी। योग्यता जिसके पास है उसे योग्यता देनी पड़ेगी। तो जो जिसके पास है, वह सब देना पड़ेगा। बस, बेड़ा पार हो जाएगा। इतनी-सी बात है भाई। अब यह बात आप अभी मानें, अथवा कभी मानें। पर यह बात माननी पड़ेगी।

मानव-जीवन का सबसे बड़ा प्रमाद यह हो गया कि हम सिद्धि को वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं मानते। बड़ी समझदारी से बड़े प्रमाणों के साथ यह सिद्ध कर देते हैं कि भाई, यह तो अनेक जन्मों की बात है। आपको क्या मालूम है कि आपके अनेक जन्म हो चुके हैं कि नहीं और यह अन्तिम जन्म है? इसका कोई सबूत है क्या? भाई, मैं तो ऐसा मानता

हूँ कि यह मानव-जीवन अन्तिम जन्म है और ऐसा मान कर चलता हूँ कि परिस्थिति से मानव-जीवन की महत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यह दो बातें अगर समझ में आ जाएँ, तो जीवन में जितनी गिरावट है, जितनी उथल-पुथल है, सब शान्त हो जाए। मानव होने में हम सब समान हैं, हम सब स्वाधीन हैं परिस्थिति भेद होने पर भी। जब यह बात समझ में आ जाती है, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक हम सिद्धि के लिए जो साधन करना चाहिए, उसे करने लगते हैं। जब साधन करने लगते हैं, तो सिद्धि होती है। साधन करें और सिद्धि न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

देखिए, साधन और असाधन में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि साधन में सिद्धि अनिवार्य है, पर असाधन में नहीं। जैसे, कोई व्यापारी से पूछे कि भाई, तुमको लाभ ही होगा क्या? तो वह कहेगा कि भाई हानि भी हो सकती है और लाभ भी हो सकता है। जब दो देशों में, दो वर्गों में युद्ध होता है, तब क्या कोई पक्ष यह कह सकता है कि सदैव हम विजयी होते रहेंगे? नहीं कह सकता। जब आप किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, तब क्या आप यही कहते हैं कि हम वस्तु प्राप्त कर ही लेंगे? कभी कर लेते हैं और कभी नहीं कर पाते। पर भाई, साधन के सम्बन्ध में यह निश्चित बात है कि आपको सिद्धि अवश्य मिलेगी। यह हो नहीं सकता कि साधन अपना लेने पर सिद्धि न हो। अवश्य सिद्धि होगी।

वह सिद्धि क्या होगी? इस पर विचार कर लीजिए। साधन-निर्माण में यह भी बड़ी भारी कठिनाई है कि लोग यह नहीं जान पाते कि साधन की सिद्धि क्या है। साधन की सबसे बड़ी सिद्धि यह है कि आपका जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाए, अर्थात् आपको स्वाधीनता प्राप्त हो जाए। स्वाधीनता की प्राप्ति, उदारता की प्राप्ति सिद्धि और प्रेम की प्राप्ति सिद्धि।

जब स्वाधीनता जीवन में आ जाती है, तब फिर किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं रहती। निरपेक्ष जीवन हो जाता है। आज कितने लोग ऐसे होंगे कि जो यह कह सकें कि हमारा निरपेक्ष जीवन है? बड़े-से-बड़े पूँजीपति से पूछा जाए कि भाई, ईमानदारी से बताओ कि अगर तुमको और हमको यानी मुझ जैसे भिखारी को और तुम जैसे पूँजीपति को एक अपरिचित स्थान पर किसी यन्त्र से फेंक दिया जाए, तो बताओ कि

किसके जीवन में ज्यादा उथल-पुथल मचेगी? विचार तो करो।

एक विनोद की बात बताएँ आपको। पंजाब में सत्संग होता था। एक खत्री जाति के सज्जन थे मुनई लाल। वे बड़े सत्संगी थे और साधुओं के बड़े भक्त थे। वे एक सन्त से कहने लगे कि तत्त्व-ज्ञान होने पर आपके और हमारे जीवन में क्या अन्तर रहेगा? सन्त ने कहा कि ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होतां वे सज्जन बोले कि फिर हम और आप समान हो गए कि नहीं? सन्त हँसने लगे। फिर सन्त ने कहा कि तुम कहते हो कि हम और आप समान हो गए, तो उठो चलो मेरे साथ। तो वे सज्जन कहने लगे कि महाराज! हम अभी कैसे चल सकते हैं? सन्त बोले कि विषमता आ गई कि नहीं? भाई, ज्ञान में समता है, वस्तु-स्थिति में नहीं।

मानव-मात्र को निरपेक्ष जीवन सबसे पहले प्राप्त करना चाहिए। यह निरपेक्ष जीवन किसी परिस्थिति के बदलने से प्राप्त नहीं होता। यह निरपेक्ष जीवन प्राप्त होता है स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होने पर। तो स्वाधीनता की अभिव्यक्ति कब होती है? और स्वाधीनता किसे प्राप्त होती है? आप विचार करें कि जब किसी को कोई चीज देनी है, तब आप स्वाधीनता का अनुभव करते हैं या पराधीनता का? स्वाधीनता का। देना है, तो स्वाधीनता। और लेना है, तो? पराधीनता। अच्छा, जो देना है उसे राजी से दे दें और लेना है उसे छोड़ दें, तो आप स्वाधीन हो जाएँगे कि नहीं? अगर हमको देना बाकी है, तो स्वाधीन नहीं हो सकते और लेना बाकी है, तो स्वाधीन नहीं हो सकते। जो दिया है उसे लेने की चाह होती है, पर मिलने में पराधीनता है।

आज हम लोग जाने कैसे सोचने लगे हैं कि साधन बड़ा कठिन है। अरे भाई, जो चीज आपके पास नहीं है, उसके देने का दायित्व आप पर नहीं है। जो देना है वह तो संग्रह के रूप में मौजूद है और जो लेना है वह कामना के रूप में है। तो अगर आज हम यह सोच लें कि भाई हमको जो लेना था, वह सब हमने छोड़ दिया। कैसे छोड़ दिया? अगर देने वाला नहीं दे रहा है ,तो हमें ऐतराज नहीं होना चाहिए। अगर देने वाला देता है, तो देने वाले की प्रसन्नता के लिए स्वीकार करेंगे। किन्तु लेना हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। लेने के लिए हमारा जीवन नहीं है और लेने में हमारा जीवन नहीं है। यह तो ज्ञान से सिद्ध है

कि भाई, लेने में जीवन नहीं है। यह ज्ञान-सिद्ध बात है।

तो भाई, जो लेना है उसकी कामना छोड़ दी। मिल जाए तो बहुत अच्छा, और न मिल जाए तो और भी ज्यादा अच्छा। जो देना है, जो संग्रह के रूप में है, उसको उदारतापूर्वक दे दिया कि भाई, यह तो आप ही का है। आप ही की यह धरोहर है। हमारा इसमें कुछ नहीं है। इस बात को स्वीकार करने पर बताइए कि निरपेक्ष जीवन प्राप्त हो जाएगा कि नहीं? यह निरपेक्ष जीवन वह जीवन है कि जिसके लिए किसी की अपेक्षा नहीं है। किन्तु यहाँ एक बात सोचनी होगी कि देना भी जीवन नहीं है। देना तो जीवन की प्राप्ति का साधन है। न लेना भी जीवन नहीं है। न लेना भी जीवन की प्राप्ति का साधन है।

हमसे दूसरी असावधानी क्या होती है कि जो देना है वह है साधन, उसी को हम साध्य मानने लगे, उसी का मजा लेने लगे। देने का भोग करने लगे और न लेने का भी भोग करने लगे। किसी महात्मा से कोई कहे कि यह ले लो। तो वे अकड़कर कहेंगे कि हमें कुछ नहीं चाहिए। भाई, अकड़ते क्यों हो? इसी प्रकार देने में भी लोग बड़ा गौरव अनुभव करते हैं कि हमारे समान उदार कौन होगा, हमारे समान सेवक कौन होगा! तो मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि देना भी जीवन नहीं है। और न लेना भी जीवन नहीं है। तो न लेने से और देने से जो मिलता है अपने आप या जो शेष रहता है, उसका नाम है–जीवन।

अब एक और प्रश्न पैदा होता है। बहुत गम्भीरता से विचार करें। लेने और देने का उद्गम क्या है? उसी का नाम है अहं रूपी अणु। वह अहं रूपी अणु कैसा विचित्र है महाराज! देह से मिला दो, तो देह बन जाए और जीवत्व से मिला दो, तो जीव बन जाए। ब्रह्मत्व से मिला दो, तो ब्रह्म बन जाए। और सबसे हटा दो, तो कुछ न रह जाए। ऐसा यह अहं रूपी अणु है, जिसका मूल है, लेने और देने का रस। लेना पसन्द करें और देना बन्द कर दें, यह भी अहं है। आप कहेंगे कि यह तो असाधन है।

असाधन क्या है? देने की सोचें ही नहीं, लेना ही लेना सोचें। यह असाधन हो गया। तो असाधन में भी जीवन नहीं है। जिसको देना है, दे दिया और लेना बन्द कर दिया। यह साधन हो गया। पर इसमें भी जीवन नहीं है। तात्पर्य क्या निकला? अकर्त्तव्य में भी जीवन नहीं है, कर्त्तव्य में भी जीवन

नहीं है। अकर्त्तव्य सदैव आपको पराधीनता की ओर ले जाएगा और कर्त्तव्य आपको स्वाधीनता की ओर ले जाएगा। असाधन हमेशा अवनति की ओर ले जाएगा और साधन हमेशा उन्नति की ओर ले जाएगा।

तो उन्नति की ओर ले जाने के लिए साधन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। असाधन अवनति की ओर ले जाता है, इस कारण महत्त्व की वस्तु नहीं है। किन्तु भाई ,साधन भी जीवन नहीं है और असाधन भी जीवन नहीं है। जीवन का अर्थ है–लक्ष्य। तो जीवन कहाँ हैं? जहाँ असाधन की उत्पति न हो और साधन का अभिमान न रहे। यानी यह अभिमान न रहे कि हम चाह-रहित हो गए। इस बात का अभिमान न हो कि हमको उदारता प्राप्त हो गई, हमने बड़ी सेवाएँ कीं। इस बात का तो अभिमान नहीं होना चाहिए। और भाई, असाधन की उत्पत्ति न हो। जब असाधन की उत्पत्ति नहीं होती और साधन का अभिमान नहीं रहता, तब साध्य का प्रेम प्राप्त होता है।

निरपेक्ष जीवन में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। निरपेक्ष जीवन ही अमरत्व को प्राप्त करता है। निरपेक्ष जीवन प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन को वर्तमान में मिल सकता है। यदि कोई यह सोचे कि शरीर, योग्यता, पद और वस्तु आदि संग्रह के रूप में जो प्राप्त है, जब तक यह सब संग्रह समाप्त नहीं हो जाता, तब तक सिद्धि नहीं मिलेगी। ऐसी बात नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब तक इस संग्रह का आश्रय नहीं छूटेगा, तब तक सिद्धि नहीं मिलेगी। फिर होगा क्या? तो भाई, सिद्धि मिलने से पूर्व साधन जीवन हो जाएगा और सिद्धि मिलने पर साधन स्वभाव हो जाएगा।

तो साधन जीवन कब तक रहेगा? जब तक सर्वांश में साधन को नहीं अपना लिया जाता। जैसे, अपने पास जो कुछ है, वह वास्तव में अपना नहीं है और न अपने काम आएगा। यह बात जब तक हम सर्वांश में स्वीकार नहीं कर लेंगे, तब तक जो वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि प्राप्त है, उसका अभिमान नाश नहीं होगा। जब तक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का अभिमान नाश नहीं होगा, तब तक परिच्छिन्नता नाश नहीं होगी। जब तक परिच्छन्नता नाश नहीं होगी, तब तक सर्वांश में निष्कामता नहीं आएगी और जब तक सर्वांश में निष्कामता नहीं आएगी, तब तक दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होगी।

इसलिए जो कुछ वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि प्राप्त है, वह अपनी नहीं है और अपने लिए नहीं है। यह बात अपने-अपने ज्ञान से, अपने-अपने विवेक से जानकर प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को स्वीकार करनी पड़ेगी। पहले जानो, फिर स्वीकार करो।

हमें और आपको अगर यह विश्वास हो जाए कि जो कुछ हमें प्राप्त है, अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है, तो क्या किसी को वस्तु आदि देने में कठिनाई होगी? नहीं होगी। परन्तु यह तब होगा, जब आप अपने ज्ञान से अनुभव करें कि मिला हुआ अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। केवल विश्वास से काम नहीं चलेगा। विश्वास में विकल्प हो जाता है। ज्ञान में विकल्प नहीं होता।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग दूसरों की सेवा में किया जाए। आपके पास जो कुछ है, वह सब सेवा-सामग्री है। संसार के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी पहुँच आप तक हो। उसकी पहुँच आपके शरीर तक ही रहती है। यानी संसार से जो कुछ मिलता है, वह सब सेवा-सामग्री है तथा उसकी पहुँच केवल शरीरों तक ही रहती है। तात्पर्य क्या है? जैसे, गंगाजल से गंगा की पूजा कर दें, तो बतलाइए कि पूजा करने में क्या कोई खर्च होगा? वैसे ही संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर देनी है। इससे होगा क्या? आपको ऐसा निरपेक्ष जीवन प्राप्त हो जाएगा, जिसमें श्रम-रहित चिर विश्राम होगा। ऐसा जीवन कब प्राप्त होगा? जब आप अपने ज्ञान यानी विवेक का आदर करेंगे और जगत् की सेवा करेंगे।

हमारे एक मित्र हैं। वे दर्शन शास्त्र के बड़े विद्वान हैं। उन्होंने दर्शन शास्त्र पाँच वर्ष पढ़ा और तीस वर्ष पढ़ाया। उनके साथ मेरी अभ्यास और अनभ्यास के सम्बन्ध में चर्चा हुई। वे अभ्यास पर बल देते थे और मैं अनभ्यास पर। अन्त में उन्होंने स्वीकार किया कालेज में अपने विद्यार्थियों के सामने कि ये बेपढ़े संन्यासी बड़े फिलोसोफर हैं।

भाई, एक ही दर्शन के छः भाग हैं। उनमें तीन पूर्व पक्ष हैं और तीन उत्तर पक्ष हैं। दर्शन कहते हैं ज्ञान को। यह ज्ञान किसी अभ्यास का फल नहीं है, किसी अभ्यास से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। आप कहेंगे कि वैज्ञानिक बड़े-बड़े अविष्कार करते हैं, तब उन्हें

ज्ञान प्राप्त होता है। पर सच बात यह है कि साइन्स कोई विशेष ज्ञान नहीं है। साइन्स वस्तु के उपयोग वाला ज्ञान है। यह विशेष ज्ञान नहीं है, अल्प ज्ञान है। जैसे इन्द्रियों का या बुद्धि का ज्ञान। यह दोनों ही अल्प ज्ञान हैं।

तो दर्शन क्या है? साइन्स जिन चीजों का उपयोग करती है, उनके मूल तत्त्व को बताने वाला विशेष ज्ञान। दर्शन से कौन सी बात सिद्ध होती है? हम सबको अभी-अभी निरपेक्ष, स्वाधीन, चिन्मय जीवन मिल सकता है, क्योंकि 'है' उसे कहते हैं जिसका कभी नाश न हो, जिससे देश-काल की दूरी न हो और जो सभी को प्राप्त हो सके, यानी जो सभी का अपना हो। इसलिए वह मानव का अपना जीवन है।

जब मानव अपना जीवन पा लेता है, तब वह काम-रहित हो जाता है और सेवापरायण हो जाता है। सेवापरायण होने से समाज को उसकी आवश्यकता अनुभव होती है और काम-रहित होने से उसे किसी की आवश्यकता नहीं रहती। समाज को उसकी आवश्यकता किस अर्थ में होती है? निर्दोष जीवन प्राप्त होने पर दो विभूतियाँ आ जाती हैं–(1) उदारता और (2) प्रेम। उदारता से मनुष्य जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है और प्रेम से वह अनुत्पन्न तत्त्व अनन्त के लिए उपयोगी हो जाता है। उदारता और प्रेम मानवता के फल हैं। यानी मानवता में उदारता और प्रेम का उदय होता है।

मानवता क्या है? मानवता है साधन। किस रूप में? भाई, जो हमारे पास है, वह हमारा नहीं है और जो दूसरों के पास है, उसकी हमें माँग नहीं हैं उस मानवता का फल हो जाता है–स्वाधीनता, उदारता और प्रेम। इन तीनों को इकट्ठा कर दें, तो यही मानवतायुक्त मानव का चित्र है। यानी जहाँ उदारता है स्वाधीनता है और प्रेम है, वहीं मानवता है।

पहले क्या आती है? पहले आती है स्वाधीनता। स्वाधीनता का अर्थ क्या है? अचाह पद की प्राप्ति। अचाह होने पर ही व्यक्ति स्वाधीन होता है, उसे किसी की आवश्यकता नहीं रहती। फिर उसके जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है, जिससे वह संसार के काम आता है। यानी संसार उसकी आवश्यकता अनुभव करता है। उदार चरित मानव ही सेवा कर पाता है। वह अपने पास जो कुछ है उसे बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के दूसरों की सेवा में लगा

देता है। फिर प्रेम का उदय होता है। प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर वह प्रभु के काम आता है।

आप कहेंगे कि ऐसा सुन्दर जीवन किसकी देन है? तो कहना होगा कि जो ईश्वरवादियों का जो ईश्वर है, तत्त्ववेत्ताओं का तत्त्व है और भौतिकवादियों की चिर शान्ति है, उसी की यह देन है। अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से आप कहेंगे कि ऐसा अनुपम जीवन हमें अपने से ही अपने को प्राप्त हुआ है। देखिये, यह तो अपनी-अपनी भाषा है। भाषा सत्य के दरवाजे तक नहीं पहुँचा सकती, केवल संकेत करती है। भाषा तो साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए एक माध्यम है।

अगर प्रत्येक भाई और बहन अपने ज्ञान और अनुभूति का आदर करे, तो उसके जीवन में श्रुति अवतरित हो जाए। उदारता की अभिव्यक्ति होने पर जगत् से भरे नहीं रह सकता और प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर प्रभु से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रह सकती। अचाह होने पर पराधीनता नहीं रह सकती, अभाव नहीं रह सकता। इस दृष्टि से विचार करें, तो मानव-जीवन कितने महत्त्व का जीवन हैं। इसमें हम सब समान हैं। मानव-जीवन के महत्त्व को अपना लेने पर जीवन में कितना सौन्दर्य आ जाएगा, कितनी महानता आ जाएगी! उस जीवन में भेद की गंध भी नहीं रहेगी, अभाव नहीं रहेगा और पराधीनता भी नहीं रहेगी।

मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि अगर हमको अपने साध्य में आस्था हो जाए और यह विश्वास हो जाए कि हमारा साध्य हमसे दूर नहीं है, वह हममें ही है, तो यह भ्रम निकल जाए, यह प्रमाद निकल जाय कि हाय! हाय!! हम साधारण व्यक्तियों को चिन्मय जीवन कैसे मिलेगा, जब तक कि हिमालय की कन्दरा में नहीं जाएँगे, जब तक कुरान और पुराण में हमारा प्रवेश नहीं होगा?

यदि निष्पक्षभाव से हम और आप विचार करें, तो मालूम होगा कि पहले मनुष्य बना और पीछे वेद अवतरित हुए। यह तो मानव-जीवन की विभूति है। क्या कोई प्रमाण है कि वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों के जन्म से पूर्व हुआ हे? देखो भाई, आप लोग यह अर्थ मत लगा लेना कि मैं वेदों में श्रद्धा नहीं रखता। मैं वेदों में महान श्रद्धा रखता हूँ। पर मेरा निवेदन है कि वेदों के प्रादुर्भाव के पूर्व आपके मानव-जीवन का निर्माण हुआ है। आपके मानव-जीवन से वेदों की शोभा होती

है, वेदों का प्रचार होता है और वेदों का महत्त्व बढ़ता है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर भगवान् श्याम सुन्दर अर्जुन को गीता सुना सकते हैं, तो क्या वे अन्तर्यामी रूप से हमको-तुमको गीता नहीं सुना सकते? पर आप श्याम सुन्दर से गीता नहीं सुनना चाहते। आप तो गीता की टीका पढ़-पढ़कर, व्याख्यान दे-देकर मिथ्या अभिमान को खरीद कर अपने और दुनियाँ को बहकाने में लगे हैं।

इसलिए भाई, अपने जीवन में वेदों की अभिव्यक्ति करो, पुराण-कुरान-बाइबिल की अभिव्यक्ति करो। यह हो सकता है। जिस अनन्त ने मुहम्मद को इलहाम दिया, वह अनन्त आपका भी है। जिस अनन्त से ऋषियों के हृदय में वेदों का प्रादुर्भाव किया, वह अनन्त आपका भी है भाई।

आप कहेंगे कि उनका जीवन बड़ा निर्मल था। तो क्या आपका जीवन निर्मल नहीं हो सकता? सबका जीवन निर्मल हो सकता है। अरे भाई, अपने बनाए हुए दोष को ही तो मिटाना है। कोई भी दोष प्राकृतिक नहीं है। हम अपने दोष को मिटाने में पूरी तरह समर्थ हैं। जो भी हमें सामर्थ्य प्राप्त है, उसी के सदुपयोग का दायित्व है। यह नियम है कि सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। तो अपने पर केवल इतनी जिम्मेदारी रह गई कि जो कुछ भी सामर्थ्य प्राप्त है, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। बस, जीवन निर्मल हो जाएगा। यही मानव-जीवन है।

भाई, मानव-जीवन में सभी वेद-शास्त्रों की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। किन्तु दुःख इस बात का है कि हम मानव-जीवन के महत्त्व को भूल गए। यह नहीं कि हमें इसका ज्ञान न हो। हमें विवेक रूपी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त है। पर हम उसका आदर ही नहीं करते। आप देखिए, यह सबको पता है कि जन्म से ही प्राण शक्ति घटने लगती है और मृत्यु आरम्भ हो जाती है। परन्तु फिर भी मरने से डरते हैं।

यदि हम शरीर के रहते-रहते इस बात को स्वीकार कर लें कि शरीर हमारा नहीं हैं, साथियों के रहते-रहते स्वीकार कर लें कि साथियों से वियोग अनिवार्य है और वस्तुओं के रहते-रहते यह स्वीकार कर लें कि वस्तुएँ न हमारी हैं और न हमारे लिए हैं, तो जीवन में भय होगा क्या? यानी आप अभय हो जाएँगे। आज जो अमेरिका रूस से भयभीत है और

अमेरिका दूसरों को भयभीत करने की सोचता है, इसका कारण है कि जो स्वयं भयभीत होता है, वही दूसरों को भय देता है।

भैया, जो कुछ नहीं चाहता, वही अभय होता है और दूसरों को अभय बनाता है। अभय होने में हम सब स्वाधीन हैं। यानी हम सब अचाह हो सकते हैं। साधन कितना सुलभ है! परन्तु साधन में दृढ़ता इसलिए नहीं है कि सिद्धि को हमने वर्तमान की वस्तु स्वीकार नहीं की। यदि हम साधन को वर्तमान की वस्तु स्वीकार कर लें तथा साधन में हम सब स्वाधीन हैं, इस सत्य को स्वीकार कर लें, तो साधन में दृढ़ता हो सकती है। ऐसा मेरा विश्वास है और अनुभव भी है।

41(ब) मृत्यु को वियोग स्वीकार करो तो जीवन में कोई भय नहीं रहेगा।

मानवमात्र जन्मजात साधक है और सत्संगी होकर साधननिष्ठ हो सकता है। सत्संगी होने के लिए अपनी माँग का ठीक-ठीक अनुभव करना आवश्यक है। हमारी माँग क्या है? हमें अविनाशी, स्वाधीन और रसरूप जीवन चाहिए। इसके लिए करना क्या है? सबसे पहले सेवा करनी है। सेवा हमारा साधन है और स्वाधीन, अविनाशी, रसरूप जीवन साध्य है। सेवा किसकी करनी है? भाई, निकटवर्ती जन-समाज की सेवा करनी है, प्रिय जनों की सेवा करनी है।

सबसे बड़ी सेवा क्या है? मेरे जानते, किसी को बुरा न समझना सबसे बड़ी सेवा है। जो किसी को बुरा नहीं समझता, उसमें अशुद्ध संकल्प उत्पन्न नहीं होते और बुरे संकल्प नाश हो जाते हैं। जब बुरे संकल्प नाश हो जाते हैं, तब अपने आप शुद्ध संकल्प पूरे हो जाते हैं। तब समझना चाहिए कि सेवा का क्रियात्मक रूप आरम्भ हो गया।

शुद्ध संकल्प का मतलब क्या है? सबका भला चाहना, सबका हित चाहना। ऐसे सेवक सभी का विकास चाहते हैं। यहाँ से सेवा आरम्भ होती है और उसका अन्त कहाँ होता है? सेवा का अन्त त्याग में होता है। सेवा करने से त्याग का बल आ जाता है। जिसने विधिवत् सेवा की है, उसमें त्याग का बल अवश्य आ जाता है। बहुत से लोग सोचते हैं कि अपने परिवार या देश की सेवा करेंगे, तो मोह

में फँस जाएँगे। यह बिल्कुल गलत बात है। सेवा करने से मोह का नाश होता है और प्यार पुष्ट होता है। सेवा करने से कोई फँसता नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि यदि सेवक कहलाने की कामना रहेगी अथवा सेवा के बदले में मान और भोग पसन्द करोगे, तो फँसे हुए हो ही। लेकिन यदि बच्चों और परिवार के मोह से रहित होना हो, तो उनकी सेवा करो। उनसे सुख मत लो, सुख की आशा मत करो। सेवा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। जो राग पहले से मौजूद है वह सेवा करने से नाश हो जाता है।

आज हम इस बात को मानें, न मानें; लेकिन जिसको जो कुछ मिला है–जैसा पति मिला है, जैसी सन्तान मिली है, जैसा भाई मिला है, जैसा परिवार मिला है–वह सब विद्यमान राग का ही परिणाम है। विद्यमान राग की निवृत्ति सेवा करने से ही होती है। लेकिन कब होती है? जब सेवा करने पर भी सेवक कहलाने तक की रुचि न हो, उसका फल पाने की रुचि न हो। जो अपना अधिकार छोड़कर दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है, वही सेवक है। यही है धर्म-विज्ञान। धर्म भी एक साइंस है। कैसे? भाई, दूसरों के अधिकार की रक्षा करो और अपने अधिकार का त्याग करो। यह हर भाई, हर बहन के लिए जरूरी है।

दूसरी बात क्या है? भूतकाल की भूल को न दोहरा कर वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखो। और तीसरी बात क्या है? हममें और दूसरों में अनेक भेद हों–रुचि का भेद हो, मान्यता का भेद हो, रहन-सहन का भेद हो, मजहब और इज्म का भेद हो । अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता हो।

तो मानव मात्र के लिए तीन बातें हुई–(1) हम दूसरों के अधिकारों की रक्षा करेंगे, जिससे विद्यमान राग निवृत्त हो जाए और अपने अधिकार का त्याग करेंगे, जिससे नवीन राग की उत्पत्ति न हो। (2) की हुई भूल को न दोहराकर अपनी वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रखेंगे। (3) अनेक भेद होने पर भी सभी के साथ प्रीति की एकता रखेंगे।

आप जानते हैं, आज सामाजिक संघर्ष मिटाने का सबसे सुन्दर उपाय क्या है? यह उपाय नहीं है कि हम जो मानते हैं, वह सब मानने लग जाएँ, हम जो करते हैं वह सब करने लग जाएँ। यह उपाय नहीं है। उपाय यह है कि हम अपने और दूसरों

के बीच में अनेकों प्रकार के भेद क्यों न पाएँ, पर सभी के साथ प्रीति की एकता रखेंगे। यह जो प्रीति की एकता होती है, यह बुराई करने से रोक देती है। जो हमको प्यारा लगता है उसके साथ हम बुराई नहीं कर पाते।

बुराई रोकने के लिए सरकार की कल्पना हुई, बड़े-बड़े कानून बनाये गए, लेकिन बुराई रुकी क्या? बुराई रोकने के लिए मजहब की कल्पना हुई, बड़ी-बड़ी साधन प्रणालियाँ बनाई गई। पर बुराई रुकी क्या? मानना पड़ेगा कि बुराई नहीं रुकी। मजहब के नाम पर भी झगड़े होते हैं। इज्म के नाम पर भी झगड़े होते हैं। राष्ट्रीयता के नाम पर भी झगड़े होते हैं। तो गम्भीरता से विचार करने पर ऐसा लगता है कि अगर आपको सचमुच विश्व-शान्ति के यज्ञ में भाग लेना है या सभी को भला देखना है, तो प्रीति की एकता स्वीकार करो।

आज अगर हम प्रीति की एकता को स्वीकार कर लें और भलाई न भी करें, तो कम से कम बुराई तो नहीं करेंगे। जब समाज में बुराई नहीं रहती और जब जीवन में बुराई नहीं रहती तो अपने आप सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है, विश्व-शान्ति का प्रश्न हल हो जाता है।

तो महानुभाव! मुझे कोई नई बात निवेदन नहीं करनी है। निवेदन यह करना है कि अगर आप चाहते हैं कि हमारे जीवन में से बुराई सदा के लिए निकल जाए, तो सभी को प्यार देना सीखों। वस्तु दो, मत दो। आपके द्वारा वस्तु न देने से दुनियाँ की कोई बड़ी भारी हानि नहीं हो जाएगी और आपकी वस्तु से सारे समाज की गरीबी नहीं मिट जाएगी। क्षमा करें महानुभाव! कोई आश्रम ऐसा नहीं बना, कोई संस्था ऐसी नहीं बनी कि जिसमें सबका प्रवेश हो जाए। हमने तो कोई विद्यालय ऐसा नहीं देखा, जिसमें सबका ऐडमीशन हो जाए। कोई धर्मशाला ऐसी नहीं देखी, जिसमें सबको जगह मिल जाय। क्रियात्मक सेवा तो सीमित ही होती है। उसका आप कितना ही विस्तार कीजिए। आखिर वह सीमित ही रहती है।

अगर हम और आप प्रीति की एकता स्वीकार कर लेते हैं कि हम सभी को प्यार देंगे, सभी को आदर देंगे, हम किसी को हानि नहीं पहुँचाएँगे। तो महानुभाव! इससे जो सेवा बनेगी ,उतनी अच्छी सेवा सारी दुनियाँ का कोई भी राष्ट्र, कोई भी मजहब, कोई भी संस्था आज तक नहीं कर सकी। इसका अर्थ यह नहीं है कि

मैं संस्थाओं का आदर नहीं करता हूँ या मैं मजहब का आदर नहीं करता हूँ। लेकिन गम्भीरता से विचार करके देखें तो मानना होगा कि जिन्होंने सभी को आदर-प्यार देना स्वीकार किया, जीवन में प्रीति की एकता स्वीकार की, उनके द्वारा जो सेवा हुई है, वह किसी के द्वारा नहीं हुई।

सेवा करने का फल क्या है? सेवा करने की भावना फैल जाए। सेवा का असली स्वरूप तो यही है कि हमारे हृदय में सभी के प्रति प्यार आ जाए और जीवन में से व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और अवस्थाओं की जो दासता है, उसका नाश हो जाए। आप व्यक्ति की दासता में फँसकर मोह से रहित नहीं हो सकते। आप वस्तुओं की दासता में फँसकर लोभ से रहित नहीं हो सकते। आप परिस्थिति की दासता में फँसकर अभिमान और दीनता से रहित नहीं हो सकते। आप अवस्था की दासता में फँसकर परिच्छिन्नता से रहित नहीं हो सकते।

महानुभाव! मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि जो किसी को भी अपना नहीं मानता, वही सभी को अपना मानता है। जो सभी को अपना मानता है, उसी में यह सामर्थ्य आती है कि वह किसी को अपना न माने। आज हमसे भूल क्या होती है? हम व्यक्तियों की सेवा करते हैं और वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं। आपकी सेवा का पात्र तो सारा संसार है। सबसे बड़ी सेवा धन से नहीं हो सकती, योग्यता से नहीं हो सकती, बल से नहीं हो सकती, कानून से नहीं हो सकती। सबसे बड़ी सेवा हो सकती है, किसी का बुरा न चाहने से, किसी को बुरा न समझने से और किसी के साथ किसी भी कारण से बुराई न करने से।

आप अगर सच्चे सेवक होना चाहते हैं और सबसे बड़े सेवक होना चाहते हैं, तो आपको यह तीनों बातें अपने ही द्वारा अपने में स्वीकार करनी पड़ेगी। (1) आज से मैं किसी को बुरा नहीं समझूँगा। (2) आज से मैं किसी का बुरा नहीं चाहूँगा। (3) आज से मैं किसी के साथ बुराई नहीं करूँगा। महानुभाव! मैं नहीं कहता कि आप किसी का भला करें। मैं नहीं कहता कि आप किसी के साथ भलाई करें। यह क्या कम है कि हम किसी को बुरा न समझें, हम किसी का बुरा न चाहें, हम किसी के साथ बुराई न करें? यह कोई कम नहीं है।

जब यह चीज जीवन में आ जाती है, तो आप जानते हैं, क्या होता है? यह बड़ी ही दार्शनिक बात है।

अगर आज हमारे और आपके जीवन में यह बात आ जाए कि हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे, हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे, तो आप सच मानिए, यह सद्भावना इतनी व्यापक हो सकती है कि सभी लोग इस बात को मान लें।

सीखी-सिखाई बात अधिक नहीं ठहरती। अभिव्यक्त हुई सच्चाई कभी नष्ट नहीं होती। तो सच्चाई हमारे-आपके जीवन में अभिव्यक्त होनी चाहिए। उसको बलपूर्वक ऊपर से नहीं भरना चाहिए। हमारे और आपके जीवन में सच्चाई अवतरित होनी चाहिए। अगर आप सचमुच विश्व-शान्ति के प्रश्न को हल करना चाहते हैं, मानव जाति की यथेष्ट सेवा करना चाहते हैं , सारे संसार को सुखी देखना चाहते हैं, अपने को शान्त देखना चाहते हैं, अपने को स्वाधीन देखना चाहते है; तो आज इस बात की आवश्यकता है कि हम और आप दूसरों को बुरा समझना, दूसरों का बुरा चाहना, दूसरों के साथ बुराई करना छोड़ दें। इसमें आपके धन का खर्च नहीं होगा, इसमें आपको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। इसमें आपको अपना परिवर्तन करना पड़ेगा। अपनी अहंता बदलनी पड़ेगी। आपको अपने में यह बात माननी पड़ेगी कि मुझे अधिकार नहीं है किसी को बुरा समझने का, मुझे अधिकार नहीं है किसी का बुरा चाहने का, मुझे अधिकार नहीं है किसी की बुराई करने का। अगर आप सचमुच विश्व की सबसे ऊँची सेवा करना चाहते हैं, आप अपने द्वारा करना चाहते हैं, हर परिस्थिति में करना चाहते है; तो यह महाव्रत लेना ही होगा।

अब दूसरा प्रश्न आता है, अपने कल्याण का। अगर आप सचमुच अपना कल्याण चाहते हैं, तो आपका कल्याण किसी बाह्य सहायता से नहीं होगा, किसी और के द्वारा नहीं होगा। आपका कल्याण होगा, आपके निज ज्ञान के प्रभाव से।

आपका ज्ञान आपको क्या बताता है? हर भाई का ज्ञान यह बताता है कि जैसा शरीर पहले था, वैसा अब नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा। हम लोग आज मिले हैं, एक दिन अलग हो जाएँगे। यह ज्ञान हमको यह प्रेरणा देता है कि आज मिले हैं और एक दिन अलग हो जाएँगे। तो किसी को तो बुरा समझने लग जाएँ और किसी को अच्छा समझने लग जाएँ। यह बिल्कुल गलत बात है, अपने को धोखा देना है। जिसे

परमात्मा प्यारा लगता, उसे सब प्यारे लगते हैं। जिसे सन्त प्यारा लगता है, उसे सब प्यारे लगते हैं। क्योंकि सन्त और परमात्मा सभी को अपना मानते हैं। परमात्मा माने, सभी को अपना मानना। और हम माने, किसी को अपना और किसी को गैर मानना। तो भाई, यह परमात्मा की भक्ति नहीं हुई, सन्त की भक्ति नहीं हुई। सन्तों ने तो सबसे यही कहा है कि सभी को अपना मानो। सभी अपने हैं। कोई और नहीं, कोई गैर नहीं।

महानुभाव! जो सन्तों को प्रेम करता है, वह सबको प्रेम करता है। जो परमात्मा को प्रेम करता है, वह सबको प्रेम करता है और जो अपने को प्रेम करता है, वह सबको प्रेम करता है। और भाई, जो परमात्मा को प्रेम नहीं करता, सन्तों को प्रेम नहीं करता, अपने को प्रेम नहीं करता; सच पूछो तो वह किसी को प्रेम नहीं करता।

इसलिए मेरा यह निवेदन था कि अगर आपको अपना कल्याण चाहिए, तो आप ही के ज्ञान से जो बात प्रत्यक्ष है, स्वतः सिद्ध है, उसके अनुसार ममता तोड़ दो और कामना छोड़ दो; संसार से सम्बन्ध तोड़ दो और अपना अधिकार छोड़ दो। यह तीन बातें हैं–(1) अपना अधिकार छोड़ दो, पर अपना कर्त्तव्य मत छोड़ दो! (2) अपनी ममता तोड़ दो, लेकिन आदर और प्यार देना मत छोड़ दो! (3) कामना छोड़ दो, लेकिन उदारता मत छोड़ दो।

आज की दशा क्या है? ममता छोड़ने के लिए सेवा करना छोड़ देते हैं। कामना छोड़ने के लिए लोग संसार को बुरा समझने लगते हैं। यह मत करो भाई। ममता तोड़ दो, कामना छोड़ दो, संसार से अपना सम्बन्ध तोड़ दो और अपना अधिकार छोड़ दो। लेकिन कर्त्तव्य मत छोड़ो, सेवा मत छोड़ो। जिसकी जो भी सेवा बन सके, सेवा करते रहो। जहाँ रहो, वहीं सेवा करते रहो। देखो, करुणा और चीज है, दुखी होना और चीज है। दुखी होने से तो शक्ति क्षीण होती है और करुणा से शक्ति जाग्रत होती है। सेवा में करुणा की आवश्यकता है, दुखी होने की नहीं।

सती माँ के जीवन की घटना मुझे याद है। जिस परिवार में वे बहू बनकर आई थीं, उसी परिवार की वे खूब सेवा करतीं। वे भगवान् में अटूट विश्वास रखतीं और शरीर से खूब परिश्रम करतीं। वे परिवार से बाहर कभी नहीं गई, वन में तप करने के

लिए कभी नहीं गई। उन्होंने घर में रहकर परिवार की बड़ी सेवा की। उनके जेठ के बड़े लड़के की अंगुली में फोड़ा हो गया था। लड़के के मुँह से निकला–" काकी साहिबा, अब मुझसे तकलीफ सही नहीं जाती।" सती माँ इतनी करुणित हो गई कि उस लड़के का फोड़ा अच्छा हो गया और उनकी अपनी अंगुली में फोड़ा हो गया। उसका उन्होंने इलाज नहीं कराया। केवल गरम लोहे से दाग दिया और फोड़ा अच्छा हो गया।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि भगवान् को पाने के लिए आपको वन में नहीं जाना है, परिस्थिति नहीं बदलनी है। जिस परिस्थिति में आप हैं, उसी परिस्थिति में आपको अपने प्रियजनों की ईमानदारी से सेवा करनी है, ममता और आसक्ति को छोड़कर। संसार की ओर से मान और भोग मिलने की जो परिस्थिति आती है, यह अपनी ही लोक-वासना की कामना का फल है। संसार की ओर से जो अनादर मिलता है, यह अपनी भूल का ही परिणाम है। वास्तव में संसार अपनी ओर से न किसी को मान देता है और न किसी का अनादर करता है। तुम्हारी लोकवासना की पूर्ति के लिए वह मान देता है और तुम्हारी भूल दिखाने के लिए अनादर करता है।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि अगर आपको परमात्मा प्राप्त करना है और अपना कल्याण करना है यानी मोह से रहित होना है, लोभ से रहित होना है, मायाजाल से रहित होना है; तो जिनके साथ रहो, उनको खूब आदर दो, प्यार दो और उनकी सेवा करो। सेवा करने से कोई फँसता नहीं है। प्यार करने से कोई फँसता नहीं है। आदर करने से कोई फँसता नहीं है। बच्चों की सेवा करने से मोह में नहीं फँसोगे, बल्कि मोह नाश होगा। परिवार की सेवा करने से परिवार का मोह नाश होगा। ऐसे ही संस्था की सेवा करने से संस्था का मोह और समाज की सेवा करने से समाज का मोह नाश हो जाएगा। मोह का नाश होने से अपना कल्याण होता है।

हिमालय की कन्दरा में घुस जाने से अपना कल्याण नहीं होता। आँख बंद करने से, कान बन्द करने से, श्वाँस रोकने से अपना कल्याण नहीं होता। मोह-रहित होने से अपना कल्याण होता है। मोह-रहित कब होते हैं? जब अपने ही ज्ञान के द्वारा अपने ही शरीर से ममता तोड़ देते हैं। यानी

अपने शरीर को भी अपना नहीं मानते। लेकिन शरीर की भी बच्चों की भाँति सेवा करते हैं। शरीर की सेवा होती है, हितकर खुराक देने से तथा संयमित आहार-विहार से। शरीर की सेवा भी भगवत् पूजा है। परिवार की सेवा भी भगवत् पूजा है।

देश की सेवा भी भगवत् पूजा है। सेवा जो है, वह भगवान् की ही पूजा है। तो जो सेवा करता है, जो पूजा करता है, वही मुक्ति पाता है और वही भक्ति पाता है। क्योंकि सेवा करने से राग का नाश हो जाता है और मोह का नाश हो जाता है। जब राग और मोह का नाश हो जाता है, तब देह के रहते हुए से असंगता का बोध हो जाता है। जिसका देह से सम्बन्ध टूट जाता है, उसका संसार से भी सम्बन्ध टूट जाता है। और जो देह से सम्बन्ध रखता है, वह चाहे कितना ही तपस्वी हो, कितना ही दानी हो, उसकी कितनी ही अच्छी परिस्थिति क्यों न हो, उसका संसार से सम्बन्ध नहीं टूट सकता।

संसार से सम्बन्ध जोड़ने वाला कौन सा कारण है? वह है, देह का सम्बन्ध। जो देह को अपनी करके नहीं जानता, भला उसका सम्बन्ध संसार से कैसे रहेगा? रहता ही नहीं। इसलिए सम्बन्ध तोड़ने के लिए यह पाँच बातें आवश्यक हैं–(1) शरीर मेरा नहीं है, (2) शरीर पर मेरा अधिकार नहीं है, (3) शरीर से मेरा सम्बन्ध नहीं है। (4) मुझे कुछ नहीं चाहिए (5) मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है।

जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना होता है, वही सेवा कर पाता है। जिसे अपने लिए भी करना होता है, वह सेवा के अन्त में भोग में फँसता है, मान में फँसता है, बड़ाई में फँसता है। वह लीडरी के अन्त में मिनिस्ट्री में फँसता है।

तो मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि आप चाहें जिसकी सेवा करें, लेकिन सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए। जब सेवा का अन्त त्याग में होगा, तब त्याग का अन्त बोध में होगा और बोध का अन्त प्रेम में होगा।

देखिए, शरीर के सम्बन्ध से ही कर्म का आरम्भ होता है। शरीर के सम्बन्ध से ही चिन्तन का आरम्भ होता है। समाधि तक शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। निर्विकल्प स्थिति में कारण शरीर से सम्पर्क रहता है। सार्थक चिन्तन में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रहता है। पुण्य कर्म में स्थूल शरीर से सम्बन्ध रहता है। यह कर्म, चिन्तन और स्थिति शरीर के सम्बन्ध से ही सिद्ध होते हैं।

इसलिए जिसने शरीर से सम्बन्ध तोड़ दिया, उसके द्वारा होने वाला कर्म उसे बाँधेगा नहीं, उसके द्वारा होने वाला चिन्तन उसे बाँधेगा नहीं, उसके द्वारा होने वाली स्थिति उसे बाँधेगी नहीं।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि अगर आपको अपना कल्याण अभीष्ट है, तो कर्म, चिन्तन और स्थिति से असंग हो जाएँ, अभी हो जाएँ और अपने द्वारा हो जाएँ। यह निज ज्ञान के आदर से ही होता है। बहुत से लोग कहते हैं कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। मैं कहता हूँ कि आपका ज्ञान ही तो आपका गुरु है, और कोई गुरु थोड़े ही है। जो तुम्हारा ज्ञान है, वही गुरु है। तुम्हारी जो आस्था है, तुम्हारी जो श्रद्धा है, तुम्हारा जो विश्वास है, उसी से भगवान् मिलेगा।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि ज्ञान रूपी गुरु और श्रद्धा, विश्वास रूपी गुरु आपको मिला हुआ है। आपका गुरु आप ही में है, आपसे दूर नहीं है। जो भी महापुरुष हुए, उन्होंने अपने ज्ञान का आदर किया और अपनी श्रद्धा में विकल्प नहीं किया। मैं कहता हूँ कि भगवान् में श्रद्धा, विश्वास बिना किए, देखें कैसे भक्ति मिल जाएगी? अपने ज्ञान का आदर किए बिना, देखें कैसे मुक्ति मिल जाएगी? बल का सदुपयोग किए बिना, कैसे आप धर्मात्मा हो जाएँगे? नहीं हो सकते।

शुद्धबोध माता जी से मैंने कहा कि माताजी! मेरे हर्ष का सबसे बड़ा सुन्दर दिन वह होगा, जब मैं आपसे मिलना चाहूँगा और आप कहेंगी कि मुझे आपकी जरूरत नहीं है। गुरु की सबसे बड़ी भक्ति यह है कि गुरु मिलना चाहे और शिष्य कहे कि जरूरत नहीं है। क्योंकि जिसने गुरु की बात को अपनाया, उसमें गुरु का अवतरण हो जाता है।

मुझे अपने जीवन की घटना मालूम है कि जब हमारे गुरु महाराज का स्थूल शरीर नाश होने जा रहा था, तब मेरे मुँह से निकला–"महाराज जी! मैं चाहता था कि आपका शरीर कुछ दिन और रहता।" तो गुरुजी ने बड़े ही धीरज से कहा–" देख भैया! मेरे अनेकों शरीर हैं। जब जरूरत होगी, मैं मिल जाऊँगा।" और ऐसी अनेकों घटनाएँ घटी कि जब भी मुझे जरूरत पड़ी, तब वे प्रकट होकर अपना प्रकाश दे गए। तो सच्चा गुरु और सच्चा गुरु-भक्त एक होकर रहते हैं।

गुरु-भक्त गुरु के हाड़-माँस की ओर नहीं देखता, बाहर की ओर नहीं देखता। वह तो गुरु का जो

प्रकाश हैं, उसी से ज्ञान प्राप्त करता है और प्रभु में आस्थ-श्रद्धा रखता है। तथा प्राप्त बल का सदुपयोग करने की प्रेरणा लेता है। सत्पुरुषों में जीवन का सत्य प्रकाशित होता है। उनका बाह्य क्रिया-कलाप उनका असली रूप नहीं है। उनमें जो उदारता है, समता है और प्रियता है, यही उनका असली रूप है।

हम सब मानव होने के नाते अपने ज्ञान के प्रभाव से मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं और श्रद्धा-विश्वास से भक्ति का आनन्द ले सकते हैं। तो महानुभाव! किसी को बुरा न समझने के समान और कोई उदारता नहीं हैं अचाह और अप्रयत्न होने के समान और कोई अध्यात्म उन्नति का साधन नहीं हैं। आस्था, विश्वासपूर्वक शरणागत होने के समान और कोई प्रभु-प्राप्ति का साधन नहीं है।

तो मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही था कि आप उतना जानते हैं कि जितना जानना चाहिए और आप उतना कर सकते हैं कि जितना करना चाहिए। आप अपने पर भरोसा कीजिए और मानव-जीवन के महत्त्व को अपनाइए। आप सच मानिए, संसार में जितने महापुरुष हैं, उन सबकी सद्भावना आपके साथ रहेगी, जगत् की उदारता आपके साथ रहेगी और प्रभु की कृपालुता आपके साथ रहेगी।

यह हो नहीं सकता कि आप सच्चाई की तरफ आगे बढ़ना चाहें और जगत् आपकी सहायता न करे और प्रभु की कृपालुता आपके साथ न रहे। हर भाई, हर बहन जिस समय सत्संगी होकर साधननिष्ठ होने की तैयारी करता है, उसी समय से चराचर जगत् हर्ष मनाता है और अपनी उदारता से आवश्यक कार्य पूरा करता है। इसमें मुझे लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि हम और आप यह आवश्यकता अनुभव करें कि वह कौन सी घड़ी होगी, जब हमारा हृदय पर-पीड़ा से भर जाएगा! वह कौन सी घड़ी होगी, जब हम शरीर और संसार से असंग हो जायेंगे! वह कौन-सी घड़ी होगी, जब हृदय प्रभु-प्रेम से भर जाएगा! इसको कहते हैं, प्रार्थना।

महानुभाव! प्रार्थना इसलिए नहीं की जाती कि आप कहेंगे, तब परमात्मा सुनेंगे। प्रार्थना का असली रूप है, अपनी आवश्यकता का ठीक-ठीक अनुभव करना। यह आवश्यकता अनुभव करो कि मुझे प्रभु-प्रेम चाहिए! मेरा जीवन सेवा-

परायण हो जाए, मुझे असंगतापूर्वक अमर जीवन मिल जाए! तो अमर जीवन की प्राप्ति की माँग, उदारता की माँग, प्रभु-प्रेम की माँग हमारे जीवन में रहनी चाहिए।

प्रार्थना शब्दों द्वारा नहीं की जाती। प्रार्थना का मतलब है, अपनी जरूरत की विस्मृति न हो। बल्कि सारी इच्छाएँ गलकर अपनी इस जरूरत में विलीन हो जाएँ कि मुझे प्रभु-प्रेम चाहिए, मुझे स्वाधीनता चाहिए, मुझे उदारता चाहिए। यानी जीवन जगत् के लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी हो जाए। इस प्रकार की जो माँग है, उसी का नाम प्रार्थना है।

आप सच मानिए, जिस समय सर्व समर्थ प्रभु यह देख लेंगे कि तुम शान्ति के बिना नहीं रह सकते, तुम सेवा के बिना नहीं रह सकते और तुम प्रभु-प्रेम के बिना नहीं रह सकते, उसी समय वे सर्वसमर्थ तुमको सेवा का बल देंगे, त्याग का बल देंगे और अपना प्रेम प्रदान करेंगे।

मैं अपने जीवन की एक घटना आपके सामने रखना चाहता हूँ। एक बार मैं बहुत दुखी हो गया था। मुझे क्या दुःख था कि संसार मुझे यथेष्ट स्थान नहीं देता। इस दुःख में बैठकर सोचने लगा कि भाई संसार किसका? जो उसके काम आए उसका। संसार मुझे स्थान नहीं देता, तो इसका अर्थ है कि मैं संसार के काम नहीं आया। इसमें संसार का कोई अपराध नहीं है।

देखिए, जब साधक सच्चाई की ओर चलता है, तो उसे सबसे पहले अपनी भूल का दर्शन होता है और दूसरों के निरपराध होने का भी दर्शन होता है। तो मुझे तुरन्त मालूम हो गया कि इसमें संसार का कोई अपराध नहीं है, दोष नहीं है। मैं अगर उसके काम आ जाता, तो वह मुझे यथेष्ट स्थान देता, आदर और प्यार देता। क्योंकि मैं उसके काम नहीं आया, इसलिए उसने मुझे आदर और प्यार नहीं दिया।

जब मनुष्य किसी दूसरे को अपराधी नहीं मानता, तब उसे अपने अपराध का स्पष्ट रूप से दर्शन हो जाता है। मुझे अपने अपराध का दर्शन हुआ कि मैं संसार के काम नहीं आया। यह मेरा ही तो अपराध है। मैंने सोचा कि मैं संसार के काम क्यों नहीं आ सका? तो मुझे पता चला कि मैं अचाह नहीं हुआ था। यदि मैं अचाह हो जाता, तो मैं संसार के काम आने लगता। अचाह ही संसार के काम आता है।

उसके बाद मुझे तुरन्त प्रेरणा मिली कि हे संसार देवता! तुम

मुझे इसलिए पसन्द नहीं करते कि मैं तुम्हारे काम नहीं आया। पर दोस्त! तुम भी तो मेरे काम नहीं आए। अब मुझमें समता आ गई। पहले मैं अपने को अपराधी मानता था और जगत् को भी अपराधी मानता था। परन्तु समता आ जाने पर अपराधी भाव का अन्त हो गया। मैंने कहा कि हे संसार देवत! मैं तुम्हारे काम नहीं आया और तुम मेरे काम नहीं आए। अब किसी से कोई शिकायत नहीं।

तो आज यदि हम सब यह निर्णय कर लें कि आज से सुनने वालों की खुशी के लिए बोलेंगे, खिलाने वालों की खुशी के लिए खायेंगे, मिलने वाले की प्रसन्नता के लिए मिलेंगे, तो बताओ आपने इनमें कौन सा तप किया? जो सत्य सामने आया, उसे अपनाया। इस सत्य के अपनाने से आप अचाह हो जायेंगे और जगत् के काम आयेंगे।

आप लोग मेरी बात सुनना चाहते हैं, तो इसमें मेरी कोई विशेष विशेषता नहीं। यह तो आपकी और जगत् की उदारता है, सत्पुरुषों की सद्भावना है और प्रभु की कृपालुता है। प्रभु की कृपालुता से मुझे यह प्रकाश मिला कि मैं हर्षपूर्वक उसके बिना रह सकता हूँ, जो मेरे बिना रह सकता है। इस बल के आने से साधक सेवा करने में समर्थ हो जाता है।

महानुभाव! सेवा करते जाओ, त्याग को अपनाते जाओ और प्रेम की भूख बढ़ाते जाओ। यह तीनों चीजें साथ-साथ चलेंगीं करो सेवा, त्याग को अपनाओ और प्रभु-प्रेम की भूख बढ़ाओ। जैसे-जैसे जीवन में प्रेम की भूख बढ़ती जाएगी और जैसे-जैसे त्याग पुष्ट होता जाएगा, वैसे-ही-वैसे सेवा सजीव होती जाएगी। फिर हमारा और आपका सर्वतोमुखी विकास हो जाएगा।

आप भी कोशिश करें और प्रार्थना करें। चाहे परमात्मा को मान कर प्रार्थना करें, चाहे परमात्मा को बिना माने प्रार्थना करें और चाहे आवश्यकता अनुभव करें कि जीवन सेवा से, त्याग से, और प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए। इस आवश्यकता के अनुभव करने से ही आप में वह सामर्थ्य आ जाएगी कि जिससे आप सेवा कर सकेंगे, आप त्यागी हो सकेंगे, और आप प्रेमी हो सकेंगे। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

महानुभाव! मेरी कटुतापूर्ण वाणी से यदि आपको क्षोभ हुआ हो, तो मैं क्षमा चाहता हूँ। मैंने आपके दुःख से दुखी होकर, आपकी बेबसी को

देखकर, आपकी असमर्थता को देखकर, आपका अपने आप पर अविश्वास देखकर, प्रभु में अविश्वास देखकर आपके सामने यह व्यथा प्रकट कर दी। इस पर भी यदि किसी महानुभाव को बुरा लगा हो, तो मैं क्षमा चाहता हूँ और इसी भावना से प्रणाम करता हूँ कि आप अगर इस प्रार्थना-स्थली में सही रूप में अपनी प्रार्थना को अपनाएँगे और सेवा, त्याग, प्रेम की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तो आपका जीवन सेवा से परिपूर्ण हो जाएगा, त्याग से परिपूर्ण हो जाएगा और प्रेम से भी परिपूर्ण हो जाएगा। आप अपने प्राणों के रहते-रहते अपने जीवन को जगत् के लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी पायेंगे। इसी सद्भावना के साथ मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

42(अ) दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु या प्रभु की है या माया मात्र है, या जगतकी है।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव!

प्रातःकाल का सत्संग साधन-निर्माण के लिए होता है। अपने जाने हुए असत् के त्याग मात्र से ही साधन का निर्माण बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। क्योंकि समस्त साधनों की अभिव्यक्ति अपने जाने हुए असत् के त्याग और सत् के संग में ही निहित है। परन्तु हमारे जीवन पर हमारे ही जाने हुए का प्रभाव नहीं होता। यदि जाने हुए का प्रभाव हो जाए, तो साधन-निर्माण में कोई कठिनाई नहीं होती, अपितु स्वाभाविकता आ जाए। स्वाभाविकता का अर्थ यह है कि साधन में इतनी प्रियता हो जाए कि साधन के बिना हम किसी प्रकार न रह सकें। किन्तु सबसे बड़ा जो दुःख है वह केवल इस बात का है कि अपने जाने हुए का ही अपने ऊपर प्रभाव नहीं होता। इस निर्बलता का नाश होने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं।

साधन-निर्माण होते ही साधक में तत्परता आ जाती है। जैसे-जैसे तत्परता बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे साधक का जो अस्तित्व है, वह साधन में विलीन होता जाता है। जैसे-जैसे साधक का अस्तित्व साधन में विलीन होता जाता है, वैसे-ही-वैसे साधन और साध्य से अभिन्नता होती जाती है। जिस समय साधक का अस्तित्व सर्वांश में साधन में विलीन हो

जाता है, उसी समय अनेक साधन एक ही साधनतत्त्व में विलीन हो जाते हैं। आप कहेंगे कि साधन और साधनतत्त्व में अन्तर क्या है? तो एक बड़ा अन्तर यह है कि साधन व्यक्तिगत होता है और साधनतत्त्व सामूहिक होता है। अर्थात् साधनतत्त्व सभी का एक है।

वह साधनतत्त्व क्या है? साधनतत्त्व है, अपने साध्य की अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता। तात्पर्य क्या निकला? हम सबको किसी की प्रियता होना है। किसकी प्रियता? जो हमारा साध्य है। यह प्रश्न नहीं है कि आपका साध्य क्या है? यह तो आप जानें। इससे हमें कोई मतलब नहीं। किन्तु आपकी प्रियता अपने साध्य में है या नहीं? जीवन में जो मूल्य है, वह प्रियता का है।

आप देखेंगे कि संसार में जितने भी लोग हुए, जिनको आप बड़े आदमी कहते हैं, उन सबमें किसी की प्रियता का आपको दर्शन होगा। चाहे मीरा होकर गिरधर की प्रियता हो, चाहे कबीर होकर निर्विशेष तत्त्व की प्रियता हो, चाहे जिज्ञासु होकर तत्त्व में प्रियता हो, चाहे भक्त होकर भगवान् में प्रियता हो, चाहे व्यक्ति होकर समाज में प्रियता हो और चाहे शरीर होकर विश्व में प्रियता हो। सभी महापुरुषों में आप यह चीज देखेंगे कि उनमें अपने साध्य की प्रियता है।

यह प्रियता किसी वस्तु के द्वारा प्राप्त नहीं होती, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा भी प्राप्त नहीं होती। मुझे तो यह कहने में भी संकोच नहीं लगता कि किसी अभ्यास के द्वारा भी प्रियता प्राप्त नहीं होती। यदि वस्तु के द्वारा प्रियता प्राप्त होती, तो प्रियता आज अमेरिका में कैद दिखाई देती, और कहीं देखने को भी नहीं मिलती। क्योंकि अमेरिका के पास बहुत सी वस्तुएँ हैं। यदि बल के द्वारा प्रियता प्राप्त होती, तो रूस के पास कैद होती। बुद्धिमानी से, सज्जनता से अगर प्रियता प्राप्त होती, तो मैं समझता हूँ कि अँग्रेजी सरकार को मिलती। यदि आलस्य और बात बनाने से प्रियता प्राप्त होती, तो मुझे मिलती। किन्तु इन सब बातों से प्रियता नहीं मिलती।

प्रियता का जो वास्तविक मूल्य है, वह है आत्मीयता-अपनापन। जहाँ हमारा अपनापन हो जाता है, वहाँ प्रियता उदय होती है। अब यह जो अपनापन है, वह कैसे सुरक्षित रहता है? इस पर थोड़ा विचार करो। अपनापन सुरक्षित रहता है, चाह-रहित होने से, अपनापन सुरक्षित रहता है, जो कुछ अपने पास है, उसको दे

डालने से। अपनापन सुरक्षित रहता है, नित्य सम्बन्ध से। अपनापन सुरक्षित रहता है, जातीय एकता से। यह सब बातें अपनेपन को सुरक्षित रखने में हैं।

आप विचार करें कि हमारी जातीय एकता किसके साथ है? जातीय एकता का अर्थ यह नहीं कि कोई कहे कि साहब, हम ब्राह्मण हैं, तो ब्राह्मणजाति से हमारी एकता हो गई। जातीय एकता उसी से हो सकती है कि जिससे हमारे और उसके बीच में स्वरूप की भिन्नता न होने पाए।

स्वरूप की भिन्नता का मतलब क्या है? जैसे कल्पना करो कि किसी भाई से, किसी बहन से यह पूछा जाए कि आप वही हैं जो पच्चीस वर्ष पहले हमको अमुक स्थान पर मिले थे? वह कहेगा कि जी, मैं वही हूँ। जैसे हम देवकी जी से पूछें कि आप सन् 1944 में हमको शुक्लाजी के घर पर मिली थी, क्या आप वही हैं? तो वे कहेंगी कि मैं वही हूँ। फिर थोड़ी देर बाद पूछें कि आप क्या करती हैं? तो वे कहेंगी कि मैं प्रोफेसर हूँ। उस समय क्या करती थी? बोली, मैं तब विद्यार्थी थी।

परिवर्तन किसमें हुआ? मैं विद्यार्थी थी, इसमें परिवर्तन हुआ कि मैं वही हूँ, इसमें परिवर्तन हुआ? जातीय एकता के सम्बन्धें यह उदाहरण दे रहा हूँ। जातीय एकता के सम्बन्ध में आप विचार करें कि मैं वही हूँ, इसमें परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु मेरी आज यह परिस्थिति है और कल वह थी। परिस्थिति में परिवर्तन हुआ, शरीर में परिवर्तन हुआ, भावना में परिवर्तन हुआ, विचारों में परिवर्तन हुआ, वस्तुओं में परिवर्तन हुआ। लेकिन क्या मुझमें परिवर्तन हुआ? नहीं।

अतः हम सबको यह मानना पडेगा कि भाई, अपने में परिवर्तन नहीं हुआ। अवस्था में परिवर्तन हुआ, परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ, वस्तुओं में परिवर्तन हुआ। तो जिसमें परिवर्तन होता है, वह उसकी जाति का नहीं हो सकता, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। अथवा यों कहो कि जिसमें परिवर्तन नहीं होता, उसकी उससे जातीय एकता नहीं हो सकती कि जिसमें परिवर्तन हो। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हमारी-आपकी सभी की किसी वस्तु से जातीय एकता नहीं है, किसी अवस्था से जातीय एकता नहीं है, किसी परिस्थिति से जातीय एकता नहीं है।

तो फिर किससे हमारी जातीय एकता हो सकती है? जिसका परिवर्तन न हो। अब आप विचार

करके देखें कि जो कुछ इन्द्रियों के ज्ञान से देखने में आता है, बुद्धि के ज्ञान से जो कुछ देखने में आता है, उसमें आपको क्या ऐसी कोई वस्तु मालूम होती है कि जिसमें परिवर्तन न हो। अगर हम और आप स्वयं अपने ज्ञान का आदर करें, तो हमको-आपको सबको ईमानदारी से कह देना पड़ेगा कि ऐसी वस्तु इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि के द्वारा अब तक देखने में नहीं आई कि जिसमें परिवर्तन न हो।

तात्पर्य क्या निकला? संसार से हमारी जातीय एकता नहीं है। संसार है या नहीं, इस पर हम आज विचान नहीं कर रहे हैं। किन्तु इस बात पर विचार कर रहे हैं कि संसार से हमारी जातीय एकता नहीं है। तो फिर किस प्रकार की एकता है? मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता के नाते हमारे पास जो कुछ संसार की वस्तु है वह उसको भेंट करना है, आदरपूर्वक उसकी सेवा में लगा देना है।

तो मानी हुई एकता से कर्त्तव्य का जन्म हुआ। किन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि हम और हमारा संसार जातीय रूप से एक नहीं है, दोनों एक जाति के नहीं है। इसी को आप अपने जीवन में देखें, तो हम और हमारा शरीर, इन दोनों में जातीय एकता नहीं है। हम और हमारे प्राण, हम और हमारी बुद्धि, हम और हमारी इन्द्रियाँ, हम और हमारा मन एक जाति के नहीं है। तो जिससे जातीय एकता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है। उससे ममता नहीं की जा सकती। यह बड़े रहस्य की बात है।

आज होता क्या है? आज हम कुटुम्बीजनों की सेवा नहीं करेंगे, पर उनसे ममता करेंगे। अरे, ममता करते हो, सेवा क्यों नहीं करते? आप सेवा तो तब करें, जब स्वयं उनसे सुख की आशा न रखें। आज हमारी दशा क्या हो गई? जिनके साथ हम रहते हैं जो हमारे साथ रहते हैं, उनसे सुख की आशा करेंगे, उनसे ममता रखेंगे, पर उनकी सेवा नहीं करेंगे। यह क्या है? यह असाधन है।

असाधन कोई बाहर से नहीं आता, किसी और ने हमारे ऊपर नहीं लाद दिया। हमने स्वयं अपने जीवन में असाधन को स्थान दिया है। हमारा असाधन यह है कि जिनसे हमारी मानी हुई एकता है, जातीय एकता नहीं है, उनकी सेवा करने में हम हिचकते हैं। उनको आदर देने में हिचकते हैं , उनको प्यार देने में हिचकते हैं। किन्तु उनसे सुख की आशा करने में नहीं हिचकते, उनसे ममता करने में नहीं

हिचकते। तो भाई, सुख की आशा और ममता , यह क्या है? यह असाधन है।

संसार ने आपको शरीर रूपी वस्तु दी है, योग्यता दी है, सामर्थ्य दी है, ज्ञान -विज्ञान और कला दी है। कौन सा ज्ञान? इन्द्रियजन्य ज्ञान, बुद्धिजन्य ज्ञान। कौन सी कला? जिससे जीवन में सुन्दरता आती है। कौन सा विज्ञान? वस्तुओं के उपयोग वाला विज्ञान। यह सब हमको संसार से मिला है, यह मानना ही पड़ेगा। यह सब संसार की देन है। तो यह जो संसार की देन है, उसके द्वारा संसार की पूजा कर दो। जैसे, कोई गंगाजल से गंगा की पूजा कर दे, तो इसमें क्या खर्च होता है भैया? सोचो तो सही।

यदि हम संसार की दी हुई वस्तु के द्वारा संसार की सेवा नहीं कर सकते, तो इससे बढ़कर और कोई बेईमानी हो ही नहीं सकती। और इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं हो सकता कि आपको दी हुई वस्तु से ही हम आपकी पूजा कर दें। इससे बढ़कर और कोई सुगम साधन हो सकता है क्या?

आपका ही सम्बन्धी-साथी चाहे पत्नी के रूप में हो, चाहे माता के रूप में हो और चाहे बहन के रूप में हो, जिस समय वह आपकी ही कमाई हुई, आपकी ही लाई हुई वस्तु प्रीति पूर्वक आपके सामने रखती है, तब आपको रस आता है कि नहीं? और जब आप अपने हाथ से उठाकर लें, तब कितना रस आता है? ऐसे ही विधिवत्, साधनरूप से किया कार्य सुखद और शान्ति देने वाला होता है और असाधन रूप से किया कार्य दुःखद और अशान्ति देने वाला होता है। वास्तविकता तो यह है कि जीवन का कोई क्षण असाधन में न बीते।

इससे क्या सिद्ध हुआ? साधन जीवन हो, जीवन साधन हो। साधन और जीवन में विभाजन हो ही नहीं सकता। जगत् की दी हुई वस्तु आदरपूर्वक, प्यारपूर्वक, ईमानदारी से, विधिवत् जगत् को दे दो। विधिवत् का अर्थ है, उचित ढ़ग से। जैसे, रोगी को रोगी का भोजन दो, स्वस्थ को स्वस्थ का भोजन दो। सेवा में विधि का भी एक स्थान है।

आज की दशा क्या है? अपनी अयोग्य संतान के लिए लाखों रुपये जमा करेंगे और पड़ोसी की योग्य संतान की सहायता नहीं करेंगे। जबकि ईमानदारी इसी में है कि अपनी अयोग्य संतान की अपेक्षा पड़ोसी की योग्य संतान को सहयोग दें। यदि अपना भी लड़का योग्य हो और

पड़ासी का लड़का भी योग्य हो, तो उस समय अपने लड़के को पहले दो; क्योंकि उसका अधिकार पुत्र के नाते पहले आता है। इससे कोई पाप नहीं लगता। लेकिन अपने अयोग्य लड़के के लिए सब कुछ और पड़ोसी के योग्य लड़के के लिए कुछ नहीं। यह तो भाई, असाधन है।

जिस सुख का प्रलोभन चित्त में अंकित है और जिसे विचार से नहीं मिटा सकें, उस प्रलोभन के मिटाने के लिए जीवन में कुछ भाग सुखकर प्रवृत्ति का है। अधिकतर भाग तो जीवन में हितकर और रुचिकर प्रवृत्ति का है। सुख की वास्तविकता जानने के लिए सुखकर प्रवृत्ति का महत्त्व है। हितकर प्रवृत्ति का त्याग नहीं होता और न हितकर प्रवृत्ति के बारे में यह सोचना पड़ता है कि करें कि न करें। हितकर प्रवृत्ति अपने आप निवृत्ति में विलीन हो जाती है। कब निवृत्ति में विलीन होती है? जब कर्त्तापन नहीं रहता।

भाई, साधन का अर्थ यह कभी नहीं है कि हम वह साधन करें कि जो हमारे जीवन से कभी भी अलग हो सके। जगना, उठना, बैठना, सोना, खाना-पीना, मिलना-जुलना आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं जीवन में, उनमें से कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जो साधनरूप न हो। साधनरूप प्रवृत्ति की कसौटी यह है कि अपने लिए प्रसन्नता देने वाली हो और संसार के लिए हितकर सिद्ध होती हो। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती है, जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली होती है और दूसरों के लिए न तो हितकर होती हैं और न अहितकर; वे भी साधन रूप के अन्तर्गत आ सकती हैं। लेकिन जो प्रवृत्तियाँ अपने लिए सुखद हों और दूसरों के लिए दुःखद हों, वे कभी भी साधनरूप नहीं है।

'सन्त-समागम' पुस्तक में एक जगह लिखाया है किसी घटना के अर्थ में। कोई घटना थी, उससे जो मुझे प्रकाश मिला, उसके अनुसार लिखाया था कि जो सुख किसी का दुःख बनकर आता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है। और जो दुःख किसी के हित के लिए आता है, वह हमें आनन्द से अभिन्न कर देता है। इस वाक्य को पढ़कर प्रिंसिपल वर्माजी ने हमें चिट्ठी लिखी कि इस वाक्य के आधार पर कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं और जीवन की सभी समस्याएँ हल हो सकती हैं।

तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि साधन कोई बोझा नहीं है।

आज साधक ध्यान से उठकर कहता है कि अब मुझे विश्राम मिलेगा। वह भी कोई ध्यान है, जो ध्यानकाल में विश्राम का हेतु न हो? माला पूरी हो गई, तो मानो जेल से बाहर आ गये। जरा सोचो, वह भी कोई भजन और चिन्तन है, जो भजन-काल में विश्राम का हेतु न हो?

इस प्रकार की जो साधन प्रणाली हमारे-आपके जीवन में है, यह तो साधन के नाम पर असाधन का पोषण है। भाई, साधन का अर्थ यह कभी नहीं है कि हमारा साधन हमारे लिए लेशमात्र भी अस्वाभाविक सिद्ध हो, अरुचिकर हो और हमारी सामर्थ्य के अनुरूप न हो। साधन अत्यन्त रुचिकर होना चाहिए। क्योंकि यदि रुचिकर साधन नहीं होगा, तो उसमें हमारा पूरा जीवन नहीं लगेगा। साधन उसे कहते ही नहीं कि जिसमें पूरा जीवन न लग जाए।

ऐसा साधन हमें कब प्राप्त होगा? भाई, ऐसा साधन हमें तभी प्राप्त होगा, जब हम और आप अपने-अपने जाने हुए असत् के त्याग करने में सर्वदा तत्पर रहें। जाने हुए असत् के त्याग करने में तत्पर कब होंगे? जब जाने हुए का प्रभाव हो। हम असत् को नहीं जानते, ऐसी बात नहीं है। हम और आप वास्तविकता को जानते हैं। लेकिन उस जाने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में? माने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में? यह देखना है।

इस बात पर प्रत्येक साधक को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि जो हम जानते हैं, उसका प्रभाव क्यों नहीं है अपने जीवन में? देखो, जब तक क्रिया-जनित सुख पर ही दृष्टि रहती है, तब तक वह अधूरी जानकारी है। भोजन में क्रिया-जनित सुख मिलता है। प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति में रस है, पर वह अनित्य रस है। जो इस वास्तविकता को जान लेता है, उसके लिए असत् का त्याग सुगम हो जाता है। वह यह जान लेता है कि भोग का परिणाम दुःखद है। तब उस पर जाने हुए का प्रभाव हो जाता है।

देखना, सुनना, बोलना, सोचना, समझना आदि प्रवृत्तियाँ भोग ही है। भोग माने, प्रवृत्ति का उदय और योग माने, निवृत्ति की दृढ़ता। जहाँ निवृत्ति स्वभाव सिद्ध है यानी स्वाभाविक है, वहीं योग है। सही प्रवृत्ति से ही सहज निवृत्ति आती है और सहज निवृत्ति में योग की अभिव्यक्ति है। इसलिए विचारशील

उस प्रवृत्ति को नहीं अपनाते, जो किसी के लिए भी अहितकर हो।

कर्त्तव्य-विज्ञान का एक बड़ा सुन्दर सिद्धान्त है कि हमारे द्वारा जो दूसरों को मिलेगा, वह कई गुना अधिक होकर हमें ही मिलेगा। यानी यदि हम किसी के साथ अहितकर प्रवृत्ति करेंगे, तो उससे उसका जितना अहित होगा, उससे कई गुना अहित हमारा अपना होगा। आज हमसे सबसे बड़ी भूल यही हुई कि हम कर्त्तव्य-विज्ञान को भूल गए। हम जानते न हों, ऐसी बात नहीं। हम कर्त्तव्य-विज्ञान के विधान का अनादर करने लगे हैं। उस अनादर का परिणाम यह हुआ कि हमें जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगे और जो करना चाहिए उसे नहीं करते। आज हमें कर्त्तव्य अस्वाभाविक और कठिन मालूम होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी जो अधूरी जानकारी है जिसे इन्द्रियजन्य कहते हैं, उसके आधार पर हमने अपना जीवन बना रखा है। जब हम अधूरी जानकारी के स्थान पर वास्तविक जानकारी को अपनाएँगे, तो उसका प्रभाव होने लगेगा। यानी बुद्धि-जन्य ज्ञान का जब हम आदर करेंगे, तब इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव मिट जाएगा और बुद्धि जन्य ज्ञान का प्रभाव होने लगेगा। तब जीवन में असाधन नहीं रहेगा।

विवेक-विरोधी कर्म असाधन है, विवेक-विरोधी विश्वास असाधन है और विवेक-विरोधी सम्बन्ध असाधन है। असाधन और कुछ नहीं। आपका जो विवेक है, आपका जो ज्ञान है, उसके विरुद्ध जब काम करते हैं, तो उसे विवेक-विरोधी कर्म कहते हैं, जो असाधन हैं। विवेक के विरुद्ध जब उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिससे हमारी जातीय भिन्नता है, तो इसे विवेक-विरोधी सम्बन्ध कहते हैं। यह भी असाधन है। इसी प्रकार जो नित्य नहीं है, उसमें विश्वास करना विवेक-विरोधी विश्वास है। यह भी असाधन है। जो कर्म हम अपने साथ नहीं करना चाहते, उसे दूसरों प्रति करना विवेक-विरोधी कर्म है।

अब आप गम्भीरता पूर्वक विचार करें कि असाधन का मूल कारण क्या है? विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध, विश्वास को अपनाना। यह बात नहीं कि आप यह न जानते हों। आप जानते हैं कि विवेक-विरोधी कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे अपने प्रति नहीं चाहते। क्या आप विवेक-विरोधी कर्म के आधार पर समाज में रह सकते हैं? क्या आप विवेक-विरोधी

विश्वास को सुरक्षित रख सकते हैं? कदापि नहीं।

हाँ, यह दूसरी बात है कि जीवन में कुछ भाग ऐसा हो, जो विवेक-विरोधी हो। लेकिन कुछ भाग ऐसा भी रहता है कि जो विवेक-विरोधी नहीं है। आप देखेंगे कि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं हो सकता, न सभी के लिए दोषी होता है और न सदा के लिए दोषी होता है।

इसलिए भाई, विवेक-विरोधी कर्म से काम चलेगा नहीं, विवेक-विरोधी विश्वास से काम चलेगा नहीं और विवेक-विरोधी सम्बन्ध से काम बनेगा नहीं। तात्पर्य क्या निकला? हम सब विवेक-विरोधी कर्म, विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करें। विवेक-विरोधी कर्म न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करें। यह सिखाया जाता है कि विवेक-विरोधी कर्म मत करो। अरे भाई, जब तक जीवन में विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास रहेगा, तब तक विवेक-विरोधी कर्म अवश्य बनेगा।

विवेक-विरोधी सम्बन्ध क्या है? शरीर की ममता। यह विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। शरीर की ममता रखते हुए आप कितने ही बड़े साधक हो जाएँ, कितने ही बड़े पुरुषार्थी हो जाएँ, कितना ही घोर तप कर लें; अगर किसी ने आपको प्रणाम नहीं किया, तो महाराज! इतने क्रोधित हो जाएँगे कि उसका भी नाश कर बैठेंगे और अपना भी नाश कर बैठेंगे।

इसका क्या तात्पर्य निकला? भाई, विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग पहले करना है। यदि आज हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग कर देते हैं, तो हम और आप यह मानने लगेंगे कि यह शरीर हमारा नहीं है, यह प्राण हमारे नहीं हैं, यह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि हमारे नहीं है। यह स्थूल शरीर हमारा नहीं है, यह सूक्ष्म शरीर हमारा नहीं है और कारण शरीर भी हमारा नहीं है।

इसका परिणाम मालूम है क्या होगा? अगर आपने स्थूल शरीर की ममता तोड़ दी, तो शुभकर्म की आसक्ति विदा हो जाएगी और अशुभ कर्म होगा नहीं। अगर सूक्ष्म शरीर की ममता त्याग दी, तो सार्थक चिन्तन की आसक्ति मिट जाएगी और व्यर्थ-चिन्तन होगा नहीं। यदि कारण शरीर की ममता छोड़ दी, तो स्थिति की आसक्ति नहीं रहेगी। अनासक्ति

अशुद्धि को खा लेती है। जब अनासक्ति अशुद्धि को खा लेती है, तब कर्म भी शुद्ध, चिन्तन भी शुद्ध और स्थिति से भी असंगता। स्थिति में शुद्ध-अशुद्ध नहीं होता।

स्थिति से असंगता हो और कर्म तथा चिन्तन में शुद्धता हो, तो बताइये, साधन बन गया कि नहीं? साधन सिद्ध हो गया कि नहीं? इसके लिए आपने पहले क्या किया? विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग किया। आज दशा क्या है? विवेक विरोधी सम्बन्ध का तो त्याग करेंगे नहीं, जोकि वर्तमान की चीज है। फिर कहेंगे कि कोठरी में बन्द होकर, गुफा में घुसकर हम ईश्वर को खरीद लेंगे। क्या इससे ईश्वर मिलेगा? कदापि नहीं। धोखा दोगे अपने को और दुनियाँ को।

हाँ, यह तो हो सकता है कि आपके इस धोखे में आकर मेला लग जाए, चेला-चेली बन जाएँ, प्रसाद बँटने लगे, भण्डारे होने लगें, लेकिन सिद्धि नहीं होगी। सिद्धि होगी, विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग से। जिस समय आप विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करेंगे, सच मानिए, उसी समय मोह का नाश हो जाएगा। गीता चाट गए, लेकिन महाराज! मोह का नाश नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? विवेक-विरोधी सम्बन्ध का तो त्याग किया ही नहीं। मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप गीता का पाठ न करें। गीता के रचियता से मेरा बड़ा भारी सम्बन्ध है। वे मेरे बड़े मित्र हैं। मैं गीता का बड़ा आदर करता हूँ, क्योंकि वह मेरे दोस्त की बातचीत है।

लेकिन गम्भीरता से सोचो तो सही, क्या आपने विवेक-विरोधी सम्बन्ध को तोड़ दिया या नहीं? जब तक विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़ा ही नहीं, तब तक साधन का आरम्भ ही कैसे होगा? विवेक-विरोधी सम्बन्ध धीरे-धीरे नहीं तोड़ा जाता, सम्बन्ध के टुकड़े नहीं हुआ करते। सम्बन्ध जब टूटता है, तब एक साथ टूटता है।

आज हम और आप इस मौलिक प्रश्न को अपने सामने रखें कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध को तोड़े बिना हम दूसरे कार्य का आरम्भ ही नहीं करेंगे। इस व्रत में चौबीस घण्टे लगातार बिताओ तो सही। अगर आपने चौबीस घण्टे लगातार इस कार्य में लगा दिए, तो आपकी वही दशा होगी, जो भगवान् बुद्ध की हुई थी। उन्होंने निर्णय लिया कि हाय-हाय! जब तक मुझे सत्य नहीं मिलेगा, मैं यहाँ से उठूँगा ही नहीं, दूसरे कार्य का आरम्भ करूँगा ही नहीं। तो वे सत्य पा गए।

इसी प्रकार आपको भी दृढ़ निश्चय करना होगा कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध को तोड़े बिना न खाऊँगा, न पीऊँगा, न सोऊँगा, न किसी से मिलूँगा, न किसी से बोलूँगा। फिर देखिए कि आपको सिद्धि होती है कि नहीं। अवश्य होगी, निस्संदेह होगी।

इसलिए हमको-आपको अगर सिद्धि प्राप्त करनी है, तो विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना होगा और सत् का संग करना होगा। विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करने पर आप देखेंगे कि आपके जीवन में आपके जाने हुए का प्रभाव होगा। जब आपके जीवन में आपके जाने हुए का प्रभाव होगा, तब मिले हुए का सदुपयोग सुलभ हो जाएगा। जाने हुए का प्रभाव हुए बिना मिले हुए का सदुपयोग हो ही नहीं सकता। जब तक मिले हुए का सदुपयोग नहीं हो सकता, तब तक आपका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। यह बड़ा भारी सत्य है कि मिले हुए के सदुपयोग द्वारा ही जीवन जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

जब जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाता है, तो फिर जगत् उस जीवन की माँग करने लगता है, उस जीवन की आवश्यकता अनुभव करने लगता है, उस जीवन का अनुसरण करने लगता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसलिए भाई, हमें और आपको आज ही विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना है। आप कहें कि हम तो विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग नहीं करेंगे। तो भाई, जिस वस्तु से तुम्हारा सम्बन्ध है, वह वस्तु तो तुम्हारा त्याग कर ही देगी। तब तुम क्या करोगे? जरा सोचो तो सही।

लोग कहते हैं कि त्याग बड़ा कठिन है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि त्याग से बढ़कर सुलभ और कोई साधन है क्या दुनियाँ में? त्याग किसका करना है? जो आपके बिना भी रहता है और जो आपका त्याग करता है। त्याग करने वाले का भी त्याग कठिन है क्या? त्याग करने वाले का राग कठिन है कि त्याग करने वाले का त्याग कठिन है? जरा विचार तो करो। त्याग करने वाले का राग असम्भव है, टिक सकता ही नहीं। त्याग करने वाले का त्याग सहज है, सुलभ है, स्वाभाविक है।

विवेक-विरोधी सम्बन्ध जिसके साथ है, वह तो हमारा त्याग कर ही देगा। आप अगर उसका अपनी ओर से त्याग कर दें, तब क्या

होगा? तब दोनों त्यागी बड़े आनन्द में रहेंगे। यह नियम है कि दो रोगी हमेशा आपस में लड़ते हैं और दो त्यागी हमेशा आनन्द में रहते हैं। तो भाई, वस्तु तो हमारा त्याग कर ही रही है। यदि हमने भी वस्तु का त्याग कर दिया, तो वस्तु हमारी सराहना करेगी।

आप जानते हैं, वस्तु किससे घबराती है? यह बड़े रहस्य की बात है। मैं आपसे निवेदन कर दूँ कि वस्तु संग्रही से बड़ा घबराती है, बड़ी दुखी होती है। वस्तु और किससे घबराती है? उसका दुरुपयोग करने वाले से बड़ा घबराती है, बड़ी भयभीत होती है। और वस्तु किससे घबराती है? जो वस्तु पर अपनी ममता का पत्थर रख देता है, उससे तो वस्तु परेशान हो जाती है।

वस्तु प्रसन्न किससे होती है? जो न तो उससे ममता करता है, न उसका संग्रह करता है और न उसका दुरुपयोग करता है, उससे वस्तु प्रसन्न होती है। वस्तु की प्रसन्नता की पहचान क्या है? फिर आपके लिए आवश्यक वस्तुएँ अपने आप आने लगती हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है। आप यह न समझ लें कि यह एक विश्वास की बात है। चाहे आप ईश्वरवादी हों, चाहे आप भौतिकवादी हों और चाहे आप अध्यात्मवादी हों; यदि आप वस्तुओं का सदुपयोग करते हैं, यदि आप वस्तुओं में ममता नहीं रखते, यदि आप वस्तुओं का संग्रह नहीं करते, तो आप सच मानिये, आपके जीवन में से दरिद्रता सदा के लिए मिट जाएगी।

आज का ईश्वरवादी इस बात के लिए चिन्तित रहता है कि दूध मिलेगा कि नहीं! जरा गम्भीरता से विचार करो। ईश्वरवादी और इसके लिए चिन्तित कि अन्धे को आँखें मिलेंगी कि नहीं, लँगड़े को सहारा मिलेगा कि नहीं! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अगर आपके जीवन में से वस्तु-विश्वास निकल जाए, वस्तु-सम्बन्ध निकल जाए, वस्तु का दुरुपयोग निकल जाए, तो वस्तु तरसेगी आपकी सेवा में आने के लिए।

लेकिन आज हम तरसते हैं वस्तु के लिए। वस्तु के संग्रह से कोई तत्त्व-ज्ञान खरीदना चाहता है, कोई भगवान् की प्राप्ति करना चाहता है, कोई विश्व का कल्याण करना चाहता है। कदापि नहीं होगा, हो ही नहीं सकता। क्योंकि इसमें वैज्ञानिक विरोध है। वस्तु का आश्रय लेकर आज तक किसी को सत्य मिला नहीं, मिल सकता नहीं, मिलेगा नहीं। क्योंकि भाई, वस्तु का सम्बन्ध ही विवेक-विरोधी है।

इसलिए बड़े ही धीरज के साथ, बड़ी ही ठंडी तबियत के साथ आज हमें और आपको इस बात का निर्णय करना होगा कि भाई, क्या सत्य वस्तु की ममता से मिलेगा, वस्तु के संग्रह से मिलेगा, वस्तु के दुरुपयोग से मिलेगा? नहीं मिलेगा। जो वस्तु प्राप्त है वह हमारी अपनी नहीं है भाई।

फिर वस्तु किसकी है? तो भौतिक दर्शन की दृष्टि से वस्तु जगत् की है। अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से वस्तु मायामात्र है और आस्तिक दर्शन की दृष्टि से वस्तु प्यारे प्रभु की है। जरा ध्यान दीजिए। वस्तु जगत् की है, यह भौतिकवाद है। वस्तु हमारे देश की है या हमारी पार्टी की है या हमारे कुटुम्ब की है–यह सब झूठी बात है। यह तो भोगवाद का तरीका है कि अब तक वस्तु आपकी थी, अब हमारी है। वस्तु जगत् की है। और जगत् किसका है? जो सबका प्रकाशक है, आधार है और ज्ञाता है। जरा ध्यान दीजिये। जगत् किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, किसी देश विशेष का नहीं है। जगत् किसी वर्ग विशेष का नहीं है। जगत् अपने उसका है, जो सबका प्रकाशक है, सब का ज्ञाता है।

तो भाई, दर्शन में कितने ही भेद हों, लेकिन जीवन में कोई भेद नहीं होता। एक भौतिकवादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। एक ईश्वरवादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। और एक अध्यात्वादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ। क्या जीवन में कोई भेद हुआ? दर्शन-भेद होने पर भी जीवन में कोई भेद नहीं होता।

इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि भाई, जिस समय हम और आप जीवन की ओर गतिशील होंगे, उस समय हम सबमें प्रीति की एकता होगी। क्योंकि जीवन एक है, जीवन में भिन्नता नहीं है। मानव सेवा संघ की नीति में यह बताया गया है कि हमारे और दूसरों के बीच में अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु एक भेद हम सहन नहीं कर सकते। वह क्या? प्रीति का भेद नहीं सह सकते।

आप भले ही हमको प्यार न करें। पर अगर हम आपको प्यार करें, तो क्या आपकी हिम्मत है कि आप हमारे प्यार को टाल सकें? आपकी हिम्मत नहीं हो सकती। प्रीति की एकता को कोई तोड़ नहीं सका आज तक। जिसके जीवन में प्रीति की अभिव्यक्ति हो जाती है, उससे बुराई कभी होती ही नहीं। क्यों? बुराई हम

उसके साथ करते हैं, जिससे हमारा प्यार नहीं होता। भला, अपने प्यारे के साथ आज तक कोई बुराई कर पाया है? कर ही नहीं सकता। सच्ची बात तो यह है कि प्यार का रस इतना गहरा रस है कि बुराई करने की हिम्मत ही नहीं पड़ती।

इसलिए भाई, विवेक-विरोधी सम्बन्ध जो आज हमारे जीवन में ओत-प्रोत हो गया है, उसको तोड़ना है। उसके तोड़ने में प्रत्येक भाई-बहन समर्थ भी है और स्वाधीन भी है। उसका तोड़ना वर्तमान की वस्तु है। आज हमने-आपने यदि यह बात स्वीकार कर ली कि जिस वाणी से मैं बोलता हूँ, वह मेरी नहीं है, जिस श्रोत्र से मैं सुनता हूँ, वे मेरे नहीं है। तो बोलने और सुनने का अभिमान कैसे होगा? कदापि नहीं हो सकता।

तब क्या होगा? तब बोलना जो होगा वह श्रोता के अधिकार के लिए होगा और सुनना जो होगा वह वक्ता के अधिकार के लिए होगा। आप जरा सोचिए। जो हमारे पारस्परिक सम्बन्ध हैं, यदि उन सम्बन्धों में यह भावना आ जाती है कि अगर मैं बोलता हूँ, तो यह श्रोतागणों की पूजा है और अगर मैं सुनता हूँ, तो यह वक्ता की पूजा है। इसी भावना को लेकर पति-पत्नी के बीच के सम्बन्ध को देखिये, दो सहोदर बन्धुओं के बीच के सम्बन्ध को देखिए, पड़ौसियों के बीच के सम्बन्ध को देखिये, दो वर्गों के बीच के सम्बन्ध को देखिए, और दो देशों के बीच के सम्बन्ध को देखिए। तो कितना आनन्द हो!

फिर क्या कोई कठिनाई होगी? क्या लड़ाई का सामान इकट्ठा करना पड़ेगा, क्या बड़े-बड़े संगठन बनाने पड़ेंगे? क्या भयभीत होना पड़ेगा? कदापि नहीं। लेकिन हम आज कर्त्तव्य-विज्ञान को भूल गए। इस बात को भूल गए कि भाई, हमारा जो साथी है वह इसलिए हमारा साथी है कि हमारी जो प्रवृत्ति है, उसमें उसका अधिकार निहित है।

हम सब प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक, जागृति से लेकर सुषुप्ति तक, जन्म से लेकर मृत्यु तक परस्पर में प्रीति की एकता को लेकर प्रत्येक प्रवृत्ति करें, तो हमारा-आपका जीवन कितना सुखमय हो जाए, कितना सुलभ-सहज और रसमय हो जाए!

जरा गम्भीरता से सोचिए कि क्या वह भी कोई जीवन है, जो दूसरों के अधिकार से ओत-प्रोत न हो? भाई, न वह जीवन है और न वह

साधन है। इसलिए मेरा निवेदन यह है कि हम सबको विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना है और अभी करना है। अरे भाई, तुम्हारी वस्तु तुम्हें दे दी, तो इसमें अपना क्या अहसान है?

मान लो, आप रेल में बैठे हों और जगह काफी खाली है, कोई दूसरा पेसेन्जर आ जाए, तो उसे जगह देने में क्या आपत्ति है? ट्रेन आपकी तो है नहीं। तुम्हारा स्टेशन आने पर तुम्हें गाड़ी छोड़नी ही पड़ेगी। यदि प्रीतिपूर्वक हम सबका व्यवहार हो, तो कितना अच्छा हो! जीवन की अन्तिम घड़ियाँ कितने आनन्द में बीतें! आज क्या है? बोले, हम तो गुरु बन गए और तुम चेला बन गए। पत्थर बन गए। दोनों गुरु और चेला नरक में जाएँगे।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई, विवेक-विरोधी जो सम्बन्ध है, उसका त्याग वर्तमान की वस्तु है। उसका त्याग करते ही जो वस्तु रूप में प्राप्त है, उसका दुरुपयोग नहीं होगा और जो अप्राप्त है, उसकी कामना नहीं होगी। प्राप्त के सदुपयोग से सुन्दर समाज का निर्माण होगा और अप्राप्त की कामना के नाश होने से नित्य योग की प्राप्ति होगी। यही जीवन का उद्देश्य है।

42(ब) जगत भगवान् ही है और कुछ नहीं है।

साधन जीवन है और जीवन साधन है। साधन और जीवन का विभाजन असाधन है। असाधन के त्याग में स्वतः साधन है। अब आप विचार करें कि जब जीवन ही साधन है, तो उसका विभाजन हो ही कैसे सकता है? यदि हमें अपने जीवन में और साधन में दूरी मालूम होती है, भेद मालूम होता है, तो इसका नाम ही असाधन है। असाधन का त्याग करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है। यानी जिससे हमारी अभिन्नता नहीं हो सकती, जिससे हम अभेद नहीं हो सकते, उससे हम सम्बन्ध नहीं रखेंगे।

अब आप विचार करें कि जिसे आप असाधन के नाम से कहते हैं, क्या उससे आप अभेद हो सकते हैं? कोई ऐसा मिथ्यावादी हो सकता है जो सभी से झूठ बोले और सदैव झूठ बोले? मेरे विचार के अनुसार संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं होगा। तात्पर्य क्या निकला? असाधन से एकता नहीं हो सकती। तो जिससे हमारी एकता नहीं हो सकती, उसका हमें त्याग करना है।

अच्छा, क्या कोई व्यक्ति ऐसा कह सकता है कि शरीर और संसार की वस्तुओं से अपना विभाजन

नहीं होगा? आपको पता है कि नहीं है, एक बेचारे के एक हाथ की अंगुलियाँ कट गई और एक हाथ कोहनी से कट गया। बताइये, यह कोई हमारे-आपके बस की बात है? इससे यह सिद्ध हुआ कि नहीं, कि हाथ से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता? शरीर से हमारा-आपका नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता।

तो जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, जिससे एकता नहीं हो सकती, उसके साथ एकता का भाव स्वीकार करना, यह क्या हुआ? यह असाधन हुआ। अब इसी दृष्टिकोण से आप और हम अपने-अपने जीवन को देखें और विचार करें कि हमारा नित्य सम्बन्ध किससे हो सकता है! किसी दोष के साथ किसी भी दोषी का नित्य सम्बन्ध नहीं है। यदि नित्य सम्बन्ध है, तो बताओ, वर्तमान में क्या दोष है? आप जिस दोष के सम्बन्ध में कहेंगे, वह भूतकाल का होगा। उसी के आधार पर आप अपने को वर्तमान में दोषी मानेंगे।

आप कहेंगे, क्या बताएँ, प्रीति जाग्रत नहीं होती। क्यों नहीं प्रीति जाग्रत होती? इस पर थोड़ा विचार करें। तो आपको मालूम होगा कि प्रीति तो जीवन में है। लेकिन किस भेष में है, यह देखना है। जिसे आप दोष कहते हैं, यह भी किसी की प्रीति है। जैसे वस्तु की प्रीति का नाम लोभ हो गया, किसी व्यक्ति की प्रीति का नाम मोह हो गया और किसी परिस्थिति की प्रीति का नाम काम हो गया। लेकिन किसी भी वस्तु से इतनी प्रीति नहीं है कि जिसके बिना न रह सकें। यदि ऐसा होता, तो सुषुप्ति कभी नहीं स्वीकार करते।

जब हम चौबीस घण्टे में कुछ समय के लिए सुषुप्ति स्वीकार करते हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि जाग्रत और स्वप्न में जो व्यक्ति हैं, जो वस्तुएँ हैं, जो अवस्था है, उनका वियोग आपको अभीष्ट है। जब किसी भी व्यक्ति से, किसी भी वस्तु से हमारा-आपका नित्य सम्बन्ध रह ही नहीं सकता, तब केवल इतना ही प्रश्न रह जाता है कि वस्तु का सदुपयोग करें और व्यक्ति की सेवा करें।

वक्त आप वस्तु का उपयोग करने चलते हैं, उस समय वस्तु के संग्रह की जो बात सोच लेते हैं, बस, यही असाधन आ गया। कितने साधक ऐसे हैं, जो ईमानदारी से कह सकते हैं कि वस्तु सदुपयोग के लिए है, संग्रह के लिए नहीं। ऐसे कोई विरले ही होंगे।

एक बात बताऊँ भाई! बुरा मत मानना। बहुत से लोग राजा जनक का उदाहरण दिया करते हैं। यह बात सिद्धान्त रूप से मान्य है, मुझे भी मान्य है कि प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु-प्राप्ति हो सकती है। लेकिन विचार करके देखो, राजा और मजदूर, ये दो ही प्रकार के व्यक्ति सन्त और भक्त हुए हैं। मिल-ऑनर एक भी नहीं हुआ। बुरा मत मानना भाई! आप कहें कि गोयन्का जी के पास तो लाखों रुपये हैं, यह तो भक्त हुए हैं। तो गोयन्का जी के दिल से पूछो कि क्या वह उनका धन है?

आप देखेंगे कि ऐसे ही लोग भक्त हुए हैं। कोई कपड़ा बुनता है, कोई जूता गाँठता है। वह राज-मजदूरी करता है, श्रम करता है और उसके बदले में जो कुछ मिलता है, उसका बड़ा भाग उपयोग करता है भगवत्-सेवा में, भक्तों की सेवा में और विश्व की सेवा में। राजा-महाराजाओं की जो बात कही जाती है, तो राजा-महाराजा प्रजा के धन को कभी भी अपना नहीं मानते रहे। अपने प्राचीन राजाओं की यह पद्धति रही कि टैक्स का जो धन है, उसे उन्होंने अपना धन नहीं माना, उसे व्यक्तिगत धन कभी किसी राजा ने नहीं माना।

तात्पर्य यह है कि प्राप्त वस्तु के सदुपयोग करने में साधक का अधिकार रहा है। संग्रह करने की रुचि कभी किसी साधक की नहीं हुई, चाहे वह भक्त हो और चाहे वह सन्त हो। हमें और आपको यह देखना है कि हम जब साधन करने बैठते हैं, तो हमारे मन में संग्रह करने की रुचि है या नहीं? हम लोग निवृत्ति-मार्ग के साधक हैं। यह जो मानव-सेवा-संघ बना है, इससे संग्रह की रुचि पैदा हो गई। इसी से चौपट हो गया। संग्रह की रुचि कभी भी प्रीति जाग्रत नहीं होने देती।

प्रीति का क्रियात्मक रूप सेवा है, और प्रीति का विवेकात्मक रूप त्याग है। प्रीति का जो भावात्मक रूप है वह है स्मृति, विरह और मिलन। यह जो स्मृति का उदय होना, विरह का उदय होना, मिलन का रस मिलना–यह सब प्रीति का भावात्मक रूप है। तो भाई, प्रीति का भावात्मक रूप जो विरह है, उसी से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब छक जाते हैं, जिससे रस की वृद्धि होती है। वह तभी होता है, जब संग्रह की लेशमात्र भी रुचि नहीं रहती।

संग्रह की रुचि वस्तु से सम्बन्ध नहीं तोड़ने देती और वस्तु का सम्बन्ध उदारता का उदय नहीं होने

देता। देखिये, वस्तु से कोई हानि नहीं होती। वस्तु का जो सम्बन्ध है, वह उदारता का अपहरण कर लेता है। जब उदारता जीवन में नहीं रहती, तब नीरसता बनी रहती है।

एक बार की घटना है। मैं ट्रेन में बैठा था। उस समय अकेले रहने पर मैं मार्ग-व्यय के लिए पैसे रखता था। ऐसा गुरुदेव का आदेश था कि कभी बिना टिकट मत चलना। पुराने सन्तों में दिखावा होता ही नहीं था। ऐसा नियम था कि यदि जाना जरूरी है, तो पैसा ले लो और टिकट खरीद लो। पैसे का काम तो करें और पैसा न रखें। यह भी त्याग का एक अनोखा ढंग है कि काम तो करें हजारों रुपये का और कहें कि महाराज जी तो पैसे रखते ही नहीं। मैं उनमें से पहले नम्बर का आदमी हूँ। एक दिन हमारे भाई जी कह रहे थे कि स्वामी जी का खर्च कम से कम एक हजार रुपये महीने का है। वे ठीक ही कहते हैं। इससे ज्यादा ही हो सकता है, कम नहीं। और नाम के लिए एक पैसा भी नहीं रखते। यानी हजार रुपये महीना खर्च करें और पैसा रखें नहीं। इस तरह का ढोंग पुराने सन्तों में नहीं होता था।

तो उस दिन महाराज, टिकट कलेक्टर एक आदमी को टिकट न होने की वजह से तंग कर रहा था। जब वह तंग करता था, तो मेरे मन में बार-बार यह बात आती थी कि पैसे देकर उसका टिकट बनवा दूँ। फिर मैं सोचता था कि अगर मैं इसको पैसे दे दूँगा तो मुझे फिर किसी से पैसे माँगने पड़ेंगे। पुराने सन्त लोग कभी इस बात को पसन्द नहीं करते थे। मैंने सोचा कि इतनी तकलीफ मुझे क्यों हो रही है? तो मुझे मालूम हुआ कि मुझे इसलिए तकलीफ हो रही है कि मेरे पास पैसे हैं। अगर मेरे पास पैसे न होते, तो मुझको कभी तकलीफ न होती।

आप लोग अपने दिल को टटोलें कि जिनके पास संग्रह है, क्या उन्हें सचमुच दुखियों का दर्शन नहीं होता? दिन-रात होता है महाराज! अपनी अयोग्य संतान के लिए रखे रहते हैं, योग्य अधिकारी को नहीं देते। यह क्या है? उदारता नाश हो गई। उदारता का अर्थ यह है कि जब दुखी पर दृष्टि पड़े, तो आपका हृदय करुणित हो जाए। करुणा का अर्थ यह है कि आप अपना सुख बाँटने के लिए विवश हो जाएँ, और जब सुखी पर दृष्टि पड़े तो चित्त प्रसन्न हो जाए। प्रसन्नता का फल यह है कि काम का नाश हो जाए।

यह बताया जाता है कि योग करने से पहले चित्त प्रसन्न होना चाहिए। जो सुखियों को देखकर प्रसन्न नहीं होता, उसे प्रसन्नता कहाँ से मिलेगी? तो कहने का तात्पर्य यह था कि संग्रह की रुचि ने उदारता का अपहरण कर लिया। उदारता का अपहरण होने से चित्त को जो द्रवीभूत रहना चाहिए था, उसमें सख्ती आ गई। सख्ती माने, दुनिया के दुःख को देखकर सहते रहते हैं।

कोई कहे कि हम सबका दुःख तो नहीं मिटा सकते। यह बात ठीक है। लेकिन जितने अंश में मिटा सकते हो, उतना भी नहीं मिटाते और बुद्धिपूर्वक यह निर्णय कर लेते हैं कि हमारे पास जो धन है, उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करना भी हमें आता है।

मैं आपसे निवेदन कर दूँ कि भाई, जिसके पास धन होता है, उसको धन का सदुपयोग करना नहीं आता। आप कहेंगे कि यह बात बिल्कुल झूठी है। लेकिन यह बात सेन्ट-पर-सेन्ट सच्ची है। धन के संग्रह करने की सामर्थ्य जिसमें होती है, उसमें धन के सदुपयोग करने की योग्यता नहीं होती। ऐसा नियम ही है।

यदि सदुपयोग करना आ जाए, तो वह संग्रह कर ही नहीं सकता। इसलिए उपयोग हमेशा दूसरों के द्वारा ठीक होता है। हाँ, एक बात है कि यदि संग्रह करते समय भावना यह है कि यह जो हम संग्रह कर रहे हैं, यह भगवत्-सेवा के लिए कर रहे हैं, विश्व सेवा के लिए कर रहे हैं , दुखियों की सेवा के लिए कर रहे हैं, तब तो संग्रह करना भजन हो सकता है। लेकिन संग्रह करने के बाद उपयोग करना भी हमको ही आता है, दूसरों को नहीं आता, ऐसा मानना भारी भूल की बात है। इसमें बहुत से लोग धोखा खा जाते हैं और वस्तु से मनुष्य का मूल्य कम कर देते हैं। वस्तु से श्रम का मूल्य तो कम कर ही देते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि सही काम करने वाले व्यक्ति आपको नहीं मिल पाते।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जब हमारे जीवन में से उदारता चली जाती है, तब हमारा हृदय द्रवीभूत नहीं रहता, करुणित नहीं रहता, सख्त हो जाता है। विचार-शक्ति तो बनी रहती है, योग्यता बनी रहती है, विवेचन-शक्ति बनी रहती है, लेकिन हृदय द्रवीभूत नहीं रहता। जब हृदय द्रवीभूत नहीं रहता, तो मधुर स्मृति उदित नहीं होती। विचार-शक्ति जो है, तर्कशक्ति जो है, वह

निषेधात्मक साधना में सहायक होती है। विचार-शक्ति से हम वस्तुओं के सम्बन्ध को तोड़ सकते हैं। किन्तु हृदय के द्रवीभूत हुए बिना मधुर स्मृति उदित नहीं होती और उसके बिना प्रीति का जो भावात्मक रूप विरह है, उसकी वृद्धि नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि भाई, वस्तु का सदुपयोग और व्यक्ति की सेवा साधन में बाधक नहीं है। वस्तुओं का उत्पादन भी साधन में बाधक नहीं है। तो साधन में जो बाधक है, वह है वस्तु से सम्बन्ध और वस्तु का संग्रह। दिन-रात का उत्पादन करो, कोई बाधा नहीं पड़ेगी। उसका सदुपयोग करते जाओ। वस्तु का उत्पादन करते जाओ और उसका सदुपयोग करते जाओ।

यह नियम है कि वस्तु की प्राप्ति किसी विधान से होती है। और यह निश्चित बात है कि उस विधान में उदार नीति होती है। जो उदार व्यक्ति होते हैं, उनके पास आवश्यक वस्तुएँ अपने आप आती है। यदि वस्तुएँ अपने आप नहीं आती, तो उन्हें वस्तुओं का चिन्तन भी बिल्कुल नहीं होता। जहाँ वस्तु-चिन्तन नहीं होता, वहाँ क्या होगा बताओ? या तो वहाँ चिन्तनरहित शान्ति होगी या प्रिय का विरह होगा या तत्त्व की जिज्ञासा होगी, तीव्र जिज्ञासा होगी। तीव्र जिज्ञासा का अर्थ क्या है? तीव्र जिज्ञासा सभी वस्तुओं की, सभी अवस्थाओं की, सभी परिस्थितियों की कामना को खा लेती है।

एक बात ध्यान देने की है कि जिज्ञासा वर्तमान जीवन की वस्तु है। यह नहीं कि आज जिज्ञासा होगी और कल उसकी पूर्ति होगी। ऐसा नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ण जागृति, उसकी पूर्ति और कामनाओं की निवृत्ति, यह तीनों एक साथ होती हैं। यदि जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हुई, तो समझना चाहिए कि कामना नाश नहीं हुई और यदि कामना नाश नहीं हुई, तो समझना चाहिए कि जिज्ञासा की जागृति ही नहीं हुई।

तो साधन की दृष्टि से वस्तु के सदुपयोग का, वस्तु के उत्पादन का बहुत बड़ा स्थान है। इससे हानि नहीं है। आप चाहे मिल के द्वारा, चाहे किसी प्रकार से वस्तु का उत्पादन करें, इससे साधन में कोई क्षति नहीं होगी। किन्तु उत्पादन करते समय जो उत्पादन का तरीका हो, जो उपाय हो, वह ऐसा होना चाहिए कि जिससे आप यह कह सकें कि हमने ऐसा काम नहीं किया, जो नहीं करना चाहिए था। यानी उसके उत्पादन का तरीका ईमानदारी का होना चाहिए और

उत्पादित वस्तुओं का उदारतापूर्वक उपयोग होना चाहिए। तब आवश्यक वस्तुएँ आपके पास अपने आप आती रहेंगी।

वस्तुएँ आती रहें और आप उनका सदुपयोग करते रहें, यह प्रभु की सेवा होगी। तो वस्तु के सदुपयोग द्वारा प्रभु की सेवा व्यक्ति के स्वरूप में होगी। जब आप व्यक्ति के स्वरूप में प्रभु की सेवा करेंगे, तब व्यक्ति-बुद्धि नाश हो जाएगी और भगवत्-बुद्धि उदय हो जाएगी। वस्तु-बुद्धि के नाश होने से ममता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा। ऐसा मालूम होगा कि यह जो वस्तु है, यह तो सेवा-सामग्री है, प्रभु की सेवा सामग्री है। वस्तु और प्रभु जो हैं, वे व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। किसलिए अभिव्यक्त हुए हैं? आपमें सेवा करने की जो रुचि थी, उसकी पूर्ति के लिए वे अभिव्यक्त हुए हैं।

यह किसका दृष्टिकोण है? यह साधक का दृष्टिकोण है। और व्यक्तिगत रूप से वस्तु मैंने सम्पादित की है अपने सुख भोगने के लिए और जगत् जो है वह सुख-सामग्री है, इनसे सुख लिया जाए, इनका भोग किया जाए। यह क्या है? यह असाधन है।

साधन की दृष्टि से वस्तु का अर्थ केवल उन वस्तुओं से लेना चाहिए कि जिनका उपयोग किया जा सके। जैसे बोलने की शक्ति भी एक वस्तु है, सुनने की शक्ति भी एक वस्तु है, सोचने की शक्ति एक भी वस्तु है, समझने की शक्ति भी एक वस्तु है। तो इन सभी वस्तुओं का सदुपयोग है प्रभु की सेवा में। और प्रभु की अभिव्यक्ति है जगत् के स्वरूप में।

देखिये, आस्तिकवाद और नास्तिकवाद में अन्तर क्या है? आस्तिकवाद जगत् में प्रभु का दर्शन कराता है और नास्तिकवाद प्रभु में जगत् का दर्शन कराता है। यह बड़ा भारी अन्तर है आस्तिकवाद दर्शन में और नास्तिक दर्शन में। प्रभु में जगत् का दर्शन –यह नास्तिक दर्शन की बात है। यह भी एक दर्शन है। और जगत् में प्रभु का दर्शन–यह आस्तिक दर्शन की बात है।

आस्तिक दर्शन की दृष्टि से जगत् का स्वतन्त्र अस्वित्व नहीं है। और जब जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, तो बताइये, सम्बन्ध किससे रहेगा? जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है , उसी से सम्बन्ध रहेगा। क्या ऐसा हो सकता है कि सम्बन्ध-कर्त्ता में उसकी स्मृति उदय न हो कि जिससे उसने सम्बन्ध

किया है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। सम्बन्ध-कर्त्ता उसकी स्मृति है, जिससे उसका सम्बन्ध है।

जब हमारा प्रभु से सम्बन्ध है, तो हमारा अस्तित्व क्या हुआ? प्रभु की स्मृति। अब आप सोचो की जहाँ हम अपने में और प्रभु की स्मृति में भेद करते हैं , दूरी मानते हैं कि हम अलग हैं और प्रभु की स्मृति अलग है, तो भाई, साधन सिद्ध नहीं हुआ। साधन सिद्ध तभी होगा, जब हमारा अस्तित्व और प्रभु की स्मृति एक हो।

तात्पर्य क्या निकला? प्रभु की स्मृति है जीवन। जीवन माने, प्रभु की स्मृति। प्रभु की स्मृति कब उदय हुई? जब प्रभु से सम्बन्ध जोड़ा। और प्रभु से सम्बन्ध कब जोड़ा? बोले? जब जगत् में प्रभु का दर्शन किया। जगत् में जो प्रभु का दर्शन नहीं कर सकता, उसका मन संसार से कभी नहीं हट सकता। विचार से कोई भले ही मान ले। कितना ध्यान करेंगे आप? कितनी देर आप नाक बन्द करेंगे, कितनी देर आप आँख बन्द करेंगे? कितनी देर मन को रोकियेगा?

क्या दशा होगी? जैसे मधुमक्खियों के काटने के भय से कोई जल में डूब जाय और जब उछले, तब मक्खियाँ काटेंगी महाराज! तो जब तक हम जगत् में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते, तब तक सदा के लिए मन भगवान् में लग जाए, यह बात कभी भी सिद्ध नहीं होती। किसी का लग जाए, तो लग जाए। पर मैं नहीं कह सकता। हमारे यहाँ की साधन पद्धति में किसी साधन का विरोध नहीं किया जाता। अगर कोई मानता है कि मन लग जाएगा, तो लग जाए।

व्यक्तिगत जो मेरा अपना विचार है, वह यह है कि जब तक हम जगत् में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते, खुली आँखों से अपने प्यारे को नहीं देख सकते, खुले कानों से अपने प्यारे की वाणी नहीं सुन सकते और स्पष्ट रूप से उनके हाथ पर हाथ नहीं फिरा सकते, तब तक सदा के लिए मन अपने प्यारे में नहीं लग सकता। जब तक यह मालूम होता है कि हमारे प्यारे से भिन्न भी कोई और है; और जब तक यह मालूम होता है कि कोई गैर है या कोई और है, तब तक सदा के लिए मन भगवान् में लग जाए, इसकी आशा करना कम-से-कम मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मैं अपने को धोखा देता हूँ।

तो भाई, जगत् में अपने प्रभु का दर्शन, आस्तिकवाद। और प्रभु में जगत् का दर्शन, भौतिकवाद। तो जगत् को जगत् मान कर जगत् की वस्तुओं से जगत् की सेवा करना भौतिक दर्शन की साधना है। यह हाथ भी जगत् का और इस हाथ से सेवा जिसकी की जा रही है वह भी जगत् का। तो अन्तर क्या हुआ भाई? अन्तर केवल इतना हुआ कि यदि आप जगत् की सत्ता स्वीकार करके जगत् की वस्तुओं से जगत् की सेवा करेंगे, तो अन्त में जगत् का अभाव पाएँगे। और जगत् में प्रभु का दर्शन करके प्रभु की दी हुई वस्तुओं से जगत्रूप प्रभु की सेवा करेंगे, तब सेवा के अन्त में प्रीति पाएँगे।

प्रभु का मिलन, प्रभु की सेवा और प्रभु का ज्ञान, इन तीनों में बड़ा अन्तर है भाई। प्रभु का ज्ञान तो ऐसा समझो कि जैसे जगत् को प्रभु मान लें, एक मिट्टी के ढेले का साक्षात् पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन मान लें। तो समझ लो कि उसे प्रभु का ज्ञान हो गया। और जो वस्तुरूप से प्राप्त है उससे उसकी ठीक सेवा कर दें, यह प्रभु की सेवा। प्रभु की प्रीति इसके बाद आती है भाई। पहले प्रभु का ज्ञान, फिर प्रभु की सेवा और फिर प्रभु की प्रीति।

प्रीति कब उदय होती है? जब समस्त क्रियाओं का अन्त होता है। समस्त चेष्टाओं का अन्त, समस्त चेष्टाओं का अत्यन्त अभाव, श्रम का अभाव जहाँ होता है, वहीं प्रीति का उदय होता है। लेकिन एक बात ध्यान रहे कि चेष्टाओं का अन्त होने पर उस शान्ति में रमण करने लगे, तब भी प्रीति का उदय नहीं होता। इसलिए शान्त रस के अन्त में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावों की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जो शान्त रस में आसक्त नहीं है, शान्त रस में रमण नहीं करते।

प्रभु की प्रीति की जागृति और सर्व दुःखों की निवृत्ति शान्त रस में है। इसके पश्चात् दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, मधुर भाव आदि की अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य कहने का यह था कि क्या आप जगत् में प्रभु का दर्शन कर सकते हैं? यह नहीं, कि कोई कहे कि हम तो अपने गुरु महाराज में भगवान् के दर्शन करते हैं या हम अमुक विभूति में प्रभु का दर्शन करते हैं। सच पूछिए तो यह कमजोर दिल की बात है कि जिस पर विजयी नहीं हो सके, उसे भगवान् मान बैठे। अपने गुरु में, सन्त में, विभूतियों में भगवान् के दर्शन कोई कठिन बात नहीं है।

भाई, सूर्य को कोई आदमी नहीं बना सकता, तो सूर्य में भगवान् का दर्शन कहाँ कठिन है? अरे, गेहूँ से बिस्कुट बना सकते हैं, लेकिन गेहूँ तो कोई नहीं बना सकता। इस तरह वस्तु विशेष में भगवत्-बुद्धि होना कोई कठिन बात नहीं है। पर यह अधूरी आस्तिकता है। पूरी आस्तिकता का तो अर्थ यह है कि भगवान् से भिन्न कुछ है ही नहीं, अभी भी नहीं है, पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं होगा।

जगत् में भगवत्-दर्शन करने का जो ज्ञान है, वह तो जगत् को परमात्मा जान लेना है, यानी जगत् में परमात्मा को जान लेना है। भाई, जगत् परमात्मा कैसे हो सकता है? जगत् में परमात्मा तो सभी मान लेते हैं, बहुत आसान बात है। लेकिन पूर्ण आस्तिकता तो यह है कि जगत् और परमात्मा का विभाजन कभी हुआ ही नहीं। जिसका विभाजन हो जाए, उसका अस्तित्व ही नहीं है।

तो चाहे तो जगत् के अभाव से जगत् और परमात्मा के भेद का नाश करलो। देखिए, जगत्रूप में ही अगर परमात्मा का दर्शन हो, तो यह बड़ा ऊँचा ज्ञान है। सही ज्ञान तो यह है। तो भाई, जगत् में अपने प्यारे प्रभु का दर्शन करो यानी जगत् में प्रभु को जानो और फिर प्रभु की दी हुई योग्यता, सामर्थ्य, वस्तु आदि से जगत् की सेवा करो।

प्रीति का जो क्रियात्मक रूप है, वह सेवा है। सेवा से क्या होगा? सेवा के अन्त में प्रीति का जो भावात्मक रूप है प्रिय की स्मृति, प्रिय की प्रियता, प्रिय की आत्मीयता वह उदय होती है। इतनी गहरी आत्मीयता कि कोई और है ही नहीं, किसी और पर आज तक दृष्टि गई ही नहीं। और इतनी प्रियता कि कभी नजर भर देखा ही नहीं। अनन्त काल हो गया, कभी अपने प्यारे को पूरा देख ही नहीं पाए। यह प्रियता की विशेषता है।

प्रियता जब उदय होती है, तब फिर कभी उसका अन्त नहीं होता। उस प्रियता में कितनी सुन्दरता है, उस प्रियता में कितना आकर्षण है, उस प्रियता में कितना ऐश्वर्य है, कितना रस है, इसके लिए कोई शब्दावली नहीं हो सकती। अनन्त, अनन्त, अनन्त कह दो। अनन्त सौन्दर्य, अनन्त रस, अनन्त प्रियता!

भाई, जब कोई और है ही नहीं, तो समस्त प्रियता एक में विलीन होगी कि नहीं? जब समस्त प्रियता एक में होगी, तब मन कहाँ जाएगा और कैसे जाएगा? आज हम मन को

पकड़-पकड़ का दबा कर रखते हैं। आप जानते हैं कि श्रम-साध्य साधन अखण्ड नहीं हो सकता। और किसी अन्य की सत्ता स्वीकार करने पर चित्त का निरोध ईमानदारी से हो ही नहीं सकता।

भाई देखो, गहरी नींद में सबका निरोध होता है। किसी अन्य की सत्ता स्वीकार करते हुए वास्तविक निरोध नहीं होगा और श्रम-साध्य साधन अखण्ड होगा नहीं। इस कारण विश्वास-मार्ग की दृष्टि से जगत् ही में प्रभु का दर्शन करो। जगत् अपने प्यारे की ही अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं। जब अपने प्यारे से भिन्न और कुछ है ही नहीं, तो प्रीति और प्रियतम से भिन्न न कभी कुछ है, न कभी कुछ हुआ और न आगे होगा। वर्तमान में और कुछ है नहीं, आगे कुछ होगा नहीं और पहले कुछ हुआ नहीं।

प्रीति ने प्रियतम को रस दिया और प्रियतम ने प्रीति को प्रकट किया। प्रियतम ही प्रीति के रूप में अभिव्यक्त होता है और प्रीति ही प्रियतम को रस देती है। इसका वर्णन चाहे सीताराम के चरित्र में हो, चाहे राधेश्याम के चरित्र में हो और चाहे गौरीशंकर के चरित्र में हो। आप जहाँ कहीं देखेंगे और जो कुछ मिलेगा ,उसमें एक पक्ष प्रीति का होगा और दूसरा पक्ष प्रियतम का होगा। उसका नाम कुछ भी रख लीजिए। उस चरित्र के भेद कितने ही कर लीजिए और उसका वर्णन किसी प्ररकार से कीजिए। यह जितना भी वर्णन होगा, वह प्रीति की वास्तविकता का नहीं होगा, उसका संकेत मात्र होगा।

तात्पर्य यह निकला कि यदि आपको सचमुच साधन करना है, तो भाई, जगत् में प्रभु का दर्शन करो। जगत् में प्रभु का दर्शन करने का फल यह होगा कि कोई और है, कोई गैर है, यह चीज बिल्कुल मिट जाएगी। कल्पना करो, यदि किसी को विश्वास न हो और जगत् में प्रभु का दर्शन न कर सके, तो कम से कम वह जगत् का भी दर्शन न करे। जगत् को जगत्-बुद्धि से देखने वाला व्यक्ति साधक नहीं हो सकता।

तो या तो जगत् में प्रभु का दर्शन करो और अगर आपको जगत् जगत् मालूम होता है, तो आप जगत् से विमुख हो जाएँ। क्या आपको मालूम है, जगत् कहाँ से शुरु होता है? "मैं" से। जहाँ मैं का आपको भास होता है कि "मैं हूँ " वहीं से किसी-न-किसी प्रकार की कामना पैदा होती है और किसी-न-किसी प्रकार की जिज्ञासा

होती है। तो कामना और जिज्ञासा का पुंजरूप "मैं" है। "मैं" के इस पार जगत् और उस पार जो कोई हो, सो।

तो भाई, "मैं" से विमुख हो जाओ। "मैं" से विमुख होते ही निर्वासना आएगी। निर्वासना आते ही जगत् का दर्शन नहीं होगा। यह क्या है? यह बुद्धिपूर्वक आगे बढ़ने का तरीका है कि भाई, जगत् में भगवत्-बुद्धि की स्थापना नहीं हो पाती; सुन लेते हैं, मान लेते हैं, लेकिन सचमुच अपने प्यारे का दर्शन नहीं कर पातें यदि वस्तुओं के रूप में, अवस्थाओं के रूप में, परिस्थितियों के रूप में, व्यक्तियों के रूप में प्रभु का दर्शन नहीं कर पाते, तो भाई, वस्तु को देख कर क्या करेंगे, व्यक्ति को देख कर क्या करेंगे, परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़कर क्या करेंगे?

अरे, साधन का मतलब क्या? जो आपका साध्य नहीं है, उसका त्याग कर दो। जो आपका साध्य नहीं है, उसका त्याग साधन है। जो आपका साध्य है, उसका प्रेम साधन है, उससे योग साधन है, उसका बोध साधन है। तो या तो साध्य से योग हो या जो साध्य नहीं है, उसका त्याग हो। तो त्याग से भी साधन आरम्भ होता है। और प्रेम से भी साधन आरम्भ होता है।

प्रेम से किनका साधन आरम्भ होता है? जो जगत् में ही अपने प्रभु का दर्शन कर सकते हैं। आप यह सोचते होंगे कि वह तो बहुत घटिया भगवान् होगा। जगत् में यदि हम भगवान् को देखेंगे, तो वह भगवान् घटिया होगा। तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जगत् से अलग करके जिस भगवान् को आप देखेंगे, वह इससे भी घटिया भगवान् होगा। क्यों? जगत् में जब आप भगवान् को देखेंगे, तो जगत् नहीं रहेगा भाई। और जगत् से अलग करके जब प्रभु को देखेंगे, तो जगत् रहेगा। तब चकाचौंध रहेगा। उसमें कभी तो कहेंगे कि बड़ा आनन्द आया, बड़ा सुख है और कभी नीरसता।

जगत् से अलग करके जो भगवान् देखा जाता है, वह बहुत बढ़िया नहीं होता। वह बुद्धिमानों का भगवान् होता है और बुद्धिमान हमेशा सीमित होता है, सीमित। तो भाई, जगत् से अलग भगवान् को मान कर देखने का उपाय और जगत् में भगवान् को देखने का उपाय और जगत् को भगवान् देखने का उपाय, यानी जगत् में भगवान्, जगत् भगवान् और जगत् से अतीत भगवान्, तीनों तरीकों से देख

सकते हैं और तीनों ही साधन दृष्टि से मान्य हैं। तीनों ही का महान फल है।

भाई एक ऐसा साधन होता है कि जिससे आगे दूसरा साधन उदय होता है। तो जगत् भगवान् ही है और कुछ नहीं है–यह विश्वास जिसको हो जाए, उसका भगवान् सबसे बढ़िया रहता है। यह कृपा साध्य बात है भाई।

अहम और मम का सम्बन्ध

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन !

माँग की पूर्ति संसार की सहायता से नहीं हो सकती। इसलिए हमें माँग की पूर्ति के लिए किसी परिस्थिति, किसी अवस्था, किसी वस्तु-व्यक्ति का किसी देश-काल का आवाहन नहीं करना है। अगर यह बात आपको पसन्द आ जाए कि मांग की पूर्ति के लिए संसार की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, तो मांग की पूर्ति के लिए संसार की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। क्यों? क्योंकि संसार हमें जो सहायता देता है, उससे हमारी मांग की पूर्ति नहीं हो सकती।

फिर हमारा और संसार का सम्बन्ध क्या है? केवल यह सम्बन्ध है, कि संसार की धरोहर के रूप में जो हमारे पास शरीर है, वस्तु है-यह संसार की धरोहर है-यह हमें आपको संसार से मिली है। संसार की जो धरोहर हमारे पास है, उसे हम विधिवत्, हर्षपूर्वक, पवित्र भाव से संसार की सेवा में लगा दें। अर्थात् हमारा और संसार का सम्बन्ध सेवा का सम्बन्ध है। हमारा और संसार का और कोई सम्बन्ध नहीं है।

सेवा का अर्थ क्या है? सेवा का अर्थ है मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना। सेवा का अर्थ क्या है? यशाशक्ति परिस्थिति के अनुसार भलाई करना। लेकिन वह कब? जब की हुई भलाई का फल और मान न मांगें तब। बुराई-रहित होकर भलाई का फल न मांगें न चाहें-यह संसार की सबसे बड़ी सेवा है।

बुराई-रहित होने में सब स्वतन्त्र है ही। बुराई करना या न करना आपके वश की बात है। अगर आप बुराई करना पसन्द न करें तो बुराई आपके पास अपने आप थोड़ा ही आ जाएगी। तो संसार की सेवा करने में मानव सर्वथा स्वाधीन और समर्थ है। यशाशक्ति भलाई करने में भी समर्थ है और की हुई भलाई का फल न चाहने में भी समर्थ है। की हुई बुराई को न दोहराने में भी समर्थ है

और जानी हुई बुराई को न करने में भी समर्थ है।

यह तो संसार की सेवा हुई। फिर हमारी सेवा कैसे होगी? हमारी सेवा होगी अचाह होने से। "मुझे कुछ नहीं चाहिए" इसके द्वारा इस अपनी सेवा कर सकेंगे। कैसे? अचाह होने से जब हम अप्रयत्न हो जाएंगे तब अप्रयत्न होने पर हमारा स्थूल शरीर कारण संसार से सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म संसार से, कारण शरीर कारण संसार से सम्बन्ध टूट जाएगा, जब हमारा और संसार का सम्बन्ध टूट जाएगा, तब हममें अपने में संतुष्ट होने की सामर्थ्य आ जाएगी और जब हममें अपने में सतुष्ट रहने की सामर्थ्य आ जाएगी तब अपने में जो अपना परमात्मा है, उसका अनुभव हो जाएगा। ऐसा प्रभु-विश्वास ही कह सकता है, क्योंकि परमात्मा को सभी ईश्वर-विश्वासियों ने अपना स्वीकार किया है, सदैव स्वीकार किया है, सर्वत्र स्वीकार किया है। किसी भी परमात्म को मानने वाले ने यह नहीं कहा कि परमात्मा समर्थ नहीं है, सदैव नहीं है, सर्वत्र नहीं है, अद्वितीय नहीं है। तो सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से अपने में है, सभी का होने से अपना है, समर्थ है और अद्वितीय है। अब ये तीन बातें आपके सामने आईं कि परमात्मा अभी है, अपना है, अपने में है। तीन बातें ये हुईं। जो चीज अभी है, उसके लिए भविष्य की आशा करेंगे क्या? और जो चीज अपने में है, उसे कहीं बाहर ढूँढोगे क्या? और जो चीज अपनी है, उससे प्रियता उदित नहीं होगी क्या? जो समर्थ है, वह हमें अपनाएगा नहीं क्या? जो चीज अपनी है, उसे भूल जाएंगे क्या? जो अद्वितीय है, उसकी पहचान करनी पड़ेगी क्या? अद्वितीय वस्तु की पहचान थोड़ा ही करनी पड़ती है।

इससे सारांश क्या निकला? इससे तात्पर्य यह निकला कि जब हमें परमात्मा की पहचान नहीं करना है, तो बुद्धि की आवश्यकता क्या? और अपना है तो प्रिय क्यों नहीं लगेगा? और जब अपने में है, तो अपने से दूर हो ही कैसे सकता है?

गंभीरता से विचार करें। महानुभाव, ईश्वरवाद का अर्थ अभ्यासवाद नहीं है, ईश्वरवाद का अर्थ विचारवाद नहीं है, ईश्वरवाद का अर्थ आत्मीयतावाद है। ईश्वर में विश्वास करो और उसे अपना मानो और अभी मानो। इसका नाम ईश्वरवाद है।

ईश्वरवाद का अर्थ यह भी नहीं है कि हम ईश्वरवादी होकर, ईश्वर को अपना मान कर ईश्वर के सामने

सदा हाथ पसारे रहें। हमें यह दे दो, हमें यह दे दो, हमें यह दे दो। जो हमें चाहिए वह बिना मांगे ही हमें मिलता है और जो बिना मांगे नहीं मिलता है, वह मांगने से भी नहीं मिलता। तो फिर मांगने का अर्थ क्या हुआ? इसलिए यह विधान ही है कि जो हमें चाहिए, वह बिना मांगे मिल जाएगा, और मांगने से भी कुछ नहीं मिलता तो मांगने का कोई अर्थ ही नहीं है।

यह मानव-जीवन है परमात्म को अपने में, अभी प्राप्त करने के लिए। यह मानव-जीवन है मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा संसार के काम आने के लिए। यह मानव-जीवन है ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम, असंग होकर अपने में सन्तुष्ट होने के लिए। यह आपका-हमारा मानव-जीवन है।

मानव-समाज में जो आज हलचल मची है, वह क्यों है? वह केवल इसलिए है कि हम अपने में सन्तुष्ट नहीं है। वह किस लिए है कि हम संसार के काम आते नहीं हैं, वह केवल इसलिए है कि हम वर्तमान में अपने में अपने परमात्मा से मिलते नहीं हैं। कल्पना करो आज का सुधारवादी नेता धूम मचाए हुए है कि गरीबी मिटाओ, गरीबी मिटाओ। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ। एक उदाहरण आपके सामने रखना चाहता हूँ। आप मुझको यह बताइए कि गरीबी कहां नहीं है। कोई ऐसा देश बताइए, कोई ऐसा वर्ग बताइए जहां गरीबी न हो। जहां बहुत बड़ी अमीरी दिखाई देती है वहां गरीबी का दर्शन होता है या नहीं। अगर कोई ईमानदार मानव इस बात को सिद्ध कर दे कि हमने अमुक परिस्थिति में ऐसा पाया कि जहां गरीबी नहीं थी।

गरीबी का अर्थ जरा सोचिए तो सही। जब तक हमको उससे भिन्न, जो अपने में है कुछ भी चाहिए, तब तक गरीबी मिट सकती है क्या? बोलो भई बोला। जब तक हमें वह चाहिए जो अपने में नहीं है, जो अभी नहीं है उससे भिन्न यदि चाहिए तो गरीबी मिट सकती है क्या? हाँ, गरीबी का रूप बदल जाएगा। रूप क्या बदल जाएगा? जैसे 3/4 लिखते हैं न, उसे कोई 75/100 लिख दे। तो देखने में तो बहुत बड़ी संख्या हो गई पर अर्थ में क्या अंतर पड़ा? हमसे बताइये, एक व्यक्ति को बताइये, जो ईमानदारी से यह कह सके कि परिस्थिति के आश्रित होकर, संसार के आश्रित होकर मेरे सभी संकल्प पूरे हो गए। ऐसा कोई नहीं मिलेगा। सारे विश्व में नहीं

मिलेगा। इतना ही नहीं, दूसरी यह बात भी कि कोई ऐसा आदमी भी नहीं मिलेगा जो कहे, कि मेरा कोई संकल्प पूरा नहीं हुआ। भई, जब सभी संकल्प किसी के पूरे नहीं होते और कुछ संकल्प सभी के पूरे होते हैं। यदि यह जीवन का सत्य है तो निःसंकल्प हुए बिना गरीबी कैस मिटेगी? गंभीरता से विचार किया जाए, बड़े धीरज से इस बात पर विचार किया जाए कि जब तक हम निर्विकल्प नहीं होते तब तक गरीबी कैसे मिटेगी? जब तक निःसंकल्प नहीं होगे तब तक निर्विकल्प होंगे कैसे? जब तक निर्मल नहीं होंगे तक तक निःसंकल्प होने से निर्विकल्प होंगे। निर्विकल्प होने से गरीबी क्यों मिटेगी? इसलिए मिटेगी कि जीवन अभी है, अपने में है। इसलिए गरीबी मिटेगी। अगर जीवन अपने में न होता तो, निर्विकल्प होने से गरीबी कभी नहीं मिटती। किंतु महानुभव, हम इस वास्तविकता पर विचार नहीं करते, जीवन का अध्ययन नहीं करते, जीवन के सत्य को स्वीकार नहीं करते। धूम मचाए है, गरीबी मिटेगी, गरीबी मिटेगी। कैसे मिटेगी कि सेठ को हटा दो सैकरेट्री को रख दो। रानी के पेट से निकला हुआ राजा नापसन्द है तो जनता के पेट से निकला हुआ मिनिस्टर गरीबी मिटाएगा। बिल्कुल भ्रमात्क धारणा है। उन्होंने कहा साहब, गरीबी तब मिटेगी, जब सारे संसार में बहुत से कल-कारखाने हो जाएंगे। अरे, जिन देशों में बहुत से कल-कारखाने हो गए हैं, उनकी गरीबी नहीं मिटी। गरीबी मिटती तो क्या वे यह कहते। किसी पैसे वाले से जाकर मिलना और पूछना कि ईमानदारी से कहना-तुम्हारी तो गरीबी मिट गई होगी। भगवान की कृपा-टालमटोल करेगा। तो बता भाई तेरी गरीबी तो मिट गई होगी, फिर कर्जा क्यों देते हो किसी को? जब तुम्हारे मन में भी धन बढ़ाने की इच्छा है और मैं मजदूर हूँ मेरे मन में धन बढ़ाने की इच्छा है तो बताओं वस्तुस्थिति में क्या फर्क रह गया? क्या कर्ज बाँटने वाला गरीब नहीं है? कर्ज लेने वाला ही गरीब है क्या? सोचो जरा ईमानदारी से। क्यों भैया ईमानदारी से बताओ-तुम को किसी से भय तो नहीं है? अभय हो गए, चिंता नाश हो गई? स्वाधीन हो गए, अमर हो गए। अमर हो नहीं गया, निर्भय हो नहीं गया, स्वाधीन हो नहीं गया, चिंता मिटी नहीं और गरीबी मिट गई। कितना हम अपने आप को धोखा देते हैं, कितना हम अकारण दुखी होते हैं, परेशान

होते हैं। अजी, गरीबी तो जीवन में इसलिए है क्योंकि आपको पराधीनता प्रिय है। गरीबी तो इसलिए है जीवन में क्योंकि आपको अनुदारता प्रिय है। गरीबी तो इसलिए है क्योंकि तुम्हे प्रेम अप्रिय है। जहां प्रेम की मांग लहराती हो, जहां स्वाधीनता का जीवन हो, जहां उदारता का जीवन हो वहाँ-कहाँ गरीबी?

लेकिन बड़े ही दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज हम मानव होकर मानव-जीवन का कितना अनादर कर रहे हैं, कितनी असावधानी बरत रहे हैं, कितना अपने को धोखा दे रहे हैं। कोई कहता है धन बाँट दो गरीबी मिट जाएगी। कोई कहता है-धन छीन लो गरीबी मिट जाएगी। कोई कहता है कर्ज दे दो गरीबी मिट जाएगी। क्या तमाशा बना रखा है।

एक आदमी की गरीबी सारा संसार मिल कर मिटाना चाहे तो नहीं मिटा सकता और यदि आप अपनी गरीबी मिटाना चाहे तो अभी-अभी हम और आप अपनी गरीबी को मिटा सकते हैं। कैसे? बल का सदुपयोग करके, ज्ञान का आदर करके, निर्विकल्प विश्वास करके हम अपनी गरीबी मिटा सकते हैं। क्यों? बल के सदुपयोग से कर्त्तव्यपरायणता आ जाएगी। कर्त्तव्यपरायणता से हम राग-रहित हो जाएंगे, ज्ञान के आदर से हम निर्मम, निष्काम और असंग होकर क्रोध-रहित हो जाएंगे, विषमता-रहिहत हो जाएंगे, पराधीनता-रहित हो जाएंगे और आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से नीरसता-रहित हो जाएंगे और इस प्रकार गरीबी मिट जाएगी।

गरीबी मिटाने का उपाय वैज्ञानिक के पास नहीं है। गरीबी मिटाने का उपाय किसी कलाकार के पास नहीं है। गरीबी मिटाने का उपाय किसी साहित्यिक के पास नहीं है। गरीबी मिटाने का उपाय तो मानव मात्र के पास है। वह क्या है? सत्संग। सत्संग से गरीबी मिटेगी। क्यों? अब इसको जरा वैज्ञानिक दृष्टि से सोचिए-वैज्ञानिक दृष्टि से। वैज्ञानिक तथ्य क्या है? आप अनुभव करके देखें। अगर हमारे जीवन में निर्लोभता आ जाती तो हम संग्रही होते क्या? बोलो, अनुदान होते क्या? अगर हमारे जीवन में निर्लोभता आ जाती तो हम भिखारी होते क्या? बोलो। भिखारी भी नहीं होते, अनुदान भी नहीं होते, संग्रही भी नहीं होते। जिसके जीवन में भिखारी-पन चला गया, अनुदारता चली गई, संग्रह चला गया, वहां गरीबी टिकेगी?

क्या राय है? कभी भी नहीं रह सकती है। यह इतना जबरदस्त भ्रम है हम लोगों को।

एक बार एक अंग्रेज युवक हमारे मानव सेवा संघ आश्रम में आया। भिखारी वेश समझिए, साधु वेश समझिए। हम लोगों जैसे तो कपड़े नहीं थे। तो वह आश्रम में ठहरा रहा। हमारे यहाँ नियम है कि कोई ठहरना चाहे तो ठहर सकता है। हमने उससे कुछ नहीं कहा कि तुम हमारे सत्संग में बैठो या हमारी बात मानो। कोई उस पर पाबन्दी नहीं डाली। तो उससे हमने प्रश्न कर दिया। हमने कहा कि तुमने कोई और ऐसा देश देखा है कि जिसके पास कुछ भी न हो और वह आराम से रह ले, जैसा कि हिन्दुस्तान में रहता है। ईमानदार आदमी था। उसने कहा, हमने ऐसा कोई देश नहीं देखा। यह हमारे गरीब देश की महिमा है।

अमेरिका में जाओ, इंग्लैण्ड में जाओ, चीन में जाओ। या तो सरकार की पैंशन खाओ या भूखे मर जाओ। एक आदमी अपरिचित चला जाए। एक आदमी ऐसा चला जाए जिसका सरकार से कोई सम्बन्ध न हो, तो वह भूखा मर जाएगा। तो अकेली सरकार अमीर हो गई और सब गरीब हो गए। सरकार दिन-रात मांग रही है। टैक्स पर टैक्स बढ़ते जाते हैं, टैक्स पर टैक्स बढ़ते चले जा रहे हैं।

मैं तो आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यह गरीबी मिटाने का उपाय नहीं है। जो आप योरुप की नकल कर रहे हैं। टैक्स बढ़ाना तो आपने सीख लिया, सुविधा देना नहीं सीख पाया। अधिकार मांगता तो आपने सीख लिया कर्त्तव्यपरायणता को भी अपनाए? अधिकार मांगने वाला सदा ही दरिद्र रहेगा। कभी उसकी दरिद्रता मिटती है। कर्त्तव्यनिष्ठता का अर्थ है दूसरों के अधिकारों की रक्षा करो। यह कर्त्तव्यपरायणता का अर्थ है। अगर तुम दूसरों के काम आते रहोगे तो तुम्हारी दरिद्रता मिट जाएगी। अगर स्वयं काम-रहित हो जाओगे, तो तुम्हारी गरीबी मिटा जाएगी।

अब ये जीवन के दो पहलू हैं। एक भौतिक जीवन है जो हमें प्रेरणा देता है कि दूसरों के काम आओ। और एक अध्यात्क जीवन है, जो हमें बताता है कि काम-रहित हो जाओ। काम-रहित होने की प्रेरण हमें अध्याय-जीवन से मिलती है और उदार होने की प्रेरणा हमें भौतिक जीवन से मिलती है। तो उदार भी आप हो सकते

हैं और काम-रहित भी आप हो सकते हैं और प्रेमी होने की प्रेरणा हमें ईश्वरवाद से मिलती है।

अगर आप भौतिकवादी हैं, तो भूखे रह कर, नंगे रह कर, कठिनाई सह कर दूसरों के काम आएं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि अगर तुम दूसरों के लिए बोलते हो, दूसरों के लिए सुनते हो, दूसरों के लिए सोचते हो, दूसरों के लिए काम करते हो तो तुम्हारी भौतिक उन्नति होती चली जाएगी। कोई बाधा नहीं डाल सकता। अगर तुम केवल अपने लिए सोचते हो तो दरिद्रता कभी नहीं जाएगी।

संसार में रहने का तरीका- दूसरों के काम आने की सोचते रहो। काम आते रहो। यथाशक्ति काम आते रहो और काम आने की सोचते रहो। कितना अच्छा हो कि मैं संसार के काम आ जाऊँ। कितना अच्छा हो कि मैं अपने में सतुष्ट हो जाऊँ। कितना अच्छा हो कि मैं प्रेमी हो जाऊँ। तो संसार के काम आने में आप स्वाधीन, अपने में सन्तुष्ट होने में आप स्वाधीन, प्रेमी होने में आप स्वाधीन।

अगर आप संसार के काम आ गए तो गरीबी गई। अपने में संतुष्ट हो गए तो गरीबी गई और प्रेम से भरपूर हो गए तो गरीबी गई। तो गरीबी मिटाने का उपाय प्रत्येक भाई में, प्रत्येक बहन में जन्मजात मौजूद है। कहीं बाहर से कुछ नहीं मिलने वाला है। हाँ बाहर से जितना इकट्ठा करोगे, उतने ही भीतर से गरीब होते चले जाओगे।

हमने किसी पढ़-लिखे के मुँह से सुना था कि अमेरिका में दो सौ जहाज हर समय देश पर घूमते रहते हैं। इस भय के मारे कि कहीं कोई देश हम पर आक्रमण न कर दे। यह भी कोई जीवन है, भय पीछा छोड़ता ही नहीं, अभय तुम हुए ही नही। जब तुम ही अभय नहीं हुए तो तुम्हारी सहायता हमें अभय कर देगी। बिल्कुल नहीं कर देगी।

हे मानव, तुम मानव होने के नाते सोचो। अपने जीवन में क्या क्रान्ति लाना है? तो यह क्रान्ति लाना है कि मैं उदार होकर संसार में रहूँगा, मैं स्वाधीन होकर रहूँगा, मैं प्रेमी होकर रहूँगा और अगर आप उदार होकर रहना पसन्द करोगे, अगर आप स्वाधीन होकर रहना पसन्द करोगे, आप प्रेमी होकर रहना पसन्द करोगे तो आप सच मानिए, आपके के जीवन में गरीबी नहीं रहेगी, आपके जीवन में अभाव नहीं रहेगा, आपके जीवन में

नीरसता नहीं रहेगी। आपकी जितनी समस्याएँ हैं, सब हल हो जाएँगी।

लेकिन अगर आप यह सोचते हैं कि हम तो ऐसा तरीका सोच रहे हैं कि सारे संसार की सम्पत्ति हमारी हो जाए। सारे संसार की सम्पत्ति तो व्यक्तिगत हो नहीं जाएगी, लोभ के कारण जीवन में भंयकर दरिद्रता आ जाएगी। अगर आप सोचते हैं कि हमारा शरीर सदा बना रहे, तो मोह के कारण आप भय में आबद्ध हो जाएँगे। आप अभय नहीं हो जाएँगे। अमर जीवन आपको नहीं मिल जाएगा।

इसलिए भाई जो मिला हुआ सा लगता है, वह वास्तव में मिला हुआ है नहीं। मिला हुआ किसे कहते हैं? अपनी भाषा में कहे तो जो अलग न हो। जो अलग हो जाए, वह मिला हुआ कैसे? आप बताओ, ईमानदारी से तुमने जाग्रत में, स्वप्न में सुषुप्ति में- तीनों अवस्थाओं को सामने रख लो- जाग्रत में कोई ऐसी अवस्था, वस्तु परिस्थिति देखी है, जो अलग न हो। स्वप्न में कोई ऐसी अवस्था, वस्तु परिस्थिति देखी है, जो अलग न हो। सुषुप्ति में जो जड़ता आती है, उस जड़ता में जो देखा हो वह अलग न होता हो। जड़ता भी सदैव नहीं रहती। अवस्था, वस्तु, परिस्थिति भी सदैव नहीं रहती। जो सदैव रहता ही नहीं, उसे मिला कैसे मानते हो प्यारे! वह मिला कैसे हो गया, जो सदैव रहेगा नहीं। अभी जैसा दिखता है, वैसा है नहीं। तब भी कहते हो कि मुझे मिल गया, मुझे मिल गया! मुझे इतना धन मिल गया है, कि मेरे बैंक में एकाउण्ट इतना है। मै। तुम्हें चैलेंज देता हूँ कि बैंक में तुम्हारा एकाउण्ट रह जाएगा और वह तुम्हारे काम नहीं आएगा। या तो तुम ही छोड़ कर चल बसोगे या बैंक ही फेल हो जाएगा अभी या कभी। तो उसे मिला हुआ नहीं कहते जो सदैव न हो, सर्वत्र न हो, सभी के लिए न हो। वह मिल हुआ नहीं। इसलिए संसार में कोई चीज नहीं मिली है, यह बहुत बड़ा भ्रम है। यह भ्रम है, हम को जीवन में से निकाल देना पड़ेगा। हाँ अगर सुनकर मानना चाहते हैं तो मानिए, कि जीवन अपने में है। जीवन का नाम परमात्मा रखा है, जो जीवन अपने में है। परमात्म का नाम जीवन रखा है तो जीवन अपने में है। आपने जीवन का नाम शांति रखा है, तो शांति अपने में है और अगर जीवन का नाम स्वाधीनता रखा है, तो स्वाधीनता अपने में है, अगर जीवन का नाम अमरतव रखा है तो अमरत्व अपने में है। अगर

आपने अगाध अनन्त रस का नाम जीवन रखा है, तो अगाध अनन्त रस अपने में है। अगर सर्व दुःखों की निवृत्ति का नाम जीवन रखा है तो वह अपने में ही है। आपको जो चाहिए वह आप में है। यह अध्यात्म जीवन कहलाता है। अध्यात्म जीवन माने अपना जीवन कहलाता है। यह जीवन अपना है और अभी है। जो अपने में है, अभी है वह अध्यात्म-जीवन कहलाता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आप इस प्रकार की क्रान्ति अपने जीवन में लाइये कि शरीर के द्वारा, वस्तुओं के द्वारा, योग्यता के द्वारा कोई ऐसा काम नहीं करूँगा जो दूसरों के लिए अहितकर हो।

अगर आपको हित का काम नहीं करना है तो मैं आपको मजबूर नहीं करता। आप बिल्कुल मत कीजिए। आपके भलाई न करने से संसार की बहुत बड़ी हानि नहीं हो जाएगी, लेकिन बुराई मत कीजिए। अगर आप भलाई नहीं करेंगे तो आपकी एक हानि हो जाएगी, लेकिन आपके भला न करने से संसार की कोई हानि नहीं होगी।

तात्पर्य क्या निकला? कि बुराई-रहित होने से संसार का लाभ होता है और भलाई करने से अपना व्यक्तिगत लाभ होता है। अगर आपको व्यक्तिगत लाभ चाहिए तो भलाई कीजिए लेकिन केवल भलाई से काम नहीं चलेगा। कुछ लाभ होगा, कुछ लाभ मिलेगा किंतु आप अचाह हो जाइये, कुछ मत चाहिए, और उससे भी आगे का जीवन चाहिए तो प्रेमी हो जाइये। किसके? जिसकों नहीं देखा है, उसके अथवा दूसरे शब्दों में कहें, सभी के। सभी के प्रेमी हो जाइये। सभी के प्रेमी होने पर जगत और परमात्मा दोनों आ गए। जिसको नहीं देखा है उसके प्रेमी होने पर परमात्मा आ गया। तो आप प्रेमी हो जाएँगे, तो आपको जीवन मिलेगा। स्वाधीन हो जाएँगे तो आपको जीवन मिलेगा, आप अगर भले हो जाएँगे, तो आपको जीवन मिलेगा। अगर आप बुराई-रहित हो जाएँगे, तो आपको जीवन मिलेगा। जीवन आपको मिल सकता है। ये सभी बातें आपके हमारे जीवन में रह सकती हैं, आ सकती हैं। जब चाहे तब। अभी चाहें तो अभी आप सदा के लिए बुराई-रहित हो सकते हैं। अभी चाहें तो भलाई कर सकते हैं। अभी चाहें तो अचाह हो सकते हैं। अभी चाहें तो प्रेमी हो सकते है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि जीवन का जो सबसे सुन्दर चित्र है, जीवन की जो सबसे अच्छी तस्वीर है, उसकी प्राप्ति में हम सब समान है और जो भाई, परिस्थितियाँ हैं, वे तो पिता-पुत्र की भी एक नहीं है। पति-पत्नी की भी एक नहीं है। सहोदर बंधुओं की भी एक नहीं है। ये जो एक नहीं हैं, वह साध्य नहीं है; साधन-सामग्री है। विचार कीजिए कि जिस चीज में भिन्नता होती है वह साध्य नहीं हो सकता। साध्य में भिन्नता नहीं होती, अभिन्नता होती है; साधन-सामग्री है। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसका सदुपयोग करना होगा। उसके सदुपयोग से साध्य की प्राप्ति होगी। तो आपकी जो प्राप्त परिस्थिति है, जीवन नहीं है; साधन-सामग्री है।

परमात्मा का प्रेम

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

दर्शन का उतना महत्त्व नहीं है, जितना प्रेम का महत्त्व है क्योंकि बिना प्रेम के तो दर्शन होगा नहीं। जैसे बिना बिजनेस के धन नहीं मिलता। धन से बिजनेस का महत्त्व अधिक है। अगर परमात्मा का प्रेम प्राप्त हो जाए, तो दर्शन कोई असंभव बात नहीं है; सम्भव है। यदि प्रेम न हो और दर्शन हो जाए तो दर्शन का कोई लाभ नहीं होगा। हमारे और परमात्मा के बीच जो दूरी मिटाने वाली चीज है, वह प्रेम है।

अपना मानने से परमात्मा का प्रेम प्राप्त होता है। अपना मानना जो होता है वह होता है कि जिसको हम अपना मानें, उसका अपने पर पूरा अधिकार मान लें। यानि हमारे पास ऐसी कोई चीज न रह जाए जिस पर उसकी मुहर न लग जाए। तन उसका, मन उसका, धन उसका, प्राण उसके और वस्तु उसकी और वे मेरे। मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिए। जब तक सत्य स्वीकार नहीं करेंगे तक तक अपनापन निर्जीव सा रहेगा; सजीव नहीं होगा।

अपनेपन का अर्थ ममता नहीं है, क्योंकि ममता तो देखी हुई वस्तु की होती है। अपनेपन का अर्थ ममता नहीं आत्मीयता है। 'मेरे नाथ' में मेरे का अर्थ है अपना और नाथ का अर्थ है जो समर्थ हो और रक्षक हो। मेरे नाथ का वास्तविक अर्थ है- निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता। जो अनाथ नहीं है; सनाथ है उसमें निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता आनी चाहिए। ये तीनों चीजें आनी चाहिए तब 'मेरे नाथ' का ठीक अर्थ समझ में

आता है। वैसे तो शब्द के पीछे जो अर्थ होता है वह माना हुआ ही होता है।

प्रश्न-निःसंकल्पता क्या है?

उत्तर-निःसंकल्पता का अर्थ होता है-चाहे तो जगत के संकल्प में अपना संकल्प मिला दो अथवा प्रभु के संकल्प में अपना संकल्प मिला दो तब निःसंकल्प होकर निर्विकल्प हो सकते हैं।

जगत् के संकल्प में अपना संकल्प मिलाना-यह धर्म-विज्ञान है और प्रभु के संकल्प में आना संकल्प मिलाना-यह आस्तिकवाद है। निर्विकल्प होना-यह अध्यात्मवाद है। भौतिक का अर्थ क्या है? जगत के अधिकार की रक्षा करना है अर्थात् जगत् का जो संकल्प है, उसको पूरा करना। आस्तिकवाद का अर्थ है-प्रभु के संकल्प में अपने संकल्प को मिला देना। अध्यात्मवाद क्या है? निर्विकल्प होना। अपने में संतुष्ट हो तो निर्विकल्प हों और निर्विकल्प हों तो अपने में संतुष्ट हों।

प्रभु के संकल्प क्या होते हैं, यह हमको मालूम नहीं है। अपना संकल्प न रखने का अर्थ है कि है प्रभु, तेरी इच्छा पूर्ण हो। प्रभु की इच्छा क्या है, इसका हमें ज्ञान थोड़े ही है। वैसे तो प्रभु का दिया हुआ जो विवेक रूपी विधान है, वह विवेक-विरोधी हो ही नहीं सकता। वह तो विवेक के अनुरूप ही होगा।

विवेक रूपी विधान प्रभु ने ही दिया है। आस्था का तत्त्व भी प्रभु ने ही दिया है। बल का तत्त्व भी मिला ही है। मनुष्य के ऊपर जो जिम्मेदारी है, वह केवल मिले हुए के सदुपयोग की है। मनुष्य के पास जो कुछ है, वह उसका व्यक्तिगत तो है ही नहीं। मिली हुई वस्तु पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार है।

सृष्टि का जो मालिक है, वही मनुष्य का मालिक है। मनुष्य को तो केवल यह स्वाधीरता है कि वह मिले हुए का सदुपयोग कर सकता है और उसी से उसका कल्याण हो सकता है।

विश्वास करना है तो परमात्मा में करो, जानना है तो अपने को जानो और करना है तो सेवा करो। यह मैं कहता हूँ, यह मेरा विचार है कि मानना परमात्म को, जानना अपने को, करना सेवा। जग की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनसे कीजिए-यही मनुष्य का प्रोग्राम है।

सेवा का मतलब है- बुराई-रहित होना और यथाशक्ति भालाई करना। भलाई में यह नहीं बतलाया कि इतनी करो। यथाशक्ति, जो सम्भव

हो और जिसके साथ सम्भव हो। अगर बिल्कुल सम्भव न हो तो बिल्कुल मत करो। केवल बुराई-रहित होने से ही सेवा सिद्ध हो जाएगी। भलाई करने से शरीर, परिवार, समाज की यथाशक्ति सेवा होगी। वैसे तो सारा संसार मिलकर भी किसी एक व्यक्ति के अभाव को दूर नहीं कर सकता। सेवा को अर्थ क्या है कि हम यथाशक्ति अपना सुख दूसरों को बाँट सकें। यह तो क्रियात्क सेवा हुई, भावात्मक सेवा क्या हुई कि हम किसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाएँ। यह भावात्मक सेवा हुई।

संसार के सम्बन्ध में क्या है-विचार करके देखो। शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। उन दोनों में विभाजन नहीं हो सकता। देखिए, शरीर जिस स्थिति में आज है इससे पहले इसकी वास्तविकता क्या थी? माता का रज और पिता का वीर्य। रज-वीर्य का पूर्व रूप क्या था? खुराक। खुराक का पूर्व रूप क्या था-पृथ्वी, जलवायु, आकाश आदि। अर्थात् जिस धातु से सृष्टि बनी है उसी धातु से आपका शरीर बन है, मेरा शरीर बना है। सारे संसार के शरीर उसी धातु से बने हुए हैं। तो शरीर संसार से अलग नहीं हो सकता। चाहे इसमें कितना ही परिवर्तन हो जाए, यह संसार में ही रहेगा। शरीर संसार से बाहर नहीं जा सकता, एक बात तो यह। दूसरी बात यह है कि शरीर के द्वारा हम दो बातें कर सकते हैं-या तो शरीर के द्वारा दुःख-सुख का भोग कर सकते हैं। सुख का भोग हम करते हैं अपनी मर्जी से और दुःख का भोग करना पड़ता है बेबसी से। या किसी के काम आ सकते हैं या तप कर सकते हैं। तप कर सकते हैं, सेवा कर सकते हैं, भोग कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि ईमानदारी की दृष्टि से कहा जाए तो शरीर के द्वारा नित्ययोग बोध और प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। आसन, प्राणायाम, धारणा आदि जो अष्टांग योग है, इसमें यम-नियम का भी महत्त्व है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह शरीर का धर्म नहीं है। ईश्वर-प्रणिधान भी शरीर के द्वारा नहीं होता। नित्ययोग शरीर के द्वारा नहीं मिलता, स्वरूप का बोध शरीर के द्वारा नहीं हो सकता और प्रेम शरीर के द्वारा नहीं हो सकता। मनुष्य के जीवन में जो मांग है-चाहे योग कहा, चाहे चिरशांति कहो; बोध कहो या जीवन-मुक्ति कहो; प्रेम कहो चाहे भक्ति कहो तो जिस शांति मुक्ति और भक्ति की मांग है वह

शरीर के द्वारा प्राप्त नहीं होती। तो यह एक दृष्टिकोण आपकी सेवा में है।

इसलिए मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि परमात्मा के सम्बन्ध में जो सुना या शरीर के सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ-इन दोनों को सामने रख कर अब विचार करो। भगवान तो आस्था का विषय है; तर्क का विषय नहीं है। भगवान सब में है, इसका अर्थ यह लगाना चाहिए, हमारे विचार से कि अपने में है। परमात्मा सब में है, सर्वत्र है, सदैव है, समर्थ है और अद्वितीय है और सभी का है। सब में है तो उसे कहाँ-कहाँ पकड़ोगे? तुम किसी बहन से यह पूछना कि जब वे चावल पकाती हैं तो हँडिया के सब चावलों को देखती हैं या एक चावल को देख कर हँडिया का ज्ञान हो जाता है, कि सारी हँडिया का चावल बन गया। सब में है इसका अर्थ है कि अपने में है।

मानव सेवा संघ का यह प्लेटफार्म है और उसकी प्रणाली के आधार पर मुझे चर्चा करना है। मानव सेवा संघ कोई नया मजहब नहीं है, कोई नया इज्म नहीं है, कोई नया संगठन नहीं है, कोई दल नहीं है। मानव मात्र का जो सत्य है, उसी का नाम मानव सेवा संघ हा सिद्धान्त है। मानव का सत्य क्या है- इस पर विचार करके यदि देखें तो हम अपने में दो चीजें देखते हैं। एक तो संसार का आकर्षण- इसको काम कहते हैं और एक अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन की माँग-इसको राम कहते हैं।

मानव में केवल राम की मांग होती, तो कोई समस्या सामने न आती और केवल काम होता तब भी कोई समस्या नहीं आती। जैसे भोग-योनि में सुख-दुःख भोगने के सिवा और कुछ समस्या ही नहीं है और उसमें प्राकृतिक बंधन भी है। पशु बिना भूख नहीं खा सकता और भूखा भी नहीं रह सकता। उसकी खुराक उसके सामने हो, तो वह सोचेगा नहीं कि मेरी कमाई हुई है या नहीं, खा लेगा। लेकिन प्रकृति का बंधन कितना जबरदस्त है कि बिना भूख नहीं खा सकता। देखिए, एक चिड़िया है, तो छोटे बच्चे को, अपने मासूम बच्चे के लिए अपने मुँह से दाना लाकर उसके मुँह में डाल देती है। एक सीमा तक उसकी ममता रहती है और जब बच्चा बड़ा हो जाता है तो चिड़िया उसकी परवाह नहीं करती है। लेकिन यहां तो लड़का बड़ा हो जाए और लड़के का लड़का बड़ा हो जाए किंतु कई पुश्त तक उसकी ममता नहीं छोड़ते।

मनुष्य में और पशु में एक बड़ा भारी भेद यह है कि मनुष्य को कुछ बातों में स्वाधीनता है। किन बातों में स्वाधीनता है? सत्य को स्वीकार करने में अथवा असत्य को अस्वीकार करने में पूरी स्वाधीनता है। अब यदि इस स्वाधीनता का हम सदुपयोग न करके सत्य को स्वीकार न करें तो जीवन का क्या सत्य आया हमारे सामने। बहुत गंभीरता से विचार करें, तो यह साफ दिखाई देता है किसी भी वस्तु के साथ और व्यक्ति के साथ्, किसी अवस्था और परिस्थिति के साथ हम सदैव नहीं रह सकते। इस बात को हर आदमी मान लेगा। जैसे जिस वाणी में मैं बोल रहा हूँ-क्या अनन्त काल का बोल सकता हूँ? तो मैं बोलने से पहले चुप था और बोलने के बाद चुप हो जाऊँगा। तो कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नहीं हो सकती और किसी भी वस्तु से नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता।

वस्तु शब्द का यह अर्थ लेना चाहिए कि जिसकी उत्पत्ति हो, जिसमें परिवर्तन हो, जिसका विनाश हो उसको वस्तु कहते हैं। इस दृष्टि में या सारा संसार एक वस्तु है। इसका मतलब क्या हुआ कि मनुष्य सदैव संसार के साथ नहीं रह सकता। एक बात कर सकता है, कि जिसके साथ सदैव नहीं रह सकता, उसके साथ कोई बुराई न करें। उसकी ममता छोड़ दो, कामना छोड़ दो, तादात्म्य तोड़ दो, लेकिन सेवा करो, सद्भाव रखा, सहयोग करो, यहाँ तक आप स्वाधीन है। इसे कहते हैं-भौतिक विज्ञान।

यह दुनियादारी की बात है। इसके ऊपर की बात है कि जब हम संसार के साथ सदैव नहीं रह सकते तो हमको अपने में संतुष्ट होना चाहिए। यानी संयोग में वियोग का, जीवन में मृत्यु का, सुख में दुःख का दर्शन करके संसार से निर्मम, निष्काम और असंग होना चाहिए। यह अध्यात्मवाद हो गया। अर्थात् अपने में संतुष्ट हो जाना चाहिए। इसको और अच्छे शास्त्रीय भाषा में कहें तो हमको पहले निष्काम होकर योगवित् हो जाना चाहिए और योगवित् होकर आत्मवित् होना चाहिए और आत्मवित् होकर ब्रह्मवित् होना चाहिए।

ऐसी हमारी भारतीय परम्परा है। पहले हम कर्त्तव्यनिष्ठ हों अर्थात् जो करना चाहिए और जिसे कर सकते हैं वही करें। जो नहीं करना चाहिए सो न करें और जो नहीं कर सकते, वह न करें। जो आज यह कहते हैं कि कर्त्तव्यपालन में असमर्थ हो गए हैं-

उनकी यह असमर्थता नाश हो जाएगी और जो कर सकते हैं तथा जो करना चाहिए, उसको करके हम संसार के राग से थोड़ा मुक्त होकर योगवित् हो जाएँ, अर्थात् योग की प्राप्ति कर लें फिर आत्मवितृ हो जाएँ और फिर ब्रह्मवित् हो जाएँ। योगवित होना यह भौतिकवाद है। आत्मवित् होना यह अध्यात्मवाद है और ब्रह्मवित् होना यह आस्तिकवाद है।

इसका अर्थ यह है कि आप में अगर ब्रह्मवित् होने की माँग नहीं है, तो छोड़ दीजिए औरों के लिए और आत्मवित् होना न चाहें तो छोड़ दीजिए उसे भी। योगवित् तो आपको होना ही पड़ेगा। क्यों? आप विचार करके देखिए कि आपका और जगत् का सम्बन्ध सेवा का सम्बन्ध है। सेवा का अन्त जो होता है वह त्याग में होता है और त्याग का जो फल होता है, वह योग होता है। योग एक ऐसा अनुपम तत्त्व है। गीता के हरेक अध्याय के साथ कौन-सी उपाधि दी गई है, कि वह योग का शास्त्र है और ब्रह्म की विद्या है। गीता के हर अध्याय के अंत में यही कहा गया है। अर्जुन-कृष्ण का सम्वाद है, लेकिन योग का शास्त्र है और ब्रह्म की विद्या है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि इस सुने हुए सत्य को जरा जीवन के साथ मिला कर देखिए तो मनुष्य योगशास्त्र और ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। मानव योग का अधिकारी है। भाग जो उसके जीवन में है वह केवल साधन रूप है; साध्य रूप भाग नहीं है। लेकिन मनुष्य को छोड़ कर अन्य भोग योनियों में न ब्रह्मविद्या है न योगशास्त्र है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से कि वह काम, जिसे किए बिना आप रह नहीं सकते; जिसमें किसी का अहित नहीं है वह कार्य जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है, वह कार्य जिसके पूरा करने की सामर्थ्य है। जिस कार्य में चार बातें हैं-कौन-कौन-सी-वर्तमान का कार्य हो, जैसे कि इस समय मेरा काम बोलना है, आपका काम सुनना है, यह वर्तमान का कार्य को गया। ऐसी कोई बात नहीं बोलना चाहिए, जिससे किसी का अहित हो। बिना बोने रहा जाए तो बोलने की जरूरत नहीं। बोले बिना न रहा जाए तो बोलो, अहित न हो और पूरा करने की स्वाधीनता हो, वर्तमान से सम्बन्ध हो, किसी का अहित न हो, उसको आवश्यक कार्य करते हैं। उसको कर्त्तव्य कहते है; उसको धर्म कहते हैं।

इस धर्म के पालन करने का फल क्या होता है कि हम कार्य के अन्त में करने के राग से रहित होकर शांति को प्राप्त करते हैं और जब हमारे जीवन में करने का राग नहीं रहता तो क्या होता है? न तो हमारा स्थूल शरीर से तादात्म्य रहता तो क्या होता है? न तो हमारा स्थूल शरीर से तादात्म्य रहता है, न सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य रहता है। इन दोनों शरीरों से तादात्म्य टूट जाता है। स्थूल शरीर से तादात्म्य टूटने से निवृत्ति और अचिन्तता, लेकिन कारण शरीर के द्वारा हम योग को प्राप्त करते हैं। कारण शरीर का लेश योग में रहता है। समाधि तक कारण शरीर का तादात्म्य रहता है। बोध में जाकर कारण शरीर की निवृत्ति होती है और प्रेम में जाकर परमात्मा की प्राप्ति होती है।

तो हमें कर्त्तव्य से योग की ओर, योग से बोध की ओर और बोध से प्रेम के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना है। इसी के लिए हमें योगवित् होना होता है। 'जग की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनसे कीजिए'।

मैं शरीर नहीं हूँ, सर्वमान्य सत्य है। शरीर संसार का एक अंग है। मेरा नहीं है; उसका है, जिसका संसार है लेकिन हम भूल से शरीर को अपना मान लेते हैं और संसार को अपना मानते नहीं। इसका परिणाम क्या होता है? कि शरीर में ममता हो जाती है; संसार की कामना उठने लगती है। अगर शरीर को और संसार को हम एक मान लें-यह मान लें कि अगर शरीर मेरा नहीं है तो संसार में कोई चीज मेरी नहीं है। शरीर मेरा नहीं है तो संसार मेरा नहीं है। शरीर को अपना मानूँ सेवा करने के लिए और संसार को भी अपना मानूँ सेवा करने के लिए। अब हमसे गलती क्या होती है कि शरीर को हम अपना मानते हैं भोग के लिए। बस मानव की यही सबसे बड़ी भूल है। शरीर का उपयोग मानव होकर हम केवल भोग में ही करेंगे तो परिणाम में रोग और शोक से बचेंगे नहीं। सुख के भोगी को विवश होकर दुःख भोगना पड़ता है। इसमें किसी का बस आज तक चला नहीं और भविष्य में भी चलेगा नहीं। इसलिए यह कहा गया कि शरीर का उपयोग भोग में मत करो; सेवा में करो।

सेवा का बाह्य रूप क्या है- दूसरों के अधिकार की रक्षा करो। यह सेवा का ब्राह्म रूप है। त्याग का रूप क्या है कि अपने अधिकार का त्याग करो। तो दूसरों के अधिकार की रक्षा

करने से परस्पर एकता होगी और अपना अधिकार छोड़ने से नित्य योग की प्राप्ति हो जाएगी।

संसार में सम्बन्ध दो ही तरह से रहता है-देना है तब भी सम्बन्ध रहेगा; लेना है तब भी सम्बन्ध रहेगा। देना दे दिया और लेना छोड़ दिया तो संसार सं सम्बन्ध टूट जाता है। जब संसार से सम्बन्ध नहीं रहता तो हमारे और परमात्मा के बीच में; हमारे और अविनाशी जीवन के बीच में; हमारे और स्वाधीन जीवन के बीच में; हमारे और चिन्मय जीवन के बीच में पर्दा क्या था, आवरण क्या था? संसार का सम्बन्ध आवरण था; संसार आवरण नही था।

जब सम्बन्ध टूट गया, तो हमें योग प्राप्त हो गया, बोध प्राप्त हो गया, प्रेम प्राप्त हो गया। यह कोई कल्पना नहीं है; यह जीवन का सत्य है। अगर हमारे और संसार के बीच का सम्बन्ध टूट जाए, जो वास्तव में है नहीं। हमारा और परमात्मा का जातीय सम्बन्ध है, नित्य सम्बन्ध है और आत्मीय सम्बन्ध भी है। हमारा और संसार का न जातीय सम्बन्ध है,न नित्य सम्बन्ध है, न आत्मीय सम्बन्ध है।

तो क्या है? मेरे पास जो शरीर है, वह संसार की धरोहर है। जगत् का जो मालिक है जगत् का जो आधार है, वह परमात्मा है। इसलिए परमात्मा के नाते जगत् की सेवा करें, तो प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा हो गई, आत्मा के नाते जगत् की सेवा करें तो साधना हो गई और जगत् के नाते जगत् की सेवा करें तो कर्त्तव्य हो गया।

अब यह आपकी अपनी मौज है आप स्वीधीन हैं। चाहे आप भौतिकवादी दृष्टिकोण से जगत् के अतितत्व को ही मानें; अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से आत्मा के अस्तित्व को मानें, चाहे आस्तिकवादी दृष्टिकोण से आप परमात्मा को मानें-यह आपकी स्वाधीनता है। जगत् के अस्तित्व को मान कर भी कर्त्तव्य का अन्त रोग में होगा। आत्मा के अस्तित्व को मान कर भी कर्त्तव्य का अंत योग में होगा और परमात्मा के अस्तित्व को मान कर भी कर्त्तव्य का अंत योग में होगा। यह जीवन का विज्ञान है।

सही काम करने से हमें योग प्राप्त होता है-यह जीवन का विज्ञान है। ईश्वरवादी दृष्टि से योग का अर्थ है-परमात्मा की समीपता और अध्यात्मवाद की दृष्टि से योग का अर्थ है-अपने स्वरूप का बोध; अपने स्वरूप में स्थिति। भौतिकवाद की दृष्टि से योग का अर्थ है चिरशांति।

चिरशांति, स्वरूप में स्थिति, परमात्मा की समीपता। किसी प्रकार से सत्य को स्वीकार करें तो मुझे तीन बातें ही ठीक मालूम होती हैं। या तो हम को चिरशांति प्राप्त हो गई अथवा अपने स्वरूप में स्थिति हो गई अथवा परमात्मा की समीपता 'प्राप्त हो गई'। परमात्मा की समीपता, स्वरूप में स्थिति और चिरशांति का नाम योग है।

व्यक्तिगत भिन्नता जीवन का एक सत्य है। अब यह आग्रह तम करो कि मैं परमात्मा को मानता हूँ तो सभी परमात्मा को मान लें। मैं संसार को मानता हूँ, तो सारा संसार भौतिकवादी बन जाए। सारा संसार अध्यात्मवादी बन जाए या सारा संसार आस्तिकवादी बन गए। मानव सेवा-संघ की साधन प्रणाली में यह बात बताई गई कि ऐसा आग्रह मत करो।

हाँ, तुम स्वतन्त्र हो, भौतिकवादी होकर संसार के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध रख सकते हो। कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, चिरशांति आपको मिलेगी। अध्यात्मवादी होकर भी संसार के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध रख सकते हो-जीवन-मुक्ति आपको मिलेगी। और परमात्मा को मान कर भी कर्त्तव्य का सम्बन्ध रख सकते हो, तो भी भक्ति मिलेगी। तो चिरशांति, जीवन-मुक्ति और भगवद्भक्ति आरम्भ में ये तीनों अलग-अलग मालूम होते हैं साधन रूप से, किंतु अंत में तीनों में स्वरूप से एकता हो जाती है।

चिरशांति, जीवन और भगवद्भक्ति में अविभाज्य सम्बन्ध है। शांति है, तो मुक्ति आ ही जाएगी, जहां मुक्ति है वहां भक्ति आ रही जाएगी। यह मेरा अपना व्यक्तिगत मत है।

हम सभी सनाथ है

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

अभी हमने और आपने जो प्रार्थना की है, उसमें क्या रहस्य है, उसका वास्तविक क्या तत्त्व है, अब उस पर विचार करना है। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसके जीवन में किसी न किसी प्रकार की माँग न हो। किसी आवश्यकता का होना ही वास्तव में प्रार्थना है।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि प्रार्थना तो केवल ईश्वरवादियों की वस्तु है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रार्थना तो प्राणी मात्र की वस्तु है। क्यों? क्योंकि कोई ऐसा व्यक्ति है ही नहीं, जिसके जीवन में कोई न कोई आवश्यकता न हो। अपनी

आवश्यकता को जानना ही वास्तव में प्रार्थना है।

कुछ लोग कामनाओं को ही आवश्यकता मान लेते हैं, परन्तु जो विचारशील हैं, वे इस बात को जानते हैं कि कामना और आवश्यकता में बड़ा भेद है। कामना की तो निवृत्ति होती है अथवा उसमें प्रवृत्ति होती है, किंतु आवश्यकता की पूर्ति होती है।

अब आप विचार करें, कि जो प्रार्थना अभी आपने की, उसमें सबसे पहला वाक्य है-मेरे नाथ। इस वाक्य के उच्चारण करते ही ऐसा हृदय में भास होता है कि हम अनाथ नहीं है, कोई हमारा अपना है और जो हमारा अपना है, वह कैसा है? वह समर्थ है, रक्षक है। अब आप सोचिए कि समर्थ और रक्षक के होते हुए हमारे और आपके जीवन में चिंता और भय का कोई स्थान ही नहीं रहता।

यह सभी जानते हैं, कि निश्चिन्तता और निर्भयता आने पर ही हम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर सकते हैं। भयभीत और चिन्तित होने पर हम अपनी परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकते हैं। और परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न ही परिस्थिति की दासता से मुक्त होते हैं। इस दृष्टि से जो व्यक्ति जिस परिस्थिति में है, उसका सदुपयोग करना ही होगा। और उसका सदुपयोग करने के लिए निश्चिन्तता और निर्भयता अनिवार्य है। निश्चिन्त और निर्भय होने के लिए यह आवश्यक है कि हम उससे अपना नित्य सम्बन्ध स्थापित करें जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है। जिसमें हमारी स्थिति है, उससे हमें अभिन्न होना है।

ऐसी कोई उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, जिसके मूल में कोई अनुत्पन्न तत्त्व न हो। इस दृष्टि से हम सबको यह मानना ही पड़ेगा कि जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है, वह हमारी उत्पत्ति से पूर्व है। चाहे उसको जाने अथवा न जानें, मानें अथवा न मानें, परन्तु वह है अवश्य, जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है।

एक यह भी नियम है, कि जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है, उसको हम प्राप्त कर सकते है; उसमें हम श्रद्धा रख सकते हैं, उससे हम सम्बन्ध जोड़ सकते है; परन्तु उसे हम मन-बुद्धि का विषय नहीं बना सकते। क्योंकि कार्य कारण में विलीन हो सकता है, कार्य कारण को विषय नहीं कर सकता। यह बात सभी विचारशीलों को माननी ही पड़ेगी।

इस दृष्टि से उसे हम जानें या जानें, परन्तु उसका होना स्वतः सिद्ध है। अब आगे विचार कीजिए कि जो है, वह हमारा अपना है। यह नियम ही है जिससे आत्मीयता होती है, उसमें प्रियता अपने आप हो जाती है। प्रियता स्वभाव से ही स्वरूप है। यह बात सभी के अनुभव में है। आप सोचिए, जिसे आप अपना मानते हैं, क्या वह आपको प्यारा नहीं लगता? और जो प्यारा लगता है क्या उसमें आपको रस नहीं आता? आत्मीयता प्रेम की जननी है और प्रेम रस का भण्डार है।

इस दृष्टि से सब हमने उसको अपना मान लिया, जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिससे समस्त सृष्टि प्रकाशित है, जिससे समस्त सृष्टि सत्ता पाती है। तो आप सोचिए, हमारे और आपके जीवन में चिंता और भय का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। क्यों? जो सबका सब कुछ है, वह हमारा अपना ही है। तो जो हमारा अपना है, उससे हमारी कोई भी बात छिपी नहीं है।

फिर अब आप कहेंगे तो फिर प्रार्थना की आवश्यकता ही क्यों है? प्रार्थना की आवश्यकता तो इसलिए है क्योंकि हम स्वयं अपनी आवश्यकता से अपरिचित हो जाते हैं। बहुत कम भाई-बहन ऐसे हैं, जो सचमुच यह जानते हैं, कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है। बहुत से लोग तो मन में उत्पन्न हुई कामनाओं को ही अपनी आवश्यकता मानते हैं

आप विचार करें, जरा गंभीरता से विचार करें कि कामनाओं का उद्गम-स्थान तो देहाभिमान है। और देहाभिमान अविवेक-सिद्ध है, विवेक सिद्ध नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अविवेक-सिद्ध कामनाओं से, अविवेक के द्वारा उत्पन्न हुई कामनाओं से, जो असत् हैं, उन्हें हम अपनी आवश्यकता नहीं कह सकतें, अपितु एक दशा विशेष कर सकते हैं।

कामना हमारी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कामना का उद्गम-स्थान 'यह' मैं नहीं। आप सोचिए अभी हम आपसे पूछें कि शरीर से अलग होकर आप क्या चाहते हैं, तो आप कोई भी कामना नहीं बता सकते। तात्पर्य यह निकला कि भाई, कामना कब उत्पन्न होती हैं? जब हम अपने को देह मान लेते हैं। अब आप विचार कीजिए कि अपने को देह मान लेना क्या अपने विवेक का विरोध नहीं है? आपको मानना पड़ेगा, अवश्य है। क्योंकि जिसको 'यह' कह सरके संबोधन करते हैं, उसको 'मैं' नहीं कह सकते। जैसे आप कहें 'मेरा मकान' तो

कम से कम यह तो आप जानते ही है, कि मैं मकान नहीं हूँ। तो 'मेरा शरीर' यह भी बात आप जानते हैं। तो आप ही बताइये कि आप अपने ज्ञान के अनुसार अपने को शरीर नहीं मान सकते। आपको मानना ही होगा कि शरीर हमसे भिन्न है।

जो चीज जानने में आती है, वह जानने वाले से अलग होती है। जो चीज देखने में आती है, वह देखने वाले से अलग होती है। हाँ, इतना ही नहीं, जिन साधनों से हम देखते हैं, सुनते हैं, सोचते हैं, वे साधन भी हमसे अलग हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भाई, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि जितनी वस्तुएँ हैं उनको 'मैं' नहीं' कह सकते।

आप कहें कि 'मैं' तो नहीं कह सकते किंतु 'मेरा' तो कह सकते है। तो कहना होगा कि जैसे ड्राइवर किसी की मोटर को मेरी मोटर कह देता है, उसी प्रकार बोलचाल की भाषा में हम भले ही कहें कि शरीर मेरा है, हाथ मेरा है। पर भाई, सोचो तो सही कि क्या शरीर का विश्व से विभाजन हो सकता है? आपको मानना पड़ेगा नहीं हो सकता। यदि शरीर आपका नहीं, उसी प्रकार संसार रूपी सागर की शरीर एक लहर है, वह भी आपका नहीं है। इसमें आपके विवेक का विरोध है। तो कहना होगा कि शरीर हमारा है नहीं, किंतु उसके उपयोग मात्र में हमारा अधिकार है।

तो जिसने हमें शरीर के उपयोग का अधिकार दिया, उसने हमारी ईमानदारी पर विश्वास किया है और उसके उपयोग करने का विवेक भी दिया है। तात्पर्य यह निकला कि मिली हुई कोई भी वस्तु हमारी नहीं है और न कोई भी वस्तु हम हैं, अपितु किसी वस्तु के उपयोग करने में आपका अधिकार है। इसको ही कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी कर्त्तव्य के नाम से कहते हैं। धर्मात्मा हसे धर्म के नाम से कहते हैं। मान्यता का भेद है अर्थ का कोई भेद नहीं हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो वस्तु सामर्थ्य, योग्यता हमें प्राप्त है उसका उपयोग हमें अपने विवेक के अधीन करना है अथवा यों कहो कि उस मिले हुए विवेक के प्रकाश में ही हमें मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करना है।

परन्तु आप जानते हैं, ऐसा कौन व्यक्ति है, जो असमर्थता का अनुभव नहीं करता, ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसके सामने मृत्यु का भय नहीं है, ऐसा कौन व्यक्ति है, जिससे कभी विवेक का विरोध नहीं हुआ। मानना

ही पड़ेगा कि हमारे आपके सामने ये तीन समस्याएँ-मृत्यु का भय, सामर्थ्य की माँग और पवित्र होने की आवश्यकता। इन तीन दुर्बलताओं को सामने रखकर जब हम सोचते हैं, तो इस बात के लिए विवश हो जाते हैं कि, जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है, जो हमारा अपना है, जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध है, उसके सामने अपनी आवश्यकता को प्रकट करें। किस लिए? इसलिए नहीं कि वे हमारीआवश्यकता को नहीं जानते, इसलिए कि हम स्वयं अपनी आवश्यकता को भूलकर कामनाओं के जाल में आबद्ध हो रहे हैं। इस दृष्टि से यदि आप और हम विचार करेंगे तो हमें-आपको मानना ही पड़ेगा कि आज जीवन का सबसे पहला प्रश्न है कि हम अपनी आवश्यकमा को जानें अर्थात् हम क्या चाहते हैं, इस बात को हम ठीक-ठीक समझ लें।

आप सोचिए, माँगने का अधिकार किसको होता है? जिसकी आवश्यकता हो, वही तो माँगता है। जैसे भूख लगते पर भोजन माँगना कोई अनुचित बात नहीं अथवा यों कहें कि भूख लगना ही भोजन को माँगना है, प्यास का लगना ही पानी का माँगना है। और जिसके सामने माँगना है, वह कोई अप्राप्त तो है नहीं, वह तो प्रापत है। क्योंकि जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है, यदि वह न हो तो हमारी उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं होगा और हमारी स्थिति ही सिद्ध नहीं होगी। वह हमारे साथ है और सर्वदा साथ है। ऐसा कोई-सा क्षण नहीं है, जब वह हमारे साथ न हो। परन्तु हम इस बात को इतना भूल गए हैं कि अपने को अनाथ अनुभव करने लगे हैं, वास्तव में अनाथ हैं नहीं।

इसलिए उपर्युत्त प्रार्थना में पहला वाक्य है-'मेरे नाथ'। 'मेरे नाथ' कहते ही एक आत्मीयता की और नित्य सम्बन्ध की स्थिति हो जाती है। आप विचार करें कि आत्मीयता में प्रियता स्वाभाविक है और जब हम जानते हैं कि हमारा नाथ समर्थ और रक्षक है, तो चिंता और भय के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता और न किसी प्रकार का संकोच रह जाता है।

अब यह भी विचार करना है, कि जिससे हमें माँगना है, उसकी महिमा क्या है। उसमें हमारी श्रद्धा है या नहीं। हम उस पर विश्वास करते हैं या नहीं। तो भाई? प्रार्थी तो कोई ऐसा नहीं होता, जो उस पर विश्वास न करे, जिससे प्रार्थना कर रहा है। उसी महिमा न माने, जिससे प्रार्थना कर रहा है। चाहे वह अपनी वाणी के द्वारा

उसकी महिमा को प्रकट न करे, चाहे वह वाणी के द्वारा न कहे कि आप ऐसे हैं। परन्तु उसके जीवन में यह बात स्वभाव से होती है कि जब हम माँगते हैं तो किसी से माँगते हैं। जिससे माँगते हैं, उसको अलग नहीं कह सकते, उसको अलहदा नहीं कह सकते, उसको यह नहीं कर सकते कि वह अपना नहीं है।

अतः प्रार्थना का उदय होना ही इस बात को सिद्ध है कि जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं, वह अपना ही है और समर्थ है। अब विचार यह करना है कि समर्थ से, उस अपने से हम क्या माँगे। प्रार्थना में उसकी महिमा के सम्बन्ध में चार विशेषण हैं। उसमें बताया है कि मेरे नाथ जो है, जो समर्थ हैं, जो रक्षक हैं, जो हमारे अपने ही हैं। उनकी कृपा में चार बातें बताई- अहैतुकी, सुधामयी, सर्वसमर्थ और पतित-पावनी। अब, आप विचार करें कि हमारे जीवन की निर्बलताएं कितनी हैं? जीवन की माँग और पवित्र होने की माँग।

जो हमारे अपने हैं उनकी कृपा की महिमा में चार विशेषण हैं। पहला विशेषण है-सुधामयी अर्थात् जीवन देने वाली। दूसरा विशेषण है-सर्वसमर्थ अर्थात् सामर्थ्य देने वाली। तीसरा विशेषण है-पवित्र पावनी अर्थात् पवित्र करने वाली और चौथा विशेषण है-अहैतुकी। अहैतुकी होने से हम सब प्रार्थना के अधिकारी हो जाते हैं।

इस प्रार्थना में यह नहीं बताया गया कि कृपा उन्हीं पर होगी, जो उनको मानते हैं अथवा जो उन्हें जानते हैं, अपितु यह बताया गया कि उनकी कृपा जो है, अहैतुकी है अर्थात् अहैतुकी होने से हम सब उस कृपा के अधिकारी हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या माँगे और किसके लिए माँगे। यदि हम व्यक्तिगत अपने लिए माँगते हैं, तो व्यक्तिगत का तो अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि शरीर हम हैं नहीं। अगर हम शरीर के लिए माँगते हैं तो शरीर और विश्व का विभाजन हो सकता नहीं। इसलिए प्रार्थना में इस बात का ध्यान रखा गया है कि हम अपने लिए नहीं माँगेंगे, सभी के लिए माँगेंगे। अर्थात् सारे विश्व के साथ एकता स्वीकार कर ली गई। तो माँगा क्या? यह नहीं माँगा गया कि हमारे जीवन में जो सुख है, वह बना रहे, जो दुःख है, वह चला जाए। यह नहीं माँगा। माँगा क्या? कि दुखी प्राणियों के

हृदय में त्याग का बल और सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल।

अब आप विचार करें कि दुखी प्राणियों के हृदय में त्याग के बल की माँग क्यों की गई। सोचिए, जरा गंभीरता से सोचिए कि दुःख है क्या। दुःख क्या है, इस प्रकार आप विचार करेंगे तो मानना पड़ेगा कि आप जब कुछ चाहते हैं और चाह जब पूरी नहीं होती, तभी आप दुःख का अनुभव करते हैं। अर्थात् हम तो चाहते हैं, वह होता नहीं, जो होता है, वह भाता नहीं और जो भाता है, वह रहता नहीं। यह बात जब हमारे-आपके सामने आती है, तब हम कहते हैं कि हम तो बड़े दुःखी हैं। क्यों? क्योंकि जो बात हम चाहते हैं, वह हुई नहीं। आप गंभीरता से सोचिए, क्या संसार में कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसके विषय में जिसके सम्बन्ध में आप कह सकें, कि उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो गई? क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसके सम्बन्ध में आप कह सकें कि उसकी कोई कामना पूरी नहीं हुई

मेरा विचार ऐसा है, मैंने ऐसा सुना है, समझा है, सोचा है, मुझे ऐसा मालूम होता है, कि ऐसा व्यक्ति तो मिल सकता है, जिसकी सभी कामनाएँ नाश हों, जिसकी जिज्ञासा पूरी हो गई हो, जिसको प्रेम की प्राप्ति हो गई हो, परन्तु ऐसा व्यक्ति नहीं मिल सकता कि जिसके लिए आप कह सकें कि उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो गईं। सोचिए, जरा गंभीरता से सोचिए कि जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकती तो इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि कामना-पूर्ति मात्र हमारे-आपके जीवन का लक्ष्य नहीं है। अर्थात् आपकी-हमारी यह वास्तवकि आवश्यकता नहीं है।

यह अवश्य कह सकते हैं कि कामना-पूर्ति का जीवन में स्थान है और कामना-अपूर्ति का भी जीवन में स्थान है। यह किस लिए है? कामना-पूर्ति किस लिए? कामना-निवृत्ति के लिए और कामना-अपूर्ति किस लिए? कामना-निवृति के लिए। जब हम और आप इस बात को भली-भांति जान लेते हैं कि कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति के लिए है और कामना-अपूर्ति भी कामना-निवृत्ति के लिए है, तब हमको, आपको यह मानना ही पड़ेगा कि आप जिस कामना-अपूर्ति से दुखी हैं, यदि उस कामना के त्याग का बल आपके जीवन में आ जाए, तो भाई, दुःख जैसी कोई वस्तु जीवन में रह नहीं जाती।

कल्पना करो कि एक अंधा व्यक्ति देखना चाहता है और संसार

मिलकर उसकी सहायता करे, जब तक देखने की शक्ति उसे न मिले तो किसी और की सहायता से वह उस कामना को पूरा नहीं कर सकता। लेकिन यदि वह विचार करे और यह सोचे कि गहरी नींद में तो सभी अंधे होते हैं। तब यदि छह घण्टे हम बिना देखे रह सकते हैं, तो आजीवन बिना देखे रह सकते हैं, अथवा देखते-देखते भी आखिर न देखना ही होता है। ऐसी कोई कामना है नहीं, जिसकी पूर्ति अखण्ड हो, जो सदैव पूरी हो सके, यह बात सब को माननी ही पड़ती है। तो भाई, अंधे हो जाने पर देखने की वासना का त्याग करना कोई कठिन बात नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाई, किसी का दुःख तभी मिट सकता है, जब उसमें त्याग का बल जा जाए। नहीं तो सारा संसार मिलकर एक व्यक्ति के दुःख का भी नाश नहीं कर सकता।

आप अपना सुख बाँट सकते हैं पर आप दुःख मिटा सकते हैं, यह किसी के बस की बात नहीं है। आप कहेंगे कि व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता लेकिन जो व्यक्ति नहीं है जो सब प्रकार से समर्थ है वह तो ऐसा कर सकता है। तो भाई मेरे, उसी का तो विधान है कि दुःख में त्याग का बल हो। यह व्यक्ति का निर्णय थोड़े ही है कि दुःख में त्याग का बल हो। त्याग के बल से दुःख का भय चला जाता है। दूसरी बात आप जो यह सोचते हैं कि दुःख जीवन का आवश्यक अंग नहीं है, यह बड़े ही प्रमाद की बात है। भाई मेरे, सुख की अपेक्षा दुःख कहीं अधिक जीवन का आवश्यक अंग है। यदि आप सत्य पर विचार करेंगे तो जीवन का आरम्भ दुःख से है, सुख से नहीं। बालक जब उत्पन्न होता है तो रोता है, अगर कोई बालक इत्तेफाक से ऐसा हो, जो न रो रहा हो, तो सोचना चाहिए कि उसमें किसी प्रकार की कमी है, किसी प्रकार की अपंगता है यह एबनॉर्मल (abnormal) है। नॉर्मल (normal) बालक जो भी होगा, वह पैदा होते ही रोएगा। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जीवन का आरम्भ दुःख से हुआ है। जिस जीवन का आरम्भ ही दुःख से हुआ है, उस जीवन में किसी प्रकार का दुःख न हो, यह सोचना ही बेकार है।

लेकिन एक बात अवश्य है कि जिस परिवर्तनशील जीवन में हम दुःख का अनुभव करते हैं, वह वास्तव में जीवन नहीं है। जीवन की तो माँग है, जीवन की तो आवश्यकता है और वह जीवन की आवश्यकता कैसे पूरी

होगी? कि जब हम दुःख में क्या करना चाहिए यह मान लें, सुख में क्या करना चाहिए, यह मान लें।

इस मूल सत्य को सामने रख कर इस प्रार्थना में यह कहा गया है, कि जो हमारे अपने हैं, जिनकी कृपा अहैतुकी है, सर्वसमर्थ है, जीवन देने वाली है, पवित्र करने वाली है, उनसे हमने क्या प्रार्थना की है, कि हम सब एक हैं और सारी सृष्टि एक है। सबके साथ एकता की बात रख कर दुःखी प्राणियों में त्याग के बल की प्रार्थना की। दुखियों में त्याग का बल आ जाए- इसमें यह तो नहीं कहा गया कि आपके विधान के अनुसार जो हमारे जीवन में दुःख है, वह चला जाए। दुःख भले ही बना रहे, उसके साथ त्याग का बल आ जाए। त्याग का बल आने से आया हुआ जो दुःख है, वह निर्जीव हो जाएगा। अथवा यों कहें कि दुःख जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आया है, वह उद्देश्य पूरा हो जाएगा। दुःख किस उद्देश्य से आया है? सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आया है अथवा सुख-लालसा का नाश करने के लिए आया है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि दुःख में त्याग के बल की आवश्यकता है। इस दृष्टि से हम सब को दुःख में त्याग के बल की प्रार्थना करनी चाहिए। दुःख-काल में हमारा वास्तविक साधन है। त्याग के बिना दुःख का सदुपयोग हो ही नहीं सकता है।

यह नियम है कि जिसका सदुपयोग हो जाता है वह वस्तु अपने आप नाश हो जाती है। दुःख का सदुपयोग करने पर दुःख अपने आप नाश हो जाएगा। इतना अवश्य है, कि आपको भूख लगी है लेकिन यदि आपमें भोजन की कामना को त्यागने का बल है तो भूख आपको क्षुभित नहीं कर सकती। जब आप क्षुभित नहीं होते तब क्रोध नहीं आता। जब क्रोध नहीं आता तब विस्मृति नहीं होती। विस्मृति किस की? सत्संग की विस्मृति, अपने स्वरूप की विस्मृति, अपने प्रेमास्पद की विस्तृति नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि हम सबको क्रोधित नहीं होना और क्रोध-रहित होने के लिए हमें क्षुभित नहीं होना है, क्षुभित न होने के लिए दुःख के भय से मुक्त होना है। दुःख के भय से मुक्त होने के लिए दुःख में त्याग के बल की आवश्यकता होती है।

इस दृष्टि से यह मानना ही पड़ेगा कि दुखी का साधन त्याग है। दुःखी का कर्त्तव्य त्याग है। दुःखी को

त्याग को अपनाना ही है। इस दृष्टि से जब हम दुःख में त्याग को अपना लेंगे तो त्याग को अपनाते ही दुःख का भय सदा के लिए चला जाएगा।

अब रही सुख की दासता की बात। सुख का त्याग नहीं हो सकता। सुख ऐसी प्रिय वस्तु है कि उसके त्याग की बात कहना अपने आपको धोखा देना है। परन्तु भाई, अगर सुख-काल में सेवा का बल आ जाए तो सेवक के लिए सुख का त्याग करना बहुत ही स्वाभाविक हो जाता है। क्यों? क्योंकि सेवक का हृदय पराये दुःख से भर जाता है। पराये दुःख से भरते ही वह अपना प्राप्त सुख बाँटने के लिए तत्पर हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुख-काल में सेवा के बल की आवश्यकता है।

सेवा का अर्थ यह नहीं है कि आप किसी का दुःख मिटा सकते हैं। सेवा का अर्थ है, कि आप अपना सुख बाँट सकते हैं। सुख बाँटने का अर्थ क्या है? भाई, सेवक के हृदय में उदारता और करुणा निवास करने लगती है। पराये दुःख से जब हम दुखी होते हैं, हमारा हृदय करुणिता हो जाता है। करुणित होने के बाद जो सुख-भोग की रूचि है वह नाश हो जाती है।

प्रेम प्राप्ति का सुगम उपाय

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

सुख-भोग की रूचि का नाश होते ही सुख के सदुपयोग करने की सामर्थ्य आ जाती है। सुख का सदुपयोग करते ही सुख की दासता मिट जाती है और सुख की दासता मिटने ही दूसरों का जो सुख है, वह हमारा अपना सुख बन जाता है और दूसरों का जो दुःख है, वह हमारा अपना दुःख बन जाता है और दूसरों का जो दुःख है, वह हमारा अपना दुःख बन जाता है। अर्थात् सेवक के हृदय में करूणा और प्रसन्नता निवास करती है। आप देखिए और गंभीरता से विचार कीजिए इस बात पर, कि जब आपक हृदय किसी के दुःख से भर जाता है तब आपके हृदय में करूणा का रस बहने लगता है ओर जब आप किसी सुखी को देखकर प्रसन्न हो जाते हैं तब आपके जीवन में एक प्रसन्नता छा जाती है। सच्ची प्रसन्ता सुखियों को देखकर ही मिल सकती है, जो सुख भोगने से नहीं मिलती। सुख भोगने से तो भोगने की शक्ति का ह्रास और भाई, भोग्य वस्तु का विनाश होता है।

भोग्य वस्तु का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास यह सुख-भोग की बात है। जब हम सुखियों को देख कर प्रसन्न होते हैं तो न तो भोगने की शक्ति का ही ह्रास होता है और न भोग्य वस्तु का ही विनाश होता है अपितु बिना ही भोगे भोग से भी अधिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भाई, सुखी का कर्त्तव्य है सेवा। सेवा क्या? दुखियों के दुःख में दुःखी होना और सुखियों के सुख में प्रसन्न होना। करूणा और प्रसन्नता का जीवन में जो आ जाना है, उसी का नाम सच्ची सेवा है।

देखिए, सेवा का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसकी हम सेवा करते हैं, वह हमारा अपना नहीं है अथवा जिन साधनों से सेवा करते हैं, वे उसके नहीं हैं, जिसकी हम सेवा करते हैं। अगर किसी वस्तु को हम अपनी मान कर सेवा करते हैं तो उसका अर्थ सेवा नहीं है; उसका अर्थ है पुण्यकर्म। पुण्यकर्म और सेवा में एक बड़ा अन्तर यह है कि पुण्यकर्म जो है, उसका आरम्भ होता है कामना से और जिसका आरम्भ कामना से होता है, उसका परिणाम भोग होता है। उसका परिणाम करूणा नहीं होती, उसका परिणाम प्रसन्नता नहीं होती और भोग का परिणाम सदैव रोग होता है। ऐसा कोई भोग है नहीं, जिसका परिणाम रोग न हो। ऐसा कोई भोग है ही नहीं जिसका परिणाम जड़ता न हो। ऐसा कोई भोग है ही नहीं, जिसका परिणाम रोग न हो। ऐसा कोई भोग है ही नहीं जिसका परिणाम जड़ता न हो। ऐसा कोई भोग है ही नहीं, जो हमें पराधीन न बना दे। भोग प्राणी को पराधीनता में, जड़ता में आबद्ध करता है किंतु सेवा पराधीन नहीं बनाती, जड़ता में आबद्ध नहीं करती, अपितु एक चेतना प्रदान करती है। सेवा जो है, वह हमें स्वाधीन बनाती है, पराधीन नहीं बनती। सेवा जो है, वह हमें जड़ता से चेतना की ओर ले जाती है, अशांति से शांति की ओर ले जाती है, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर ले जाती है और असत्य से सत्य की ओर ले जाती है।

इस दृष्टि से सेवा बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। किंतु सेवा उसी अंश में रह सकते है, जिस अंश में हम सुखी हैं अर्थात् सुखी का साधना सेवा है। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि जो सुखी नहीं है, वह साधक नहीं हो सकता। साधक तो वह भी हो सकता है, लेकिन दुखी होने पर उसका साधन है त्याग और सुखी होने पर उसका साधन है सेवा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सेवा और त्याग के द्वारा हम सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त हो सकते हैं। अब आप विचार करें, बहुत गंभीरता से विचार करें कि सुख की दासता और दुःख के भय का नाश होना ही क्या सद्गति नहीं? क्या स्वाधीनता नहीं? क्या मुक्ति नहीं है, क्या अध्यात्म-जीवन नहीं है। अध्यात्म जीवन और क्या है? क्या मुक्ति नहीं है, क्या अध्यात्म-जीवन नहीं है। अध्यात्म जीवन और क्या है? आध्यात्मिक जीवन तो वही है न, जिसमें सुख की दासता न हो और दुःख का भय न हो।

परन्तु प्रार्थना यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इससे आगे भी वह साथ देती है, आप सोचिए, जब सुख की दासता हमारे-आपके जीवन में नहीं होगी, दुःख हमारे अपने जीवन में नहीं होगा, तब क्या होगा? कि जो सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त है, उसमें अहं भाव नहीं रह सकता और जहाँ अहं भाव नहीं रह सकता वहाँ भेद नहीं रह सकता, और यहाँ भेद नहीं रह सकता, वहाँ योग और बोध अपने आप ही आ जाएगा। क्यों? क्योंकि योग दूरी का नहीं रहने देता है, न भिन्नता हो रहने देता है। तो भाई, जिससे हम प्रर्थाना कर रहे थे, जो हमारा अपना है, उससे योग भी हो जाएगा और उसका हमें बोध भी हो जाएगा। क्यों? क्योंकि सुख की दासता और दुःख के भय का नाश होते ही सीमित अहं-भाव का नाश हो जाएगा। यही अध्यात्म जीवन है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रर्थाना का जो दूसरा भाग है उसमें सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त होने वाली बात है। वह अध्यात्म जीवन की पूर्णता है और सेवा और त्याग के बल की जो बात है, वह भौतिक जीवन की पूर्णता है।

भौतिक जीवन क्या है? समस्त विश्व एक है और दूसरों का दुःख हमारा अपना ही दुःख है और दूसरों का सुख हमाराअपना ही सुख है। इससे बढ़कर तो कोई और भौतिकता है नहीं। तो भाई, भौतिकवाद काई बुरी वस्तु नहीं है। भौतिकवादी का कर्त्तव्य क्या है? भौतिकवादी का कर्त्तव्य है-सेवा और त्याग। भौतिकवाद की पराकाष्ठा क्या है? सेवा और त्याग।

सेवा और त्याग का फल क्या है? सुख की दासता और दुःख के भय का नाश। जब सुख की दासता और दुःख के भय का नाश हुआ, तब क्या होगा? स्वाधीनता, चिन्मयता, चिर

शांति, अमरत्व। यह क्या है? अध्यात्म जीवन। तो फिर भौतिकवाद की जो साधना है, उससे क्या हुआ? अध्यात्म जीवन में प्रवेश हुआ।

इस दृष्टि से भौतिकवाद और अध्यात्मवाद अलग-अलग नहीं है। एक ही जीवन के दो पहलू हैं। भौतिकवाद ने कर्त्तव्यपरायणता का पाठ पढ़ाया, तो अध्यात्मवाद ने अमर बनाया क्योंकि हमको-आपको अमरत्व की भी आवश्यकता है और भाई कर्त्तव्य की भी आवश्यकता है। इसलिए भौतिकवाद भी जीवन का एक अंग है और अध्यात्मक भी जीवन का एक अंग है।

पर यहीं उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। इसके बाद प्रार्थना में यह बताया कि हम सेवा और त्याग का बल किस लिए माँगते हैं? इसलिए माँगते हैं जिससे यह अर्थात् सारा विश्व सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त हो जाए। अब सुख की दासता और दुःख के भय से किस लिए मुक्त होना है? तब यह प्रार्थना की गई कि आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन करने के लिए।

अब आप देखेंगे कि जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं, जो हमारे अपने हैं, जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध है, उससे ही पवित्र प्रेम की प्रार्थना हम करते हैं। अब आप सोचिए, जिससे हम प्रार्थना करने जाएँ और उससे कहें कि हम आपके पवित्र प्रेम को चाहते हैं, तो क्या अपना प्रेम किसी को इच्छा नहीं लगेगा। क्या अपना प्रेम देने में किसी को कठिनाई होगी। तो आपको मानना ही पड़ेगा कि प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जिसका आदान-प्रदान रसरूप है। प्रेम देने में भी रस है और प्रेम पाने में भी रस है।

अब आप कहेंगे कि जब प्रेम का आदान-प्रदान रसरूप है तो फिर भाई, प्रेम तो कोई अपवित्रता नहीं होती। तो अपने पवित्र प्रेम का विशेषण क्यों लगाया। इस सम्बन्ध में विचार करने से आपको एक बात का ध्यान देना होगा। प्रेम अपवित्र तो नहीं है, परन्तु प्रेम का पवित्र विशेषण लगाया क्योंकि प्रेम के दो भाव होते हैं। प्रेम का एक भाव यह है, कि जिसमें कोई प्रेम-मात्र की समीपता स्वीकार करके अपने रस को सुरक्षित रखता है, किंतु प्रेम का एक दूसरा भाव यह भी है कि प्रेमी प्रेम पात्र के रस की बात सोचता है, अपने सुख की बात नहीं सोचता। तो जहाँ प्रेमी प्रेमास्पद के रस की बात सोचता है, वहाँ प्रेम के साथ 'पवित्र' विशेषण लगाया जाता है।

यद्यपि प्रेम अपवित्र नहीं है, स्वरूप से पवित्र ही है, किंतु इसका अर्थ यह है कि प्रेम का वह भाव जिसमें प्रेमी प्रेम-पात्र को ही रस देने की सोचता है, वह पवित्र प्रेम है। आप कहेंगे कि यह रहस्य हमारी समझ में नहीं आया। तो भाई इस रहस्य को समझाने के लिए कुछ प्रेमियों के चरित्र पर दृष्टि डालनी होगी। आप भले ही उसे कहानी मानें, इतिहास मानें, चरित्र मानें, यह आपकी रूचि। अपना तात्पर्य तो केवल पवित्र प्रेम को समझाने के सम्बन्ध में है। तात्पर्य तो यह है, कि जो घटना आपके सामने निवदेन की जाए, आप उस घटना पर विचार न करें, आप उसे मान लें, यह तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य केवल इतना है, कि घटना के द्वारा आप पवित्र प्रेम के वास्तविक रहस्य को जान लें।

एक बार की बात है कि जब हमारे श्री नन्द जी श्याम सुन्दर को मथुरा छोड़ कर वापस लौटे और माता यशोदा ने यह देखा कि नंद जी तो आ गए पर कन्हैया नहीं है। तो यशोदा जी को कन्हैया के बिना नंद जी को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। आश्चर्य यह हुआ कि लाला नहीं आए और नंद जी प्राण-सहित आ गए। इस आश्चर्य से चकित होकर माता यशोदा ने कहा कि हे नंद जी, लाला जब रामावतार में वन को गए थे, तो महाराजा दशरथ ने लाला के वियोग में अपने प्राणों को नही रखा था और आप लाला के बिना आ गए और प्राण-सहित आ गए। नंद जी ने कहा-हे यशोदा, तुम ठीक कहती हो, कि रामावतार में राजा दशरथ ने लाला के वियोग में प्राणों को नहीं रखा, किंतु यशोदे, तुम्हें मालूम है कि जब राम वन से लौटे थे, तो उन्होंने महाराजा दशरथ के न होने का दुःख अनुभव किया था। ये अभागे प्राण केवल इसलिए हैं कि लाला कभी ब्रज में आए और मेरे न होने का दुःख अनुभव करे, तो यह मुझसे सहन नहीं होगा। यद्यपि लाला के वियोग की असह्य वेदना है, पर मैं यह सह सकता हूँ, किंतु लाला को मेरे बिना दुःख हो, यह मैं नहीं सह सकता। यह क्या है? यह है पवित्र प्रेम।

पवित्र प्रेम में प्रेमास्पद को रस देने की ही बात रहती है, अपने सुख लेने की बात नहीं होती। आप देखिए और विचार करके देखिए, कि जहाँ अपना रस है-चाहे प्रेमास्पद की सेवा का ही रस हो, चाहे प्रेमास्पद के दर्शन का ही रस हो- अपने रस में और प्रेमास्पद के रस में कितना अन्तर होता है। अपना जो रस होता है वह

अपने अहं को पुष्ट करता है और अहं जब होता है, तो वह भेद को जन्म देता है। जातीय एकता होने पर भी, नित्य सम्बन्ध होने पर भी, आत्मीयता होने पर भी अगर किसी प्रकार का अहं रहता है-चाहे चिन्मय अहं क्यों न हो, नित्य अहं क्यों न हो-किसी प्रकार का भेद ही न रहता है?

तो भाई इस दृष्टि से सोचने पर यह पता चलता है कि पवित्र प्रेम और प्रेम में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है, किंतु पवित्र प्रेम जो है, प्रेमी के अहं को गला कर 'प्रेम' बना देता है। अर्थात् प्रेमी का अस्तित्व नहीं रहता, अपितु प्रेम का अस्तित्व रहता है। तो प्रेमी के अस्तित्व से रहित प्रेम का जो अस्तित्व है, अरे भाई, वही पवित्र प्रेम है।

इस सम्बन्ध में अनेक प्रेमियों के चरित्र हैं। आप सोचिए, एक बार नारद बाबा को मजाक सूझा और उन्होंने श्री रुक्मिणी जी से कहा कि, हे रुक्मिणी जी, तुम श्यामसुन्दर की इतनी सेवा करती हो, इतना प्रेम करती हो लेकिन ये तो देखो तब 'राधा-राधा' रटा करते है। ये ब्रज-वासियों का भी नहीं भूलते हैं। रुक्मिणी ने कहा कि, बाबा, बात तो ठीक है कि श्यामसुन्दर कभी नहीं भूलने हैं ब्रज को। मैंने अनेक बार देखा है कि इनके मन में राधे-राधे की ध्वनि निकलती ही रहती है।

तो एक बिल्कुल प्राकृतिक बात है कि जब किसी पत्नी के मन में यह बात जाए कि मेरे पति किसी और से प्रेम करते हैं, तो उसके जीवन में उतना रस नहीं रहता। यद्यपि प्रेम के साम्राज्य में नीरसता की गंध नहीं है किंतु हमको जब बात को सोचना पड़ता है, समझाना पड़ता है तो अपनी भौतिक दृष्टि से समझाना पड़ता है।

जब देखा श्यामसुन्दर ने कि नारद बाबा ने तो रुक्मिणी के मन में भेद पैदा कर दिया। प्रेम में सब कुछ सहन होता है, किंतु भेद नहीं सहन होता, विस्मृति नहीं सहन होती। प्रेम के साम्राज्य में भेद और विस्मृत का कोई स्थान नहीं है। सब कुछ प्रेमी सह सकता है, पर भेद और विस्मृति नहीं सह सकता। तो भगवान ने सोचा कि भाई, नारद ने तो मजाक किया ही है, किंतु रुक्मिणी जी का भी समाधान करना है।

तो भगवान एक दिन कहने लगे कि क्या बताएँ रुक्मिणी जी, हमारे सिर में बड़े जोर की पीड़ा हो रही है। तो आप जानते हैं कि प्रिय की पीड़ा सुनकर सभी का हृदय अधीर हो जाता है। तो रुक्मिणीजी अधीर हो गई और

कहने लगी कि हे प्यारे, आपके सिर में पीड़ा हो रही है तो आप कोई उपचार बताइये, कि क्या करें। क्योंकि प्रिय की जो पीड़ा है, अपनी पीड़ा से अधिक वेदना देने वाली होती है। श्यामसुन्दर कहने लगे-रुक्मिणी जी, उपचार तो है, पर यहाँ औषधि कहाँ? रुक्मिणी जी ने कहा, महाराज, अपनी द्वारकापुरी में अष्ट सिद्धि नव निधि निवास करती है। यहाँ औषधि नहीं मिलगी। श्रीकृष्ण ने कहा-रुक्मिणी जी, यहाँ औषधि कहाँ? महाराज, आप बताएं तो सही, ऐसी क्या औषधि है जो यहां नही मिलेगी। श्यामसुन्दर ने कहा, रुक्मिणी जी, औषधि तो केवल इतनी सी है कि कोई हमारा प्रेमी हो और अपने चरण की रज यदि हमारे मस्तक पर लगा देता तो हमारी पीड़ा बंद हो जाती।

रुक्मिणी जी सोचने लगीं कि प्रेमी तो हम भी हैं, लेकिन हम इनकी पत्नी हैं, ये हमारे पति है। भला हम अपने पतिदेव के मस्तक पर अपने चरण की रज लगाएंगे, तो हमें नरक में जाना पड़ेगा। तो रुक्मिणी जी का साहस नहीं हुआ। नारद बाबा सोचने लगे कि प्रेमी तो हम भी है, लेकिन हमारा दास्य भाव है। यदि दास अपने स्वामी के मस्तक पर अपनी चरण-रज लगाएगा, तो नरक भोगना पड़ेगा। तो नारद बाबा का भी साहस नहीं हुआ। परन्तु प्रेमी तो थे ही। प्रिय की वेदना का दुःख तो था ही।

यह नियम है, कि प्रेमी के जीवन में जब कोई समस्या आती है, तो प्रेमियों की ओर दौड़ता है। तो नारद बाबा ने सोचा, कि चलो भाई, ब्रज में चलें। तो ब्रज में नारद बाबा आए। नारद बाबा ब्रज में गए तो वहां देखते हैं कि वहां तो सब प्रेम-मूर्च्छा में बेहोश हैं। तो उन्होंने प्रिय का नाम लेना शुरू कर दिया-श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ, नारायण वासुदेव। तो प्रिय के नाम की भनक गोपियों के कानों में पड़ी, तो उनमें चेतना आ गई। तो जब चेतना आई, तो उन्होंने देखा कि सामने नारद बाबा खेड़े हैं।

यह भी नियम ही है कि प्रेमी जब किसी प्रेमी को देखना है, तो बड़ी प्रसन्नता होती है। तो प्रसन्न होकर कहने लगें-बाबा दण्डौत, बाबा दण्डौत। कहां से आ रहे है आप? नारद बाबा कहने लगे कि आए कहां से हैं, आए तो हम द्वारकापुरी से हैं। तो जब प्रिय के धाम की बात सुनी, तो और चेतना हुई। तो गोपियाँ पूछने लगीं कि प्यारे अच्छे तो हैं। अच्छे तो हैं, पर जब गोपियों ने यह सन्देहास्पद सुनी, तो गोपियाँ कहने लगीं, बाबा, पर-पर

क्या कहते हो? बाबा, बताओ हमारे प्यारे अच्छे तो हैं? नारद बाबा बोले कि अच्छे तो हैं पर उनके सिर में पीड़ा हो रही है। तो जब यह बात सुनी कि प्रिय के सिर में पीड़ा हो रही है, तो गोपियाँ व्याकुल हो गईं। कहने लगीं कि क्या द्वारकापुरी में कोई उपचार करने वाला नहीं है? तो नारद बाबा बोले कि उपचार करने वाला तो है, पर औषधि नाय मिलै। तो ऐसी कौन-सी औषधि है जो ना मिलै। आप बताओ तो सही। क्या बताएँ औषधि तो मिलै नाय। वे पूछने लगीं कि बाबा, बताओ तो सही, ऐसी कौन-सी औषधि? वे सोच नहीं सकती थीं। तब नारद बाबा बोले कि औषधि तो यह है कोई उनका प्रेमी अपने चरण की रज दे दे, तो वे बोलीं- बाबा, ले जाओ, ले जाओ। जितनी रज चहिए शीघ्र ले जाओ। नारद बाबा कहने लगे कि गोपियों, क्या तुम यह नहीं जानती हो कि श्यामसुन्दर सच्चिदानन्दघन हैं। तुम उनके मस्तक पर अपनी चरण-रज लगाओगी, तो तुम्हें नरक भोगना पड़ेगा। तो वे बोलीं, बाबा, एक जन्म में नहीं हम अनन्त जन्मों तक नरक भोग सकती हैं, पर प्यारे के सिर की पीड़ा नहीं सह सकती।

तो कहने का तात्पर्य क्या निकला? यह है पवित्र प्रेम। पवित्र प्रेम में प्रेमास्पद को ही रस देने की उत्कट लालसा रहती है। प्रेमास्पद का रस यदि अलग होने में है, तो वियोग की वेदना प्रेमी सह सकता है। प्रेमास्पद का रस मिलने में है तो मिल सकता है लेकिन प्रेमास्पद को रस मिलता हो, वहीं पवित्र प्रेम है।

तो इस दृष्टि से आप विचार करके देखें तो पवित्र प्रेम का अर्थ क्या हुआ? कि प्रेमास्पद को रस देना। अब आप विचार करें, बहुत गंभीरता से विचार करें कि भाई, जो सब प्रकार से समर्थ हो, पूर्ण हो उसको रस किस लिए दिया जाए। क्योंकि जब किसी में किसी प्रकार की कमी हो तो उसे पूरा करने के लिए रस दिया जाता है।

तो भाई , कमी को पूरा करने वाला जो रस होता है वह प्रेम-रस नहीं होता, वह भोग का रस होता है। तो भोग के रस और प्रेम के रस में एक बड़ा अन्तर होता है। भोग के रस में कुछ लेने की लालसा होती है, किंतु प्रेम के रस में कुछ लेने की लालसा नहीं होती, तो जब कुछ लेने की लालसा नहीं होती, तो फिर प्रेम का रस कैसे दिया जा सकता है?

तो आप विचार करें, बहुत गंभीरता से विचार करें कि जब आपको अपने प्रिय की स्मृति आती है अथवा आप जब यह सुनते हैं कि हमारा प्रेमास्पद हमारा प्रेमी हमारा स्मरण करता है, तो अपनी स्मृति की बात सुन करके आपके-हमारे हृदय में एक रस की वृद्धि होती है। यह बात प्रत्येक भाई को माननी पड़ेगी, प्रत्येक बहन को माननी पड़ेगी कि जब वह यह सुनता है कि कोई हमारा प्यारा है और जब उसकी याद आती है तो उससे बड़ा रस आता है। तो भाई, जो समर्थ प्रेमास्पद है, जब उसकी स्मृति हमारे में रहेगी तब बताइये, उसे रस मिलेगा या नहीं? कि जो समर्थ है, उसको रस कब मिलेगा है? जब उसकी मधुर स्मृति अखण्ड रूप में बनी रहे और उसे रस कब मिलता है? जब उसके मन की बात पूरी हो। अब उसके मन में अच्छी बात है या बुरी बात है, इस बात का विचार प्रेमी में कभी नहीं होता है। प्रेमी के जीवन में तो केवल यही बात रहती है कि भाई, प्रेमस्पद कौन हो सकता है? प्रेम का रस कौन चख सकता है? प्रेम का रस भोगी नहीं चख सकता। भोगी प्रेमास्पद नहीं हो सकता। क्यों? जो कुछ भी चाहता है, उसको प्रेम नहीं चाहिए। प्रेम उसी को चाहिए जो भोग के रस की लालसा से रहित हो। और जो भोग की लालसा से रहित है, वह व्यक्ति नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि जो अनन्द है, जो अपार है, जो अखण्ड है, जो सभी का सब कुछ है, सच पूछिए तो वही प्रेमास्पद है।

यह तो दूसरी बात है कि उसी के नाते सभी की सेवा की जाए, सभी का आदर किया जाए, सभी को प्रेम किया जाए। लेकिन प्रेमास्पद कौन है? कि प्रेमस्पद तो वही न होगा कि प्रेम जिसकी खुराक हो, प्रेम जिसकी माँग हो, कि जिसकी माँग में भोग की लालसा न हो। भोग की माँग, जिसमें है, उसमें प्रेम, की माँग नहीं हो सकती। योग की माँग जिसमें है, उसमें प्रेम की माँग नहीं हो सकती। ज्ञान की माँ जिसमें है, उसमें प्रेम की माँग नहीं हो सकती।

क्योंकि भाई, योग की माँग चिरशांति प्रदान करती है, ज्ञान की माँग अमर बनाती है। तो जिसे अमर होना है, जिसे चिर शांति में निवास करना है तो बताइये यह प्रेम कैसे हो सकता है।

क्या इसका अर्थ यह है कि प्रेमी भोगी होता हे? नहीं भाई भोगी

नहीं होता, होता तो परम योगी है, पर वह योग के रस में आसक्त नहीं होता। क्या प्रेमी अज्ञानी होता है? अज्ञानी नहीं होता, वह महान् तत्त्वज्ञ होता है परन्तु वह ज्ञान के रस में आबद्ध होता।

तो आप कहेंगे कि योग का रस, ज्ञान का रस और प्रेम का रस- इसमें अन्तर क्या है? भाई, योग का जो रस होता है वह शांत रस है। ज्ञान का जो रस है वह अखण्ड रस है और प्रेम का रस है, वह शांत भी है, अखण्ड भी है और अनन्त भी है। तो भाई, प्रेम का रस अनन्त रस है। प्रेम के रस में, योग के रस में, ज्ञान के रस में स्वरूप से भेद नहीं है, जाति का भेद नहीं है, लेकिन सीमा का भेद है।

प्रेम का जो रस है, वह असीम और अनन्त है, ज्ञान का रस असीम और अखण्ड है और योग का जो रस है, वह असीम और शांत है। शांत रस में दुःख की निवृत्ति है। शांत रस में राग और दुःख की निवृत्ति है लेकिन अगर कोई शांति के रस में सतुष्ट हो जाए तो शांति के रस में संतुष्ट प्राणी अमरत्व की बात नहीं जान पाएगा। जो अमरत्व के रस के संतुष्ट हो जाएगा, तो वह प्रेम में जो अगाध, अनन्त, नित नव रस है उससे वंचित हो जाएगा।

अन्तर क्या है? आप सोचिए, शांत रस में चित्त का निरोध है, चित्त की शुद्धि है और ज्ञान के रस में चित्त का बाध है, चित्त की असंगता है और प्रेम के रस में चित्त अपने पास नहीं रहता। योगी का मन शांत और शुद्ध हो जाता है, ज्ञानी अपने मन से असंग हो जाता है अथवा यों कहो कि ज्ञान से मन का नाश हो जाता है किंतु प्रेमी का मन प्रेमास्पद के पास रहता है। प्रेमी वही है, जिसका मन प्रेमास्पद के पास हो।

तो हमारा प्रेमास्पद कैसा है? सब प्रकार से पूर्ण है, अनन्त है, अपार है, अखण्ड है। तो जब हमारा मन उस अनन्त, अपार के पास चला जाएगा, तो प्रेमी का मन कैसा होगा? आप्तकाम होगा। इससे तात्पर्य क्या निकला? तात्पर्य यह निकला कि प्रेमी तो हो जाता है अचाह और प्रेमास्पद में उत्पन्न होती है चाह। यानि जो पूर्ण है, उसमें तो चाह उत्पन्न होती है, जो अपूर्ण है, वह चाह-रहित हो जाता है।

क्या इसका यह अर्थ है कि प्रेमास्पद में किसी प्रकार की कमी हो जाती है। कमी नहीं होती। यह प्रेम का स्वभाव ही है कि प्रेम प्रेमास्पद को प्रेमी के अधीन कर देता है। क्योंकि प्रेमी अपने पास मन नहीं रखता, प्रेमी

में अपनी करके कोई वस्तु नहीं होती। जहाँ अपनी कोई वस्तु नहीं है, वहाँ प्रेमास्पद कैसे विमुख हो सकता है। कैसे उससे अलग रह सकता है? कैसे उसके बिना रह सकता है। प्रेमास्पद प्रेमी के मन को लेकर अपने प्रेमियों का चिन्तन करता है, प्रेमियों के लिए व्याकुल होता है।

तभी तो श्यामसुन्दर उद्धव जी से कहते हैं कि भैया उद्धव, जब से ब्रज छोड़ा है, किसी ने माखन-रोटी नहीं दी, किसी ने दूध के झाग नहीं खिलाए, किसी ने कन्हैया, कन्हैया कहकर नहीं पुकारा, किसी ने गुंजा की माला नहीं पहनाई। यह किस का मन है? यह भैया यशोदा का मन है। तो मैया यशोदा के मन को ले करके कन्हैया ब्रजवासियों के विरह में व्याकुल है और कन्हैया को लेकर ब्रजवासी आप्तकाम है, आत्माराम हैं, नित्युक्त हैं। नित्युक्त होने पर भी, आप्तकाम होने पर भी कन्हैया की विस्मृति नहीं है।

तो भाई, यह तो प्रेम का साम्राज्य है। प्रेम के साम्राज्य में नित नव रस है, अगाध अनन्त रस है। यह रहस्य कब समझ में आता है? जब प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो, तो प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश कब होता है? जब साधक प्रेमास्पद के अस्तित्व को निस्संदेहतापूर्वक स्वीकार कर ले। यही प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होने का उपाय है। हमारे प्रेमास्पद हैं और हमारे अपने ही हैं।

अब आप सेचिए, प्रार्थना का जो सबसे पहला वाक्या है, उसमें यही है-मेरे नाथ। मेरे नाथ का अर्थ क्या है? कोई और मेरा नहीं है, मैं अनाथ नहीं हूँ। न तो मैं अनाथ हूँ और न कोई और मेरा है। भाई, यह तन भी मेरा नहीं है, यह मन भी मेरा नहीं है, यह प्राण भी मेरे नहंी हैं। यह सब कुछ तेरा है और तू केवल मेरा है। यही प्रेम की प्राप्ति का सुगम उपाय है।

जब कोई अपना है ही नहीं, तो आप विचार करें किसी व्यक्ति से सम्बन्ध रहेगा। लेकिन क्या वस्तु नहीं रहेगी। तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु रहेगी, उससे सम्बन्ध नहीं होगा। वस्तु रहे और उससे सम्बन्ध न रहे, तो क्या हो जाएगा? कि वस्तु के सम्बन्ध से जो लोभ, मोह, काम आदि जो विकार उत्पन्न हो गया था, वह विकार नाश हो जाएगा।

कहने का तात्पर्य मेरा यह था कि भाई, अब हमारा सम्बन्ध अपने प्रेमास्पद से हो गया, किसी और से नहीं रहा।

बुराई रहीत जीवन

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

जो ज्ञान मौजूदा है, उसी के द्वारा हम अपने सम्बन्ध में विचार करें तो हमें अपनी भूल का ज्ञान होगा। जिस ज्ञान से भूल का ज्ञान होता है, वही वास्तव में ज्ञान है। तो भूल के ज्ञान से भूल करने की व्यथा होगी, वेदना होगी, पीड़ा होगी। और जब मानव अपनी भूल से आप पीड़ित होता है, तब भूल को न दोहराने का बल प्रभु कृपा से कहा, गुरु कृपा से कहो, संत कृपा से कहो अपने आप मिल जाता है।

भूल कब तक जीवन में रहती है? जब तक भूल से पीड़ित नहीं होते, दुःखी नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ, हमें अपनी भूल को जानना भी है और उससे पीड़ित होना है। किस सीमा तक? उस सीमा तक कि उसके न दोहराने की बात आ जाए। क्योंकि जब हम अपनी भूल को जान लें और उसको न दोहराएँ अर्थात् जानी हुई बुराई को न करें और की हुई को न दुहरायें। तो जब की हुई बुराई को दोहराते नहीं हैं और जानी हुई बुराई को करते नहीं हैं, तक हम बुरे नहीं रहते।

ऐसा नियम है कि बुराई का जो नाश होता है वह भलाई से नहीं होता, अपितु बुराई को न करने से होता है। तो जब हमने यह तय कर लिया कि भाई, अब हम जानी हुई बुराई को नहीं करेंगे, की हुई बुराई को नहीं दोहराएँगे, तो इतने की मात्र से हमारा संसार हम से प्रसन्न हो जाता है या ऐसा कह दो, नाराज नहीं रहता। बुराई-रहित मानव की माँग संसार को है।

उसके बाद क्या होता है ? कि जब हम बुराई-रहित हो जाते हैं। अर्थात् बुराई को नहीं करते हैं, तब अपने आप भलाई होने लगती है। जो बुराई नहीं करता, वह बुरा नहीं रहता। जो बुरा नहीं रहता, वह भला | हो जाता है। और जब वह भला हो जाता है, तो भले होने से भलाई होती है ।

अब यह बात बहुत ही गंभीरता से विचार करने की है। कुछ लोग यह सोचते हैं कि जब हम भलाई करेंगे, तब हम भले होंगे। मानव सेवा संघ ऐसा नहीं मानता। मानव सेवा संघ ऐसा कहता है कि भाई, देखो, जब तुम भले हो जाओगे, तभी भलाई कर पाओगे। कर्त्ता से कर्म निकलता है, कर्म से कर्त्ता नहीं निकलता। यदि कर्म

से कर्त्ता निकलता होता, तो कर्म तो मशीन से भी होता है। तब तो ऐसी मशीन बन जाती; तब तो ऐसी फैक्ट्री बन जाती, जिसमें भले आदमी बन जाया करते। भले बनाने की तो कोई फैक्ट्री नहीं बनी आज तक संसार में। क्यों नहीं बनी? क्योंकि भाई, कर्म पीछे होता है, कर्त्ता पहले होता है। यदि हम भले हो जाएंगे, तो हमारे जीवन में भलाई होने लगेगी। इसलिए भले कब होंगे? जब बुराई-रहित हो जाएंगे।

जानी हुई बुराई न करें, की हुई बुराई न दोहराएँ। बुराई न करने से भले होने है, भलाई करने से भले नहीं होते हैं। अच्छा, बुराई न करना यह अपने को भला बनाना है। जब आप भले हो जाते हैं, तो भलाई होने लगती है। उससे संसार के अधिकार पूरे हो जाते हैं। भलाई से सारा संसार प्रसन्न हो जाता है, सारा संसार हर्षित हो जाता है। तो पहली बात हुई-बुराई न करना, दूसरी बात हुई भले होकर भलाई करना। अब उस की हुई भलाई के बदले में अगर हम कुछ न चाहें, यह तीसरी बात हुई-कुछ न चाहना। तो क्या होता है? जो कुछ नहीं चाहता है उसका संसार बड़ा आदर करता है, उसे बहुत पसन्द करता है। चाहने वाले को कोई पसन्द नहीं करता, न चाहने वाले को सब पसन्द करते हैं।

तो भलाई से, कुछ न चाहने से हमको शांति मिलती है। भलाई से हम संसार के ऋण से मुक्त होते हैं। उसके बाद एक चौथी आती है प्यार देना। प्यार देने से तो संसार की तो कौन कहे, भगवान को भी प्रसन्नता होती है। तो चार बातें जीवन में हुईं-पहली बात बुराई रहित होना, दूसरी बात भलाई करना, तीसरी बात बदले में कुछ न चाहना और चौथी बात प्यार देना। इन चार बातों से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है, सार्थक हो जाता है। और फिर उसे न कुछ करना रहता है न कुछ पाना रहता है। क्यों नहीं रहता करना भाई, कि बुराई-रहित होने से जितने तप हैं, वे सब जा जाते हैं।

तप का मतलब क्या है? जिसके जीवन में बुराई की उत्पत्ति नहीं होती, वह तपस्वी हो गया और बुराई-रहित होने से जितनी अच्छाई हैं, वे सब अपने आप आ जाती हैं। क्योंकि अच्छाई जो है न, वह दैवी है, वह मनुष्यकृत नहीं है। बुराई मनुष्य की भूल से होती है और अच्छाई स्वभाव से होती है। इसको कहना चाहिए कि ईश्वरीय विधान से प्राकृतिक विधान से,

दैवी विधान से जिस प्रकार की भाषा आपको अच्छी लगती हो, उसी प्रकार से अर्थ कर लेना चाहिए। क्योंकि जो अच्छाई होती है, वह तो अपने आप होती है, उसे किसी से सीखनी नहीं पड़ती, सिखानी नहीं पड़ती-कि अगर कोई झूठ नहीं बोलता, तो सच ही बोलेगा, कटु बोलेगा, तो मुधुर ही बोलेगा। तो सच बोलना, मधुर बोलना तो स्वाभाविक हुआ और झूठ बोलना, कटु बोलना यह एक भूल हुई। जैसे हमने की हुई भूल को निकाल दिया तो अच्छाई जिसे कहते हैं न, जिसकी संसार को जरूरत है, वह जीवन में अपने आप आ जाती है। तो समस्त साधनों की भूमि क्या हुई? बुराई-रहित होना। कौन-सी बुराई से रहित हो जाएँ।

कोई कहे कि हम तो जानते ही नहीं, कि बुराई किसे कहते हैं। उसके सम्बन्ध में यह मान लेना चाहिए कि या तो उसकी मानव संज्ञा नहीं है या उसमें बुराई नहीं है। तो दो बातें माननी पड़ती हैं या तो उसकी मानव संज्ञा है, प्राणी है खाली। अगर मानव संज्ञा उसकी है, बुराई को जानता है और बुराई यदि नहीं है जीवन में, तो बहुत ऊँची बात हो गई, बहुत सुन्दर बात हो गई।

तो बुराई-रहित होना यह सबके लिए बहुत जरूरी है, बहुत जरूरी है। उसके बाद अगर आपको पसन्द आ जाए तो पर-पीड़ा से पीड़ित होना क्योंकि पर-पीड़ा से पीड़ित हुए बिना भलाई बनती नहीं। सच्चाई से भलाई नहीं बनती, स्वभाव से भलाई नहीं बनती, हृदय से भलाई नहीं बनती। जो कोई व्यक्ति पर-पीड़ा से पीड़ित हो जाता है न, जिसे दूसरे का दुःख अपना दुःख लगने लगता है न वह उसके लिए जो कर सकता है, वह आप करता ही है। किसी का बच्चा बीमार हो जाता है तो माँ-बाप जो कर सकते हैं, करते ही हैं। भाई बीमार हो जाता है तो, जो भाई कर सकता है, वह करता ही है। ऐसे ही जिसका हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, उसमें भलाई अपने आप आ जाती है। और आ क्या जाती है, होने ही लगती है।

तो पहली बात हुई बुराई-रहित होना, दूसरी बात हुई पर-पीड़ा से पीड़ित होना, उसका फल क्या होगा? कि पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर भलाई होने लगती है। चौथी बात हुई, कुछ न चाहना। कुछ मत चाहो, तो पाँचवी बात होती है-प्रभु को प्रेम दो, सभी को प्रेम दो। प्रेम देना, कुछ न चाहना, पर-पीड़ा से पीड़ित होना,

बुराई-रहित होना। पर-पीड़ा से पीड़ित होना कहो, भलाई करना कहो, एक ही बात है। जो पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, वह भलाई करता है। और कुछ न चाहना कहो या प्रेमी होना कहो। इन चार बातों से हर भाई का जीवन, हर बहन का जीवन इतना सुन्दर हो जाता है कि वह संसार के लिए उपयोगी होता है। क्योंकि बुराई-रहित होने से, पर-पीड़ा से पीड़ित होने से भलाई होती है। ये तीनों बातें एक साथ चलती है जो बुराई-रहित है, वही पर-पीड़ा से पीड़ित होगा जो पर-पीड़ा से पीड़ित होगा, उससे ही भलाई होगी। तो वह संसार के काम आएगा। वह संसार के काम आ गया और बदले में जो कुछ नहीं चाहेगा, तो वह अपने काम आ जाएगा। और प्रेमी हो जाएगा, तो प्रभु के काम आएगा।

तात्पर्य यह निकला कि अगर मनुष्य अपने ज्ञान का आदर करे तो अपने ज्ञान का आदर करना-यही तो सत्संग है। और सत्संग है क्या? क्या खाली चर्चा करना सत्संग है? सत्संग तो यह नहीं हुआ। यह सत्य है कि किसी को भी अपने साथ बुराई पसन्द नहीं है। कोई कभी यह नहीं सोचता कि हमारा साथी बुरा हो। संसार को बुराई नहीं चाहिए, यह सत्य है। यदि यह सत्य है, तो अब आपको अपने जीवन में जानी हुई बुराई नहीं रखना है। तो हम हो गए सत्संगी। जो सत्य को स्वीकार करे, सो न सत्संगी होता है। या खाली सत्य का कथन करे, चिन्तन करे, वह सत्संगी होता है ?

और भाई, सत्वर्चा, सच्चिन्तन यह केवल सत्संग के लिए सहयोगी साधन तो हो सकता है कि भाई, सत्वर्चा करेंगे फिर सत् चिन्तन करेंगे, तब सत्य का संग करेंगे। तो सत्य क्या है,, इसका ज्ञान तो आपमें है। और यदि यह ज्ञान न होता, तो आपको सत्संग करने की जरूरत ही न होती कि आप सत्संग कीजिए।

सत्य का आपको ज्ञान है। आप जानते हैं कि हमें बुरा साथी नहीं चाहिए। सब जानते हैं कि किसी को बुरा साथी नहीं चाहिए, किसी को आलसी साथी नहीं चाहिए, किसी को अयोग्य साथी नहीं चाहि, किसी को अनुदार साथी नहीं चाहिए, बेईमान साथी नहीं चाहिए। बताइयें, किसको बेईमान साथी चाहिए। आपमें से चाहिए किसी को? जी, किसी को नहीं चाहिए। तो आप तो इस बात को जानते ही हैं कि किसी को बेईमान की जरूरत नहीं है। और जो उदार नहीं है, उसकी जरूरत नहीं है।

सारे संसार की मांग है कि हमारे लिए लोग ईमानदार हों, हमारे लिए उदार हों योग्य हों, परिश्रमी हों। सब जानते हैं। तो जब हम जानते हैं इस बात को, कि भाई किसी को भी बेईमान साथी नहीं चाहिए, आलसी नहीं चाहिए, सबको परिश्रमी चाहिए, सब को योग्य चाहिए, सबको ईमानदार चाहिए। तो जैसा साथी हमको चाहिए वैसा ही सारे संसार को चाहिए। तो इस बात में हम स्वाधीन नहीं हैं, कि जैसा साथी हमें चाहिए, वैसा हमारा साथी हो जाए। और बात में यह पराधीन भी नहीं हैं, कि हम स्वयं उदार हो जाएँ, हम ईमानदर हो जाँए, हम सब जहाँ तक हो सके योग्य हो जाएँ।

योग्य माने जो संसार के किसी काम आ सके। परिश्रमी माने- काम आने में जरा भी हिचक न करे, काम आने में संकोच न करे। उसे कहते हैं परिश्रमी और उदार माने- जिसको भलाई के बदले कुछ नहीं चाहिए, वही उदार है। तो हम सब उदार हो सकते हैं, हम सब परिश्रमी हो सकते हैं, जब सब किसी न किसी काम में आ ही सकते हैं, ईमानदर हो सकते हैं। तो यह बात हम और आप जानते हैं।

तो मानव सेवा संघ हमेशा कहता है, कि भाई, देखो, तुम अपने ज्ञान रूपी गुरु का आदर करो। ज्ञान गुरु का ही तो स्वरूप है, प्रेम प्रभु का स्वरूप है। ऐसे ही योग, ज्ञान, प्रेम यही तो संत में होता है। और संत में क्या होता है? संत में योग होता है। योग भी होता है, ज्ञान भी होता है। परमात्मा में भी ये ही बातें होती हैं। योग भी होता है, ज्ञान भी होता है, प्रेम भी होता है। तो इसलिए ही तो यह बताया गया कि संत का और परमात्मा का जातीय सम्बन्ध होता है। दोनों एक ही जाति के होते हैं। अन्तर क्या होता है? कि संत के द्वारा हमें इस बात में विश्वास होता है, कि परमात्मा में ज्ञान है, परमात्मा में प्रेम है, परमात्मा से सामर्थ्य है। अन्तर क्या होता है कि संत को जो सामर्थ्य प्राप्त होती है वह योग से ही होती है। तो योग रूपी विभूति हैं और ये तीनों ही गुरु का स्वरूप है। तो वह योग-रूप भी है, ज्ञान-रूप भी है, प्रेम-रूप भी है।

इस दृष्टि से अपने यहाँ की संस्कृति में, अपने यहाँ की सभ्यता में गुरु की बहुत महिमा गाई जाती है, क्योंकि ज्ञान उसमें है, योग उसमें है और प्रेम उसमें है। या यह कहिए कि

ज्ञान, योग, प्रेम को उसने प्राप्त किया है।

तो आज हमें और आपको भी हो ये तीनों चीजें मिल सकती हैं, कि जब हम बुराई-रहित हो जाते हैं, दूसरों के दुःख से पीड़ित होते हैं तो जीवन में उदारता आ जाती है, सेवा आ जाती है। और जब कुछ नहीं चाहते, तो त्याग आ जाता है। और परमात्मा के नाते सभी को अपना मानते हैं, तो प्रेम आ जाता है। तो जब जीवन में सेवा आ गई, त्याग आ गया, प्रेम आ गया तो मानव सेवा से जगत् के लिए, त्याग से अपने लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी हो जाता है।

दुनिया में आज तक जितने संत हुए, महात्मा हुए, बड़े आदमी हुए, वीर हुए, पैगम्बर हुए उन सबके जीवन में आप तीनों ही बातें देखेंगे। आपको सेवा दिखाई देगी, आपको त्याग दिखाई देगा, आपको प्रेम दिखाई देगा। तो ऐसे अनेक उदाहरण हो जाता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि भाई एक बार सुन लिया, दो बार सुन लिया, अनेक बार सुन लिया। रोज पाठ कर लिया, समझ लिया, सोच लिया कि भाई बिना सेवा के, बिना त्याग के, बिना प्रेम के जीवन जो है वह निरर्थक है, सार्थक नहीं है, अनुपयोगी है उपयोगी नहीं होता, कारामद नहीं होता। क्यों? जीवन में संसार को सेवा चाहिए। अपनी जो माँग है, वह बेचारा संसार तो पूरी नहीं कर सकता। संसार किसी को मुक्ति दे सकता है क्या? शांति दे सकता है क्या, किसी का दुःख हर सकता है क्या? संसार तो यह कर नहीं सकता। संसार तो केवल आपके सहयोग के लिए वस्तु दे सकता है, आदर दे सकता है। संसार किसी को शांति नहीं दे सकता, मुक्ति नहीं दे सकता।

शांति तो जब कभी मिलेगी आपको, तो त्याग से मिलेगी। भक्ति से जब मिलेगी आपको, तो प्रेम से ही मिलेगी। बिना प्रेम के तो भक्ति मिलती नहीं है। ऐसे ही संसार के राग से आप कब मुक्त होंगे? सेवा से होंगे। सेवा करना, कुछ न चाहना और प्रेमी होना मनुष्य के लिए जरूरी हो गया।

अब आप स्वयं सोचिए कि प्रेम जीवन में कब आता है? जब हम किसी को अपना मानते हैं। अगर हम आज भगवान को अपना मान लें, परमात्मा को अपना मान लें, तो अपना मानने से ही प्रेम की जागृति होती है। और अपना मानना हम सबको आता है।

यह नहीं है कि भूखे रहने से, कि नंगे रहने से, कि रुपया खर्च करने से, कि शारीरिक परिश्रम से या सम्पत्ति से प्रेम प्राप्त होता है, किसी भी प्रकार से प्रे प्राप्त नहीं होता। यदि प्रेम प्राप्त होता है, तो अपना मानने से ही होता है।

यह शांति प्राप्त होती है तो कुछ न चाहने से ही होती है। जिसे कुछ नहीं चाहिए उसी को शांति मिली है और किसी को शांति मिली नहीं है। और जिसने अपना करके कुछ नहीं रखा है, उसी में निर्विकारता आई है। और जो किसी के काम आया है, उसी में 'उदारता आई है। अब ये तीनों बातें आपके सामने मौजूद हैं।

आप प्रभु को या प्रभु के नाते सबको अपना मान सकते हैं। यह सत्य है कि प्रभु अपने हैं, तो उनके नाते सभी अपने हैं। यदि प्रभु प्यारे लगेंगे, तो सभी प्यारे लगेंगे। अन्तर क्या होगा कि जो प्रभु के नाते अपने हैं, उनको केवल प्यार नहीं चाहिए, सेवा भी चाहिए। संसार केवल प्रेम से प्रसन्न नहीं होता उसको सेवा भी चाहिए। आप किसी से कहें कि हम आपको बहुत प्यार करते हैं। उसको लगी हो प्यास। प्यार तो करते हो, पर हमको एक गिलास पानी पिला दो। यदि वह कहे कि पानी किसी और से ले लो। तो ऐसे प्यार का हम अचार डालेंगे।

संसार को खाली प्रेम नहीं चाहिए। संसार को सेवा भी चाहिए। लेकिन भगवान को केवल प्यार चाहिए। क्यों? भगवानन पूर्ण है। जो पूर्ण होता है, उसको कोई वस्तु नहीं चाहिए। उसको कोई ऐसा काम नहीं चाहिए, जो बल के द्वारा कर सको। उसे केवल प्रेम चाहिए। और जो अपूर्ण होता है, उसे सेवा और प्रेम दोनों चाहिएँ।

और जो अपने को न संसार से कुछ चाहिए न भगवान से कुछ चाहिए। तो दुनिया में सबसे बड़ा आदमी वही हो सकता है, जिसमें ये तीनों बातें हों। कौन-कौन बात हों? संसार के लिए तो वह सेवक हो और प्रभु के लिए प्रेमी हो और स्वयं अपने लिए न संसार से कुछ चाहे न भगवान से कुछ चाहे। क्यों? क्योंकि सेवा करने में जो जीवन है, वह कुछ माँगने से थोड़े ही जीवन है। कुछ माँगने से कोई जीवन नहीं है। ऐसे ही प्रेम देने में जो जीवन है, वह माँगने में थोड़े ही जीवन है।

तो सच्चा सत्संगी जो होता है, जो सत्य को स्वीकार करता है, जो सत्या का प्रेमी होता है, वह न तो संसार

से कुछ चाहता है, न भगवान से कुछ चाहता है। संसार से क्यों नहीं चाहता? संसार से इसलिए नहीं चाहता कि सारा संसार मिलकर एक व्यक्ति को शांति नहीं दे सकता। और शांति है अपनी जरूरत, तो जो बात बेचारा संसार दे ही नहीं सकता, उस संसार से क्या माँगना। अच्छा, वह परमात्मा से कुछ क्यों नहीं माँगता। परमात्मा दे तो सब कुछ सकता है, लेकिन परमात्मा प्रेम में जो रस है, वह रस किसी वस्त के भोग में थोड़े ही है। अगर परमात्मा के प्रेम का रस घटिया होता और भोग का रस बढ़िया होता तब तो यह कहा जा सकता था कि भगवान यह दे दो, यह दे दो भोग-सामग्री दे दो, भोगने की शाक्ति दे दो यदि भोग का रस प्रेम के रस से बढ़िया होता। भोग का रस तो प्रेम के रस से बढ़िया है नहीं।

इसलिए परमात्मा से यदि कुछ भी माँगेंगे, तो आपका सम्बन्ध परमात्मा से तो रहेगा नहीं, जो हम माँगेंगे, उससे हो जाएगा। इसलिए हमें परमात्मा से कुछ नहीं चाहिए कि परमात्मा से हमारा सम्बन्ध न टूटे। और संसार हमारी जरूरत को पूरा कर ही नहीं सकता। संसार जो कुछ कर सकता है उसकी पहुँच संसार के आगे तो होती नहीं। अन्न होगा, तो शरीर के लिए, वस्त्र होगा तो शरीर के लिए, औषधि होगी तो शरीर के लिए, रहन-सहन के आने-जाने के जितने साधन हैं, वे सब शरीर तक पहुँचते हैं। शरीर से आगे तो संसार की कोई वस्तु पहुँचती नहीं।

क्या यह बात आपको समझ में आती है कि नहीं? संसार जो कुछ दे सकता है, वह शरीर से आगे पहुँचता है क्या? नहीं पहुँचता। अच्छा अब शरीर से हमारा नित्य सम्बन्ध है क्या? संसार का और हमारा कोई जातीय सम्बन्ध है क्या? हम शरीर के बिना और शरीर हमारे बिना नहीं रह सकता क्या? सबको मानना पड़ता है कि शरीर हमारे बिना नहीं रह सकता है और हम उसके बिना रह सकते हैं। शरीर सदैव रहेगा नहीं। इसलिए शरीर से हमारी माँग पूरी हो नहीं सकती।

यह हो सकता है कि शरीर के द्वारा संसार के काम आ सकते हैं, किसी सीमा तक। और संसार भी शरीर के लिए आवश्यक वस्तु दे सकता है-किसी सीमा तक। आज तक ऐसी तो कोई खुराक बनी नहीं, कि जिससे आदमी बूढ़ा न होता या मरता नहीं या शरीर नाश न होता, शरीर की शक्ति न घटती।

ऐसी खुराक आज तक बनी है क्या? कोई खुराक ऐसी नहीं बनी। चाहे कितनी ही अच्छी खुराक आप खाइये, खाते हुए भी जितनी शक्ति क्षीण हो जाती है शरीर की रोजाना, उतनी रोजाना की खुराक से पूरी नहीं होती। यदि उतनी शक्ति रोजाना खुराक से पूरी होती, तो जीवन में बुढ़ापा कभी आता ही नहीं, मृत्यु तो कभी आती नहीं, शरीर कभी बदलता नहीं, शरीर कभी नाश होता ही नहीं। बल बढ़ता ही रहता बल घटता ही नहीं। लेकिन आपका सब का अनुभव है कि बचपन से जवानी तक बल बढ़ता रहता है और जवानी के बाद घटता रहता है। बढ़ता रहता है क्या? बल खर्च ही होता रहता है। यदि बल बढ़ गया, तो एक-सा बना रहे। बना तो नहीं रहता न?

तो शरीर सदैव नहीं रहेगा, ऐसा हम सब जानते भी हैं, अनुभव भी करते हैं। इसलिए भाई, शरीर के द्वारा या तो संसार की सेवा करो या सेवा नहीं कर सकते हो तो संयम करो। दो ही चीज शरीर से हो सकती है। शरीर के द्वारा आप संयम कर सकते हैं, शरीर के द्वारा आप सेवा कर सकते हैं, सदाचारी रह सकते हैं। लेकिन असंयम मत करो, किसी को हानि मत पहुँचाओ और दुराचारी मत बनो। सदाचारी, बनो, संयमी बनो, सेवक बनो। यही शरीर का धर्म है।

इसी को यदि आपने प्रभु के नाते कर दिया तो उसका नाम हो जाएगा भजन। प्रभु के नाते किया हुआ काम भजन हो जाता है और अपने सुख के लिए किया हुआ काम बन्धन हो जाता है।

बन्धन कहाँ है? यदि जो कुछ करते हैं, उसके बदले में कुछ चाहते हैं, तो बन्धन में पड़ जाते हैं। किसी से कुछ न चाहें, तो बन्धन में नहीं रहते हैं। सेवा करने से संसार का बंधन टूटता है। बदले में कुछ न चाहने से मुक्ति मिलती है, प्रभु को अपना मानने से भक्ति मिलती है।

इस दृष्टि से हर आदमी शांति पा सकता है, मुक्ति पा सकता है, भक्ति पा सकता है। चाहे उसे जैसा चाहिए, वैसा खाना न मिले, जैसा कपड़ा चाहिए, वैसा कपड़ा न मिले और मिलकर भी छिन जाए, यह हो सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि अगर आप पसन्द करें तो आपको शांति न मिले, आपको मुक्ति न मिले, आपको भक्ति न मिले। शांति, मुक्ति, भक्ति में तो मनुष्य का जन्मजात अधिकार है। जरूरत अनुभव करो।

यह जरूरत करो कि मुझको शांति चाहिए। तो भाई, आप जरूरत अनुभव करोगे, तो आप ही आप वह बल आ जाएगा, जिसे शांति चाहिए।

शांति चाहिए, तो निष्काम होने से शांति मिलती है। निष्काम कब होते हैं? निर्मम होने से होते हैं। और निर्मम कब होते हैं कि जब हम यह जानते ही हैं, निज ज्ञान के द्वारा यह जानते ही हैं कि किसी भी वस्तु पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है।

जिस वाणी से मैं बोल रहा हूँ, जब तक चाहूँ नहीं बोल सकता। जो शरीर मुझे मिला है, उससे जब तक चाहूँ काम नहीं कर सकता, जैसा चाहूँ नहीं रख सकता। तो मिले हुए शरीर पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। इस ज्ञान से ही ममता का नाश होगा।

आँख बंद करने से, नाक बंद करने से, भूखे रहने से, नंगे रहने से ममता का नाश नहीं होगा। ममता का नाश जब भी होगा तो जो आपमें ज्ञान है, उस ज्ञान का आदर करने से होगा। ज्ञान के द्वारा ही ममता का नाश होता है। जब ममता का नाश हो जाता है तो कामना का नाश हो जाता है। क्योंकि जिसका कुछ नहीं है, सचमुच उसको कुछ नहीं चाहिए। ममता से ही कामना का जन्म होता है। जब यह मान लेते हैं कि हमारा कुछ है तब कहते हैं कि उसके लिए कुछ चाहिए। तो जब मेरा कुछ नहीं है, यह बात आ जाती है तो यह बात आ जाती है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए।

जिसका कुछ नहीं है, उसे कभी भय होता है क्या? उसको कभी अशांति होती है क्या? वह पराधीन रहता है क्या? आप विचार तो करो, जिसके पास कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए। दोनों बातों को सामने रख लो। जिसके पास कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, न तो उसमें बंधन रहता है, न उसमें विकार पैदा होता है, न उसमें अशांति होती है। तो निर्विकारता और शांति इन दो बातों से ही आई है न-मेरा कुछ नहीं है, इससे और मुझे कुछ नहीं चाहिए इससे।

तो ज्ञान से जो बात सिद्ध है, यह बात किसी के कहने से नहीं मान ली गई। आप अपने ज्ञान से देख लीजिए कि सचमुच मेरा कुछ है नहीं। मेरा कुछ होता तो जब तक मैं चाहता तब तक उसको रखता न। मेरा कुछ नहीं है और मेरा कुछ है ही नहीं तो मुझे चाहिए क्या? मुझे कुछ नहीं चाहिए। इन दो बातों से कि "मुझे कुछ नहीं चाहिए" निर्विकारता और शांति मिलती है।

अब आप देखिए, शांति रुपये से नहीं मिली, शांति योग्यता से नहीं मिल, शांति किसी बल से नहीं मिली। क्यों? अगर मान लीजिए, शांति बल से मिलती होती, योग्यता से मिलती होती तो दो व्यक्तियों के पास समान बल है क्या?

क्या विचार है आपका? एक से दो बलवान देखें हैं कभी? नहीं देखे। तो शांति तो सबको चाहिए।

भगवान का ऐसा मंगलमय विधान है, कि शांति के लिए, निर्विकारता के लिए हम सब समान रूप से अधिकारी हैं। कब? ज्ञान का आदर करें तब, सत्संग करें तब। यह सत्य हैं न कि मेरा कुछ नहीं है। जब इस सत्य को मान लें कि मेरा कुछ नहीं है, तो सारे विचार नाश हो जाते हैं।

शरीर को अपना मानने से ही तो मोह की उत्पत्ति हुई है, वस्तु को अपना मानने से ही लोभ की उत्पत्ति होती है। तो ऐसे ही जब मेरा कुछ नहीं है, इसका ठीक अनुभव कर लेने से मुनष्य का निर्विकारता मिलती है। और जब मेरा कुछ है ही नहीं, तो कुछ चाहिए ही न ही। तो कुछ न चाहने से शांति मिलती है। और अगर उसके आगे चलें और यह मान लें कि भगवान अपने हैं, तो भक्ति मिलती है।

तो शांति पाने में, मुक्ति पाने में और भक्ति पाने में, निर्विकार होने में, विकारों से रहित होने में हम सब स्वाधीन हैं। पर बड़े ही दुःख के साथ कहना पड़ता है कि जिसकी प्राप्ति में हम स्वाधीन हैं, समर्थ हैं, उसी को पसन्द नहीं करते है। यह बात नहीं है कि आपको मुक्ति इसलिए नहीं मिलती कि साहब आपके पास धन नहीं है, कि बल नहीं है, कि योग्यता नहीं है, सो बात नहीं है। आप पसन्द नहीं करते हैं इसलिए शांति नहीं मिलती, इसलिए मुक्ति नहीं मिलती, इसलिए भक्ति नहीं मिलती।

अगर आप पसन्द करें, कि हमको तो शांति चाहिए, हमको तो मुक्ति चाहिए, हमको तो भक्ति चाहिए। अरे भाई, जिसको शांति चाहिए उसको तो अपने ज्ञान का आदर करना ही पड़ेगा, भूल-रहित होना ही पड़ेगा। यही तो हमसे भूल हुई कि जो वस्तु हमारी नहीं है, उसको हमने अपना मान लिया। और जो अपना था, उसको अपना माना नहीं। दोनों तरह से भूल हुई कि शरीर और संसार जो दिखाई देता है, वह तो अपना था नहीं, उसको तो अपना मान लिया। और भक्तों ने, संतों ने जिस भगवान के लिए कहा कि हमारा

सबका अपना है, उसे अपना नहीं माना।

तो भगवान को अपना न मानने से तो हम भक्ति से दूर हो गए और संसार को अपना मानने से हम बंधन में पड़ गए। अब जब बंधन में पड़ गए, भक्ति से दूर हो गए तो जीवन में अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति हो गई, अनेक प्रकार के अभावों की उत्पत्ति हो गई। उस अभाव को, उन दोषों को मिटाने के लिए यह बात सामने आई कि भाई, अब तो सत्संग करो यानि जो सत्य है, उसको स्वीकार करो। तो सत्य क्या है? कि पर्सनल कुछ नहीं है, जो कुछ है यूनिवर्सल है, पर्सनल नहीं है। इसको जीवन में ढालोगे कैसे? कि मेरा कुछ नहीं है। जिस वाणी से बोलता हूँ वह मेरी नहीं है, जिन कानों से सुनता हूँ, वे मेरे नहीं हैं। अच्छा जो चीज अपनी नहीं है, उसका नाजायज इस्तेमाल मत करो, जो चीज अपनी है उसके सही इस्तेमाल का फल मत चाहो। क्योंकि अपनी कोई चीज है नहीं तो फल किस बात का चाहते हो भाई। चाहो भी मत नाजायज इस्तेमाल भी मत करो। एक का नाम कर्त्तव्य विज्ञान है, एक का नाम अध्यात्म विज्ञान है। अध्यात्म विज्ञानी कौन है? जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह अध्यात्म-विज्ञानी है और जिसको सही काम करना आता है, वह कर्त्तव्य विज्ञानी है। तो मिले हुए बल के द्वारा सही काम करो और बदले में कुछ मत चाहो। तो सही काम करने से सारा संसार आपसे प्रसन्न हो जाएगा और कुछ न चाहने से आपकी कीमत संसार से अधिक हो जाएगी।

जीवन के सत्या को कोज

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

अचाह हो जाएँ, स्वाधीन हो जाएँ-अपने लिए। और आप यह हो सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। उदार होने में कोई कठिनाई नहीं, स्वाधीन होने में कोई कठिनाई नहीं। प्रेमी होने में कोई कठिनाई नहीं। उदार होने का अर्थ क्या है? किसी न किसी नाते सभी को अपना मान लें। अपना मान लेंगे तो क्या होगा? सुखियों को देखकर चित्त प्रसन्न हो जाए, दुखियों को देखकर हृदय करुणित हो जाए। इसमें कोई धन तो व्यय होगा नहीं। कोई धन खर्च नहीं होगा। बहुत लाभ होगा समाज को भी और अपने को भी।

जब सुखियों को देखकर प्रसन्न होंगे, तो सुखी जन आपकी आवश्यकता अनुभव करेंगे तथा आपमें प्रसन्नता आ जाने से निष्कामता पुष्ट हो जाएगी। दुखियों को देख कर करुणित होंगे, तो सुख-भोग की रूचि मिट जाएगी। भोग की रूचि का नाश हो जाएगा और आपको योग की प्राप्ति हो जाएगी। उदारता से लोक का भी हित हुआ और परलोक भी बन गया। यानि अध्यात्म-जीवन में भी प्रवेश हो गया और लौकिक हित हो गया। और आपका कुछ खर्च नहीं हुआ इसमें और न कुछ कठिनाई उठानी पड़ी।

लेकिन भाई, सभी को मानना पड़ेगा। केवल दो बातें होती हैं, करुणित होने के लिए और प्रसन्न होने के लिए; उदार होने के लिए। उदार का अर्थ-करुणित होना, प्रसन्न होना। दुखियों को देखकर करुणित होना, सुखियों को देखकर प्रसन्न होना-उदारता है। और करुणित होने से भी भोग की रूचि नाश हो जाती है। दुखित होने से काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होने से भी राम की प्राप्ति हो जाती है। प्रसन्न होने से काम का नाश हो जाता है। उदार होने से भी योग की प्राप्ति होती है।

ऐसे ही स्वाधीन भी होना है। स्वाधीन होने से बहुत लाभ होता है, बहुत बड़ा लाभ होता है। और स्वाधीन होने में आप पराधीन नहीं है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए-स्वाधीन हो गए। मेरा कहने से मेरा हो तो जाता नहीं, चाह होने से चाह पूरी तो हो नहीं जाती। और अचाह होने से कोई चाह पूरी न हो, ऐसा भी नहीं होता। और अचाह होने से भी कुछ चाह तो पूरी हो ही जाती हैं। कुछ बिना पूरी हुए नाश हो जाती हैं, कुछ पूरी होने पर नाश हो जाती हैं। अचाह होने का अर्थ यही है-कुछ कामनाएँ-आवश्यक कामनाएँ पूरी होकर नाश हो जाएँ, अनावश्यक कामनाएँ उत्पन्न ही न हों तो जब अनावश्यक कामनाएँ उत्पन्न नहीं होंगी तो कामना-निवृत्ति से आपको शांति मिल जाएगी। और आवश्यक कामनाएँ पूरी हो जाएँगी, तो आपको सुख मिल जाएगा। सुख और शांति दोनों मिल गए। कैसे? अचाह होने से।

और निर्मम होने से निर्विकारता मिल गई। 'मेरा कुछ नहीं है-इसमें मोह का नाश हो गया, लोभ का नाश हो गया, दीनता का नाश हो गया, परिच्छिन्नता का नाश हो गया। यह सब आध्यात्मिक जीवन है। 'मेरा कुछ नहीं चाहिए' इससे बहुत लाभ

होता है, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए' इससे बहुत लाभ होता है। और 'मैं प्रभु का हूँ' इससे बड़ा लाभ होता है। मनुष्य अभय हो जाता है। भय का नाश हो जाता है। और 'सब कुछ प्रभु का है' इससे बहुत बड़ा लाभ होता है।

यह जीवन का सत्य है। सत्संग सुन रहे थे न आप? जो सत्संग करेगा, वही जीवन के सत्य को स्वीकार करे। 'मेरा कुछ नहीं है'-इस सत्य को स्वीकार करें, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए'-इस सत्य हो स्वीकार करे। प्रभु अपने हैं इस को स्वीकार करें। सब कुछ प्रभु का है स्वीकार करें। मान लें ऐसा है और उसको पसन्द कर लें, निस्संदेह हो जाएँ-यह सत्संग हो गया। तो सत्संग कोई ऐसी चीज नहीं है, कि जिसको आप कर नहीं सकते या जो आपसे नहीं हो सकता। सत्संग हो सकता है।

सत्संग का फल ही होता है-मानव का निर्माण। साधन के निर्माण का अर्थ होता है कि साधना और जीवन एक हो जाता है। जैसे यदि आपने मान लिया के मेरा कुछ नहीं है तो निर्विकारता रूपी साधना प्राप्त हो जाएगी। मुझे कुछ नहीं चाहिए तो शांति रूपी साधना प्राप्त हो जाएगी। और अब आप अपने में संतुष्ट हो जाएँगे तो अपने में संतुष्ट होने से जीवन-मुक्ति मिल जाएगी और परमात्मा मिल जाएगा। ये दोनों बातें हो जाती हैं। अगर मनुष्य केवल अचाह होना पसन्द करे, तो जीवन-मुक्ति भी मिल जाए और परमात्मा भी मिल जाए। अचाह होने से ही। क्यों? अचाह होने से सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाएगी। संसार के सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाएगी तो संसार का सम्बन्ध टूट जाएगा और परमात्मा ही समीपता प्राप्त हो जाएगी। जब हम कुछ चाहते हैं, तो परमात्मा से दूर होते हैं। अगर आप कुछ न चाहें, तो परमात्मा की समीपता प्राप्त हो जाएगी। तो संसार की निवृति और परमात्मा की प्राप्ति यह कैसे प्राप्त हुई? अचाह होने से। अचाह होने में क्या खर्च हुआ आपका, क्या परिश्रम हुआ आपका। अगर ऐसा कानून होता कि जो आप चाहेंगे, वह हो जाएगा-ऐसा सम्भव नहीं है। यह तो बहुत दूर की बात है। उन दिनों देवकी जी सत्संग में आई-आई ही थीं। साल दो साल ही हुआ होगा। बिहार में छपरा नाम की एक जगह है, संत्सग हो रहा था। देवकी जी जब व्याख्यान देती हैं, तो अपनी दशा का वर्णन करती हैं ज्यादातर। यह बहुत अच्छा तरीका है। तो कह रही थीं, कि जो मैं चाहती हूँ,

सो होता ही नहीं, जो होता है, सो मुझको अच्छा लगता ही नहीं, जो अच्छा लगता है, वह रहता ही नहीं। ऐसा कह रही थीं। यह जीवन सत्य है। इस बात का अनुभव आपको भी हो सकता है। एक एम.ए. पास लड़का बैठा हुआ था मेरे पास, वह रोने लगा कि दीदी ने तो जीवन का चित्र खींच दिया। उसके बाद मुझे बोलना था। मैंने कहा कि जब आप जानती ही हैं कि जो मैं चाहती हूँ वह नहीं होता, तो चाह ही छोड़ दो। यह तो हो सकता है न। जब यह हम जानते ही हैं कि जो हम चाहते हैं वह होता नहीं है, तो यह छोड़ने में तो कोई कठिनाई नहीं है। तो अचाह होने से कुछ कामनाएँ, जो जरूरी कामनाएँ हैं-हमारे हिसाब से नहीं, प्रकृति के विधान से जो जरूरी कामनाएँ हैं, वे जरूर पूरी हो जाएँगी। और जो अनावश्यक कामनाएँ हैं, वे नाश हो जाएँगी। तो जरूरी कामनाएँ पूरी होकर नाश हो गईं और अनावश्यक कामनाएँ उत्पन्न ही नहीं हुईं। बिना उत्पन्न हुए ही नाश हो गईं। कामना-निवृत्ति में शांति है और कामना-पूर्ति में सुख है। तो सुख भी आपको मिल गया और शांति भी आपको प्राप्त हो गई। इसके लिए आपने किस सत्य को स्वीकार किया? केवल यह स्वीकार करने से कि मुझे कुछ नहीं चाहिए।

न चाहने पर भी कुछ संकल्प तो पूरे होते ही हैं, और चाहने पर सभी संकल्प पूरे होते नहीं। पर देखिए कितनी भूल की बात है। कितना जीवन का सत्य है कि चाहने से हमारे सभी संकल्प पूरे हा जाएँ, सो तो होंगे नहीं और न चाहने से हमारा कोई संकल्प पूरा न हो तो ऐसा होता नहीं। इसलिए चाह का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

यह जीवन का इतना बड़ा सत्य है कि अगर यदि हम कुछ न चाहें, तो उससे हमारी कोई हानि नहीं होती। जैसे बुराई-रहित होने से अपनी कोई हानि नहीं होती। जैसे दूसरों के साथ भलाई करने से अपनी कोई हानि नहीं होती। तो इसका यह अर्थ निकला कि भलाई करने से कोई हानि नहीं होती। क्यों? विधान क्या है कि दूसरों के साथ जो कुछ करेंगे, कालान्तर में कई गुणा अधिक होकर आपके साथ हो जाएगा। तो अपना भला भलाई करने में हुआ, अपना भला बुराई न करने में हुआ अब यह जीवन का विधान है, यह जीवन का सत्य है।

अगर इस सत्य को मान लें आज हम, कि बुराई-रहित होने से

लाभ होता है, भलाई करने से लाभ होता है, तो संसार में जितने संघर्ष हैं, सब मिट जाएँ। मिट जाएँ या न मिट जाएँ? जरूर मिट जाएँ। किंतु इस सत्य पर ध्यान ही नहीं जाता। तो मानव सेवा संघ ने कहा कि भाई, देखों-जीवन का जो सत्य है, उसे यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो न तो आपको व्यक्तिगत शांत मिलेगी, न सामूहिक शान्ति मिलेगी, न अपना कल्याण होगा, न सुन्दर समाज का निर्माण होगा, न भगवत् प्राप्ति होगी न चिर शान्ति मिलेगी, न जीवन-मुक्ति मिलेगी। अगर आप इस सत्य को स्वीकार कर लें, तो अपना भी कल्याण होगा, चिरशांति भी मिलेगी, जीवन-मुक्ति भी मिलेगी और भगवत्-भक्ति भी मिलेगी। क्योंकि सत्य को स्वीकार करने से साधन का उदय होता है। साधन और जीवन एक हो जाता है। जैसे, अगर आपने यह सत्य स्वीकार किया कि अच्छा भाई, जब यह विधान ही है, कि मेरे चाहने से सभी कामना पूरी नहीं होती, तो मैं अचाह होने का व्रत लेता हूँ। जब यह विधान ही है कि मिली हुई वस्तु से अलग होना ही पड़ेगा। मिली हुई वस्तु अलग होती ही है। मिली हुई वस्तु अलग है ही। तो जो वस्तु मुझसे अलग है उसको अगर मैं अपना न मानूँ, तो कुछ हानि तो होती नहीं। जब दूसरों के साथ की हुई बुराई से हानि होती है, तो मैं बुराई न करूँ। इसमें कुछ हानि ता होती नहीं। जब दूसरों के साथ भलाई करने से अपनी भलाई होती है, तो इसमें कोई हानि तो है नहीं। तो सर्वांश में आप भलाई कर सकते हैं और सर्वांश में बुराई छोड़ सकते हैं।

तो बुराई छोड़ने से भी आपका लाभ, और भलाई करने से भी आपका लाभ, अपने आप ही होगा। चाहो कुछ मत। क्योंकि जब तक अचाह नहीं होते तब तक बुराई-रहित होने की सामर्थ्य नहीं आती, भलाई करने की सामर्थ्य नहीं आती। अचाह होने से यह सब बात आ जाती हैं क्योंकि अचाह होने पर मोह नहीं रहता, लोभ नहीं रहता और भय नहीं रहता। निर्मोहता, निर्लोभत, निर्भयता, समता, मुदिता, यह जीवन का सत्य है, यह साधना है। निर्लोभता, निर्मोहता, समता, मुदिता, प्रसन्नता प्राप्त होती है। समता प्राप्त होती है समता माने योग के होते हैं। और मोह नहीं रहता तो निर्भयता प्राप्त हो जाती है। निर्लोभता से दरिद्रता नाश हो जाती है-यह जीवन का विज्ञान है।

तो मैं यह कह रहा था कि आज जीवन में कठिनाई इसलिए हो रही है कि जीवन का सत्य है, उसे हम स्वीकर नहीं करते। और सत्य को जब स्वीकार नहीं करते हैं तो साधक कहते हैं कि साधन बड़ा कठिन है। तो साधन तो इसलिए कठिन है न, कि आप अचाह होते नहीं और कहते हैं कि शांति बड़ी कठिन है। कठिन क्या, होगी ही नहीं। अचाह हुए बिना शांति मिलेगी नहीं। निर्भय होते नहीं और कहते हैं कि निर्विकारता बड़ी कठिन है। चाह-रहित होने नहीं और कहते हैं कि प्रभु-प्रेम बड़ा कठिन है। यदि सत्य हो स्वीकार करें तो साधन कठिन नहीं है, साधन सहज है। और सत्य को स्वीकार न करें तो साधन असम्भव है, सम्भव ही नहीं है।

इसलिए सत्संग को ही परम पुरुषार्थ माना। सत्संग ही परम पुरुषार्थ है। और कोई परम पुरुषार्थ नहीं है। लेकिन सत्संग का अर्थ यह व्याख्यान सुनना नहीं है। यह तो सत्वर्चा है, सोचना-समझना यह सच्चिन्तन है, सत्संग है, सत्य को स्वीकार कर लेना। 'मेरा कुछ नहीं है' यह सत्य है। मुझे कुछ नहीं चाहिए-यह सत्य है। क्यों? मुझे दो तरह से नहीं चाहिए। एक तो जो चाहते हैं वह होता ही नहीं तो चाहने से क्या फायदा। और दूसरी बात यह कि जो सचमुच मुझे चाहिए वह अपने में मौजूद है। अगर भगवान चाहिए तो भगवान अपने में मौजूद है। सत्य चाहिए तो सत्य अपने में मौजूद है। अमरत्व चाहिए तो अमरत्व अपने में मौजूद है। सर्व दुःखों की निवृत्ति चाहिए तो सर्व दुःखों कि निवृत्ति अपने में मौजूद है।

तो अपने को जो चाहिए, वह अपने में है। तो जब अपने में है, तो उसकी फिर चाह क्यों करें। और जो संसार में नहीं है, उसकी चाह क्यों करें। संसार में अपना कुछ नहीं है, तो उससे क्या चाहें। न संसार से कुछ चाहे न परमात्मा से कुछ चाहें। अचाह हो जाएँ यह जीवन का सत्य है। तो अचाह होने से अपने में अपने परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है और संसार के सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाती है। और संसार के सम्बन्ध की निवृत्ति होन से आपका बहुत लाभ होता है।

देखिए, संसार दुःखद नहीं है, संसार का सम्बन्ध दुःखद है। आप विचार करके देखों कि इसी समय अगर पता लगाया जाए, बम्बई में सारे शहर में यह पता लगाया जाए तो कितनी ही चिताएँ जल रही होंगी। रोया-राट हो रहा होगा कितने ही घरों

में, कहीं खुशी हो रही होगी। कहीं हानि हो रही होगी, कहीं लाभ हो रहा होगा। लेकिन क्योंकि उससे हमारा आपका सम्बन्ध नहीं है, तो हमको न हर्ष हो रहा है न विषाद हो रहा है। आप समता में शांत बैठे हुए है। तो अपना न मानने का कितना बड़ा प्रभाव होता है। और अपना मानना तो तब सम्भव होता जब अपना अधिकार होता। अधिकार अपना है ही नहीं। हम जब तक चाहें शरीर को रख ही नहीं सकते। तो शरीर को अपना मानने का क्या फायदा? जब जो चाहें वह हो नहीं सकता, तो चाहने से क्या फायदा?

निर्भय होना और अचाह होना, यह बहुत ही स्वाभाविक सत्य है जीवन का। निर्भय होना ही पड़ेगा। 'मेरा कुछ नहीं है' संसार में इसको मान लेना ही पड़ेगा। 'मुझे कुछ नहीं चाहिए संसार से' यह बात माननी ही पड़ेगी। क्योंकि मुझे जो चाहिए, वह संसार दे नहीं सकता। और मुझे कुछ नहीं चाहिए परमात्मा से यह बात मान लेनी चाहिए। क्यों? क्योंकि अगर मैं कुछ चाहूंगा, तो परमात्मा, से दूर हो जाऊँगा, अलग हो जाऊँगा। तो परमात्मा से अलग होने से तो कोई लाभ होगा नहीं कोई, परमात्मा की तो प्राप्ति से लाभ होगा।

तो अचाह होने से, परमात्मा से कुछ न चाहो तो परमात्मा प्राप्त हो जाए और संसर से कुछ न चाहो तो संसार का सम्बन्ध छूट जाए। संसार नहीं छूट जाएगा, सम्बन्ध छूट जाएगा। अच्छा बुराई छोड़ दो तो कर्त्तव्यपरायणता आ जा। बुराई नहीं करूँगा, मैं मेरा मान लूँगए तो कर्त्तव्यपरायणता आ जाए। कर्त्तव्यपरायणता से जगत् के अधिकार की रक्षा हो जाए। और अचाह होने से अपने को स्वाधीनता मिल जाए, परमात्मा मिल जाए।तो कितना बड़ा लाभ हुआ बताइये।

और हमने क्या किया? किस सत्य को स्वीकार किया? बुराई नहीं करूँगा, इस सत्य को स्वीकार किया। मुझे कुछ नहीं चाहिए, इस सत्य को स्वीकार किया। मेरा कुछ नहीं है, इस सत्य को स्वीकार किया। इसी को सत्संग कहते हैं और आप व्याख्यान रोज सुने और यह सोचें कि 'आत्मवत सर्वभूतेषु' अर्थात् अपने समान सब को समझो। समझा नहीं अपने भाई को भी, मित्र को भी अपने समान नहीं समझा, लुगाई को भी अपने समान नहीं समझा। यह क्या है? यह सत्संग नहीं। इन बातों को सुन लिया कि 'आत्मवत् सर्व भूतेषु'। इन बातों को

स्वीकार कर लो, तो सत्संग हो जाएगा। अभी तो वेद-वाणी से सुना है कि अपने समान दूसरों को समझो। यह जाना हुआ है, कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। तो बुराई न करना यह जाना हुआ सत्य है। और दूसरों को अपने समान समझना, यह सुना हुआ सत्य है। उसे भी मान लो उसे भी मान लो। परमात्मा है-यह सुना हुआ सत्य है, संसार में मेरा कुछ नहीं है-यह जाना हुआ सत्य है। इस तरह जो जीवन का सत्य है, उसे स्वीकार कर लो।

और अगर जीवन के सत्य को स्वीकार कर लोगे, तो असाधन का नाश हो जाएगा, साधन की अभिव्यक्ति हो जाएगी। जब असाधन का नाश हो जाता है और जब साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो साधन और जीवन मे एकता हो जाएगी। साधन और जीवन अलग-अलग जो दिखाई देता है कि मैं अलग हूँ और मेरी साधना अलग है, यह नहीं रहेगा। मैं और साधना एक हो जाएगी। जीवन और साधना एक हो जाएगी। साधना जब जीवन हो गई और जीवन जब साधना हो गया, ता आपको कोई कठिनाई ही मालूम नहीं पड़ेगी। क्योंकि जब अभिन्नता हो गई साधना से तो साधना जीवन हो गई, जीवन साधना हो गया। साधना सहज हो गई, स्वाभाविक हो गई। अपना स्वरूप ही हो गया। साधना और जीवन की एकता होनी चाहिए। साधना और जीवन में भिन्नता नहीं रहनी चाहिए।

साधना क्या है? जैसे निर्विकारता, चिरशांति, स्वाधीनता, अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता-यह साधना है। जब मुझ में प्रिय में प्रियता उदित हो गई तो प्रियता उदित होने से क्या होगा? प्रियता उदित होने से स्मृति उदित हो गई। स्मृति उदित होने से निर्मोह हो गया, निर्विकारता आ गई, चिरशांति आ गई, स्वाधीनता आ गई। तो स्वाधीनता, निर्विकारता, चिरशांति, स्मृति, प्रियता यह सब साधना है।

यह साधना जब अपना जीवन हो जाए, अपना स्वरूप हो जाए, तो यह साधना जो है साध्य से मिला देती है। हम निर्विकार होकर परमात्मा से मिल जाते हैं। हम शांत होकर परमात्मा से मिल जाते हैं। हम स्वाधीन होकर परमात्मा से मिल जाते हैं। हम उदार होकर परमात्म से मिल जाते है, हम प्रेमी होकर परमात्मा से मिल जाते हैं।

तो साधन करना नहीं है? करना है सत्संग। करना है सत्संग, होना है साधन, मिलना है साध्य।

सत्संग करोगे, साधन होगा और साध्य मिलेगा। यह बात आपके समझ में आती है या नहीं? तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि सत्संग करो, साधन स्वतः होगा। अब आपने कहा कि परमात्मा का नाम तो लिया लेकिन संसार की ममता को तोड़ा नहीं तो नतीजा क्या होगा? कि हे भगवान मेरी यह कामना पूरी हो जाए, मेरी यह कामना पूरी हो जाए-यही रहेगा। परमात्मा का चिन्तन भी किया और सम्बन्ध संसार से ही रहा तो यह साधन नहीं असाधन है। उसका नतीजा यह होगा कि परमात्मा मिलेगा ही नहीं।

चाहे कितना ही चिन्तन कीजिए, कितना ही ध्यान कीजिए कितनी ही साधना कीजिए लेकिन अगर आपने सत्संग कर लिया पहले कि मेरा कुछ नहीं है, तो संसार का सम्बन्ध टूट गया। और फिर परमात्मा को याद किया, तो परमात्मा आप को मिल जाएगा। क्योंकि ऐसा नहीं होता कभी, संसार का सम्बन्ध भी बना रहे और परमात्मा का सम्बन्ध भी बना रहे। सम्बन्ध एक से ही रहेगा दो से नहीं रहेगा।

बुराई भी चलती रहे और भले भी हो जाएँ ऐसा कभी नहीं होगा। जब तब सर्वांश में बुराई का त्याग नहीं करेंगे, भले होंगे ही नहीं। भले होने के लिए भी सत्संग जरूरी है, परमात्मा को पाने के लिए संसार के सम्बन्ध का त्याग करना, जरूरी है। परमात्मा हम से दूर नहीं हुआ, हममें मौजूद है। लेकिन हमने दूसरी चीजों से सम्बन्ध जोड़ करके अपने को परमात्मा से विमुख किया है। विमुख होने का क्या अर्थ है? विमुख होने का अर्थ है अपना मुँह फेर लेना। हमने आपना मुँह फेर लिया है परमात्म की तरफ से। परमात्मा का मुख तो हमारी तरफ है ही, हमने संसार से सम्बन्ध जोड़ लिया है।

तो संसार का सम्बन्ध तोड़ो, संसार की सेवा मत छोड़ो। संसार की निन्दा मत करो। संसार को बुरा मत समझो। तो संसार की सेवा करो, परमात्मा को अपना मानो और संसार परमात्म का मानो। संसार परमात्मा का है, परमात्मा अपना है इसलिए भाई संसार की सेवा करना, यह परमात्मा की पूजा है। और पूजा के अंत में परमात्मा के प्रेम का उदय होगा। चाहे तो ऐसा मान लो। ऐसा भी है कि चाहे तो तुम्हें परमात्मा की याद आएगी, नहीं तो तुम परमात्मा का काम करोगे तो परमात्मा को तुम्हारी याद आएगी तुम्हें परमात्मा प्यारा लगेगा और तुम

परमात्मा को प्यारे लगोगे। जब परमात्मा की ओर से तुम्हारे में परमात्मा का प्रेम आएगा तो जीवन प्रेम से भर जाएगा। तो एक तो यह तरीका है।

अब यह बात भविष्य की बात तो है नहीं। जब परमात्मा सदैव होने से अभी मौजूद है, आपमें भी मौजूद है तो आपको अभी परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा और संसार का सम्बन्ध तोड़ना पड़ेगा। क्योंकि संसार आप देख रहे हैं, कि उस पर आपका अधिकार नहीं है, वह आपके काबू में नहीं है। आपके अधीन नहीं है। आपके चाहते हुए भी बचपन चला गया, जवानी चली गई, बुढ़ापा आ गया। बहुत से संयोग वियोग में बदल गए। बहुत-सी उत्पत्ति विनाश में बदल गई। यह तो देख ही रहे हैं आप।

तो जिस पर अपना कोई अधिकार नहीं है, उसका सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए। उसकी सेवा नहीं छोड़ देनी चाहिए। सेवा करो और सम्बन्ध तोड़ो यही तो सलाह होगी मेरी। और परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। परमात्मा को पाने के लिए क्या करें। बल से तो परमात्मा मिलेगा नहीं। बल से तो अपने से कम बल की चीज प्राप्त होगी। योग्यता से अपने से कम योग्यता वाले की प्राप्ति होगी। और मूल्य से समान मूल्य की चीज पा सकते हो। परमात्मा तो अमूल्य है, अनन्त है, अपार है, उसकी महिमा का पारावार नहीं। इसलिए परमात्म से सम्बन्ध जोड़ कर ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।

संसार का सम्बन्ध और परमात्मा का सम्बन्ध दोनों का सम्बन्ध नहीं रह सकता। संसार का सम्बन्ध रखोगे तो परमात्मा दूर हो जाएगा। परमात्मा से सम्बन्ध रखोगे तो परमात्मा को पा जाओगे। हमारा सम्बन्ध परमात्मा से हो, चाहे तो ऐसा मान लो और चाहे ऐसा मान लो कि सेवा करने के लिए, संसार से सम्बन्ध जोड़ लो और प्यार करने के लिए परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लो। न कुछ संसार से माँगे न परमात्म से माँगो। इससे बहुत बड़ा अन्तर आ जाएगा। संसार से कुछ नहीं माँगोगें तो संसार से निवृत्ति हो जाएगी। संसार से सम्बन्ध टूट जाने से आप संसार के प्रभाव के मुक्त हो जाओगे।

संसार का प्रभाव क्या है? पराधीनता, जड़ता, नीरसता, सुख-दुःख। यह संसार का प्रभाव है। यह संसार के सम्बन्ध से ही होता है। सुख भी संसार के सम्बन्ध से होता है। दुःख

भी संसार के सम्बन्ध से होता है। अभाव भी संसार के सम्बन्ध से होता है। जड़ता और पराधीनता संसार के सम्बन्ध से होती है। शक्तिहीनता भी संसार के सम्बन्ध से होती है।

यदि संसार का सम्बन्ध नहीं रहेगा, तो जीवन में अभाव नहीं रहेगा, पराधीनता नहीं रहेगी, सुख की दासता नहीं रहेगी, दुःख का भय नहीं रहेगा। संसार के प्रभाव से मुक्त होने का नाम ही मुक्त होना है। और मुक्ति कोई चीज नहीं है। यह बंधन संसार के प्रभाव का ही फल है। शरीर को अपना लिया तो मोह में बँध गए। मोह का दोष निवृत्त हो जाएगा तो निर्मोहता प्राप्त हो जाएगी। धन को अपना मान लिया तो लोभ में बँध गए। लोभ का सम्बन्ध समाप्त हो जाएगा, तो निर्लोभता प्राप्त हो जाएगी। इस तरह से संसार के सम्बन्ध से जो विकार पैदा होते हैं, जो दोष पैदा होते हैं वे सब दोष मिट जाएँगे। इसलिए संसार से सम्बन्ध तोड़ने की बात है। परमात्मा के सम्बन्ध से, परमात्म परम उदार है, परम स्वतन्त्र है, परमात्मा परम प्रेम से भरपूर है तो आपमें उदारता, स्वाधीनता और परम प्रेम का उदय हो जाएगा। आप ऐसे सोचिए कि एक लोहे का गोला है। आप उसे अग्नि में डाल दीजिए-गर्म हो जाएगा, बर्फ में डाल दीजिए तो ठण्डा हो जाएगा। ऐसे ही अहं जो है एक गोला है, लोहे के गोले के समान है। इसको संसार के सम्बन्ध से जोड़ दीजिए तो राग में द्वेष में, क्रोध में, भोग में, पराधीनता में, जड़ता में बँध जाएगा और इसको भोग से हटा दीजिए, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लीजिए तो योग, बोध, प्रेम प्राप्त हो जाएगा। संसार के सम्बन्ध से भोग, मोह, आसक्तिळ पैदा होगी। परमात्मा के सम्बन्ध से योग, बोध, प्रेम प्राप्त होगा।

अब संसार का सम्बन्ध तोड़ने में, जब इस पर आपका स्वतन्त्र अधिकार ही नहीं है, तो क्या कठिनाई हो सकती है। ऐसे ही परमात्मा क्योंकि अपना है, अपने में है, अभी है, तो इससे सम्बन्ध जोड़ने में क्या कठिनाई हो सकती है। न तो संसार से सम्बन्ध तोड़ने में कोई कठिनाई है, न परमात्म से सम्बन्ध जोड़ने में कोई कठिनाई है।

तो अब आपको भोग, मोह, आसक्तिळ से छूटना है, योग, बोध, प्रेम को प्राप्त करना है। तो परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करो। मैं प्रभु का हूँ मैं प्रभु का हूँ जगत् में मेरा कुछ नहीं है, मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिए यह मानने में क्या कठिनाई है। इसमें क्या

कुछ कष्ट होता है, क्या कुछ धन खर्च होता है। हाँ जगत् में मेरा कुछ नहीं है, यह ठीक बात है। तो इसका मतलब यह हुआ कि जगत् का अर्थ क्या है? शरीर और जगत् तो एक ही हैं, न तो शरीर में भी मेरा कुछ नहीं है।

तो शरीर से जगत् को दुःखी मत करो, शरीर से जगत् को हानि मत पहुँचाओ। आप जगत् की सेवा करोगे तो आप मुक्त हो जाओगे। और शरीर से विषयों का भोग करोगे तो बद्ध हो जाओगे। तो आप सोचें की शरीर से भोग करना चाहिए या शरीर सेवा करनी चाहिए। शरीर के दो ही उपयोग हो सकते हैं।

शरीर से हो सकता है भोग, शरीर से हो सकती है सेवा। अब विचार करके देखो-भोग का साथी है असंयम, सेवा का साथी संयम है। भोग का साथी सुख-लोलुपता है और सेवा का साथी तप है-तप, संयम, सेवा। सेवा करोगे तो तप आ जाएगा, संयम आ जाएगा और त्याग भी आ ही जाएगा, क्योंकि सेवा का अंत त्याग में होता है। भोग करोगे तो असंयम आ जाएगा, दुराचार आ जाएगा, व्यभिचार आ जाएगा और मोह और आसक्ति में आबद्ध हो जाओगे। तो जीवन का जो सत्य है, वह है योग। इसमें ऐसी कोई बात नहीं है कि मेरे कहने से मान लो। आपको यह ठीक मालूम कि जीवन का सत्य इस प्रकार का है, तो आप सत्य को स्वीकार करें।

मानव का कर्तव्य

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

अनजाने, अनदेखे परमात्मा में विश्वास कैसे हो, परमात्मा को कैसे अपना माना जाए, इसके लिए बहुत कठिन बात नहीं है। बहुत सुगम उपाय है और वह उपाय क्या है? कि हम जब किसी के साथ अपने को मिलाना चाहते हैं, तो हमें क्या करना पड़ता है? अपने पर उसका अधिकार मान लेना और अपना अधिकार उस पर न मानना। अब आप देखिए, जो अपना अधिकार मानते हैं, वे दूसरे के सुख का ध्यान नहीं रखते और अपना अधिकार नहीं मानते हैं, उन्हीं के द्वारा दूसरों को सुख मिलता है। हमारे द्वारा सभी को सुख मिले-यह कब होगा? जब हम सबको अभय कर दें, इस बात से कि हमारा तुम पर कोई अधिकार नहीं है किंतु तुम्हारा हम पर पूरा अधिकार है। क्योंकि जो किसी का अधिकार होता है न, वह किसी का कर्त्तव्य हो जाता

है। तो संसार को अधिकार है, वह मनुष्य का कर्त्तव्य, परमात्मा का जो अधिकार है, वह मानव का कर्त्तव्य है।

संसार का अधिकार क्या है? कि जहाँ तक हो सके हम सभी के प्रति सद्भाव रखें, सहयोग का भाव रखें, काम आएं और बदले में कुछ न चाहें। और प्रभु का अधिकार क्या है? कि वे हमको आत्मीयता के नाते प्यारे लगें, इतना ही अधिकार है। परमात्मा को हमारे प्यार की माँग है और संसार को हमारी सहायता की माँग है। सहायता शरीर के द्वारा की जाती है। यानि, प्यार जो है, वह मनुष्य स्वयं के द्वारा करता है और सहायता जो है, वह मिले हुए तन के द्वारा, धन के द्वारा, योग्यता के द्वारा करता है। बिना किसी वस्तु के बिना किसी योग्यता के, बिना किसी सामर्थ्य के हम कोई सहायता कर पाते हैं क्या? तो सहायता के लिए संसार है और प्रेम के लिए परमात्मा है। क्योंकि प्रेम अपने द्वारा होता है, इसलिए वह सम्भव है और सहायता पर की होती है और पर के द्वारा होती है, इसलिए वह भी सम्भव है।

अब यहाँ एक बात सोचने की है कि भई दूसरों की सहायता करना सम्भव तो है। क्यों? क्योंकि हमारे पास कुछ न कुछ है। और प्रेम करना भी सम्भव है। क्यों? क्योंकि प्रेम देने में कोई धन तो खर्च होता नहीं। लेकिन बिना अपनेमन के प्रेम होता है क्या? अब आप सोचिए, कि क्या आप भगवान को अपना मानने के लिए राजी हैं या जिसको प्रेम देना चाहते हैं, उसको अपना मान सकते हैं क्या? वे कैसे हैं, वे कहाँ रहते हैं, वे क्या करते हैं-ये सब बातें तो तब जरूरी होती हैं जानना जब उसके द्वारा कुछ काम लेना हो। जैसे, मान लीजिए कि कोई बीमार है तो वह पता लगाएगा कि डॉक्टर कैसा है। क्यों? उसको उससे कुछ लेना है यों। लेकिन जिसको केवल प्रेम देना है वह काहे को इस बात को जानने की कोशिश करेगा, कि वह कैसा है। प्यार जो होता है न, वह अपने से होता है, जिसको हम अपना मानते हैं। प्यार और किसी बात से नहीं होता। जैसे मान लीजिए एक पड़ोसी का लड़का है, आपके लड़के से ज्यादा योग्य है, ज्यादा सुन्दर है, ज्यादा गुणवान है, तो उसको देख कर आप खुश तो हो सकते हैं। मनुष्यता के नाते आप कह सकते हैं कि बड़ा अच्छा लड़का है लेकिन उसकी माँ को वह जितना प्यारा लगता है, उतना प्यारा वह आपको लगेगा? क्यों? क्योंकि उसे वह अपना मानती है। तो

प्रेम जो होता है, इस बात पर नहीं होता है कि कैसा है, इस बात पर होता है कि अपना है। कैसा है, इस बात की कब जरूरत होती है जब उससे हमें कुछ लेना हो। यानि, अपने सुख के लिए आदमी सोचता है कि अमुक वस्तु कैसी है, अमुक व्यक्ति कैसा है। लेकिन जिसमें अपने सुख का प्रश्न न हो, वह काहे की सोचेगा। अच्छा, जब तक हमारे अपने सुख का प्रश्न रहता है, तब तक क्या हम स्वाधीन हो पाते हैं, उदार हो पाते हैं, प्रेमी हो पाते हैं।

इसलिए प्रेमियों ने इस बात की परवाह कभी नहीं की कि हमारे प्रेमास्पद कैसे हैं। क्यों? क्योंकि क्या उन्हें उनसे कुछ लेना था? एक बात। दूसरी बात सोचिए-आपके केवल प्रेम का पान कौन कर सकता है? जिसे कुछ और चाहिए? जो पूर्ण हो या उसे परमात्मा कहो। तो केवल प्रेम से वही प्रसन्न होगा, जो पूर्ण हो। अच्छा, प्रेम देने की सामर्थ्य किसमें होती है, जो अचाह हो। आप सोचिए एक ऐसा, जिस पर सब कुछ है, उसको प्रेम पसन्द आ सकता है? या प्रेम से उसके साथ आपकी एकता हो सकती है। एक ऐसा, जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसके पास अपना कर के कुछ नहीं है वह ही प्रेम दे सकता है। और जिस पर सब कुछ है, वह ही केवल प्रेम से प्रसन्न हो सकता है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाए, तो आपके प्रेम का पात्र कौन होगा? जिसके पास सब कुछ हो, जिसे कुछ नहीं चाहिए। और प्रेम दे कौन सकता है? जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसके पास कुछ न हो। सब कुछ जिसके पास है, वह प्रेम से प्रसन्न होगा और जिसके पास कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही प्रेम दे पाएगा। तो प्रेम देने के लिए तो बातें जरूरी हो गई-मेरे पास मेरा करके कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए। और तीसरी बात-जिसको प्रेम देना है, वही मेरा अपना है और कोई मेरा अपना है नहीं। और मुझे अपने को सुख देने की बात जीवन में रखना है। जो मेरा है, उसको रस मिलना चाहिए, उसको रस देना चाहता हूँ, उसको सब प्रकार से आनन्द में देखना चाहता हूँ। तो यह प्रेम दे सकता है और वह प्रेम पा सकता है।

देखिए, आपको इतनी सामर्थ्य मिल जाए कि जो आप चाहें वह हो जाए और एक यह सामर्थ्य मिल जाए कि उसे कुछ चाहिए ही नहीं। तो जिसे कुछ नहीं चाहिए और जो चाहे सो हो जाए तो उन दोनों में अन्तर कहाँ

रहा। अच्छा, हम जो चाहें, सो हो जाए, इसमें हम स्वाधीन हैं कि हम कुछ न चाहें इसमें हम स्वाधीन हैं? तो जिस बात में आप स्वाधीन हैं, वही बात आपको सबसे अच्छी माननी चाहिए। जिसके पास कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसको कोई भयभीत कर सकता है क्या? जिसे कुछ भी चाहिए और जिसके पास कुछ भी है, वह कभी अभय हो सकता है क्या? वह कभी स्वाधीन हो सकता है क्या?

अब आप सोचिए, कि आपको अभय होने में आनन्द आता है, स्वाधीन होने में आनन्द आता है या भयभीत होने में और पराधीन रहने में? अच्छा, उसका उपाय तो आप कर सकते हैं। फिर क्यों नहीं करते? कर सकते हैं और कहते हैं-होता नहीं। मैं तो यह कहता हूँ जिसके पास कुछ नहीं और जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे कोई भयभीत कर सकता है क्या? वह पराधीन हो सकता है क्या? वह अशांत हो सकता है क्या? तो अभय होने में, शांत होने में, स्वाधीन होने में कौन स्वाधीन है? या तो वह, जिसके पास सब कुछ हो, या वह, जिसके पास कुछ न हो। तो सब कुछ वाली बात में हमारा-आपका नाम लिखा जा सकता है क्या? वह तो एक ही होगा। कहने का मतलब यह था कि जिस तरह पूर्ण परमात्मा अभय है, स्वाधीन है, चिरशांत है, आनन्द से भरपूर है, उसी तरह जिसके पास कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह भी उसी प्रकार अभय और स्वाधीन है।

जिसे कुछ नहीं चाहिए, जिसके पास कुछ नहीं है, वह क्या प्रभु को अपना नहीं सकता? तो प्रभु को अपना मानने में कोई कठिनाई है क्या? अच्छा, जिसे अपना मान लेते हैं, वह क्या प्यारा नहीं लगता? तो इसका मतलब क्या हुआ कि भगवान को अपना मानने की स्वाधीनता मनुष्य को है, भगवान को प्रेम देने की स्वाधीनता मनुष्य को है। स्वयं स्वाधीन रहने की, शांत रहने की, अभय रहने की स्वाधीनता मनुष्य की है। यह तो आप लोगों के दिमाग की सफाई के लिए कहा।

अब आप सोचिए कि संसार के इतिहास में कोई भी प्रेमी ऐसा नहीं हो सकता, जिसने सचमुच इस सत्य को न अपनाया हो। तो आप देखो भाई, सत्य युग में, त्रेता में, द्वापर में जितने प्रेमी हुए उनको जिसे प्रकार की स्वाधीनता थी, क्या उस प्रकार की स्वाधीनता आज नहीं है क्या? लेकिन

यदि कोई प्रेमी न होना चाहे तो । चाहे पुराने भक्त हों या नए भक्त हो, भक्ति का जो विधान है, सत्य का जो विधान है, वह जैसा पहले था, वैसा ही अब है और वैसा ही आगे रहेगा।

आप देखिए, भक्तिमती मीरा यानि द्वापर की गोपी के जीवन और कलियुग की मीरा के जीवन में कोई फर्क नहीं कर सकता। आप देखिए, एक भक्त के सम्पर्क से यह बात मीरा जी को पसन्द आ गई कि मैं श्रीकृष्ण की नित्य प्रिया हूँ, पत्नी हूँ। यह बात गुरु वाक्य के आधार पर मीरा जी ने अपनी मर्जी से स्वीकार की या किसी और ने कराई। यह बात मैं इस आधार पर कहता हूँ कि भक्ति स्वतन्त्र है। जब चाहो तब आपको मिल सकती है। क्यों? आप अपने द्वारा जब भगवान को स्वीकार करते हैं, अपना करके स्वीकार करते हैं, तब अपने में भक्ति आती है। तो मीरा जी ने यह बात मान ली कि मेरा जो पति है वह गिरधर गोपाल है। मीरा ने श्रीकृष्ण को अपना पति करके मान लिया। आप जानते हैं, यह स्वाभाविक बात है कि जिसे कोई अपना मान लेता है, उसकी याद आती है, फिर कुछ और सुहाता नहीं।

अच्छा वहाँ निराश होने की बात है नहीं। जैसे संसार की बात स्वीकार कर लेते हैं न, याद उसकी भी आती है, वह भी अच्छी लगती है, किंतु उससे निराश होना पड़ता है। या तो हम उससे अलग हो जाएंगे या वह हमसे अलग हो जाएगा। यह प्रकृति का कानून है। लेकिन जो भगवान सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है उससे निराश होने की जरूरत नहीं है क्या? तो जिसके मिलने में निराशा नहीं होती, उसकी स्मृति उत्तरोत्तर सबल और स्थायी होती है या नहीं? तो स्मृति को सबल बनाने में हम निराश न हों, इसके लिए इसके अतिरिक्त और कोई उपाय है क्या? नहीं।

अब मीरा जी ने जब भगवान को अपना पति मान लिया, तो एक पहचान उनके पास थी। गिरधर गोपाल की मूर्ति थी न उसके पास। यहाँ भी दो बातें हैं- एक तो ऐसे विश्वासी होते हैं, जो यह मान लेते हैं कि यही भगवान हैं और कोई-कोई बुद्धिमान होते हैं, कि वे मानते हैं कि ऐसे भगवान हैं। जैसे, एक आपके पास आपके दोस्त की तस्वीर आ जाए तो आप कहेंगे कि हमारा दोस्त ऐसा है। और कहेंगे हमारा दोस्त यह है। दोनों में फर्क होता है न?

मीरा जी उसी कोटि की भक्त थीं। पर उन्होंने जिसे अपना पति

माना था, वे चाहती थीं वह मुझसे बोले, मेरे साथ खेले, मुझसे बातचीत करे लेकिन वह तो बोलता नहीं था। तो जब भगवान नहीं बोलते थे, नहीं मिलते थे, बात नहीं करते थे यानि व्यवहार नहीं करते थे, जो व्यवहार पति को अपनी पत्नी से करना चाहिए। उसी दुःख में मीरा जी ने कहा-"भाई, मेरी हरि जी न पूछी बात"। हरि ने मेरी बात नहीं पूछी। अब जब वे बात नहीं पूछते, तो कह उठती हैं-

"प्रान पापी निकस क्यों न जात।" जिस स्त्री को अपने पति का प्यार न मिले, वह स्त्री क्या कभी चैन से रह सकती है। लेकिन पति का प्यार चाहती है या पति को प्यार देना चाहती है- पति के द्वारा अपना सुख चाहती है क्या? यदि सुख चाहती है तब तो निराश होना पड़ता ही है। मीरा के सम्बन्ध तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वे अपने और पति के बीच में प्रेम का आदान-प्रदान चाहती हैं, कोई सुख-भोग नहीं चाहतीं। वे यह नहीं चाहतीं कि पति उसे अच्छे कपड़े पहना दे या अच्छा जेवर पहना दे। केवल यह चाहतीं हैं कि मैं पति के बिना न रह सकूँ और पति मुझे प्यारे लगते रहें। बस इतना चाहती है।

अच्छा, मीरा इतनी भोली भक्त है कि जब उसे पति की ओर से प्यार नहीं मिलता तो ऐसी शिकायत करती हैं-"मुख नहीं बोला, पट नहीं खोला, साँझ हुई परभात।" सारी रात बीत गई, दिन आ गया, सारा दिन बीत गया, रात आ गई लेकिन मेरा पति बोलता ही नहीं है। तो नहीं बोलता है तो बड़ा दुःख है, पर निराश हुई क्या? निराश नहीं है। निराश नहीं हैं, तो उत्तरोत्तर खूब गहरी स्मृति आती रहती है। इस स्मृति में मीरा जी पर विरह की अग्नि का प्रभाव पड़ने लगा। मीरा जी बीमार रहने लगी। उनका एक पद है- "बाबुल वैद बुलाइए, पकड़ दिखाई बाँह। जाओ वैद घर आपणे कसक कलेजे माँह॥" अर्थात् हे वैद्य जी तुम अपने घर जाओ। मेरे दिल में जो कसक है, उसकी चिकित्सा तुम्हारे पास है नहीं, वह तुम कर सकते नहीं। यानि मीरा जी किसी और की सहायता से मेरी माँग पूरी होगी-ऐसा नहीं सोचती।

क्या है मेरे पास? प्रिय की स्मृति। याद आती है। क्यों आती है? अपने हैं न। अपने की अपने को क्या याद नहीं आएगी? उनको प्रेम देना है न। और क्या बात है? वे उनकी महिमा से अपरिचित नहीं हैं। वे यह नहीं

सोचतीं कि मेरे पति असमर्थ हैं या सर्वसमर्थ नहीं हैं, या सब कुछ नहीं कर सकते। मीरा यह भी नहीं सोचतीं कि वे पति की आज्ञा का उल्लंघन करती हैं। यह भी नहीं। लेकिन तुम आज्ञा तो दो, मुझसे काम तो लो। उनकी वाणी से यह बात कभी नहीं झलकती, कि मीरा जी ने यह कभी सोचा हो मैं अपने पति का अपनत्व भूलना चाहती हूँ। सुख देने की इतनी गहरी लालसा है मीरा जी में। और उन्हें कुछ सुहाता नहीं। पति सेवा का अवसर ही नहीं देता, प्यार का अवसर ही नहीं देता। उस समय मीरा जी बहुत अधिक अधीर होन लगीं, व्याकुलता बढ़ने लगी, बेचैनी बढ़ने लगी।

और इधर उनके पति को उनके विवाह करने की सूझ गई। महाराणा के साथ उनका सम्बन्ध तय कर दिया। अब छोटी बच्ची हैं। इतना साहस तो है नहीं कि यह कह दें कि हम विवाह नहीं करेंगे। कुछ ऐसे भी भक्त हुए हैं, जो भाग गए घर से। एक भक्त महिला का गौना होने वाला था कि वह भाग गई घर से और एक मरे हुए ऊँट की दुर्गन्धमय खाल में छुप गई। लेकिन मीरा जी ऐसा नहीं कर सकती थीं या ऐसा करना नहीं चाहती थीं। जोर जबरदस्ती तो बाहरी क्रिया-कलाप था। वह ऊपर से चल रहा है पर भीतर से अपने द्वारा वह किसी और का पति मानने के लिए राजी हैं क्या? किसी और से विवाह करने को राजी हैं क्या? न वे किसी और से विवाह करने को राजी हैं न किसी और को पति मानने को राजी हैं । जब मण्डप के नीचे बैठ गईं। तो जो औरों के करने की बात थी, उसे तो वे रोक नहीं सकती थी। जब उनके करने की बात आई तो उनसे कहा कि बाई साहब, अपना हाथ निकालो। वधू का हाथ पर रखा जाता है न। अब मीरा जी हाथ नहीं निकालतीं या वे मानने को राजी नहीं हैं। उनके साथ बल का प्रयोग तो कोई कर नहीं सकता था कि बाई साहब का हाथ कोई खींच ले। बाई साहब हाथ निकालती नहीं। तो पुरोहित जी, जो विवाह संस्कार करा रहे थे, वे बहुत संकट में। अब तो पुरोहित जी के मुँह से निकल गया कि बाई साहब के हाथ में कष्ट है। मीरा जी को इतनी गहरी व्याकुल है कि श्रीकृष्ण का हाथ किसी और के हाथ में जा नहीं सकता। अब यहाँ से प्रेम उदय होता है। मेरा कुछ नहीं है, इससे क्या सिद्ध हुआ कि हाथ मेरा नहीं, पर मेरे प्रिय का है। यह हाथ मेरे प्रिय का है। प्रिय के हाथ को, पति के हाथ को

किसी और के हाथ में दे ही नहीं सकती। सुनते हैं कि मीरा जी के हाथ में बहुत बड़ा छाला पड़ गया, उसी समय। अब आप देखिए। यहाँ एक गहरा विज्ञान है। वह विज्ञान क्या है कि जितनी शक्ति प्रकृति में है उतनी सारी शक्ति मनुष्य के मन में है।

सत्संग क्या हैं

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

मानव मात्र साधक है। साधक वह है, जिसका कोई साध्य हो। साध्य उसे नहीं कहते, जिसकी प्राप्ति न हो। साध्य उसे ही कहते हैं जिसकी प्राप्ति हो जाए। साध्य की प्राप्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती है और साधना की अभिव्यक्ति के लिए सत्संग की आवश्यकता होती है। अतः मानव को सत्संग करना चाहिए। जो काम सत्संग के द्वारा हो सकता है, वह किसी और उपाय से नहीं हो सकता। जो जीवन का सत्य है, उसे अगर आप स्वीकार नहीं करेंगे तो साधना का उदय नहीं होगा। और जब तक जीवन में साधना उदय नहीं होती, तब तक उसका साधन और जीवन एक नहीं होता और साध्य की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए हर भाई को, हर बहन को, चाहे किसी मजहब के हों, चाहे किसी इज्म के हों, किसी वर्ग के हों, किसी देश के हों सत्संग करना चाहिए।

सत्संग क्या है? जाने हुए असत् का त्याग तथा जीवन के सत्य को स्वीकार करना। जाना हुआ असत् क्या है? जितने भाई-बहन यहाँ बैठे है उन सबसे पूछा जाए कि जो मिला है जिस किसी को शरीर के रूप में, व्यक्ति के रूप में, वस्तु के रूप में, योग्यता के रूप में, सामर्थ्य के रूप में, क्या वह सदैव रहेगा? तो सब कहेंगे, नहीं रहेगा। तात्पर्य क्या निकला, कि मिला हुआ जो होता है, जो मिलता है, ऐसा सिद्धान्त है वह अलग होता है। और जो अलग होता है, वह अपना नहीं होता, वह अपने लिए नहीं होता। उसकी सेवा की जा सकती है, उसका सदुपयोग किया जा सकता है, लेकिन उसको अपना नहीं माना जा सकता, अपने लिए नहीं माना जा सकता।

आप कहेंगे कैसे? जब मिला हुआ अलग होता ही है, तो उसे अपना मानने से लाभ क्या? मिले हुए को अपना मानने का परिणाम यही होता है, कि मिला हुआ तो रहता नहीं, ममता रह जाती है, उसकी कामना रह जाती

है। तो वस्तु चली गई और ममता बनी रही, व्यक्ति चला गया और ममता बनी रही, तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, हानि बहुत बड़ी होती है।

वस्तुओं की ममता से लोभ की उत्पत्ति हो जाती है, व्यक्तियों की ममता से कामना की उत्पत्ति हो जाती है और मोह की उत्पत्ति जाती है। तो अनेक विचारों की उत्पत्ति होती है मिले हुए को अपना मानने से, कोई लाभ नहीं होता। इसलिए मिले हुए शरीर को, मिली हुई योग्यता को, मिली हुई सामर्थ्य को अपना नहीं मानना चाहिए। अपने लिए नहीं मानना चाहिए।

अगर यह बात आपको जँच जाए, रुच जाए, पसन्द आ गए कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है, तो आप बड़ी सुगमतापूर्वक, बड़ी सुगमतापूर्वक निर्विकारता को प्राप्त कर सकते हैं। यानि निर्मोहता को प्राप्त कर सकते हैं, निर्लोभता को प्राप्त कर सकते हैं, निष्कामना को प्राप्त कर सकते हैं, निर्भयत को प्राप्त कर सकते हैं, समता को प्राप्त कर सकते हैं। सभी दिव्य गुण आपको प्राप्त हो सकते हैं। लेकिन कब? जब आप इस सत्य को स्वीकारें कि जो मिला हुआ है, वह अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं कि उसका सदुपयोग नहीं करना है या उसकी सेवा नहीं करनी है। मिले हुए व्यक्तियों की सेवा करना है और मिली हुई वस्तुओं का, योग्यता का सदुपयोग करना है। मिली हुई वस्तु, योग्यता का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब हम उन्हें अपना न मानें, अपने लिए न मानें। जब मनुष्य किसी वस्तु को अपना मान लेता है, अपने लिए मान लेता है, तो उसका सदुपयोग नहीं कर पाता। और जब मिली हुई वस्तु का, योग्यता का, सामर्थ्य का सदुपयेग नहीं होता, जायज इस्तेमाल नहीं होता तब जीवन में अकर्त्तव्य आ जाता है, कर्त्तव्य नहीं रहता। कर्त्तव्य का मतलब ही इतना है कि जिस किसी को जो कुछ मिला है, उसका वह सदुपयोग करे, जायज इस्तेमाल करे।

तो मिले हुए का सदुपयोग करने से मिल हुए का सम्बन्ध भी टूट जाता है और मनुष्य करने के राग से भी मुक्त हो जाता है। मिल हुए का सम्बन्ध टूटने से मौजूद से सम्बन्ध हो जाता है और करने का राग निवृत्त होने से विश्राम प्राप्त हो जाता है। मैं यह निवेदन कर रहा था कि मिले हुए के

सदुपयोग से उसका सम्बन्ध टूट जाता है और फिर करने के राग हम मुक्त हो जाते हैं।

देखिए, करने से जो कुछ मिलता है, वह अपने काम नहीं आता। वह शरीर के काम आता है, परिवार के काम आता है, समाज के काम आता है, वह अपने काम नहीं आता। आप देखिए, बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, लेकिन क्या कभी आपने ऐसा कोई आविष्कार सुना, जो आपको स्वाधीन बना दे। सुना कभी? नहीं सुना। तो मिला हुआ चाहे खेत से उपजाया हुआ अन्न हो या फैक्ट्री में बनी वस्तु हो, वह शरीर के काम आती है, अपने काम नहीं आती। हम शरीर की जरूरत को अपनी जरूरत मान कर अपने को पराधीन बना लेते हैं। लेकिन मिला हुआ सदैव तो रहता नहीं। इसलिए यह एक सीधी-सी बात है, जीवन सत्य है। हमें इस बात गंभीरता से विचार करना चाहिए कि हमें जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं है। तो किसका है? परिवार का है, समाज का है, संसार का है, अपना नहीं है। इसमें आप को कोई कठिनाई नहीं होगी। मिली हुई वस्तु को, मिली हुई योग्यता को परिवार के लिए मानें, समाज के लिए, संसार के लिए मानें। सब वस्तुओं के द्वारा परिवार, समाज और संसार की सेवा की जा सकती है। सेवा-सामग्री है, जो मिला है।

तो फिर अपने लिए क्या है- यह प्रश्न पैदा होता है अपने मन में। मिली हुई योग्यता भी अपने लिए नहीं है, मिली हुई सामर्थ्य भी अपने लिए नहीं, मिली हुई कोई भी वस्तु अपने लिए नहीं, तो फिर अपने लिए क्या है? तो अपने लिए जो है, वह अपने में ही है।

अब प्रश्न उठता है कि अपने लिए है और अपने में ही है, तो उसकी हमें प्राप्ति कैसे हो? उसकी प्राप्ति होगी तब, जब आप अपने को अपने में संतुष्ट करेंगे। अपने को अपने में सन्तुष्ट कैसे करेंगे? जब मिले हुए का सदुपयोग करेंगे तब। और मिले हुए का सदुपयोग कैसे करेंगे? जब उसे अपना नहीं मानेंगे, अपने लिए नहीं मानेंगे।

देखिए, जीवन का जो सत्य है, वह किसी मजहब की बात नहीं होती, किसी सम्प्रदाय की बात नहीं होती- वह सभी की अपनी बात होती है। आप कहें कैसे? आप विचार करके, देखिए, अगर आप मिले हुए को अपना माल लें, तो क्या आपका हो जाएगा, सदा आपके साथ बना रहेगा?

क्या राय है? क्या आपका सदा उसके साथ बने रहेंगे? लेकिन उसे अपना मानकर मोह में आबद्ध हो जाएंगे कि नहीं? क्या राय है? तो हम मोह में आबद्ध हो जाएं और शरीर हम से छूट जाए तो कष्ट मिलेगा या आराम मिलेगा। ऐसे ही हम वस्तु के लोभ में आबद्ध हो जाएं और वस्तु हमसे अलग हो जाए-इसमें कष्ट मिलेगा या आराम मिलेगा। अगर अपना न मानें, तो शरीर के सदुपयोग से क्या परिवार की सेवा नहीं हो सकती, संसार की सेवा नहीं हो सकती। तो मिले हुए शरीर को अपना मानें, यह बात सच्ची मालूम होती है या मिले हुए शरीर के द्वारा जिसकी चाहो सेवा करो यह ठीक मालूम होती है? क्या राय? कौन-सी बात सच्ची होती है? कौन-सी बात आपको मालूम होती है ठीक है। आप अपने द्वारा सोचिए।

देखिए, मानव सेवा संघ की प्रणाली में जीवन का जो सत्य है, उसी को बताने का प्रयास किया जाया है, उसी की ओर संकेत किया है। आप यह जानते ही हैं कि मिले हुए शरीर के साथ हम सदैव नहीं रह सकते। तो शरीर के रहते हुए भी क्या हम शरीर के सम्बन्ध से, शरीर की आवश्यकता से फ्री ;मुक्तद्ध नहीं हो सकते? क्या राय है? आज एक भाई हमसे पूछने लगे स्वामी जी, हमको मुक्ति चाहिए-कैसे मिलेगी? मैंने कहा, मुक्ति तो तुम्हें तुम्हारे ही ज्ञान से मिलेगी।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जो तुम्हारा अपना ज्ञान है, उसी से तुमको मुक्ति मिलेगी। मुक्ति का मतलब क्या है? शरीर के रहते हुए हम शरीर की जरूरत से फ्री हो जाएं। जो शरीर की जरूरत से फ्री हो जाएगा, उसे किसी और की जरूरत अनुभव होगी क्या? क्या राय है? नहीं होगी। मैं बिना पढ़ा लिखा हूँ न आपसे इसलिए पूछ लेता हूँ कि मेरी भाषा आप तक ठीक पहुँचती है या नहीं? शरीर की जरूरत से फ्री होना ही मुक्ति है। और कोई मुक्ति होगी, हमको मालूम नहीं, लेकिन इस मुक्ति का अनुभव है जीवन में कि मनुष्य अगर चाहे तो वह शरीर की जरूरत से अपने को फ्री कर सकता है और शरीर रह सकता है, जब तक उसको रहना हो। और शरीर की जरूरत से अपने को फ्री न किया तथा उसकी जरूरत को अनुभव करता रहा तो क्या उस शरीर को सदैव रख सकता है? क्या राय है? कभी नहीं रख सकता।

अच्छा भाई, यह बात हमारे लिए है या सभी के लिए है। अच्छा यह

तो बताओ भाई, कोई पढ़ा-लिखा रख लेगा या कोई बेपढ़ा रख लेगा। पैसे वाला शरीर को रख लेगा। बड़ा भारी कोई वैज्ञानिक रख लेगा। कोई नहीं रख सकता। यह यूनिवर्सल कानून है कि नहीं? यह आपके जीवन का सत्य है कि नहीं।

अब आप विचार करिये-हम चाहें, आप चाहें, कोई चाहें, पढ़ा-लिख हो, बेपढ़ा लिखा हो, धनी हो निर्धन हो, मजदूर हो, मिल-ओनर हो, मामूली चपरासी हो या प्राइम मिनिस्टर हो, लेकिन यह जीवन का सत्य सबके लिए समान है कि इसमें कोई फर्क है? सबके लिए समान है। सत्य कहते ही उसको हैं, जो सबके लिए समान हो।

तो हमारे-आपके सामने प्रश्न पैदा हुआ कि जिस शरीर के साथ सदैव नहीं रह सकते, जिस वस्तु के साथ सदैव नहीं रह सकते, जिस परिवार के साथ सदैव नहीं रह सकते, जिस समाज के साथ सदैव नहीं रह सकते, उस समाज को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाएँ। इस बात में कोई कठिनाई है क्या? अगर हम कहें कि आप पब्लिक की सेवा कीजिए, तो आप कह सकते हैं कि हमारे पास शक्ति नहीं है, योग्यता नहीं है। कह सकते हैं कि नहीं? लेकिन अगर कह कहें कि कोई हानि न पहुँचाएँ, तो आपको कौन-सी योग्यता चाहिए भैया!

मैं किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा-यह तो जीवन का सत्य है। क्यों? क्योंकि हम जानते हैं कि हमें कोई हानि न पहुँचाए।

देखिए, एक बार एक बड़े विद्वान महापुरुष की मुझसे भेंट हुई। वे मुझसे पूछने लगे कि बताओ शरणानन्द, अज्ञान किसे कहते हैं? मैं ठहरा बेपढ़ा आदमी। मैंने कहा आप ही बताइये। तो कहने लगे कि अज्ञान इसी को कहते हैं कि जो लोग यह मान लेते हैं कि भगवान व्यास में ज्यादा ज्ञान था और हममें कम ज्ञान है। बड़ी गंभीर बात है। यह एक बड़े विद्वान महापुरुष ने कहा, जो वेदान्त के अद्वितीय पंडित थे-अच्युत मुनि उनका नाम था। फिर मैंने सोचा कि बात तो ठीक मालूम होती है। ज्ञान योग्यता का नाम नहीं है। योग्यता और चीज है और ज्ञान और चीज है। योग्यता एक प्रकार की इनर्जी है, वह एक प्रकार की शक्ति है और ज्ञान एक प्रकार का प्रकाश है। कौन-सा ज्ञान? जिस ज्ञान से आप को यह अनुभव करते हैं कि कोई भी भाई, कोई भी बहन, कोई भी व्यक्ति कभी भी मुझको हानि न पहुँचाए। यह आपकी सीखी हुई बात है कि आप की

जानी हुई बात है? बोलो, यह आपकी जानी हुई बात है या सीखी हुई बात हैं? जानी हुई बात है ना?

किसी बड़े भारी विद्वान के पूछो कि धर्म क्या है? वह कहेगा "अहिंसा परमो धर्मः" यही न कहेगा? यानि किसी को तकलीफ मत दो, किसी को हानि मत पहुँचाओ, किसी के विकास में रूकावट मत डालो, किसी की अवनति मत करो-यही न कहेगा। तो जो बात एक बड़े भारी विद्वान ने कही, आपके ज्ञान में है या नहीं। बोलो, अच्छा, आप जरा सोचिए कि आपका ज्ञान और वेदों का ज्ञान, आपका ज्ञान और भगवद् वाणी का ज्ञान, आपका ज्ञान और संतों का ज्ञान एक है या अलग-अलग है? एक है। लेकिन अलग कहां होता है, जानते हो। अब इसी ज्ञान का किसी ने कर लिया आदर, तय कर लिया, निर्णय कर लिया कि मैं किसी को कभी हानि नहीं पहुँचाऊगाँ, तो वह ज्ञान उसके काम आ गया कि नहीं? वह अहिंसक हो गया कि नहीं? वह सर्वप्रिय हो गया कि नहीं, वह सर्वहितकारी हो गया कि नहीं, वह सबके लिए आनन्ददायक हो गया कि नहीं? तो अन्तर कहां है? अन्तर हमारे-आपके ज्ञान में नहीं है। अन्तर है इस बात में कि एक आदमी-ज्ञान तो है पर उसका आदर नहीं करता और एक आदमी ज्ञान का आदर करता है। यानि ज्ञान से जा सत्य है, जो सत्य ज्ञान से प्रतीत होता है, अनुभव होता है, उस सत्य को स्वीकार करता है। तो स्वीकार करने या न करने में अन्तर हे या ज्ञान में अन्तर है। ज्ञा में तो कोई अन्तर नहीं है न। अगर यह बात आपको मालूम हो जाए तो ज्ञान के लिए आपको हमारे पास आने की जरूरत पड़ेगी क्या? यह बात मत भूल जाइयेगा कि मैं मान के लिए कह रहा हूँ योग्यता के लिए नहीं कह रहा हूँ। योग्यता के लि तो अगर आपको खाना पकाना है तो किसी बेपढ़ी-लिखी लड़की से सीखना ही पड़ेगा। योग्याता तो उसे कहा जाता है, जिससे वास्तविकता का अनुभव किया जाए। तो वास्विकता का अनुभव कराने वाला ज्ञान तो सबमें समान रूप से है या नहीं? है न? अच्छा एक बात बताओ भाई, आपके मान लेने से या जान लेने से आपकी जीवन की किसी समस्या का हल हुआ आ नहीं? बोलों- सत्संग ज्ञान से होता है, योग्यता से नहीं होता। आज हमसे यह ही गलती होती है। हमने ऐसे-ऐसे लोग देखे हैं, पांच , पांच छह-छह वर्ष की बच्चियाँ देखी हैं, जिनको पूरी गीता याद है। क्या गीता

का प्रभाव है उनके जीवन में? बोलो ..नहीं है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि मानव सेवा संघ का जो सत्संग है, उसमें सिखाया नहीं जाता, कोई नई बात नहीं बताई जाती। आपके जीवन का सत्य आपके सामने रख दिया जाता है। यदि सत्य को आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मै। आपसे पूछता हूँ-"मैं किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा" इसे गाने बिना आप धर्मात्मा हो सकते हैं क्या? खूब धर्मग्रन्थों को पाठ करों, खूब माला फेरो, खूब ध्यान करो। मैं किसी का विरोध नहीं कर रहा हूँ, मैं सबको ठीक मान रहा हूँ। लेकिन मैं पूछता हूँ कि अगर सत्य का आदर न करें तो धर्मात्मा हो सकते हैं? अच्छा जब तक धर्मात्मा नहीं होते तब तक जगत् के काम आते हैं क्या? बोलों, क्या राय है? धर्मात्माजब तक न हो, तब तक वह संसार के काम आ सकता है क्या? नहीं आ सकता है न। ठीक है कि नहीं?

धर्म माने संसार के काम आओ। और संसार के काम कैसे आओगे? इस सत्य को स्वीकार करो कि किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा। न मन से, न वाणी से और न कर्म से कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा। यह सबसे पहली बात है कि नहीं? नहीं? यह सबसे अधिक आवश्यकता है कि नहीं? किसी पुरुष से पूछो कि पूछे कि तुम्हें धर्मात्मा पत्नी चाहिए या धर्मरहित पत्नी चाहिए। क्या कहेगा कि धर्मात्मा चाहिए। अच्छा, धर्मात्मा कब होगी, जब हानि न पहुँचाए।

देखिए, देखिए एक और विचार करके देखो भाई। बुरा मत मानना, मैं, बेपढ़ा-लिखा हूँ आप पढ़े लिखें हैं। यह बम्बई शहर है। आप लोग इतने पढ़े हैं कि मुझे बीस बरस पढ़ाएँगे। मैं आपसे निवेदन करता हूँ। लोग कहते हैं कि हमें तो धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र चाहिए। धर्म शब्द से लोग डरते हैं। धर्म से डरते हैं कि मजहब से। बोलों, धर्म और मजहब एक नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जो निषेधात्मक हो। और जो विध्यात्मक प्रवृत्तियाँ हैं वे मत, मजहब और सम्प्रदाय कहलाते हैं। जो निषेधात्मक सत्य है, वह धर्म कहलाता है। जैसे, मैं किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा-यह तो धर्म हो गया और में किस-किस प्रकार से दूसरों को लाभ पहुँचाऊँगा यह मजहब हो गया। तो मजहब धर्म के बिना निर्जीव होगा कि सजीव होगा?

जरा विचार करो। देखो, धर्म क्या है? इस्लाम मजहब आपने सुना है,

हिन्दू इज्म, ईसाइयत् यह सुनी है न। अब देखो, मजहब और धर्म का भेद बताता हूँ; धर्म सब मजहबों में है। अच्छा बताओ किसी मुसलमान भाई से पूछो कि तुम्हें कोई तकलीफ पहुँचाए तो तो कैसा लगेगा? क्या कहेगा वह। अगर ईसाई से पूछो तो, हिन्दू से पूछो तो। जिसमें सब एकमत हों, वह धर्म कहलाता है और जिसमें भेद हो, वह मजहब कहलाता है। तो मजहब व्यक्तिगत सत्य होता है और धर्म यूनिवर्सल सत्य होता है। यानि धर्म जो है वह विश्वव्यापी सत्य है। अर्थ क्या हुआ कि धर्म सबमें एक है। हम तो हिन्दू विद्वानों से सुनते हैं तो वे भी कहते हैं कि परमात्मा के सिवाय कुछ है ही नहीं। यह सुना है तुमने या नहीं। "सर्व खल्विदं ब्रह्म" और इस्लाम कहता है सिवाय खुदा के कुछ है ही नहीं। बोलो-क्या फर्क हुआ। तो झगड़ा धर्म में है कि इज्म में। इज्म में मजहब में झगड़ा होता है या धर्म में। एक छोटा-सा बच्चा है अपनी माँ को अपने ढंग से बुलाता है। कोई मम्मी कहता है, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है, लेकिन माँ क्या समझती है? माँ समझती है या कुछ और समझती है। क्या राय है-माँ समझती है। ऐसे ही किसी ने कह दिया कि सिवाय खुदा के कुछ नहीं, किसी ने कह दिया कि सिवाय परमात्मा के कुछ नहीं, किसी ने कहा दिया सिवाय सत्य के कुछ नहीं। जीवन एक है। धर्म एक है। यह सबने कहा कि नहीं कहा? तो यह धर्म है। धर्म में भेद होता।

हमें तो कभी-कभी हँसी आती है। जब लोग कहते हैं कि हमें धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र चाहिए। सैकुलर स्टेट का मतलब यह है कि मजहब के नाम पर, अपने बाहरी रहन-सहन के कायदे कानून के आधार पर स्टेट मत बनाओ। यह मतलब है कि सचमुच मनुष्य के जीवन का जो सत्य है, उस सत्य को निकाल कर फेंक दोगे क्या?

तो मानव सेवा संघ ने कहा-हे मानव, मानवमात्र का धर्म भिन्न नहीं हो सकता। मानव मात्र का धर्म एक ही है।

अगर आप मानव हैं और मैं मानव हूँ। अगर कोई इसाई, मुसलमान, पारसी, हिन्दू कोई भी हो। अगर वह इंसान है तो इंसानियत एक होगी या अलग-अलग होगी। तो जो एक होगा-सो धर्म होगा या जो अलग-अलग होगा, सो धर्म होगा। कोई कहेगा हम तो गाडेंगे तो गाड़ दो भाई, हम जलाएँगे तो जला दो, हम सुखाएँगे तो सुखा दो। इसमें फर्क हो सकता है।

शरीर हमसे अलग होगा ही। इस शरीर की गति-विधि करने में आप अलग-अलग ढंग से सोचेंगे। क्या राय है? यह मैं मिसाल दे रहा हूँ, समझाने के लिए। लेकिन शरीर से अलग होना जो है यह सबके लिए एक-सा है कि अलग-अलग है?

सत्य को स्वीकार किए बिना आप सत्य को प्राप्त कर पाएँगे क्या? कभी नहीं कर पाएँगे। इसलिए महानुभाव, यह बात आपकी सेवा में निवेदन की गई, कि आप मानव हैं और मानव होने के नाते यह स्वाधीनता आपको ही प्राप्त है। सारी सृष्टि में आपका पता लगाइये जितनी भी योनियाँ है मानव को छोड़कर, सबको भोगयोनि के नाम से कहा गया है। तो भोगयोनि सत्संग कर सकती है क्या? और मानव मात्र सत्संग कर सकता है।

अच्छा, सत्संग करने के बाद आपके जीवन में साधना का उदय हो जाएगा कि नहीं हो जाएगा और साधना का उदय होने से साध्य मिल जाएगा कि नहीं जाएगा? तो तात्पर्य क्या निकला? हम मानव हैं और मानव होने के नाते सत्संग कर सकते हैं। सत्संग करने से साधना का उदय होता है और साधना का उदय होने से साध्य की प्राप्ति होती है। तो इसका नाम सत्संग है, या किसी और को सत्संग कहोगे।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि सत्संग मनुष्य का पुरुषार्थ है, परम पुरुषार्थ है। सत्संग मनुष्य की मानवता है। सत्संग इंसान की इंसानियत है। इंसानियत कहो सत्संग कहो, मानवता कहो सत्संग कहो, स्वधर्म कहो सत्संग कहो। स्वधर्म सब का एक है या अलग-अलग है। और शरीर धर्म एक है क्या? एक हो सकता है क्या? नहीं हो सकता। तो स्वधर्म का नाम है सत्संग, सत्संग से होगी साधना और साधना से मिलेगा साध्य। और सत्संग करने में मानव मात्र स्वाधीन है।

क्या बताएँ, कई साधक हमसे एकान्त में बात करने आए। एक भाई आए। बड़ा परिश्रम करते हैं साधना के नाम पर लेकिन बेचारे को संतोष नहीं हुआ। तो हमसे पूछा- स्वामी जी, इतने वर्ष हो गए, बड़ी ईमानदारी के साथ हम अभ्यास करते हैं, पर हमको संतोष नहीं होता। हमने कहा, भैया एक बात तो सोचो, संतोष नहीं होता तो उस संतोष को सबल क्यों नहीं होने देते। वर्तमान स्थिति से जब गहरा असंतोष होता है, तो आगे बढ़ने की राह मिलती है। एक भाई ने कहा कि मैं मुक्ति चाहता हूँ। मुक्ति

मिलने में कहाँ देर लगती है? अपने ज्ञान का आदर करो, अभी मुक्त हो जाओ। अपनी श्रद्धा का आदर करो कभी भक्त हो जाओ। अपने विश्वास के आदर से आप भक्त हो सकते हैं, अपने ज्ञान के आदर से आप मुक्त हो सकते हैं। तो मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे कि चाहे हिन्दू हो, चाहे किसी मजहब का हो, किसी इज्म का हो, किसी वर्ग का हो, किसी परिस्थिति का मानव हो, लेकिन जीवन का सत्य सबका एक है। तो सत्य के नाते हम सब एक हैं कि नहीं? बुराई-रहित सेठ को भी होना है और बुराई रहित सैक्रेट्री को भी होना है।

अपना अपने ने अभी है

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

कुछ लोग संसार को मानते हैं, उन्हें बुराई-रहित होना पड़ेगा। कुछ लोग अपने को मानते हैं, उन्हें अचाह होना पड़ेगा। कुछ लोग प्रभु को मानते हैं, उन्हें प्रेमी होना पड़ेगा। इन तीन में से कोई एक बात माननी पड़ेगी। बुराई-रहित होना सबके लिए अनिवार्य है। संसार को मानकर चलो, अपने को मानकर चलो, परमात्मा को मान कर चलो-बुराई करने का अधिकार किसी मानव को नहीं है। और अचाह होना भी जरूरी है क्योंकि अचाह हुए बिना बुराई-रहित नहीं हो सकते और प्रेमी भी नहीं हो सकते।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद यह तो एक जीवन का विज्ञान है और एक दर्शन है। जीवन का विज्ञान हमें बुराई-रहित होने के प्रेरणा देता है और जीवन का दर्शन हमें अचाह होने की प्रेरणा देता है। अगर हम बुराई करेंगे, तो वह बुराई हमारे साथ हो जाएगी, हमारे प्रति होने लगेगी। इसलिए जो संसार से लेना चाहो, वह संसार को दो। अगर संसार से भलाई लेना हो, तो भलाई करो। इसी को धर्म कहते हैं। यह जीवन का विज्ञान है। और यदि संसार से कुछ नहीं लेना है, तो अचाह हो जाओ। बुराई करो मत और अचाह हो जाओ। तो संसार से तुम्हारा सम्बन्ध टूट जाएगा।

यदि इससे भी काम न चले तो प्रभु की शरणागति ले लो। हम जान लें कि प्रभु कब मिलेंगे, यह गलत बात है। प्रभु जाने नहीं जाते, प्रभु माने जाते है।। तो प्रभु को मानना अगर आपको पसंद है, तो मान लो। पहले तो यही मान लो कि हैं। इसी को आस्था कहते

हैं। फिर मान ले कि अभी हैं। पहले भी थे, अभी भी हैं और आगे भी रहेंगे, सदैव रहेंगे। प्रभु कहते ही उसे हैं, जो सदैव हो। तो प्रभु हैं, अभी हैं, अपने में हैं और अपने हैं। अपने में होने से कहीं दूर नहीं हैं।

तो जो अपने में होता है, उसकी प्राप्ति के लिए यह बात मानी हुई न होकर अपनी हो जाए, सिद्ध हो जाए। तो जो चीज अपने में होती है, उसके लिए पराश्रय नहीं होता, परिश्रम नहीं होता। यानि, किसी और के द्वारा- शरीर के द्वारा या मन के द्वारा या बुद्धि के द्वारा या इन्द्रियों के द्वारा उसको प्राप्त नहीं किया जाएगा, क्योंकि अपने में है। शरीर के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा, मन के द्वारा, बुद्धि के द्वारा तो उसकी ओर दौड़ते हैं, जो अपने से अलग हो, जैसे संसार है। तो संसार की ओर चलते हैं, तो शरीर की जरूरत पड़ती है, इन्द्रियों की जरूरत पड़ती है, मन की जरूरत पड़ती है, बुद्धि की जरूरत पड़ती है और वह है अपने में।

अब इस शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि का क्या उपयोग होगा? यहाँ एक बात बड़े महत्त्व की मालूम होती है। शरीर के द्वारा जब हम बुराई नहीं करते हैं, बुराई करना छोड़ देते हैं, तब हम बुरे नहीं रहते, भले हो जाते हैं। और जब भलाई करते हैं, तब हम संसार के काम आते हैं। लेकिन उस भलाई के बदले में यदि हमें कुछ चाहिए, तो हम पराधीन हो जाते हैं। बुराई न करें, तो भले हो जाएँ, भलाई करें तो संसार के काम आ जाएँ। संसार को भलाई चाहिए, संसार को बुराई तो चाहिए नहीं। तो भलाई करने का मतलब होता है संसार के काम आना। बुराई छोड़ने का मतलब होता है भला होना। तो इसका मतलब यह हुआ कि बुराई करते हुए तो हम भले हो नहीं सकते और जब भले नहीं हो सकते, तो भलाई कर ही नहीं सकते। पहली बात है बुराई-रहित होना, जिससे कि हम संसार के काम आएँ। लेकिन संसार के काम आए और उसके बदले में कुछ चाहा तो फिर हम पराधीन हो जाएँगे।

इस दृष्टि से संसार से मुक्त होकर हम अपने में संतुष्ट हो जाएँ तो परमात्मा मिल जाता है। जिन्हें पहले मिलना हो, पीछे मानना हो, उनके लिए तो एक यह तरीका है। और जिनको पहले मानना हो वे क्या करें? तो वे यह भी मान लें कि सब परमात्मा का है। परमात्मा को अपना मानने के लिए यह मानना पड़ेगा कि संसार जो है, यह परमात्मा का है। सब कुछ प्रभु का है,

मेरा नहीं है, किसी और का नहीं है, तो परमात्मा से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

हमसे गलती क्या होती है, कि मन को तो अपना मानते हैं और परमात्मा में लगाना चाहते हैं। तो फिर मन परमात्म में नहीं लग सकता, या संसार में कुछ अपना मानते हैं और परमात्म को पाना चाहते हैं, तो नहीं पा सकते। यह सब परमात्मा का है, यह सब मान सकते हैं कि परमात्मा मेरा है। मेरा भी परमात्मा है, संसार का मालिक भी परमात्मा है। तो मेरा परमात्मा है, यह प्रेम के लिए होता है, प्रेमी होने के लिए होता है। मैं परमात्मा का हूँ, यह अभय होने के लिए होता है। अगर तुम भयभीत हो, चिन्तित हो, दुःखी हो, परेशान हो, तुम्हें कुछ असंतोष है जीवन में, तो परमात्मा के होकर रहो। तुम्हारा भय दूर हो जाएगा, दुःख दूर हो जाएगा, चिंता दूर हो जाएगी, अशांति मिट जाएगी-केवल यह बात मानने से, कि मैं परमात्मा का हूँ और यह सब परमात्मा का है। अगर आपने यह नहीं माना कि सब परमात्मा का है, तो मैं परमात्मा का हूँ-यह बात ठहरेगी नहीं, जमेगी नहीं, जीवन में नहीं आएगी। तो जो कुछ है, सब परमात्मा का है और मैं भी परमात्मा का हूँ। तो मेरा तो कुछ नहीं हुआ न? मेरा कुछ नहीं हुआ, तो संसार की कामना तो वैसे ही चली गई। मेरा कुछ है नहीं और मैं परमात्मा का हो गया तो मुझे चाहिए क्या? तो मैं अचाह भी हो जाऊँगा। परमात्मा का होने का मतलब है अचाह होना, क्योंकि मैं परमात्मा का हूँ। फिर परमात्मा की महिमा का दर्शन होगा आपको। जब तक परमात्मा के हो नहीं जाएँगे, और सब कुछ परमात्मा का नहीं मानेंगे, तब तक परमात्मा की महिमा का बोध नहीं होता, दर्शन नहीं होता, अनुभव नहीं होता। जब तक परमात्मा की महिमा का अनुभव नहीं होता तब तक परमात्मा में प्रेम भी नहीं होता। ऐसी बात है। इसलिए चाहे निराश होकर चाहे जानबूझकर कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, संसार किसी व्यक्ति का नहीं है। देवकी जी कह रही थीं, न कि मैं ने अपने को तो बनाया नहीं है। संसार को भी किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया। जब कोई चीज दिखाई देती है, तो उसका कोई मालिक होता है। तो यह संसार बेमालिक का है क्या? किसी की मिल्कियम को पसन्द करो और मालिक को नापसन्द करो तो चोर, बेईमान कहलाओगे कि नहीं कहलाओगे? जी। किसको कहते हैं, बेईमान किसको कहते हैं? जो दूसरे

की चीज को अपना माने, पसन्द कर ले। पसन्द करना ही अपना मानना होताहै। यह नहीं कि आपको कोई चीज मिल जाएगी तब उसे आप अपना मानेंगे। इसलिए पसन्द करने से ही कामना पैदा होती है। तो संसार मेरा नहीं है, मेरा हो भी नहीं सकता। मैं चाहूँ कि संसार बना रहे तो नहीं रख सकता वस्तु बनी रही तो नहीं रख सकता। तो संसार मेरा नहीं है, इसलिए मुझे ईमानदारी के साथ अचाह होना चाहिए। संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए क्योंकि संसार मेरा नहीं है, परमात्मा का है। तो संसार में और परमात्मा में इतना अन्दर है कि अगर संसार को अपना मानोगे, तो मिलेगा नहीं और बेईमानों की सूखी में नाम लिख जाएगा, पराधीन हो जाएँगे हम, बेईमान हो जाएँगे। और अगर परमात्मा के होकर रहोगे तो संसार भी आपको अपना मान लेगा। देखिए, दो बातें होती हैं। एक तो संसार हमको अपना माने और एक हम संसार को अपना मानें। तो अगर हम संसार को अपना मानेंगे, तब तो यह बेईमानों में नाम आ जाएगा और हो नहीं सकेगा क्योंकि संसार हमारा है नहीं। और संसार को हम अपना नहीं मानेंगे और परमात्मा के होकर रहेंगे, कि भई, हम तो प्रभु के होकर रहेंगे, तो संसार प्रभु का है न? प्रभु के होने के नाते से संसार भी तुम्हें पसन्द करेगा और तुम अभय हो जाओगे। भय नहीं रहेगा, तुमको कोई चिंता नहीं रहेगी, कोई दुःख नहीं रहेगा क्योंकि परमात्मा के हो गए न। परमात्मा तो पूर्ण है सब प्रकार से महान् है। मैं परमात्मा का हूँ, यह संसार परमात्मा का है, यह बात अगर तुम मान लो-यह मानने की बात है, जानने की बात नहीं है, समझने की बात नहीं है, करने की बात नहीं है, यह मानने की बात है। मैं परमात्मा का हूँ, मैं परमात्मा का हूँ, यह संसार परमात्मा का है, यह सब कुछ परमात्मा का है, मैं परमात्मा का हूँ। ऐसा मानने से तुम्हें और कुछ करना नहीं रहेगा। संसार परमात्मा का हो गया न। अगर तुमने मान लिया कि मेरा हाथ है। तुम्हारे ऊपर कानून लगेगा कि यह काम करो। और मेरा तो है नहीं, परमात्मा का है, मैं परमात्मा का है, मैं परमात्मा का हूँ, संसार में मेरा कुछ नहीं है। मेरा कुछ नहीं है अर्थात् निर्मम होने से तुम्हारे ऊपर संसार का कोई टैक्स नहीं रहेगा। जिसके पास कुछ नहीं, उस पर कोई टैक्स होता है क्या? मेरा कुछ नहीं है यह ईमानदारी से मान लो-उसका फल होगा 'मुझे कुछ नहीं

चाहिए'। तो अचाह होना और निर्मम होना। और मैं प्रभु का हूँ, मैं प्रभु का हूँ। तो ऐसा अनुभव हुआ है लोगों को, भक्तों को कि जिन्होंने इस सत्य को मान लिया कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं प्रभु को हूँ तो प्रभु ने उन्हें अपना योग दिया है, बोध दिया है और प्रेम दिया और संसार ने उसको पसन्द किया है। संसार को वह बुरा नहीं लगा, जिसने यह मान लिया कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिए। संसार भगवान का है, मैं भी भगवान का हूँ। बताओ, सूर्य किसके हुक्म से समय पर निकलता है हवा किसके हुक्म से काम करती हे, आकाश किसके हुक्म से काम करता है। आखिर किसी कानून से चल रहा है न? मनमानी तो कर नहीं रहा कोई। तो यह सारी शक्ति जो है-संसार की शक्ति, संसार की रचना यह परमात्मा के होने से ही तो काम कर रही है न? परमात्मा के हुक्म से ही तो चल रहा है न? संसार जब यह देखता है, कि जो कोई आदमी संसार में अपनी ममता करता है, उससे संसार अप्रसन्न हो जाता है, खुश नहीं होता, उसके पीछे नहीं दौड़ता। लेकिन जो यह पसन्द कर लेता है कि सब मालिक का है, यह भी मालिक का है, मैं भी मालिक का हूँ, उसे सारा संसार अपना मान लेता है। आज क्या कारण है कि लोग हमको अपना नहीं मानते? इसलिए कुछ हम अपना मानते हैं, कुछ चाहते हैं। जो कुछ नहीं चाहता, जिसके पास कुछ नहीं है, अकिंचन है और अचाह है। जो अकिंचन और अचाह है, उसे संसार पसन्द करता है। और जो अकिंचन होता है और जो अचाह होता है, वह प्रभु का होकर रहता है। क्योंकि उसका तो कोई और है नहीं, कुछ है नहीं। मैं प्रभु को हूँ, मैं प्रभु का हूँ, यह बात अगर तुम ऐसे ही मान लो जैसे कि कोई तुमसे पूछे कि तुम्हारे बाप का क्या नाम है? फलां ना है, हालांकि वह बात सच्ची भी हो सकती है और झूठी भी हो सकती है। झूठी कैसे हो सकती है-इस सम्बन्ध में एक घटना सुनाएं आपको-एक बार एक सज्जन से हम बात कर रहे थे अलीगढ़ में, पढ़े-लिखे आदमी थे और साइन्टिस्ट थे वे। बात कहते-कहते, कहने लगे कि मेरा लड़का इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ता है। वे साइंस की बातें जानते थे, बहुत अच्छे योग्य आदमी थे। यह मुझे अब याद नहीं है, कि बी.एस.सी थे या एम.एस.सी. थे और एल.एल.बी. थे वकालत भी करते थे एक मुंसिफ के घर पर हम ठहरे थे,,

वहीं बात-चीत हो रही थी। जब उन्होंने कहा कि मेरा लड़का इलाहाबाद में पढ़ता है, तो मैंने कहा कि लड़का कितने बरस का है? उसने कहा बीस बरस का है। मैंने कहा कि वकील साहब, इतना सफेद झूठ बोलने वाला हमने आप जैसा कोई नहीं देखा। इतना कहना था कि वे तो एकदम कहने लगे कि क्या कह रहे हैं, स्वामी जी? मैंने आप मुंसिफ के सामने इतना सफेद झूठ बोलते हो। उन्होंने कहा मैं सत्य बोलता हूँ और आप कहते हैं, कि सफेद झूठ बोलता हूँ। तब मैंने कहा कि भाई, अभी तुमने यह कहा था, कि शरीर के सारे परमाणु सात बरस में बदल जाते हैं, और वह लड़का बीस बरस का है। तो बीस बरस पहले जिस शरीर से लड़का पैदा हुआ था वह बाप दो बार मर गया और तू कहता है लड़का मेरा है। और लड़का मेरा है। और लड़का भी तीन बार बदल गया। तो ईमानदारी से देखा जाए तो मनुष्य ईमानदारी से यह नहीं कह सकता, कि यह मेरी है। कह नहीं सकता। और जब यह मान लेता कि मेरा कुछ नहीं है, उसके बाद उसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह यह सोचे कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। अकिंचन अगर हो गया कोई और अचाह नहीं हुआ तो बड़ी दुर्दशा होती है। यह तो आप देखिए न? अगर मेरा कुछ होता और मेरे चाहने से कुछ होता तो जाने क्या-क्या चाहते?

तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं प्रभु का हूँ। मैं जो हूँ वह संसार का हूँ नहीं क्योंकि संसार में मेरा कुछ है नहीं। संसार की और मेरी जातीय भिन्नता है बिल्कुल। देखिए, शरीर बदलता रहता है, मैं कभी नहीं बदला। आप विचार करके देखो, किसी भाई को, किसी बहन को यह अनुभव नहीं होता कि जो मैं पहले था वह अब नहीं हूँ। सब कहते हैं, मैं तो वही हूँ। मेरा शरीर वैसा नहीं है, मेरी परिस्थिति वैसी नहीं है, मेरी सम्पत्ति वैसी नहीं है। तो संसार बदलने वाला, मैं न बदलने वाला, संसार अपने को अपने आप न जानने वाला, मैं अपने आपको महसूस करने वाला कि मैं हूँ। तो न बदलने वाला परमात्मा भी है। अविनाशी परमात्मा भी है और न बदलने वाला मैं भी हूँ। तो मैं परमात्मा की जाति का हूँ। ऐसा मानकर कि मैं परमात्मा की जाति का हूँ, अर्थात् मैं परमात्मा का हूँ, ऐसा अगर आप मान लेते हैं तो आपको संसार पसन्द कर लेता है। अगर आप यह मान लेते हैं कि मैं परमात्मा का हूँ, संसार में मेरा

कुछ नहीं है और मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिए।

तो इन तीन बातों से ही संसार आपको पसन्द कर लेगा। और जब संसार आपको पसन्द कर लेगा तो यह जो शरीर आपके पास है, उसकी प्रत्येक जरूरत को संसार अपनी जरूरत मान लेगा। अब संसार शरीर को अमर तो कर नहीं सकता क्योंकि संसार स्वयं अमर नहीं है। अगर शरीर की जरूरत को संसार अपनी मान लेगा, तब आपको पराधीनता का अनुभव होगा क्या? बोलो। तब कुछ कठिनाई मालूम होगी क्या? और आप संसार को पसन्द करें और संसार आपको पसन्द न करे तो? हम कहें किसी मोटर वाले से कि तुम हमको 25 तारीख की रात को मोटर भेज दना। मोटर वाला हमको पसन्द न करे तो हमको तकलीफ होगी या आराम मिलेगा? लेकिन अगर मोटर वाला पसन्द करे तो हमको तकलीफ होगी या आराम मिलेगी। आराम मिलेगा। इसी तरह से बहुत दृढ़ता के साथ मैंने इस बात पर जोर दिया कि परमात्मा के हो जाओ। परमात्मा का होने के लिए मैं यह आपको बता रहा हूँ कि इस बात को तो मान ही लो कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, जान लो इस बात को और संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए। तब आपमें यह सामर्थ्य हो सकता है कि आप यह कह सकें कि मैं प्रभु का हूँ। तो जब आप यह कहेंगे कि मैं प्रभु को हूँ और शरीर मेरा नहीं है, मन मेरा नहीं है, प्राण मेरे नहीं हैं, कोई वस्तु मेरी नहीं है तो यह संसार उसको अपना मान लेगा। शरीर का तथा संसार का है अविभाज्य सम्बन्ध। और परमात्मा तुमको अपना जानता ही है। परमात्मा तो इस बात को जानता ही है कि तुम उसके हो। और तुमने यदि मान लिया कि मैं परमात्मा का हूँ तो परमात्मा की जो कृपा-शक्ति है वह परमात्मा का प्रेम प्रदान करेगी, परमात्मा का योग प्रदान करेगी, परमात्मा का बोध प्रदान करेगी। परमात्मा की कृपा-शक्ति सब कुछ करेगी और संसार शरीर की जरूरत को पूरा करने में हर्ष अनुभव करेगा। तो जीवन कैसा हो जाएगा? पूर्ण आनन्दमय हो जाएगा।

ज्ञान का प्रकाश

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

संसार में कोई चीज-न शरीर अलग किया जा सकता है न परिवार

अलग किया जा सकता है। लेकिन एक बात की जा सकती है, कि जब तुम शरीर से काम करोगे समाज का, तब उसके बदले में परिवार का पोषण होगा और शरीर का पोषण होगा। जब शरीर से समाज का काम करोगे तो उसके बदले में जो मिलेगा, उससे परिवार का और शरीर का पोषण होगा। अब एक बात तो सोचो, कि समाज को हानि पहुँचा करके परिवार का पोषण करोगे या शरीर का पोषण करोगे, तो वह अकर्त्तव्य कहलाएगा। समझ में आई बात? समाज को हानि पहुँचा करके, दूसरों को हानि पहुँचा कर के यदि अपने लाभ की बात सोचोगे, जैसे किसी ने चोरी कर ली, किसी ने जेब काट ली, सामान उठा लिया-समाज को हानि पहुँचा करके अपने शरीर को और परिवार को सुख देना चाहा, उसको ऐसा नहीं करना चाहिए। इसको अकर्त्तव्य कहते हैं, अधर्म कहते हैं। यह करने योग्य बात नहीं है। लेकिन समाज को हानि बिना पहुँचाए अगर आपने परिवार की और शरीर की सेवा की तो यह धर्म कहलाएगा।

लेकिन, आज की दशा क्या है? जब देखिए, पश्चिमी पाकिस्तानी सरकार ने पूर्वी बंगाल को हानि पहुँचाई, या नहीं? और हानि पहुँचा करके चाहते हैं कि हमारी स्टेट बनी रहे, तो इसका परिणाम क्या होगा? स्टेट रहेगी नहीं। अभी जाए, कभी जाए, किसी समय जाए, जाएगी अवश्य। क्यों? अगर पूर्वी बंगाल को हानि न पहुँचाते तो जैसा इलैक्शन हुआ था और 98% वोट आया था मुजीबुर्रहमान का तो कहते भाई, बंगाल की सरकार तुम बना लो। बना लेने देते, फिर समझौता करते, तो कभी भी पाकिस्तान और बंगाल में विभाजन हो पाता क्या? जी, नहीं हो पाता। तो क्या बंगाल और पाकिस्तान एक रह पाएगा? हम तो सुनते हैं यहां तक कि बंगाल के आदमी, जो हिन्दुस्तान में बंगाल से आए हैं, एक करोड़ लगभग उनकी संख्या सुनते हैं। उनके न होने से हिन्दुस्तान से भी लड़ना चाहता हैं सुना है हमने, ठीक तो हमको मालूम नहीं है। सुनी हुई बात है कि मिलिट्री में जो ट्रेनिंग में थे उनकी ट्रेनिंग को कम कर दिया है। उन्हें भेजा है कि जाओ, तुम लड़ाई का काम सीख लो, फील्ड का काम सीख लो। अब देहरादून से लोग देवलाली में आ गए सीखने के लिए। इससे पता चलता है कि पाकिस्तान तैयारी कर रहा है हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने की।

अब मान लो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान पर विजयी हो जाएगा? जी, नहीं हो जाएगा। लेकिन हिन्दुस्तान का भी नुकसान होगा या नहीं? होगा। तो हिन्दुस्तान विजयी होकर भी हानि उठाएगा। पाकिस्तान पराजित होकर भी बर्बाद हो जाएगा।

यदि अब की बार पाकिस्तान की लड़ाई हुई तो क्या जमीन फिर वापिस कर दी जाएगी? तो पाकिस्तान ने अपने मिटाने का उपाय कर लिया। क्यों? उसने पूर्वी बंगाल को नुकसान पहुँचाया, यों। और मान लो अगर पूर्वी बंगाल ने कहा कि पाकिस्तान से अलग होना चाहते हैं तो आजकल तो कानून बना दिया कि बहुमत जो कहे सो मानो। पाकिस्तान जो बना, पाकिस्तान कोई नया देश था क्या? यह मैं एक बात समझा रहा हूँ-यह मेरा विषय नहीं है। आपके बात समझ में आ रही है कि नहीं? मैं यह समझा रहा हूँ कि जब बहुत से मुसलमानों ने कह दिया कि हम हिन्दुओं के साथ नहीं रहना चाहते, तो पाकिस्तान बना। तो पाकिस्तान किस आधार पर बना? बहुमत के आधार पर बना या किसी और आधार पर बना? और बंगाल जो अलग होना चाहता था, वह बहुमत के आधार पर होना चाहता था कि किसी और आधार पर होना चाहता था। तो जिस आधार पर पाकिस्तान बना, उसी आधार पर बांग देश बनाना चाहता था। आधार तो दोनों का एक ही रहा। तो यह बात झूठी थी न। कौन-सी बात झूठी थी? कि हिन्दू मुसलमान साथ नहीं रह सकते। अब तो यह साबित हो गया कि मुसलमान-मुसलमान भी साथ नहीं रह सकते। अब क्या करोगे? ऐसे ही कुछ दिन के बाद और लड़ाई हो जाए परिवार में और पति-पत्नी कहें, हम साथ नहीं रह सकते तो स्त्रियों की अलग गवर्नमैण्ट बनेगी क्या, पुरुषों की अलग बनेगी, लड़कों की अलग बनेगी? बोलो, क्या राय है? तो यह झूठी बात है न। तो जब बहुमत के सत्य को मान लिया था तो पाकिस्तान सरकार को बहुमत का आदर करना चाहिए था। क्या राय है? आपकी आजकल यही तो सत्य मान लिया है, कि बहुत से लोग जिस बात को कह दें, वह बात मान ली जाए चाहे झूठ हो। ऐसा मान लो कि सौ होवें बेवकूफ और निन्यानवें हों, बुद्धिमान तो सौ बेवकूफ निन्यानवें बुद्धिमानों को हरा दें। यही नीति गलत है कि नहीं? लेकिन गलत नीति से ही पाकिस्तान बना था। तो जिस नीति से पाकिस्तान बना था उसी नीति से तो बंगलादेश अलग होना

चाहता था। तो उसको नहीं होने दिया और बल का प्रयोग किया। तो बल के प्रयोग से अब पाकिस्तान जिंदा रह पाएगा? कभी नहीं जिंदा रह सकता।

इसलिए देवकी जी ने यह बात कही कि भाई, देखों, शरीर से काम करना मत छोड़ो। काम करना छोड़ने से काम नहीं बनेगा, लेकिन एक बात का ध्यान रखो कि हम संसार का काम कर रहे हैं, अपना काम नहीं कर रहे हैं। बड़ी भारी लगती यह हो जाती है, कि आदमी जब व्यापार करने चलता है, नौकरी करने चलता है तो कहता है, मैं साहब, अपने लिए कर रहा हूँ। तो बेईमानी करने से चूकता नहीं। क्या राय है? अगर हम यह मान लें कि मैं अपना काम नहीं कर रहा, मैं तो संसार का काम कर रहा हूँ। क्योंकि संसार से शरीर तो अलग हो नहीं सकता। संसार का काम करके शरीर का और परिवार का पोषण कर रहा हूँ-यह तो हो जाए धर्म-मर्यादा, लेकिन आदमी मान लेता है कि मैं तो अपना काम कर रहा हूँ। तो मिल-ओनर मजदूरों की परवाह नहीं करता, मजदूर मिल-ओनर की परवाह नहीं करते। एक वर्ग दूसरे वर्ग की परवाह नहीं करता और आपस में संघर्ष होकर नुकसान होता रहता है।

इसलिए मानव-सेवा-संघ ने यह बात बड़ी सुन्दर बात बताई, कि हे मानव, तुम यह मानकर मत सोचो कि मैं अपना काम कर रहा हूँ, यह सोचो कि मैं संसार का काम कर रहा हूँ। यह तो पहली बात कही कि संसार का काम कर रहा हूँ। और संसार का मालिक परमात्मा है, अतः यह परमात्मा का काम हो गया। तो परमात्मा के काम में बेईमानी करना चाहिए क्या? आलस्य करना चाहिए क्या? अच्छा, अगर मान लो, कल्पना करो थोड़ी देर के लिए। जैसा कि लोग कहते हैं आजकल कि मजदूरों ने ठीक काम किया और मिल ओनर ने बेईमानी की। थोड़ी देर के लिए मान लो ऐसा कहते हैं। हमें तो दोनों ही बातें सुनने को मिलती हैं। कहीं-कहीं मजदूरो की बेईमानी सुनने को मिलती है। आजकल तो ऐसा युग हो गया है न, कि लेबर क्लास का जो लीडर है न, वह मजदूरों को बेईमान बनाता है। काम मत करो, बोनस मांगो, समझोते को तोड़ दो, तो नतीजा यह है कि अगर मिल-ओनर कोई बोनस आपको देगा, अगर काम कम हो जाएगा तो दे पाएगा ईमानदारी से? जी, तो आमदनी घटाने जाओ और बोनस मांगने जाओ, यह कौन सी बहादुरी की बात है। ऐसे

बेसमझ लीडर की बात माननी चाहिए क्या? जी, कभी नहीं माननी चाहिए। एक बात है कि मांगते रहो लेकिन काम कम छोड़ दो। तो काम कभी नहीं छोड़ना चाहिए। एक तो हड़ताल कभी नहीं करना चाहिए और एक काम अधिक से अधिक करना चाहिए। क्योंकि काम के बदले में ही तो मिलेगा बोनस। तरक्की अगर होगी तो काम के बदले में होगी कि काम छोड़ने में होगी। इसका मतलब यह नहीं है मैं मिल ओनर से कोई फीस लेता हूँ इसलिए कहता हूँ। मिल-ओनर को भी यह कहता हँ कि मिल तभी चल सकेगा, जब मिल के हर आदमी की सेवा का ध्यान रखोगे। कल्पना करो, मिल में आमदनी बढ़े, उससे स्कूल खोल दि जाएँ, मिल में काम करने वालों के बच्चों को पढ़ने को मिल जाए। अस्पताल खोल दिए जाएं, उनको चिकित्सा मिल जाए। उन्हें कोई तकलीफ न रहे। मगर भैया, एक बात तो बाताओ, क्या हर आदमी इंजीनियर बन जाएगा, तब मिल चल पाएगा क्या? कभीनहीं चल पाएगा। तो देखिए, कि जर्मन के और जापान के लोगों ने-वहाँ के अफसरों ने भी, वहाँ के क्लर्कों न भी, वहाँ के मजदूरों ने भी खूब काम किया, ईमानदारी से काम किया तो जर्मन और जापान इतना मालदार हो गया कि जापान का कर्जा तो अमेरिका पर हो गया। जो अमेरिका पाकिस्तान को, हिन्दुस्तान को कर्जा देता फिर रहा है, जापान का कर्जा अमेरिका पर, वह इतना मालदार हो गया। जापान की चीजें अमेरिका में जाकर बिकने लगीं, इतना काम हो गया। और जर्मन जो था, वह इतना मालदार हो गया कि उसका बर्बाद देश फिर आबाद हो गया और हिन्दुस्तान आजाद देश बर्बाद हो गया क्यों? सही काम नहीं किया यों। सही काम क्यों नहीं किया कि हम इस बात को भूल गए कि यह तो संसार का काम है, शरीर संसार के लिए मिला है और संसार का मालिक परमात्मा है।

अगर संसार हमारे साथ बेईमानी करेगा तो परमात्मा भी तो हमें देखेगा। तो भई, मालिक को भी तो देखने देते। तो परमात्मा को नहीं देखने दिया, अपने आप अपने साथ में सब ले लिया। बजाए मिल ओनर के तुम बेईमानी करते हो, तुम तो नहीं कर पाओगे, हम करेंगे। तो तुम बेईमानी मत करो, हम बेईमानी करेंगे, इससे उन्नति नहीं होगी।

इसलिए देवकी जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा कि अगर तुम

साधक होना चाहते हो, मानव होना चाहते हो, और शांति चाहते हो, तो मेरा कोई काम नहीं है संसार का काम है, ऐसा मानो। संसार का काम करो, अपना काम मत करो। अपना काम नहीं करोगे, तो लोभ नहीं उत्पन्न होगा और लाभ का लालच नहीं होगा, हानि का भय नहीं होगा। अब मैं एक बात आपको बता दूँ, बड़े ऊँचे दर्जे की बात है, और यह प्रकृति के विधान की बात है, संसार के विधान की बात है। अगर हमारे जीवन में लोभ न रहे, तो दरिद्रता नहीं रह सकती। इस बात को आज भूल गए हैं लोग। यह जीवन का विज्ञान है कि निर्लोभता से दरिद्रता नाश होती है। ऐसे ही निर्मोहमा से भय नाश होता है। ऐसे ही निष्कामना से अशांति नाश होती है। अशांति नाश होती है निर्लोभता से। अब निर्लोभता होने से दरिद्रता नाश होती है, यह प्रकृति का विधान है, ईश्वर का विधान है। यह मनुष्य का विधान नहीं है जो बदल जाएगा। इसलिए महानुभाव, अगर हम सचमुच निर्लोभ हो जाएं तो दरिद्र नहीं रह सकते, अगर निर्मोह हो जाएं तो भय नहीं रह सकता। और अगर निष्काम हो जाएं तो अशांति नहीं रह सकती। परन्तु आज इस जीवन-विज्ञान पर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। हमें यह बताया ही नहीं जाता। आज हमारे पास चिट्ठियाँ आती हैं, लड़के लिखते हैं कि बिना सिफारिश के काम ही नहीं मिलता। ऐसे ही लोग कहते हैं कि बिना बेईमानी के काम नहीं चलता है। इतना ही नहीं, यहाँ तक कहते हैं, कि बेईमानी से लोग फलते-फूलते हैं। लेकिन यह कोई नहीं कहता आकर मुझसे, कि मैंने बेईमानी की और मैं फला-फूला-दूसरों के लिए ही कहते हैं। ये झूठी बातें फैल रही हैं। इन झूठी बातों को जीवन में से निकाल देना चाहिए।

अगर गरीबी मिटेगी, तो निर्लोभता से मिटेगी। और किसी प्रकार गरीबी नहीं मिटेगी। अत्पादन बढ़ेगा तो परिश्रम से बढ़ेगा। काम अच्छा होगा तो ईमानदारी से अच्छा होगा। तो सबमें ईमानदारी आनी चाहिए। मिल-ओनर में भी ईमानदारी आनी चाहिए, ऑफीसर में भी ईमानदारी आनी चाहिए। एक दफा टाटा एक जगह है न टाटा नगर बहुत बड़ा कारखाना है टाटा जी का। तो वहाँ मजदूरों की तनख्वा बढ़ाने का प्रश्न हो रहा था। टाटा जी ने कहा कि, हम तो बढ़ाना चाहते हैं, और क्या बताएँ हमारे ऑफीसर लोग नहीं चाहते हैं।

यह बड़े आदमी की कही हुई बात कहता हूँ। ऐसी-वैसी बाजारू बात नहीं कहता हूँ। तो मतलब क्या, कि ऑफीसर इस बात में बुद्धिमानी समझते हैं कि मिल-ओनर की आमदनी बढ़ जाए मजदूरों की भले ही कम हो जाए। यह भी बेवकूफी है। मजदूर भी तो सुखी रहे और मिल-ओनर भी सुखी रहे और वह स्वयं भी सुखी रहे। सभी सुखी रहें, इसी भाव से काम करना चाहिए। अगर आप मजदूर को दुखी रखोंगे तो आगे चलकर आप को दुःखी होना पड़ेगा। और अगर ऑफीसर, मिल-ओनर को ही सुखी बनाएँगे-तो देखो, एक बात बताऊँ आपसे, जो सुख के पीछे दौड़ेगा, उसे दुःख मजबूर होकर भोगना पड़ेगा। सुख के भोगी को दुःख भोगना पड़ेगा, क्योंकि सुख बांटने के लिए आता है। अगर आप सुखी हैं, तो आप दूसरों की सेवा कीजिए। अगर आप दुखी हैं तो सुखियों से सुख छीनिए मत। आज आप उल्टी गंगा बहाना चाह रहे हैं कि दुखी होकर सुखियों का सुख छीनना चाहते हैं और सुखी होने पर दुखियों की सेवा नहीं करना चाहते हैं, मानव सेवा संघ ने कहा ये दोनों बातें गलत है। सुखी होने पर दुखियों की सेवा करो और दुखी होने पर त्याग को अपनाओ। दुखी के मन में भी गौरव होना चाहिए। देखिए एक बार हमारे उत्तर प्रदेश के चीफ जस्टिस नैनीताल के जंगलों में घूम रहे थे। उन्होंने झोंपड़ी में एक आदमी को देखा-बहुत प्रसन्न, बड़ा मस्त देखा, बड़ा खुश देखा। पूछने लगे वे जस्टिस साहब उस आदमी से, जिसकी झोंपड़ी थी, बढ़िया मकान नहीं था, बहुत सामान नहीं था-तुम इतने खुश कैसे रहते हो। वह बोला, काम करता हूँ, खाता हूँ, मस्त रहता हूँ। तो चीफ जस्टिस ने कहा कि ऐसी खुशी मुझे कभी नहीं मिली। अभी एक आदमी मुझको सुना रहे थे कि दो आदमी मजदूरी करने गए थे। वे दोनों आदमी बहुत खेल रहे थे, खुश हो रहे थे, विनोद कर रहे थे और मामूली-सी अपनी छोटी-सी झोंपड़ी थी, खाना पक रहा था और वे मस्त थे। उन्होंने पूछा, भैया क्या बात है? बात क्या है, तीन रुपये मुझको मिलते हैं, साढ़े तीन रुपये मेरी पत्नी को मिलते हैं। इतना रुपया कमाते हैं, खाते हैं, और मौज करते हैं। अपना एक रुपया, डेढ़ रुपया खाते हैं और क्या? तो वे सेठ कहने लगे कि ऐसी खुशी हमने कभी नहीं देखी अपने जीवन में, कि हम अपनी स्त्री के साथ इतने हर्षपूर्वक

बात कर सकते हों और खुले दिल से मिलकर रह सकते हों-यह प्रसन्नता हमको नहीं मिली।

तो दूसरों को तो हानि पहुँचाने की बात सोचते हो, अपने को लाभ लेने की बात सोचते हो। यह जो दुनिया में दुःख इतना बढ़ा गया, वह क्यों बढ़ गया? केवल इस बात के लिए कि लोगों ने दूसरों के दुःख का ध्यान नहीं दिया। हमारा साथी दुःखी न रहे-इस बात को लोग भूल गए। हम सुखी हो जाएं, लोग चाहे दुखी हो जाएं-इस बात को पसन्द कर लिया, उसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे सभी दुखी होते चले जा रहे हैं। आजकल कहते तो लोग यह हैं कि गरीबी मिटाओ, करते क्या हैं कि अमीरी मिटाओ। दुःख मिटाओ, सो नहीं कोई सोचता, सुख मिटाओ यानि जो सुखी हैं उन्हें भी दुखी बनाओ और दुखी तो बेचारे दुखी हैं ही।

तो मानव सेवा संघ ने यह बात बताई कि तुम संसार का काम मान कर करो और संसार को भगवान का मान कर करो। अगर प्रभु-विश्वासी हो, तो भगवान का मान कर करो अगर भौतिकवादी हो, तो संसार का मान कर करो। अपना कोई काम नहीं है। अपना काम क्या है? अपने को शांति चाहिए। काम के बदले में क्या मिलेगा? वस्तु मिलेगी, पैसा मिलेगा, पद मिलेगा-यही तो मिलेगा, शांति तो मिलेगी नहीं। तो अपने को शांति चाहिए। आपको शांति चाहिए, तो सही काम तो करो लेकिन उसको अपना मान कर मत करो। तो लाभ का लोभ नहीं होगा, हानि का भय नहीं होगा, आलस्य नहीं होगा, अकर्मण्यता नहीं होगी। यदि आलस्य और अकर्मण्यता नहीं होगी, लाभ का लोभ और हानि का भय नहीं होगा तो शुद्ध होगा और फिर शांत हो जाएगा। यही बात देवकी जी ने कही कि सही काम करने से ही शांति मिलती है।

और दूसरी बात उन्होंने यह कही-अध्यात्म-दृष्टि से-आध्यात्मवाद की दृष्टि से उन्होंने यह कहा कि अगर तुम शरीर से अपना नित्य सम्बन्ध नहीं मानोगे तो शरीर को अपना नहीं मानोगे, अपने को शरीर नहीं मानोगे यानि संसार से सम्बन्ध को तोड़ दोगे। मेरा कुछ नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए-इन दो बातों से सम्बन्ध जुड़ता है संसार से। जैसे यह हाथ मेरा है तो सम्बन्ध हो गया, मुझे अमुक वस्तु चाहिए तो संसार से सम्बन्ध हो गया। अगर अप्राप्त की कामना छोड़ देते हो, प्राप्त की ममता तोड़ देते हो तो ही तुमको

शांति मिलेगी। प्राप्त की तो ममता तोड़ दो, अप्राप्त की कामना छोड़ दो तो शांति मिलेगी, जरूर शांति मिलेगी।

ऐसे ही तीसरी बात उन्होंने बताई कि भाई, अगर तुम परमात्मा को मानते हो-देखो, परमात्मा का मानना सबके लिए संभव नहीं होता। वैसे तो परमात्मा से कुछ फायदा होगा-इस बात के लिए तो चोर भी परमात्मा को मानता है, जेल काटने वाला भी परमात्मा को मानता है, बेईमानी करने वाला भी परमात्मा को मानता है कि कुछ लाभ हो जाए, कुछ लाभ हो जाए। यह परमात्मा को मानना नहीं कहलाता। परमात्मा का मानना कहलाता है कि परमात्मा हमें चाहिए परमात्मा से हमें कुछ नहीं चाहिए। यह भाषा समझ में आती है? यानि परमात्मा हमारा साध्य है। परमात्मा चाहिए, परमात्मा से कुछ नहीं चाहिए। संसार का काम करना है, संसार से कुछ नहीं चाहिए। दो ही चीजें तो हैं मांगने के लिए-एक तरफ संसार, एक तरफ परमात्मा। तो परमात्मा से कुछ नहीं चाहिए, संसार से कुछ नहीं चाहिए।

लेकिन संसार का काम करेंगे और परमात्मा के प्रेमी रहेंगे। परमात्मा को अपना मानेंगे, और संसार का सही काम करेंगे, परमात्मा के नाते करेंगे और प्राप्त की ममता तोड़ देंगे, अप्राप्त की कामना छोड़ देंगे-ये चार बातें हुईं-संसार का काम करेंगे, पर उसे अपना नहीं मानेंगे, प्राप्त की ममता तोड़ देंगे, अप्राप्त की कामना छोड़ देंगे, परमात्मा को अपना मानेंगे। तो परमात्मा को अपना मानने वाले कोई बिरले भक्त होते हैं। राम-राम कहो कुछ फायदा हो जाएगा, दान करो, कुछ फायदा हो जाएगा। तो हमने बेईमानों को भी दान करते देखा है, बेईमानों को भी राम-नाम कहते देखा है। तो भाई परमात्मा का मानना, इस तरह का धर्म का मानना, मानना नहीं है। दान करोगे तो कुछ लाभ तो होगा ही लेकिन दान करने से ज्यादा ऊँची चीज है ईमानदारी से धन कमाना, ईमानदारी से काम करना, जो मिले, उसमें संतोष करना, मिल हुए में से बचे तो देना-यह हुआ देना। बहुत सा दान करना अच्छा नहीं है। क्योंकि दान करने के लिए आदमी कभी-कभी बेईमानी करने लगता है। बेईमानी का धन दान करने से लाभ नहीं होता, ईमानदारी का धन दान करने से लाभ होता है।

इसलिए मैं यह निवेदन कर रहा था कि संसार के साथ ईमानदारी

का व्यवहार करो, परमात्मा के प्रेमी रहो। यह कब होगा? जब तुम यह सत्य अनुभव करोगे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब तक इस सत्य को नहीं मानोगे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, तब तक परमात्मा के प्रेमी नहीं हो सकते और संसार के लिए ईमानदार नहीं हो सकते। तो यह अध्यात्मवाद जो है ज्ञान का जो प्रभाव है वह बहुत जरूरी है, ज्ञान से ही मनुष्य, मनुष्य कहलाता है। जो ज्ञान का प्रकाश हमें यह प्रेरणा देता है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। यह ज्ञान प्रेरणा देता है और विश्वास हमें प्रेरणा देता है कि प्रभु अपने हैं। और कर्त्तव्य हमें प्रेरणा देता है कि सही काम करेंगे। सही काम करेंगे और अचाह होकर रहेंगे, प्रभु को अपना मानेंगे। तीन बातें हुईं-सही काम करेंगे, अचाह होकर रहेंगे और प्रभु को अपना मानेंगे। तो प्रभु का काम करने से काम के अंत में शांति मिलेगी, अचाह होने से भी शांति मिलेगी और प्रभु का होकर रहने में भी शांति मिलेगी। क्योंकि परमात्मा समर्थ है तो समर्थ को अपना मानेंगे, तो अभय हो जाएंगे। परमात्मा स्वतन्त्र है तो हम परमात्मा के होकर स्वतन्त्र हो जाएंगे, परमात्मा उदार है तो हम भी उदार हो जाएंगे। परमात्मा प्रेम का भण्डार है, तो हमारे जीवन में भी प्रेम का उदय हो जाएगा तो परम स्वतन्त्र होना, परम प्रेम से भरपूर होना-यह मनुष्य को कब प्राप्त होगा? जब वह परमात्मा को अपना मानेगा, परमात्मा को पसन्द करेगा। क्योंकि उदारता, स्वाधीनता और परम प्रेम परमात्मा में ही है। परमात्मा को ही परम उदार कहा है, परमात्मा को ही परम स्वतन्त्र कहा है, परमात्मा को ही परम भण्डार कहा है। तो इस तरह से हम परमात्मा को अपना मानेंगे, परमात्मा को हम पसन्द करेंगे तो यह भजन है। इससे भजन होगा, परमात्मा का प्यार पैदा होगा, परमात्मा हमें प्यारा लगेगा। जिसका कोई प्यारा होता है-बड़े अनुभव की बात बताऊँ आपको जिसके जीवन में किसी का प्यार होता है न, उसके जीवन में नीरसता कभी नहीं आती, खिन्नता कभी नहीं आती, क्षोभ कभी नहीं आता क्योंकि प्यार जिसमें पैदा होता है, उसके लिए स्वरूप हो जाता है और जिसके प्रति होता है, उसको भी उससे रस मिलता है। कोई प्यार करे तो आपको भी रस मालूम होगा और उसको भी रस मालूम होगा। प्यार देने में भी रस और प्यार पाने में भी रस। यह अनुभव है

आपको कि नहीं? किसी को अगर कोई प्यार करता है तो प्यार किसी वस्तु देने का नाम नहीं है, किसी क्रिया का नाम नहीं है। अगर कोई प्यार लगता है तो उसे भी मजा आता है और आपको भी मजा आता है तो उसे भी मजा आता है। प्यार में मजा ही मजा है। प्यार में कभी कष्ट नहीं होती, प्यार में कभी क्षोभ नहीं होता, प्यार में कभी अशांति नहीं होती, प्यार में कभी नीरसता नहीं आती, रस ही रस रहता है। तो प्यार कब पैदा होता है कि जब परमात्मा का आपना मानते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा अपना है, उसके जीवन में प्रेम का उदय हो जाता है। ऐसे ही कर्त्तव्य में भी रस ही रस है। ऐसे ही स्वाधीनता में, अचाह होने में भी रस ही रस है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह मस्त रहता है। सही काम करता है, वह भी मस्त रहता और जो प्रेमी होता है, वह भी मस्त रहता है। तो उन्होंने तीन तरीके बताए आपके सामने, कि सही काम करके भी शांति पा सकते हो और प्रेमी होकर भी शांति पा सकते हो। शांति तीनों तरह से मिल सकती है। काम करके मस्त रहो, शांति मिलेगी, अचाह हो जाओ, शांति मिलेगी, परमात्मा को अपना मान लो, प्रेमी हो जाओ, शांति मिलेगी। प्रेम में भी रस है, अचाह होने में भी रस है, कर्त्तव्यपालन में भी रस है।

अमर जीवन की प्राप्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

आज हमें इस मूल प्रश्न पर विचार करना है कि वास्तव में प्रभु-चिन्तन क्या है। इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व यह जानना आवश्यक होगा, कि हम चिन्तन और कर्म के भेद पर विचार करें। जब तक साधक कर्म और चिन्तन के भेद को नहीं जानता है, तब तक यह बात कि चिन्तन क्या है, ठीक से समझ नहीं पाता।

कर्म किसे कहते हैं? क्या इस विचार करने में ऐसा मालूम होता है, जो किया जाता है, जिसे कहते हैं इसी का नाम कर्म है। और चिन्तन किसे कहते हैं? जो होता है, उसी का चिन्तन है। चिन्तन होता है कर्म करते हैं। अब आप विचार करें कि जिसे आज आप चिन्तन कहते हैं, उसमें करने का अभिमान प्रतीत होता है या नहीं होता है। जप करते हुए यह मालूम होता, कि मैं जप करता हूँ, ध्यान करते हुए यह मालूम होता है कि मैं ध्यान करता हूँ

तब जिसे आप करते हैं, वह कर्म हुआ, चिन्तन नहीं हुआ, ध्यान नहीं हुआ।

आप सोचिए और बहुत गंभीरता से सोचिए, कि जो चीज होती है, वह अखण्ड होती है और जो कहते हैं वह सीमित होती है। कर्म हमेशा सीमित होता है। भोजन आप करते हैं- उसकी एक सीमा है। भोजन पचता है, वह अखण्ड रूप से पचता है, निरन्तर पचता है, लगातार पचता रहता है। तो भोजन करना और भोजन का पचना एक ही चीज है क्या? इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है? एक चीज नहीं है, अलग-अलग है।

तो अब आप सोचिए कि जप करना और स्मरण होना, सिमरन होना इसमें भेद होगा कि नहीं? किंतु आप बहुत से साधक किसी नाम विशेष के जप को, किसी मंत्र विशेष के जप को ऐसा मानते हैं कि हम जप करते हैं। हम अपने प्यारे को याद करते हैं। याद करते हुए वे ऐसा महसूस करते हैं, उन्हें ऐसा मालूम होता है। वास्तव में बात यह है, कि आप जो कुछ भी करते हैं, उसकी सीमा होगी और वह करना शरीर के सहयोग के बिना नहीं होगा। और जिस शरीर की सहायता से आप करते हैं, वह शरीर एक दिन आप से अलग हो जाएगा। और उस समय वह आपका करना करना नहीं रहेगा। हाँ, एक बात रहेगी कि किए हुए का अभिमान और किए हुए का प्रभाव आपमें अंकित होगा और आप यह सोचेंगे कि मैंने यह किया था, मैंने यह किया था। जब करना सीमित होता है, तो उसका जो परिणाम है, उसका जो फल है, वह भी सीमित होता है।

इसलिए कर्म के द्वारा यदि प्रभु की प्राप्ति होती, तो फिर भाई, सबसे पहले प्रभु उसको मिलता, जो अधिक से अधिक काम कर सके। आज के वैज्ञानिक युग में प्राणी की अपेक्षा यंत्र अधिक काम करता है। एक आदमी जितना काम करता है, यंत्र उससे कई लाख गुना अधिक काम करता है। तो इससे तो यह सिद्ध होता है, कि यदि करने से प्रभु प्राप्ति का सम्बन्ध होता, तो यंत्र को पहले प्रभु की प्राप्ति होती और मनुष्य को पीछे होती। परन्तु ऐसी बात नहीं है।

इसका आप यह अर्थ न समझ बैठें कि करने का जीवन में कोई स्थान नहीं है। करने का भी जीवन में स्थान है, होने का भी जीवन में स्थान है और है का भी जीवन में स्थान है। करने का स्थान क्या है? केवल इतना कि जो कुछ प्राप्त है, जो कुछ मिला है, वस्तु रूप में, योग्यता रूप से, सामर्थ्य रूप

से, उसके द्वारा आप किसी की भी सेवा करें अथवा उसके द्वारा किसी का अहित न करें। इन दोनों भी बड़ा अंतर है। हमें जो शक्ति मिली है उसके द्वारा दूसरों के साथ भलाई करेंगे यह बिल्कुल दूसरी बात है।

किंतु कर्म की शुद्धि कब होगी? कर्म की शुद्धि तब होगी, जब आपके जीवन में पहले भाव की शुद्धि होगी। तो हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे, यह भाव की शुद्धि है। भाव की शुद्धि होने पर आपके द्वारा जो भी काम होगा, वह हितकर होगा, भला होगा, बुरा नहीं होगा। अब यह निर्णय आपका है कि भई, हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे? इसमें एक वैज्ञानिक सत्य है। और वह वैज्ञानिक सत्य यह है कि कर्म-विज्ञान की दृष्टि से, कर्म की साइंस की दृष्टि से हम जो कुछ करते हैं किसी के साथ, वह कालान्तर में समय पाकर कई गुना अधिक अपने प्रति हो जाता है। जैसे कल मैंने सुना कि जिन लोगों ने एक बालक को कत्ल कराने में मदद की थी, सुना जाता है, कि शाहजहाँ ने उन लोगों को नाव में बिठा कर डुबा दिया। तो कालान्तर में उनके प्रति वही हुआ, जो उन्होंने एक निर्दोष बालक के साथ किया था।

यह तो मैंने आपके सामने एक उदाहरण दिया किंतु सोचना यह है कि भई, यह तो नियम है, यह किसी मनुष्य का बनाया हुआ नहीं है, यह किसी इंसान का बनाया हुआ नहीं है। यह तो प्राकृतिक नियम है, ईश्वरीय नियम है कि दूसरों के साथ किया हुआ कालान्तर में अपने साथ हो ही जाता है।

यदि यह कर्म-विज्ञान आप सब भाई मान लें और उसमें विश्वास कर लें, आस्था कर लें तो फिर आपके जीवन में कभी बुराई करने की बात उत्पन्न ही नहीं होगी, किंतु जब आप यह बात भूल जाते हैं कि जो हम दूसरों के साथ करेंगे, वह हमारे साथ होगा ही, तब हम किसी के साथ बुराई करने की सोचते हैं। सोचते क्यों हैं? अपने व्यक्तिगत सुख के लालच से। यदि हमारे जीवन में व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन न रहे, तो सच मानिए, किसी प्रकार की बुराई किसी भाई या बहन के जीवन में कभी आ ही नहीं सकती।

तो अब यह आपको सोचना है, कि आप व्यक्तिगत सुख के लिए क्या दूसरों को दुःख देना चाहते हैं? व्यक्तिगत लाभ के लिए क्या आप दूसरों को हानि पहुँचाना चाहते हैं? यदि करना चाहते हैं तो आपका किए

हुआ अपमान आपको भोगना ही होगा। इससे आप बच नहीं सकते। यह एक यूनिवर्सल ट्रुथ यानि सार्वभौमिक सत्य है।

अब सोचने की बात यह है कि भई, करने का सम्बन्ध चिन्तन के साथ नहीं है। क्यों नहीं है? कि चिन्तन उसका होता है, जिसकी आवश्यकता होती है। जिसकी आप जरूरत अनुभव करते हैं, उसका चिन्तन होता है। जैसे प्यार लगने पर किस भाई को, किस बहन को पानी का चिन्तन नहीं होता? है कोई ऐसा भाई, जो इस बात को कह सके कि प्यास बहुत जोरों की लगी है, लेकिन पानी का चिन्तन नहीं करता। है कोई? कोई नहीं है।

तात्पर्य क्या निकला? आवश्यकता का चिन्तन होता है। चिन्तन किसी वस्तु का नहीं होता, किसी व्यक्ति का नहीं होता, किसी परिस्थिति का नहीं होता, किसी अवस्था का नहीं होता। चिन्तन होता है अपनी आवश्यकता का। तो आप जब यह स्वीकार कर लेते हैं कि अमुक वस्तु से मेरी यह आवश्यकता पूरी होगी, तब आप ऐसा अनुभव करते हैं, ऐसा फील करते हैं कि मुझे अनुक वस्तु का चिन्तन हो रहा है। लेकिन वास्तव में तो आपमें यदि कोई आवश्यकता है, उसके कारण चिन्तन हो रहा है।

यदि आप अभी-भी, इसी जीवन में और इसी परिस्थिति में, इसी हालत में जो हालत आपकी है यह आवश्यकता अनुभव करें कि मैं तो अपने प्यारे प्रभु से मिलना चाहता हूँ, मुझे अपने प्रभु की आवश्यकता है, तो क्या आपके जीवन में अपने आप प्रभु का चिन्तन नहीं होगा। क्या राय है आपकी? होगा। तो अब आप सोचिए, आवश्यकता अनुभव करें वस्तुओं की, व्यक्तियों की, परिस्थितियों की और जप करें नाम का और मंत्र का। तो अब आप सोचिए, कि क्या इस बात का नहीं जानते हैं कि हम गायत्री का तो जप करते हैं, द्वादशाक्षर मंत्र का जप करते हैं, या आप सोचिए किसी मजहब के अनुसार कुरा की तो आयत बोलते हैं-देखो भई, बुरा मानने की बात नहीं है। देखिए, अपनी-अपनी भाषा में अपने-अपने ढंग से सभी ईश्वरवादियों ने प्रभु को पुकारा है और प्रभु ने सभी की आवाज सुनी है, सभी को अपनाया है। यह नियम नहीं है कि वह पंजाबी में या संस्कृत में ही सुनेगा या अरबी में सुनेगा, या फारसी में सुनेगा या हिन्दी में ही सुनेगा। आपकी जो भाषा होगी, वही सुनेगा।

इसलिए, मेरे भाई, अपनी-अपनी भाषा में सभी अपने प्रभु को पुकारते हैं, पुकारते रहे हैं, पुकारते रहेंगे। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप संस्कृति में न पुकारें या अपनी रुचि के अनुसार जो भाषा है, उसमें न पुकारें। किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आप यह आग्रह करें कि जब तक अरबी नहीं बोलेगे तो ब्रह्म जो है वह प्रसन्न नहीं होगा। इसका अर्थ यह भी नहीं है।

आपने देखा होगा कि एक छोटा-सा बालक अपनी माँ को कभी-कभी भाभी कह कर पुकारता है, कोई-कोई जीजी कह कर पुकारता है और कोई-कोई आज कल की प्रथा के अनुसार मम्मी कहता है, कोई मामा कहता है-इत्यादि लेकिन माँ इस बात को जानती है कि यह मेरा जो शिशु है वह मुझे अपनी बड़ी बहन मान कर जीजी नहीं कहता है, अपने बड़े भाई की पत्नी मान कर भाभी नहीं कहता है, यह मुझको ही कहता है। जब तब साधारण माँ इस बात को अच्छी तरह से जान लेती है कि मेरा उत्पन्न किया गया बालक चाहे जिस ढंग से पुकारे, मुझको ही पुकारता है तो मेरे भाई, क्या वह प्रभु उस माँ के बराबर भी जानकार नहीं है? जो उसमें यह आग्रह होगा कि मेरी ही भाषा में मुझको पुकारा जाए-ऐसा नियम प्रभु-चिन्तन का नहीं है।

तात्पर्य मेरे कहने का यह था कि भई, कर्म और चिन्तन के भेद को अलग-अलग करके जब आप अपने जीवन में यह देखेंगे कि हमें प्रभु का चिन्तन करना है या हमारे जीवन में प्रभु को चिन्तन होना चाहिए, तो उसका उपाय क्या होगा? हम अपने प्रभु की आवश्यकता अनुभव करें और उसको अपना मानें। और तीसरी बात क्या? कुछ और न चाहें।

यह विचार करें, बहुत से भाई मुझसे कहते हैं कि आप भक्ति की बात तो बहुत करते हैं, प्रेम की बात भी बहुत करते हैं लेकिन हम क्या करें जिससे कि हमको भक्ति और प्रेम की प्राप्ति हो। हम आपसे पूछते हैं जरा विचार करें और बहुत ही गहराई से इस बात पर विचार करें कि करने से जो कुछ मिलता है, व सदैव रहता है क्या?

कल्पना करो, कि हमने आवश्यकता अनुभव की और उसका हमें चिन्तन हुआ, लेकिन वहां एक बात और देखनी होगी कि आवश्यकता के रूप में जिसको बुलाते हैं, उससे उसके भिन्न को भी कुछ लेना चाहते हैं

क्या? कल्पना करो, कि आपको किसी अपने मित्र की याद आए और उसकी याद के साथ यह लगा हो कि भई, वे यहाँ होते, तो स्वामी जी महाराज को भेजने के लिए मोटर मिल जाती। तो सचमुच यह चिन्तन मोटर का है या उस व्यक्ति का है? क्या कहेंगे आप? उस व्यक्ति का तो नहीं है, न मोटर का है। क्योंकि जिसके लिए जिसको चाहते हैं, उसका चिन्तन होता है, कि जिसके लिए चाहते हैं? जिसको चाहते हैं, उसका चिन्तन नहीं है यह। यह धोखा है दिमाग में, कि हम प्रभु का चिन्तन करते हैं। चाहते तो हैं वस्तु, चाहते हैं तो व्यक्ति और कहते हैं यह कि हम प्रभु का चिन्तन करते हैं, वह प्रभु का चिन्तन नहीं है।

तात्पर्य क्या निकला? अगर आप किसी भी वस्तु के साथ ममता रख सकते हैं, किसी भी व्यक्ति के साथ ममता रख सकते हैं, तो प्रभु के साथ आत्मीयता नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। भले ही आप ऊपर से आठोपहर भगवान का नाम लेते रहें, जप करते रहें। तो कहते रहेंगे, वह निरर्थक जाएगा ऐसा मेरा तात्पर्य नहीं है। उसका फल बनेगा लेकिन उसका अर्थ ईश्वर-चिन्तन नहीं है, प्रभु-चिन्तन नहीं है, भजन उसका अर्थ नहीं है। क्योंकि भजन तो उसका होता है, जिसकी हम जरूरत अनुभव करते हैं।

तो भाई मेरे, पहला प्रश्न ईश्वर-चिन्तन के लिए कौन सा जीवन में आएगा? वह आएगा कि हम केवल ईश्वर को चाहते हैं क्या? अगर आप केवल ईश्वर को नहीं चाहते हैं, तो ईश्वर को नहीं चाहते हैं। चाहे आप भले ही ईश्वर को मानते हों, ईश्वर पर विश्वास करते हों। किंतु अगर आप अकेले ईश्वर को नहीं चाहते हैं, तो सचमुच ईश्वर को नहीं चाहते है। क्यों? प्रभु ने भोग-प्राप्ति के लिए मानव-मात्र को कर्म-साम्रगी यानि कर्म करने के साधन वस्तु रूप में, योग्यता रूप में, सामर्थ्य रूप में सबको दिए हैं और उसी कर्म के द्वारा हमको-आपको सुख और दुःख भोगना पड़ता है।

ऐसा कोई कर्म आजतक किसी से बना नहीं जो यह कह सके कि हमारे जीवन में किसी प्रकार का दुःख नहीं रहा, केवल सुख ही सुख है। ऐसी बात किसी ने कर्म के द्वार अभी तक प्राप्त नहीं का पाई। इसलिए आप देखेंगे कि विश्व के इतिहास में ऐसा किसी व्यक्ति का जीवन नहीं मिलेगा, जिसके जीवन में किसी न किसी प्रकार का दुःख न हो। केवल सुख हो ऐसा जीवन नहीं मिलेगा। इससे यह

सिद्ध हुआ कि कर्म के द्वारा हम सुख-दुःख भोग सकते हैं।

अब दूसरी चीज देखिए, कर्म के ऊपर की चीज क्या है? ज्ञान। ज्ञान के द्वारा हम क्या प्राप्त कर सकते हैं? तो ज्ञान के द्वार हम पराधीनता से रहित हो सकते हैं, स्वाधीन हो सकते हैं, आजाद हो सकते हैं। तो वह ज्ञान कि जिससे आपको मिल सकती है और संस्कृत भाषा में कहें तो मुक्ति मिल सकती है, वह ज्ञान भी प्रभु ने हरेक भाई को हरेक बहन को दिया है। आप कहेंगे कि हमें तो वह ज्ञान नहीं दिया जिससे हमें मुक्ति प्राप्त हो नहीं तो हम अभी मुक्ति प्राप्त कर लेते। यह बात आप बिना सोचे कह सकते हैं, बिना विचार किए कह सकते हैं। अगर आप ठीक-ठीक सोचेंगे और विचार करेंगे तो यह बात आपको माननी ही पड़ेगी, कि आपको यह मिला है, जिससे आप अभी-अभी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

अब आप विचार कीजिए कि इतनी बड़ी सृष्टि में आपके जीवन में बंधन कितना है? बहुत थोड़ा। इस समय लाखों युवक मरणासन्न पड़े होंगे, जिनके प्राण-पखेरू उड़ गए होंगे और उनके संबंधी बिलख-बिलख कर रो रहे होंगे, लेकिन आप तो नहीं रो रहे हैं। आप उनसे मोह-रहित हैं कि नहीं? हैं। अच्छा भाई और सोचो बहुत से लोगों को बड़ी-बड़ी हानि इस समय हो रही होगी। आप तो उनकी हानि के दुःख से दुखी नहीं हैं। आप उससे लोभ-रहित हैं कि नहीं? जी, बहुत से लोग ऐसे हैं, जिनको आप जानते भी नहीं हैं, आपके मन में उनसे कोई सम्बन्ध नहीं हैं, आप उसनसे सम्बन्ध रहित हैं कि नहीं।

आप सोचिए बंधन क्या है? किसी और ने आपको बाँध दिया है? किसी ने नहीं बाँध दिया है। आपकी इन भूल ने, कि आप जानते हैं कि मिला हुआ शरीर भी सदैव नहीं रहेगा-तब भी आप कहते हैं-मेरा हाथ। तो किसने बाँधा? आपकी मान्यता ने कि 'मेरा हाथ' अथवा किसी और ने आप को मजबूर होकर बाँध दिया? क्या राय है आपकी? अपनी मान्यता ने हमें बाँधा है। तो मिली हुई वस्तु को व्यक्तिगत मान लेना-इसके अतिरिक्त बताओ, और बंधन क्या है? और जिस वस्तु से आपकी जातीय भिन्नता है, उसकी कामना रखना ही बंधन है। आप ही बताओ उसके अतिरिक्त बंधन क्या है? और जो वस्तु आप को मिली है, उसके तद्रूप हो जाना, उसमें घुल-मिल जाना एक हो जाना। बताओ,

इसक अतिरिक्त बंधन क्या है? एक ओर आप इस बात को जानते हैं कि मिली हुई कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। बड़े-बड़े राजा और महाराजा कहते थे कि स्टेट हमारी, हर भाई के सामने आएगा, तो भाई, ऐसे ही एक दिन वह भी आएगा, हर भाई के सामने आएगा, हर बहन के सामने आएगा जिस समय उसे यह मानना पड़ेगा कि यह शरीर मेरा नहीं है। यह मुझ से अलग हो रहा है। लेकिन क्या चीज साथ रह जाएगी? जो किया है उसका प्रभाव। इसलिए किए हुए का प्रभाव मिटाने के लिए जाने हुए का आदर करना पड़ता है। जब तक जीवन में अपने जाने हुए का प्रभाव अपने पर नहीं होता तब तक किए हुए का प्रभाव रहता है। तो जाना हुआ क्या है? केवल इतना ही आपका जाना हुआ है कि कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु, पैदा हुई वस्तु आपकी नहीं है और आपके लिए नहीं है। यह आपका जाना हुआ है। जिस समय इस जाने हुए का प्रभाव होगा, उसी समय आप ममता से, आप अहंता से, आप कामना से रहित हो जाएँगे, उसी समय आपको मुक्ति मिलेगी-मुक्ति। आप चाहो तो मिले, न चाहो तो मिले, ईश्वर को मानो तो मिले, आत्मा को मानो तो मिले न मानो तो मिले। और आप भले की ब्रह्म को मानते रहो गुरुदेव को मानते रहो आत्मा को मानते रहो, और मिले हुए की ममता, कामना और उसके तादात्म्य का त्याग मत करो, मैंने आपको चेलैंज दिया है कि देखो, आपको मुक्ति मिल तो जाए। न अभी मिले न कभी मिले। यह मत सोचना कि अभी नहीं मिली, मरने के बाद मिलेगी। जो जीवन में मुक्त नहीं होता वह मरने के बाद कभी मुक्त नहीं होता। और जो ऐसा मानता है, वह अपने का धोखा देता है।

इसलिए मेरे भाई विचार करने की चीज है कि भोग के लिए चिन्तन-अपेक्षित नहीं है, कर्म अपेक्षित है। मुक्ति के लिए चिन्तन अपेक्षित नहीं है, ज्ञान अपेक्षित है। क्यों? बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती।

अब यहाँ प्रश्न पैदा होताहै कि ईश्वर चिन्तन किसके लिए अपेक्षित है? तो ईश्वर-चिन्तन उस भाई की आवश्यकता है, उस बहन की आवश्यकता है जो मुक्ति और मुक्ति को फुटबाल बना कर ठुकरा दे। जो इस बात को कह सके कि मुझे भोग नहीं चाहिए, मुझे मोक्ष नहीं चाहिए। आप सोचेंगे भई तब तो ईश्वर-चिन्तन बड़ा महँगा हो गया, जिसके लिए हमें

भोग छोड़ना पड़ेगा, मोक्ष छोड़ना पड़ेगा।

यहाँ जरा गंभीरता से विचार करने की बात है कि भई, सोचो तो सही कि मोक्ष की आवश्यकता किसे होती है? मुक्ति कौन चाहता है? जो बँधा हुआ हो वह या छुटा हुआ है वह? जो बँधा हुआ हो। जो भोग चाहता है वह बँधा हुआ है या जो भोग नहीं चाहता वह बँधा हुआ है? जो भोग चाहता है, वही बँधा हुआ है। भोग का त्याग तो योग के लिए करना पड़ता है तो सोचिए प्रभु-प्रेम के लिए भोग की आवश्यकता रह जाती है क्या? तो जिस वक्त आप भोग नहीं चाहते हैं, उसी समय मुक्ति प्राप्त होती है, मुक्ति की कामना शेष नहीं रहती। मुक्ति की आवश्यकता आप कब तक अनुभव करते हैं? जब तक आप मुक्ति चाहते हैं। जब तक आप भोग चाहते हैं तभी तक आप योग की आवश्यकता अनुभव करते हैं और जिस समय आपके जीवन में से भोग की रूचि का नाश हुआ, भोग की वासना का नाश हुआ, उसके पश्चात् न आप योग योग चाहते हैं, न मोक्ष चाहते हैं। क्यों नहीं चाहते? योग और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। चाह अप्राप्त की होती है।

बहुत गंभीरता से विचार करें-कामना जो होती है वह अप्राप्त की होती है, प्राप्त की नहीं होती। जब आपके जीवन में भोग की रूचि नहीं रहती अथवा भोग के परिणाम के प्रभाव से जब आपको भोग से अरूचि हो जाती है, उसके बाद स्वतः प्राप्त होता है योग और स्वतः प्राप्त होती है मुक्ति। किंतु यदि वह योग का रस-योग का रस जानते हैं क्या है? शांत रस और मोक्ष का रस जानते हैं क्या है? अखण्ड रस। यदि आप शांत रस और अखण्ड रस के प्राप्त होने पर भी विशेष रस की आवश्यकता अनुभव करें तब आपके सामने ईश्वर-चिन्तन की आवश्यकता आती है।

देखिए जिन दार्शनिकों ने, जिन सत्य की खोज करने वालों ने केवल दुःख-निवृत्ति को पसन्द किया, उनके समने ईश्वर की सत्त का प्रश्न नहीं आया। जिन साधकों ने केवल स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रश्न अपने सामने रखा, आवश्यकता अनुभव की, उनके सामने भी ईश्वर की सत्ता का प्रश्न नहीं आया। यह ईश्वर-चिन्तन का प्रश्न किस साधक के सामने आता है, किस भाई और बहन के सामने आता है, जो भाई, जो बहन इस बात को स्वीकार करें कि उसको एक ऐसे रस

की आवश्यकता है जो योग और मोक्ष से भी विलक्षण हो।

अब जो दार्शनिक यह कहे, कि भई दुःख-निवृत्ति के आगे की बात हमको नहीं चाहिए-बड़ी सुन्दर बात है। हम थोड़े ही यह कहते हैं कि आप उसकी जरूरत अनुभव करें। कोई कहे कि पराधीनता नाश होने के बाद, अमर जीवन की प्राप्ति के बाद हमको कुछ नहीं चाहिए। बड़ी सुन्दर बात है। आप अमर जीवन पाकर संतुष्ट हो जाइये। लेकिन आपको यह तो अधिकार नहीं है कि अगर किसी को चाह उससे आगे की हो तो उससे आप यह चाहें कि मत चाहो। यह तो नहीं है न अधिकार। तो कहने तात्पर्य मेरा यह है कि ईश्वर-चिन्तन है क्या? ईश्वर-चिन्तनवाद है, जो प्रभु को रस देने के लिए हो। आप भी वही बात कहते हैं हम भी वही बात करते हैं क्या? जब आप प्रार्थना करने बैठते हैं, जब आप कोई बात कहने बैठते हैं, तो दो बात कहते हैं-या तो दूसरों की निन्दा करेंगे-तन की करेंगे, कभी मन की करेंगे, कभी धन की करेंगे, पुरुष और स्त्री की करेंगे या प्रभु को सजग करेंगे इस बात के लिए कि आपको यह करना चाहिए। मैं पूछता हूँ कि आपको प्रभु के कर्त्तव्य का ज्ञान हो गया और दूसरों के दोषों का ज्ञान हो गया, और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हुआ-माफ करें-यह आज का आपका सत्संग है।

हुमारा स्वरूप क्या है

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

सुख-दुःख का ही दूसरा नाम परिस्थिति है। और सुख-दुःख का ही संसार है। तो सुख-दुःख के सदुपयोग से हम सुख-दुःख से अतीत जीवन पा सकते हैं। सुख-दुःख का सदुपयोग क्या? ऐसा लगता है कि सुख का सदुपयोग उदार होने में है और दुःख को सदुपयोग विरक्त होने में है, त्याग करने में है। जो दुःख में विरक्त है, सुख में उदार है अथवा यों कहो कि जो सुख में सेवा करता है और दुःख में त्याग को अपनाता है, वह सेवा और त्याग के द्वारा स्वतः सुख-दुःख से मुक्त होकर चिरशांति, जीवन-मुक्ति, भगवद् भक्ति प्राप्त कर लेता है।

अब हमें किससे मुक्त होना है? सुख और दुःख से। दुःख से तो सभी मुक्त होना चाहते ही हैं परन्तु सुख से मुक्त होना नहीं चाहते। बस यही एक हमारी भूल है कि हम सुख से मुक्त होना नहीं चाहते। सुख को पसन्द करते हैं। तो सुख को पसन्द

करते हैं, अपनी मर्जी से और दुःख भोगना पड़ता है बेबसी से, मजबूरी से। ऐसा होता नहीं कि सुख तो भोगते रहे और दुःख न भोगना पड़े। इसलिए हमें सुख से मुक्त होने के लिए प्रयास करना चाहिए। कैसे हों?

सुख में और रस में एक बड़ा भेद है। तो भेद क्या है? सुख भोगने से भोग-शक्ति का ह्रास होता है और भोग-सामग्री का विनाश होता है। यह प्राकृतिक विधान ही है। अगर आप लोगों मे से किसी भाई-बहन को ऐसा अनुभव नहीं हो तो तर्क कर सकते हैं। सुख भोगने से भोग-शक्ति का ह्रास और भोग-सामग्री का विनाश होता है। स्वाभाविक बात है होता ही है इसलिए हमें सुख से मुक्त होना है। कैसे हो सकते हैं? कि सुख-दुःख से अतीत जो जीवन है, जो सत्य है, जो परमात्मा है, उसकी हम आवश्यकता अनुभव करें-आवश्यकता अनुभव करें।

जब हम अपने द्वारा अपने लिए परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करेंगे तब सुख-भोग की रूचि नाश् हो जाएगी। स्वाभाविक बात है। और जब सुखा-भोग की रूचि नाश हो जाएगी, तब देह का, शरीर का जो तादात्म्य है, जो सम्बन्ध है, वह टूट जाएगा। सुख-भोग की रूचि का नाश होने से शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। यह नहीं है कि भोग की रूचि का नाश होने से अभी शरीर छूट जाए सो नहीं। शरीर तो छूटेगा ही, अभी तो नहीं छूटेगा। लेकिन जो उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश होगा ही। उसमें परिवर्तन हो ही रहा है। तो शरीर के छोड़ने का प्रश्न नहीं है, संसार के छोड़ने का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है कि शरीर और संसार से हमारा सम्बन्ध न रहे। हमारा सम्बन्ध टूट जाए। शरीर का संसार का सम्बन्ध नहीं टूटेगा, वह तो अभिन्न है, दोनों एक जाति के हैं। शरीर से हमारा जो सम्बन्ध है, वह टूट जाएगा।

आप कोई ऐसा दुःख बताइए कि जिसका दृश्य से सम्बन्ध न हो और दुःख हो जाए। ऐसा कोई सुख बताइए। सुख-दुःख संसार के सम्बन्ध से ही होता है और जब संसार का सम्बन्ध टूट जाता है तो दुःख-सुख से भी छूट जाता है। और परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है-यह भी कह सकते हैं और परमात्मा से सम्बन्ध हो जाता है-यह भी कह सकते हैं।

इस दृष्टि से देखा जाए, तो परमात्मा की प्राप्ति में या परमात्मा के सम्बन्ध को स्वीकार करने में, किसी प्रकार की अस्वाभाविता, असुविधा

नहीं है सम्बन्ध स्वीकार करने में? लेकिन कब? जब हमें अपनी वास्तविक मांग का अनुभव हो जाए। हमारी वास्तविक मांग क्या है-इसका अनुभव हो जाए तो शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। शरीर रहता है, संसार भले दिखता भी रहे, लेकिन सम्बन्ध टूट जाएगा। और यही एक ऐसा मौलिक सत्य है, वह स्वाभाविक सत्य है कि संसार से सम्बन्ध टूटने से हम अगर अध्यात्मवादी हैं तो अपने में संतुष्ट हो जाते हैं। संसार का सम्बन्ध टूटने से अपने में संतुष्ट हो जाते हैं और अपने में संतुष्ट होने में हमें परमात्मा मिल जाता है। क्योंकि परमात्मा अपने में है। अपना तो है ही, पर अपने में भी है। और जब हम संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ते हैं, तब परमात्मा के रहते हुए भी हम स्वयं परमात्मा से विमुख हो जाते हैं। यह एक जीवन का सत्य है।

अब आप सोचिए, आपके सामने जो प्रश्न है वह यह नहीं है कि क्या बताएँ हमको अमुक प्रकार की वस्तु प्राप्त नहीं हुई, योग्यता प्राप्त नहीं हुई, सामर्थ्य प्राप्त नहीं हुई, इसलिए हम परमात्मा से दूरी अनुभव कर रहे हैं। ऐसी बात नहीं है। परमात्मा से दूरी अनुभव कर रहे हैं क्योंकि हमने अपनी मर्जी से ही संसार का सम्बन्ध जोड़ लिया है, संसार का सम्बन्ध-संसार नहीं, शरीर नहीं, शरीर और संसार का सम्बन्ध। कोई वस्तु नहीं, कोई व्यक्ति नहीं, वस्तु और व्यक्ति का सम्बन्ध जिसे हम स्वीकार करते हैं, उस हमारे बनाए हुए सम्बन्ध से ही परमात्म से दूरी अनुभव करने लगते हैं, भेद अनुभव करने लगते हैं, भिन्नता अनुभव करने लगते हैं।

यदि हम अपने ही बनाए हुए सम्बन्ध को तोड़ दें अथवा जो कुछ हमें शरीर और संसार के रूप में प्रतीत होता है, उसमें मेरा कुछ नहीं है-इस सत्य को अनुभव करें-इससे मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ है नहीं, मुझे कुछ चाहिए नहीं। इन्हीं दो बातों से सम्बन्ध टूटता है। दोनों बातें निज ज्ञान से सिद्ध हैं। आप ज्ञानपूर्वक यह भली भांति जानते हैं कि किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। स्वतन्त्र स्थिति का अर्थ क्या होता है? आप संसार के सम्बन्ध में यह निर्णय दे सकें कि ऐसा है-यह आपका निर्णय नहीं हो सकता। वैसे तो अनेक दार्शनिक दृष्टिकोण हैं। सबने कुद न कुछ संकेत किया है पर जैसा जिसने संकेत किया है, वैसा ही है-ऐसा नहीं कहा जा सकता है। 'है' तो उसे कहा जाए, जिसकी स्वतन्त्र स्थिति हो।

परिवर्तन का प्रवाह चल रहा हो, उसमें स्थिति कैसे कहेंगे आप।

तो जिसकी स्थिति नहीं है, उसमें अपना करके कुछ नहीं है। क्योंकि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। आप विचार करके देखें कि जैसे शरीर के परिवर्तन का आपको अनुभव हो रहा है-उत्पत्ति का, विनाश का, परिवर्तन का ऐसे किसी भी भाई को, किसी भी बहन को अपने परिवर्तन का अनुभव नहीं होता, न उत्पत्ति का अनुभव होता। बड़े-बड़े वैज्ञानिक यह तो कह सकते हैं कि शरीर की उत्पत्ति हुई, लेकिन कोई वैज्ञानिक नहीं कह सकता कि 'मैं' की उत्पत्ति हुई। 'मैं' की उत्पत्ति की बात कोई भी वैज्ञानिक अब तक सिद्ध नहीं कर सका। और 'मैं' का स्वतन्त्र अस्तित्व है-ऐसा कोई दार्शनिक भी सिद्ध नहीं कर सका। क्योंकि 'मैं' की खोज की तो 'है' मिल गया और 'मैं' मिट गया। अब जो चीज विज्ञान से और दर्शन से सिद्ध नहीं है, उसको मानते रहना यह भूल है।

आप कहेंगे कि दर्शन क्यों नहीं 'मैं' को सिद्ध कर सका? आप विचार करके देखो, जिसे आप 'मैं' करके अनुभव कर रहे हैं, क्या उसका 'यह' से सम्बन्ध हो सकता है कभी? अच्छा हो क्यों नहीं सकता? इसलिए नहीं हो सकता कि है ही नहीं और होगा भी नहीं। पर आप 'यह मेरा है' ऐसा किस आधार पर मानते हैं? जिस वाणी से बोल रहा हूँ, वह वाणी मेरी है, इसमें क्या हेतु है। कैसे मान लेते हैं आप? जबकि आप जानते हैं कि 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध है भी नहीं, हो सकता भी नहीं। और जब 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध नहीं रहता-अगर आप यह ठीक अनुभव कर लें तो आप में किसी प्रकार की परिच्छिन्ता रहती है, तो बताइये और अब परिच्छिन्नता नहीं रहती तो जो अपरिरिच्छन्न परमात्मा है उससे दूरी कैसे संभव है?

तो जो जीवन का सत्य है-हमें तो बड़ा आश्यर्च लगता है-देखो भाई, कोई बुरा तो मानना मत, पर ठण्डे दिल से सोचना-जो चीच ज्ञान से सिद्ध है, क्या उसके लिए भी प्रमाण चाहिए? वह ज्ञान क्या हुआ-वह तो विश्वास हो गया। विश्वास में और ज्ञान में यही तो फर्क है कि जो चीज ज्ञान से सिद्ध है, उसके लिए प्रमाण वास्तव में चाहिए नहीं। तो ठीक ज्ञान से क्या सिद्ध है कि 'मैं' का और 'यह' का मिलन देखा नहीं गया। अब यह बात अलग है कि 'मैं' का और 'यह' का मिलन देखा नहीं गया। अब यह बात अलग है कि 'मैं' स्वयं 'यह'' में ममता कर ले, यह की

कामना कर ले, इसमें वह स्वाधीन है। तो 'मैं' मे 'यह' की ममता मैंने स्वीकार की या किसी और ने विवश कर दिया ममता करने के लिए? आपने स्वीकार की। जब आपने ममता स्वीकार की तो यह ममता कि यह चीज मेरी है, यह ज्ञान से सिद्ध है क्या? और विश्वास से सिद्ध है क्या? न ज्ञान से सिद्ध है न विश्वास से सिद्ध है। फिर जीवन में ममता का क्या स्थान है।

विचार करके देखा जाए-यह बात अलग है कि आप स्वीकार की गई ममता को कैसे तोडेंगे, उसके लिए तो कोई दूसरा उपाय करना पड़ेगा। लेकिन मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि ममता आपने किस आधार पर स्वीकार की, जबकि आपके ज्ञान से सिद्ध नहीं है। हाँ, एक बात कह सकते हैं कि हमें मालूम नहीं है कि कब से स्वीकार की, पर ज्ञान का विरोध है। इसलिए कोई चीज मेरी है नहीं-यह बात कह सकते हैं। जब यह कह सकते हैं तो मेरी नहीं है जो चीज, आपने उसको मान करके जैसे यह वाणी मेरी नहीं, पर वाणी को अपनी मान करके मुझे बोलने की स्वाधीनता मिली।

तो आप जो बोलने की स्वाधीनता, मिली, तो क्या वाणी से ऐसी बात बोलना चाहिए जिससे श्रोताओं को कष्ट हो। क्या राय है? या उनका अहित हो, या अपने ज्ञान पर विरोध हो। क्या राय है? नहीं बोलना चाहिए। इसका मतलब क्या हुआ कि सबसे पहले मुझे ज्ञान-विरोधी कर्म नहीं करना चाहिए। क्या राय है? ज्ञान-विरोधी कर्म नहीं करना चाहिए। अच्छा जब ज्ञान- विरोधी कर्म नहीं करेंगे, तो ज्ञान के अनुरूप कर्म होगा या ज्ञान के विरूद्ध हो जाएगा? उसी कर्म के द्वारा योग की प्राप्ति होती है।

जो लोग यह कहते हैं कि कर्म से योग की प्राप्ति नहीं होती, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। भई, ज्ञान-विरोधी, कर्म आपने छोड़ दिया-झूठ बोलना छोड़ दिया तो क्या सत्य बोलना नाश हो गया? हाँ, एक बात है कि सत्य बोलने का फल मुझको नहीं चाहिए। अगर फल चाहिए तो पुण्य होगा, लोक-लोकान्तर के उत्कृष्ट भोग मिलेंगे और नहीं चाहिए तो जीवन-मुक्ति मिलेगी। लोग कैसे यह कह देते हैं कि कर्म के द्वारा मानव मुक्त नहीं हो सकता। मुक्त तो हो सकता है, लेकिन कर्म के फल का, और अभिमान का त्याग करके। गलत काम करें नहीं, सही का फल माँगे नहीं, सही का अभिमान करें नहीं। अब बताओ

कौन सी चीज बाँधने वाली रह गई? ;श्रोता प्रश्न करता है कि कर्म का और मैं का सम्बन्ध कैसे टूटा? जैसे सत्य बोलेंगे तो सत्य बोलने का अभिमान कैसे नहीं होगा।

स्वामी जी ने कहा कि अहंता नहीं होती है कब? जैसे आप भोग करते हो तो अहंता रहती है कि आज मैंने चावल थोड़े ज्यादा खा लिए। अन्न पचता है, तो क्रिया होती है कि नहीं? किंतु भोजन पचाने का आपको आभास होता है कभी? बुरे काम का प्रायश्चित है अच्छे कर्म करना। यदि आप बुरे कर्म नहीं करेंगे, तो अच्छे कर्म का अभिमान आएगा। यदि आप बुरे कर्म नहीं करेंगे, तो अच्छे कर्म का अभिमान आएगा? जैसे सत्य बोलने का अभिमान कब होता है जब हम अपने लिए बोलते हैं। हमारा नाम सत्यवादियों की सूची में हो जाए, सत्य बोलने का जो पुण्य है वह हमको मिल जाए तब अभिमान होता है। झूठ बोलते हैं भोग की रूचि को लेकर और सत्य हो बोलते हैं पुण्य की रूचि को लेकर। लेकिन, जिसको कुछ नहीं चाहिए, वह सत्य काहे को बोलेगा और झूठ काहे को बोलेगा? सत्य बोलेगा और झूठ बोलने का त्याग करेगा। देखिए, आप विचार करके देखो-सत्य बोलते हैं इसलिए कि बोलने के राग को मिटा नहीं सके। यदि हमारे जीवन में करने का राग न होता तो हमारा शरीर से तादात्य होता ही क्यों? हमें क्यों यह प्रतीत होता, कि हमारा जन्म हो गया हमारी मृत्यु हो गई?

मैं आपसे यह निवेदन चाहता हूँ कि चाहे आप कर्त्तव्य-पथ के साधक हों, चाहे आप विचार-पथ के साधक हों, चाहे आप विश्वास-पथ के साधक हों-साधक हैं। यह मानना पड़ेगा। विचार-पथ का साधक सिद्ध थोड़ा ही है। और यदि विश्वास है तब भी साधक है सिद्ध थोड़ा ही है। तो कर्त्तव्य-पथ का भी हमारे जीवन में सम्बन्ध है, विश्वास-पथ का भी हमारे जीवन से सम्बन्ध है और विचार-पथ का भी हमारे जीवन से सम्बन्ध है।

कर्त्तव्य-पथ हमें करने के राग से मुक्त करता है, यह तो अपना व्यक्तिगत लाभ हुआ और हमारे द्वारा संसार के अधिकार की रक्षा होती है, यह बाह्य लाभ हुआ। महान् विरक्त हो या ज्ञानियों की दुम हो, जब भूख लगती है तो साहब, हमने देखा है कि जब साधक विरक्त लोग इकट्ठे होत हैं तो वहां पहली चर्चा क्या होती है? कहां से आए भवगन्? तो कहेंगे वहां से आए। तो भगवन् वहां भिक्षा इत्यादि कैसे है?

अरे हमने एक बड़े विरक्त महापुरुष से जो पंडित कहलाते थे विरक्त मण्डल के-वह कह रहे थे कि जब पहले कुंभ में जब आए थे, तो हमने ऐसा अमरूद खाया था, जिसमें बीज नहीं था। हमने कहा बारह वर्ष पहले का खाया हुए अमरूद की याद बनी हुई? तो कह भले ही लो। वास्तवकि बात यह है कि आपके पास जो करने की सामर्थ्य है, जो जानने की सामर्थ्य है और जो मानने की सामर्थ्य है ये तीनों सामर्थ्य इनका क्या अचार डालोगे? क्या उपयोग नहीं करोगे।

आप करने की सामर्थ्य का क्या उपयोग करोगे? सेवा-ऐसा जो मान लो, हमारे कहने से मान लो, आपका सवाल हल हो जाएगा-यह मान लो कि हम पर सभी का अधिकार है। सभी का अधिकार है, तो क्या करें? तो भैया, बुराई तो किसी के साथ करेंगे नहीं। बुराई-रहित हो गए। अब होने लगेगी भलाई। अब तो हमें दूसरों का अधिकार देना है हमारा तो अधिकार किसी पर है ही नहीं। उसका अभिमान और फल कैसे माँगे? तो भलाई कि अभिमान और फल से मुक्त हुए और बुराई करने से मुक्त हुए। क्या राय सहज और स्वाभाविक मानवीय स्वभाव नहीं है? क्या राय है? यह सहज स्वभाव है किसका? यह मानवीय स्वभाव है। यहाँ आत्मा-परमात्मा का, किताब का पढ़ा हुए जो ज्ञान है, उसे इसमें शामिल न करना।

इस मानवीय स्वभाव के अनुसार हम स्वाधीन नहीं हो जाते क्या? अपने में संतुष्ट नहीं हो जाते क्या? और अपने में संतुष्ट होकर अपने को पाते हैं या परमात्मा को पाते हैं? तो जब हम अपने में संतुष्ट हुए तो कोई जो हमारा था, वेद जिसकी महिमा गाते हैं, ग्रन्थ जिसकी महिमा गाते हैं, भगवान जिसका वर्णन करते हैं, उसने हमें कहा कि मेरी चाह कर। एक मैं हूँ और एक तू है। तू है मेरी प्रीति और मैं हूँ तेरा प्रियतम। तो प्रीति से तू रस ले और मुझको रस दे। और जब उससे नहीं रहा जाता तो प्रियतम स्वयं कहता है मुझे भी जरा।

प्रीति कर लेने दे। अरे भाई, विश्वास के आधार पर बह्म जीव-भाव को प्राप्त होता है, विचार के आधार पर जीव-भाव मिथ्या होता है,-विचार के आधार पर जीव जो है, वह मिथ्या सिद्ध होता है कि नहीं। और विश्वास के आधार पर ब्रह्म जीव-भाव को प्राप्त होता है-शबरी के बेर खाने के लिए, गोपियो का माखन खाने के लिए, विदुरानी के छिलके खाने के लिए-

सोचो, विचार करो। अब आप बात हमें बताओ, कि आपको मुक्ति के सिवाय कोई बड़ी चीज दिखाई देती है क्या? मुक्ति कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है। अगर ईमानदारी से देखा जाए, तो जैसे वैराग्य योग का साधन है, ऐसे ही भैया योग बोध का साधान है और बोध प्रेम का साधन है।

हमने विचार करके देखा है कि सभी राग विचार से नहीं मिटाए जाते। सही काम करने से ही करने का राग निवृत्त होता है, सरकार, न करने से करने का रग निवृत्त नहीं होता। मैं यह निवेदन करता हूँ कि एक बात जो सुन कर मानी जाती है, वह ज्ञान है या विश्वास?

आप तो विश्वास के पथ को ज्ञान का पथ मानने लगे और ज्ञान के पथ का आपने छोड़ ही दिया। लेकिन ज्ञान और कर्म-ये दोनों तत्त्व अपने में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते क्या? दोनों दिखाई देते हैं। तो कर्म का सम्बन्ध योग के साथ है और ज्ञान का सम्बन्ध भूल मिटाने में है? क्या भूल मिटाएँ? यह भूल, कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को जो हम अपना मानते थे, यह अपनी नहीं है। तो यह भूल मिट गई। और जब मिली हुई अपनी नहीं है, तो उसी तरह की और वस्तुएँ चाहें क्यों? तो अचाह होना और निर्मम होना-यह ज्ञान का फल है कि नहीं? अच्छा निर्मम होने से जो निर्विकारता प्राप्त होती है और अचाह होने से जो शांति प्राप्त होती है-जरा विचार कीजिएगा-वह शांति स्वतः सिद्ध है या नहीं? वह निर्विकारता स्वतः सिद्ध है कि नहीं। अगर उस निर्विकारता में यह रमण करें और शांति में रमण करें और शांति में स्मरण करें तो स्वाधीन हो सकते हैं क्या? कभी नहीं हो सकते। अच्छा, स्वाधीनता में संतुष्ट रहें, तो पूर्ण हो सकते हैं क्या? पूर्ण भिखारी बनता है प्रेम का और जो अपूर्ण होता है उसका स्वरूप होता है प्रेम।

मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि केवल ज्ञान से ही अज्ञान नाश होत है, विश्वास से नहीं होता, कर्म से नहीं होता। जो कहते हैं वे स्वतन्त्र हैं, कह सकते हैं। उनका अज्ञान उसी के नाश होगा। ऐसा मैं नहीं कहता कि नहीं होता, लेकिन मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि सही काम करके क्या काम-रहित नहीं होते और काम-रहित होने पर भगवान में और हममें पर्दा रहेगा? परमात्मा से हमको किसने दूर किया? संसार के आकर्षण ने। तो संसार का आकर्षण क्या सेवा से नाश होगा? सेवा

कहो, कर्त्तव्य कहो, अर्धाचरण कहो। जरूर हो जाएगा। तो संसार नाश हुआ कि संसार का आकर्षण नाश हुआ, संसार मुक्त हुआ कि जिसका आकर्षण नाश हुआ, वह मुक्त हुआ? तो हम तो कर्म से मुक्त हो गए। तो आप कैसे कहते हो कि ज्ञान से ही मुक्त होत हैं। मुक्ति के भोगी में अहं रहता है और जो मुक्ति का भोगी नहीं है उसमें अहं नहीं रहता। वह हो गया प्रेम। प्रेम प्रेमी में रहता है और प्रेमास्पद में रहता है। विवेकी लोग परमात्मा को ज्ञान स्वरूप कहते हैं कि नहीं? तो ज्ञानी का नाश होगा कि ज्ञान जिसका स्वरूप है, उसका नाश होगा? ऐसे ही प्रेमी का नाश होगा कि प्रेम का नाश होगा? उस तरह ही योगी का नाश होगा कि योग का नाश होगा? तो योग, प्रेम रहेगा कि नहीं? वही तुम्हारा स्वरूप हुआ और वह जो योग-बोध-प्रेम है, वह परमात्मा की महिमा हुई।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

(भाग – १)

I. मानवमात्र के शरणानन्दजी

II. सत्संग और साधन

1. असत् का त्यागः साधन की अभिव्यक्ति
2. अकर्तव्य का नाश: कर्तव्य की अभिव्यक्ति
3. पराधीनता का नाश: स्वाधीनता की अभिव्यक्ति
4. आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति
5. मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति
6. उपसंहार

III. दर्शन और नीति

IV. जीवन पथ

1. जीवन असत से सत की ओर।
2. प्रभु में प्रियता।
3. मिले हुए का सदुपयोग।
4. मानव जीवन का महत्व।
5. विश्राम में जीवन हैं।
6. कर्तव्य परायणता।
7. स्मृति की जागृति – "हैं" की प्राप्ति
8. असंगता का महत्व।
9. प्रवृति सेवा में निवृति प्रेम में।
10. प्रभु में विश्वास
11. प्रियता में जीवन की पूर्णता।
12. ममता का त्याग
13. अगाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति
14. जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति – अनित्य हैं।

V. दुःख का प्रभाव

1. एक परिचय
2. दुःख का प्रभाव
3. उपसंहार

VI. मानवता के मूल सिद्धांत

VII. मूक-सत्संग तथा नित्य-योग

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग - २

I. साधन-तत्व

1. साधक कौन है?
2. साधन-तत्व क्या है?
3. साध्य क्या है?
4. क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है?
5. साधन-तत्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं?

6. साधन और साधन-तत्व में क्या भेद है?
7. साधन की आवश्यकता क्यों है?
8. साधन में विघ्न क्या हैं?
9. साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती?
10. जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों है?
11. साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो?
12. साधक होने का अधिकारी कौन है?
13. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
14. साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?
15. साधन का आरंभ कैसे हो?
16. साधन की लालसा
17. साधन का महत्व
18. असाधन का त्याग
19. दर्शन और साधन
20. जीवन और साधन
21. विश्वास और साधन
22. साधन-विधि
23. साधन-क्रम
24. साधन और असाधन
25. साधन और सत्संग
26. सत्संग की आवश्यकता
27. अहम् का नाश तथा साधन-तत्व

II. मानव की मांग

1. प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग
2. सुन्दर समाज का निर्माण
3. अपना कल्याण चाह-रहित होने में है
4. सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति
5. बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर
6. अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति
7. संयोग में वियोग के दर्शन
8. कर्तव्य-परायणता
9. अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम
10. भुक्ति, मुक्ति और भक्ति
11. निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है
12. मुक्त किससे होना है
13. कर्ता और कर्म- मान्यता का प्रभाव
14. निर्मलता कि प्राप्ति
15. सुख का उपयोग सेवा है
16. कर्म, विवेक और विश्वास
17. परिस्थितियाँ
18. भाव – शुद्धि
19. अचाह होने का महत्व
20. कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्रता
21. पर-दोष-दर्शन
22. करना और होना

23. जीवन-विभाजन
24. करो 'सेवा' जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को
25. निर्भयता की प्राप्ति
26. स्वाभाविक आवश्यकता कि सहज पूर्ति
27. चरित्र – निर्माण

III. मानव–दर्शन

28. मानव जीवन की समस्या, मानव–दर्शन का महत्व
29. असत् का विवेचन
30. मैं का विवेचन
31. पथ-विवेचन
32. कर्तव्य-विवेचन
33. समाज-दर्शन
34. दुःख की समस्या
35. शिक्षा और दीक्षा
36. विश्व-शान्ति
37. उपसंहार

IV. साधन-निधि

1. अपने लिए उपयोगी होना
2. जगत् के लिए उपयोगी होना
3. प्रभु के लिए उपयोगी होना
4. उपसंहार

V. मंगलमयी विधान

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ३ & ४

स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज के अकाट्य प्रवचनों का संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ५

I. सन्त समागम
II. सन्त सौरभ
III. सन्त उद्बोधन
IV. साधन सूत्र

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ६

I. चित्त शुद्धि

1. अशुद्धि क्या?
2. अशुद्धि के कारण की खोज
3. सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग
4. व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान
5. प्राप्त का सदुपयोग
6. अस्वाभाविकता का त्याग
7. न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति

8. न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति
9. असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति
10. परिस्थितियों की अनित्यता
11. भय तथा प्रलोभन से मुक्ति
12. नीरसता और खिन्नता से मुक्ति
13. स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता
14. कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अंत
15. निस्संकल्पता की आवश्यकता
16. वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद
17. अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं
18. निषेधात्मक साधन की आवश्यकता
19. निज-ज्ञान की सामर्थ्य
20. चित्त की महिमा
21. चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति
22. ज्ञान और जीवन की अभिन्नाता
23. व्यक्तित्व के मोह का अन्त
24. सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज
25. सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति
26. असंभव का त्याग तथा संभव की प्राप्ति
27. गुणदोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति
28. सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति
29. कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग
30. जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग
31. मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति
32. अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय
33. स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ
34. निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान
35. इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग एवंबुद्धि-ज्ञान का आदर
36. आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति
37. सुख-भोग की आशा का त्याग
38. मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय
39. सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व
40. क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व
41. अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति
42. व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ
43. रूचि-अरूचि के द्वन्द्व का अन्त
44. अहम् और वस्तु का विभाजन
45. आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त

46. प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण
47. प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में
48. अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति
49. अहम्-भाव की निवृत्ति एवंभय-प्रलोभन से मुक्ति
50. अनन्त के विधान-विवेक का आदर
51. वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति
52. कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति
53. संकल्प उत्पत्ति-पूर्त्ति से अतीत का जीवन
54. करने में सावधान और होने में प्रसन्न

II. जीवन दर्शन

55. अचाह पद
56. विवेक एवं अविवेयुक्त विश्वास
57. भोग-इच्छाओं की निवृत्
58. व्यक्तित्व की दासता
59. परिस्थितियों का सदुपयोग
60. व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति
61. हमारी वास्तविकता आवश्यकता
62. मान्यता, विधान और जीवन की एकता
63. आशा और निराशा किसकी?
64. 'करने' का 'होने' में परिवर्तन
65. गुणों के अभिमान का त्याग
66. अनित्य जीवन से निराशा
67. कामना-निवृत्ति
68. नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव
69. माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति
70. सहज निवृत्ति का सदुपयोग
71. वर्तमान का सदुपयोग
72. आसक्ति और प्रीति
73. व्याकुलता और प्रेम
74. विवेक और प्रीति
75. साधन-निर्माण
76. प्रीति ही जीवन है।
77. कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्त
78. निर्मोहता में दिव्य-जीवन
79. परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर
80. निर्भयता की कुन्जी
81. आसक्ति और प्रीति का विवेचन
82. सुख की आशा के त्याग में ही विकास
83. पर-चर्चा से हानि
84. सफलता की कुन्जी
85. विश्राम की महिमा
86. विश्राम की विधि
87. साधन-निर्माण की भूमि
88. अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता
89. साधन में शिथिलता क्यों आती है?

90. भिन्नता के अन्त में जीवन
91. 'मैं' क्या है?
92. निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति
93. प्रवृत्ति और निवृत्ति
94. निष्कामता में ही सफलता है
95. पराश्रय का त्याग और सेवा
96. कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन
97. साधन-तत्त्व
98. वर्तमान जीवन का सदुपयोग
99. साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है
100. वर्तमान का आदर ही साधन है।
101. स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति
102. 'मैं' का स्वरूय
103. त्याग और प्रेम
104. विवेक की अलौकिकता
105. व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन
106. उपासना का रहस्य
107. नि:संदेहता तथा प्रीति
108. कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति
109. कामना-निवृत्ति का महत्त्व
110. जीवन का परम पुरुषार्थ
111. असंगता और प्रेम
112. दोषों का मूल-असावधानी
113. गुण, दोष और उनकी निवृत्ति
114. साधनरूप मान्यताएँ
115. अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति
116. विवेक से प्रीति
117. उद्देश्य और उसकी पूर्ति
118. कर्तव्य-मीमांसा
119. क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय
120. परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन
121. ममता का त्याग और प्रेम
122. अचाह में अभिन्नता
123. श्रमरहित साधन
124. साधन-भेद और साध्य की एकता
125. बाह्य दुष्टियों का सदुपयोग
126. चिर-शान्ति और सरसता।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ७

साधकों को पत्रों के माध्यम से स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज जी का उपदेश संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ८

I. सन्त जीवन दर्पण

1. स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज`
2. पुण्य- स्मृति
3. वह तो आते आधे नाम
4. जीवन के मार्मिक प्रसंग
5. विविध प्रसंग

II. साधन त्रिवेणी

1. जीवन का सत्य
2. हमारी आवश्यकता
3. सेवा ही जीवन का सार सर्वस्व
4. सत्संग मानव का स्वधर्म
5. स्वाधीनता, उदाराता और प्रेम
6. धर्म विज्ञान
7. सच्चा साधक कौन?
8. विवेक और विश्वास
9. साधना-पथ की बाधाएँ
10. प्रभु-प्रेम की विलक्षणता
11. विश्व-शान्ति

III. 'मैं' की खोज

1. 'मैं' क्या है?
2. 'मैं' का स्वरूप'
3. 'मैं' का विवेचन
4. उपसंहार

IV. पथ प्रदीप

1. जीवन कला
2. मानव की महिमा
3. 'मैं' का परिचय
4. अचाह-मानव का परम पुरुषार्थ
5. राग निवृत्ति-नित्ययोग
6. दुःख-एक विवेचन
7. सन्तुलन
8. सेवा का माहात्म्य
9. व्यक्तिगत सत्संग
10. विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि
11. विश्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं
12. साधन-भजन-पूजन
13. भक्ति – योग
14. अहैतुकी कृपा
15. प्रभु की प्रियता

V. प्रश्नोतरी संतवाणी

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ९ & १०

दिव्य ज्योति प्रो.देवकी माँ के प्रवचनों के संग्रह